र को ड्रीमली 85 सैंपल लखन्क्र के केडीएमयू से हास्नेत और भी बिगड़ स तर्द्ध से लापरवाही की हता जान्द्रहा और जनता को द्दाता,≅वाराणसी : कोरोना आफ़िस कर्मचारी की पत्नी वावेदा भी कोरोना की चपेट में जाएमय में अभी 154 जाच लाबत, बढ़ा धड़क ते-होते बनारस में आसमान काले बादलों से पट गया। काले मेचों की आवागाही देखकर वैशाख में आबाढ़ का अहराश होने तैयारियां और तेज हो गई है। स्वास्थ्य विभाग ने मंगलवार को जिले को 22 जागरण संवाददाता, वाराणसी : कोरोना से संक्रमित लोगों की तलाश को दोनों के टकराने से थंडर स्टार्म आ में कूल एंड ड्राई हवा चल रही है। गया, जिसके कारण बरसात हुई

के फहर के बीच मंगलवार को ठंडी हवा के साथ बादलों ने भी लॉकडाउन घोषित कर दिया। गौराम ने फिर पलटी मारी और

और धरती से करीब डेढ़ किमा ऊपर

बताया कि बंगाल खाड़ी से पुरवाई

33 केवी विद्युत उपकेंद्र विद्यापीट के स्विचवार्ड में भी पेड़ गिर गया।

इसके लिए वुधवार को

जुड़ 33 कवा लाइन म आवरहंड तार भूमिगत कि

12621 की जांच, 21 में कोरोना के लह बाधित रही। बाद में किसी इसके कारण कुछ देर के लिए आपूर्ति वलस्टर में बटा बनारस आपूर्ति बहाल तो कर दी गई। 22 हॉटस्पाट में 3761 लोगों की स्वास्थ्य विभाग का 151 मंडिकल टीम ने 8806 घरों का किया सर्व में भी दो लोगों में कोरोने मिले। इस इलाके का रूप कोलकाता से आया था हो। से बई वजे तक दानापुर

अजुनपुर में मिले 12 संदिग्ध सभी को अपना सेंपर्ल देने का निर्देश जिनमें कोरोना वायरस के लक्षण थे स्वास्थ्य विभाग ने जिले 22 हॉटस्पाट में कोरोना के लक्षण मिले। उधर दौरान स्वास्थ्य परीक्षण में तीन लोग चलाया। आभयान में 14 सदिग्ध मिल भी थर्मल स्कैनिंग का अभियान स्वास्थ्य विभाग ने 22 हॉटस्पाट का स्वास्थ्य परक्षिण किया। दो सं से पीड़ित मिले जबकि चार लोगों में लाग सामान्य सदी, बुखार व खांस डाक्टरों की टीम ने शहरी एरिया 7153 और देहात क्षेत्र में 1707 बिइल वार्ड क्लीनिक के जरिए लिए रफर किया गया

थे। इस गांव में कोलकाता से आए लोग मिले जिन्हें कोरोना के लक्षण कोरोना के लक्षण मिलने पर उन्हें जाव

दो मजदूरों में कोरोना वायस्स मिला था। दोनों अभी डीडीयू अस्पताल

ग के 52, ईएसआइसी ॉजिटिव केस से जुड़े त्रेत 87 सैंपल में सिगरा की रिपोर्ट नहीं आई है। ई के 45, और तीन मई

संपर्क में आने से वायरस की चपेट में आए अभी इसका पता नहीं लग पाया है। दावा इन तीनों के संपर्क में आकर अब तक 28 लोग सक्रमित हो चुके हैं। ये तीनों किसके चौकी प्रभारी, मड़ाँली निवासी दवा कारोबारी और सिगरा थाना क्षेत्र के अधिवक्ता। जासं, वाराणसी : स्वास्थ्य विभाग की सबसे बड़ी चुनौती बनकर उभरे हैं नगर निगम

किया। अर्जुनपुर हॉटस्पाट में 12 ऐसे

3761 लोगों का स्वास्थ्य परीक्षण

राधनाः थे जिसमें 85 की रिपोर्ट कै। ने मर्ड के दो लखनऊ भेजे थे। दो मई रू (किंग जार्ज मेडिकल 83 नम्ने कोरोना जांच न महंक्रे बीच स्वस्थ्य

हिजियार मदनपुरा क्षेत्र में कोरोना पॉजिटिव के घर से ट्रालीभेन खाली गैस सिलेंडर लेकर निकरण तो दमकल कर्मियों ने टंकी को सैनिटाइज किया। ट्रालीभेन ने पॉलीबिन में रखें नोट

सामने कर कहा कि साहब इस पर भी दवा छिड़क दीजिए 🌣 उत्तम राय चौधरी

तीन के संपर्क में आकर 28 लोग संक्रमित

। तथा अधिवक्ता के दो पोस्ट आफिस कर्मचारी के भुताबिक प्रभावत जिला ष्ट्रशासन को मिली

चार श्रीजिटिव केस भी

संजय नगर कालोनी पह 160, काशीपुरा में 113, मुकी

पितरकुँडा में 306, जयप्रका हबीबपुरा में 138, पियरी 107, सप्तसागर में 150

लागा को थमल स्केनिंग को र चोलापुर में 325, अजुनपुर गोला गांव में 14 लोगोंद्रिम के लक्षण मिलने से ट्रेंड पॉजिटिव निकला था। अनु

थर्मल स्कैनिंग की। हाउस सर्वे के जानकारी जुटाने के साथ ही उनकी

माबाइल वाडे क्लीनिक में

थमल स्कानग, १४ म मिले लक्षण

8860 की स्वस्थि परक्षिण

सर्वे किया। घरों में रह रहे लोगों से

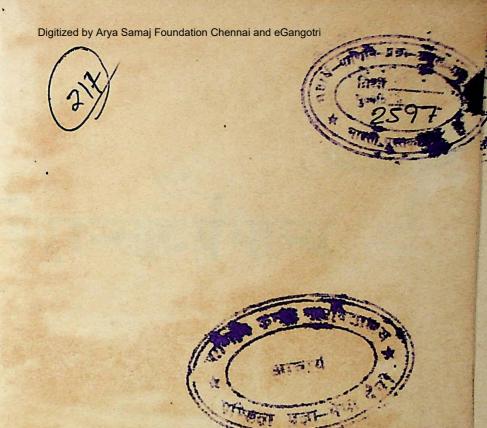
क्लस्टर में बांटकर 8806 घरों का

कमालपुरा जैतपुरा में 59, 278, सूर्या विला महमूरांज

गंडेय हवेली/रेवड़ी तालाम

110, हरतीस्थ में 395, नक्ख







ओ३म्

वेदान्तारयभाष्य

भाष्यकार

महामहोपाध्याय पण्डित ऋार्यमुनि



प्रकाशक

हरयाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर, रोहतक ्प्रथम संस्करण २००० मूल्य ६०)००

सृष्टिसंवत् १६६०८५३०८२ कलिसंवत् ५०८२ विक्रमसंवत् २०३६ दयानन्दाब्द १५८

मुद्रक : जैयद प्रेस बल्लीमारान, दिल्ली-६

प्रथम चार प्रष्ठ, भाटिया प्रेस, रघुवरपुरा, दिल्ली में मुद्रित।

हमने पण्डित आर्यमुनि जी महामहोपाध्याय द्वारा विरचित सभी दर्शनों के पुनः प्रकाशन का संकल्प लिया था, उसी प्रकाशन माला में अव पाठकों की सेवा में वेदान्तदर्शन का वेदान्तार्थ्यभाष्य प्रकाशित किया जा रहा है। इस प्रन्थ का प्रथम संस्करण पं० देवदत्त शर्मा ने एंग्लो-संस्कृत-यन्त्रालय लाहोर से विक्रमसम्वत् १६६० (सन् १६०४) में प्रकाशित कराया था। पुनः द्वितीय संस्करण भी पं० देवदत्त शर्मा ने ही वाम्वे यन्त्रालय लाहोर से विक्रमसंवत् १६६७ (१६११ ईसवी सन्) में प्रकाशित करवाया। यह द्वितीय संस्करण पूर्व संस्करण की अपेक्षा बृहदाकार है। इसकी भूमिका अति विस्तृत रूप में लिखी गई थी। हमने इसी द्वितीय संस्करण का पुनः प्रकाशन किया है।

यह वेदान्तदर्शन महाभाषत के रचियता महीं कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास वादरायण का बनाया हुवा है। इसका अपर नाम ब्रह्मसूत्र शारीरक दर्शन भी है। इसमें चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में वेद और उपनिषदों के वाक्यों का ब्रह्म से सम्बन्ध सिद्ध किया है। द्वितीय अध्याय में वेदानुकूल सिद्धान्तों का मण्डन किया है। इसी अध्याय के स्मृतिपाद और तर्कपाद में वेद विरुद्ध मतों का विस्तार से निराकरण किया गया है। यही स्थल इस दर्शन का मर्म है। यह अविरोधाध्याय नाम से भी जाना जाता है। तृतीय अध्याय में मुक्ति के मुख्य साधनों का वर्णन है। प्रसंगोपात्त निविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन भी किया है। इसे साधनाध्याय भी कहा गया है। चतुर्थ अध्याय फलाध्याय कहलाता है, इसमें मुक्तिरूपी फल का वर्णन किया है। इस वेदान्तदर्शन में १५६ अधिकरण हैं। जितने भाग में पक्ष विपक्ष स्थापना-पूर्वक एक विषय का सिद्धान्त निश्चित किया जाता है, वह अधिकरण कहलाता है।

श्री शंकराचार्य और उनके परवर्ती भाष्यकारों ने वेदान्त सूत्रों के आधार पर जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने का यत्न किया है। किन्तु स्वयं

बेदान्त के अन्तः प्रमाणों से यह मत निरस्त हो जाता है।

इस वेदान्तकास्त्र में ४५४ सूत्र हैं। पण्डित उदयवीर जी शास्त्री ने आचार्य शंकर द्वारा अभिमत ५५५ सूत्रों पर भाष्य लिखा है। इन्होंने २-२-३-१ पर क्षणिकत्वाच्च सूत्र अधिक व्याख्यान किया है। प्रायः सभी प्रकाशित वेदान्तभाष्यों में सूत्र पाठ और सूत्र संख्या असमान है। प्राचीन

7

हस्तलेखों से मिलान करके सभी दर्शनों के शुद्ध पाठ मूलरूप में प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

यद्यपि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थप्रकाश, संस्कार-विधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में व्यासमुनिकृत शारीरक सूत्र (वेदान्तशास्त्र) को वात्स्यायन, जैमिनि वा वौधायन आदि मुनिकृत व्याख्या सहित पढ़ने-पढ़ाने का विधान किया है। परन्तु आर्यावर्त्त के अभाग्योदय से महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा दृष्ट और निर्दिष्ट सभी ग्रन्थ-रत्न शतवर्ष में ही दुर्लभ हो गये अथवा नष्ट हो गये। यदि गवेषक लोग यत्न करें तो अनेक दुर्लभ ग्रन्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। उनके अभाव में वेदानुकूल आर्य विद्वानों के वनाये हुये भाष्यों को ही सर्वाधिक उपयोगी मानकर हम यह दर्शन भाष्य सामान्य जनता तक पहुंचा रहे हैं। आजकल पण्डित उदयवीर जी शास्त्री द्वारा विरचित श्रह्मसूत्र विद्योदयभाष्य (आर्य-भाषाभाष्य) उपलब्ध है। यह भाष्य भी अत्युत्तम और अतिविस्तृत है। इसी प्रकार स्वामी हरिप्रसाद जी वैदिकमुनि ने भी संस्कृतभाष्य किया था, वह भी उत्तम था। यद्यपि इस वेदान्तदर्शन पर मुनि वोधायन, उपवर्ष, स्वामी शंकराचार्य, रामानुज, विज्ञानभिक्षु, द्रमिडाचार्य, टंक, सहदेव, भारुचि, कपर्दी, भर्तृ हरि और भर्तृ प्रपंच आदि विद्वानों ने भाष्य रचे थे, परन्तु आज उनके अनुपलब्ध होने तथा अधिकतर में जीव ब्रह्म की एकता, ब्रह्म का माया में लिप्त होना, जीव का ब्रह्म में लय होना, केवल एक ब्रह्म को मानकर जगत् को मिथ्या बताना आदि वेद विरुद्ध जगड्वाल फैलाया हुवा होने से हम उनका प्रकाशन नहीं कर रहे। इसी प्रकार संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञ मुनि ने भी अवैदिक भावों की पुष्टि की है। ऐसे कुग्रन्थों के पढ़ने में समय नष्ट नहीं करना चाहिये। महर्षि दयानन्द ने वेदान्त विषयक योगवासिष्ठ और पञ्चदश्यादि ग्रन्थों के पढ़ने का निषेध किया है। इनके पढ़ने से शब्द-जाल में फसकर ज्ञानविज्ञान से वंचित रह जाना पड़ता है। अतः ऋषि महर्षियों के लेखानुसार चलकर सभी को लाभ उठाना चाहिये।

हम हरयाणा साहित्य संस्थान के माध्यम से साधनों के न होते हुथें भी पाठकों की सेवा में सामान्य और विशेष ग्रन्थों का समय-समय पर प्रकाशन करते ही रहते हैं। अभी तक हम लगभग १२५ ग्रन्थ प्रकाशित कर चुके हैं। जनता हमारे प्रकाशनों का सदा स्वागत करती है। आशा है जनता इन दर्शनों को भी अन्य साहित्य की भांति अपनाकर हमारा उत्साह वर्धन करेगी, जिससे हम पाठकों की अजस्र सेवा करते रहें।

गुरुकुलभज्जर २०३६ विकमसंवत्

निवेदक <mark>ग्रोमानन्द सरस्वत</mark>ो

ओ३म्

॥ वेदान्तार्यभाष्य की भूमिका ॥

इकमुनिबिनिकनहुनिलखी, भाषामेंयहचाल । शारीरक से काटना, शङ्करमत को जाल ॥

यहां यह सन्देह उत्पन्न होगा कि श्री स्वामी शक्कराचार्य जी जिन्हों ने वौद्धर्य से आक्रान्त आर्यधर्म की काया पलट दी, और जिन्हों ने एक ईश्वरवाद से विमुख आय्यों को फिर वैदिक धर्म पर आक्र्ड़ करने के लिये एक ब्रह्मवाद के उच्चनाद से आरत भारत को अविद्यानिद्रा से उद्देशभन करिदया, न केवल इतना ही अपितु अवैदिक वौद्धर्म को आर्यवर्त्त से वाहर करिदया, यह महान काम स्वामी शक्कराचार्य जैसे उच्चात्मा का ही था, कि जिन्हों ने वैदिक विद्यावल से ३२ वर्ष की आयु में राजधर्म बौद्ध धर्म को मिटाकर वैदिकधर्म को राजधर्म बनादिया, फिर शक्करमत को जाल कैसे कहा जाता है?

उत्तर-ग्रन्थकर्ता शमादि सम्पद् सम्पन्न स्ता० शं० चा० जी के उक्त भावों को स्वीकार करता है, पर विचारणीय वात यह है कि उक्त भावों वाले स्वामी का मत आर्थ्यावर्त्त का भ्रम भूषण क्यों वना? और विज्ञानवादी तथा श्रून्यवादी योगाचार और माध्यमिकादि बौद्धों का अनुसारी क्यों बना?

इस विचार का सार यह है कि जिस समय स्वा॰ शं॰ चा॰ ने काशी से बीड़ा उठाकर वोद्धमन पराजिन किया उस समय बौद्धों की दार्शनिक विद्या दशोदिशाओं में मानी जाती थी, उस सयय कोई भी उच्चबुद्धि का पुरुष उनकी फ़िलासफ़ी के चक्र से बाहर नहीं जा सक्ता था, इस भाव को लक्ष्य रखकर स्वा० शं० चा० ने विज्ञानवाद और शुन्यवाद का कलेवर यों बदला कि विज्ञान क्षण २ में नहीं बदलता, यदि विज्ञान क्षणिक है तो पूर्वीत्तर क्षण का एक ही अनुसन्धाता कैसे हो सक्ता है, और यदि सब शून्य है तो उस शून्य का ज्ञाता कौन है ? इत्यादि अनेक तर्कों से बौद्धों की फ़िलासफ़ी को जर्जरी करके उसमें यह भाव भरा, कि विज्ञान सणिक नहीं किन्तु एकरस सदा स्थायी है, उससे थिन कोई पदार्थ नहीं, वह विज्ञान सर्वानुगत है, वही सर्वका आत्मा है, और यह सब संसार अनात्मा है। इस भाव को स्वामीजी ने अ० खु० ?।१।१ की भूमिका में इस वलसे थरा है कि एक विज्ञानयात्र से भिन्न सबको भ्रम माना है, यहां तक कि वेदशास्त्र को भी स्वामी मिथ्याही मानते हैं, उसी अस्मद्यमत्ययगोचर एकमात्र विज्ञान में सम्पूर्ण बाह्य वस्तुओं को मिध्या मानते हैं, इस मिध्याबाद के मार्ग को स्त्रामी ने यहां तक मण्डन किया कि जिससे सब वर्णी श्रमों के धर्मों को खण्डन कर दिया। जैसेकि:-

न वर्णा, नवर्णाश्रमाचारधर्मा, नमेधारणाध्यानयो-गादयोऽपि । अनात्माश्रयाहं ममाध्यासहानात्तदे-कोऽविशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ न मातापिता वा, न देवा न लोका, न वेदा न यज्ञा न तीर्थं बुवन्ति । सुषुप्तीनिरस्तातिशून्यात्मकत्वा तदेकोऽविशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ सि॰ वि॰

भूमिका

अर्थ-त वर्ण हैं न आश्रम हैं न वर्णाश्रमों के आचार इप धर्म हैं, त मुझ में धारणा, ध्यान, योगादिक हैं, अनात्माक्य जो अहङ्कारादिक हैं उनके आश्रित यह अहं और अध्यास होता है, इस अध्यास के मिटजाने से मैं केवल जिब हूं अर्थात मेरे में अज्ञान से ही वर्णाश्रमों के धर्म हैं वास्तव में नहीं। एवं माता, पिता, देव, लोक, वेद, तीर्थ, यह भी मिथ्या ही हैं, केवल एक विज्ञान ही सख है और सब भ्रम है। इस प्रकार उक्त स्वामीजी ने सब धर्मों का खण्डन करके एकमात्र विज्ञान ही तल माना है और वह भी ऐसा कि जिसमें कोई मसय नहीं, इस अंदा में यह एकत्ववाद शुन्यवादी के साथ मिलजाता है, इसका भमाण यह है कि शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के यत में सब शुन्य ही शुन्य है अथीत उसका कोई ज्ञाता नहीं, एवं अद्वेतवाद में भी उस अद्वेत का कोई ज्ञाता नहीं, और वह स्वयं थी अपने आपका ज्ञाता नहीं, इस बात को स्वामी ने ज्ञाधिकरण में स्पष्ट किया है कि वह जाननेवाला नहीं किन्तु ज्ञानमात्र है, और जब उनसे यह पूछा जाता है कि उस ज्ञानमात्र को "मैं हूं" यह ज्ञान है वा नहीं ? तो उत्तर यह मिलता है कि वह यह नहीं जानता कि "मैं हूं" क्योंकि यह जानना अद्वैतवादियों के मत में माया से आता है "मैं हूं" यह प्रस्य शुद्ध में नहीं होता, फिर श्रुन्यवाद से क्या भेद रहा? यदि दुर्जनतोष न्याय से यह मान भी लियाजाय कि श्रुन्यवाद से स्वामी के मत का भेद है क्योंकि स्वामी एक विज्ञानमात्र ही तत्व मानते हैं तो विज्ञानवादी बौद्ध से स्वामी के मत का कोई भेद नहीं प्रतीत होता, क्योंकि स्वामी एक विज्ञान मे सम्पूर्ण किश्व को भ्रम मात्र मानते हैं, इस बात को स्वामी के शिष्य विद्यारण्य ने पञ्चदशी वि० १ श्लो० ३ से ७ तक में वर्णन किया है कि विज्ञानमात्र ही तत्व है अन्य सब मिथ्या है, इससे सिद्ध है कि यह तत्व स्वामी ने विश्वानवादी बौद्ध से छिया है।

वेदान्तार्यभाष्य

और प्रमाण यह है कि विज्ञानवादी बौद्ध की "आत्मख्याती" है अर्थात यह सब पदार्थ आत्मा में ही हैं बाहर मिध्या मतीत होते हैं एकमात्र विज्ञान ही सस है और वह वाह्यपदार्थ विज्ञान से अति-रिक्त नहीं, वही पदार्थाकार बनगया है, यह मत बाह्य पदार्थों के विषय में विज्ञानवादी बौद्ध का है, यहां यह दर्शाना है कि स्वामी के मत का इसमे क्या भेद है, स्वामी के मत में मीपी में जो चांदी का अम है वहां अनिर्वचनीय रजत है, जो न सत हो और न अमत अर्थात जो सत्य झूट दोनों से विलक्षण हो जसका नाम 'अनिर्वचनीय' है, इस प्रकार इनके मत में शिक्त रजतादि अम स्थलों में रजतादि भावपदार्थ है, एवं उनके मत में आत्मा से भिक्त सभी भावपदार्थ अममात्र हैं, इस अर्थ में विज्ञानवादी बौद्ध से मायावाद का कि अन्मात्र भी भेद नहीं रहता, क्यों कि विज्ञानवादियों के मत में भी विज्ञान से भिन्न सब पदार्थ मिध्या हैं एवं स्वामी के मत में भी विज्ञान से भिन्न सब पदार्थ मिध्या हैं, इस अंश में इन के मत का विज्ञानवादी बौद्ध से कोई भेद नहीं।।

और श्रून्यवादी माध्यमिक बौद्ध "असवख्याति" मानता है अर्थाव सीपी आदि स्थलों में असव रजव ही प्रतीत होती है सव नहीं, इस अर्थ से भी स्वामी के मत में बाह्य पदार्थों में कोई भेद नहीं, श्रून्यवादी के समान सब बाह्य पदार्थ श्रून्य ही हैं वास्तव सव नहीं, एवं ख्यातिवाद के मिलाने से यह सिद्ध है कि यह मत बौद्धों से लिया गया है।।

यहां प्रसङ्ग सङ्गित से यह भी निक्षण करना अनुपयुक्त न होगा कि वैदिकमत में सीपी रजद में कौनसी रूपाती है अर्थाद शुक्ति कि रजतादिक भ्रम स्थलों में वैदिकों का क्या मन्तव्य है ? हमारे मत में उक्त भ्रमस्थल में ''अन्यथारूयाति" है अर्थाद दोपत्रश से वह वस्तु ही 🎵

अन्वथा होकर मतीत होती है और अन्यथा मतीति को ही "अन्यथा रूपाति" कहते हैं, अन्य स्थल के पदार्थ की अन्य स्थल में मतीति अन्ययारूयाति नहीं, एवं स्वप्नादि भ्रमस्थलों में निद्रादि दोशों से अन्यथा प्रतीत का नाम अन्यथाख्याति है, कई एक छोग अख्यातित्राद मानते हैं, उनका यह अभिनाय है कि भ्रमस्थल में भेदाऽग्रह है अर्थात स्मृतिज्ञान और पुरोवर्ती वस्तु का इदमाकार क्षान इन दोनों का भेद प्रतीत नहीं होता इसिलये भ्रम कहा जाता है, और एक सम्पदाय ऐमा है जो "सवरूयाति" मानता है, उसका यह आशय है कि सीपी में चांदी के अंश भी हैं वही इकटे होकर मतीत होते हैं इसिछिये वह ज्ञान सच्चा है झूठ नहीं, इस प्रकार भ्रम स्थल में (१) आत्मरूयाति (२) असत्रूयाति (३) अरूयाति (४) अन्यथारूयाति (५) सत्रूयाति (६) अनिर्व-न्दनीय्याति" यह पद ख्याति हैं, ख्याति नाम मतीतिका है, उक्त ख्याति विषय में यह विवेक है कि आत्मख्याति-विज्ञानवादी बौद्ध की, अमत्रक्यांति-शुन्यवादी की, अख्याति-प्रभाकरादि मीमांसकों की, अन्यथाख्याति-वैदिक वेदान्ति तथा नैयायिकों की और अनिर्वचनीयख्याति-मायाबादियों की है, इनका यह भी कथन है कि "न सदासीन्नोसदासीतदानीम्" ऋ॰ ८। अ१ अ१ यह मन्त्र अनिर्वचनीयवाद को सिद्ध करता है कि इस रचना से प्रथम न सत् था, न असत् और सत् असत् से विलक्षण को ही अनिर्वच-नीय कहते हैं ! इसका उत्तर्यह है कि उक्त मन्त्र अव्यक्त प्रकृति को वर्णन करता है कि इस कार्य्य क्ष जगत मे प्रथम वह अञ्याकृत सत् इम्लिये नहीं था कि वह कार्यक्ष न था और अमत् इसिछये नहीं था कि वह प्रकृति भावरूप थी अभावरूप नहीं और वादि सद असद कथन से अनिर्वचनीयवाद अधिमेन होता तो 'न सत्ता सतु उपते'' गी० ११ । १२ यहां ब्रह्म को सदसि है - हार न कहा जाता, क्यों कि ब्रह्म मायानादियों को अनिर्वचनीय हार नहीं, इस अनिर्वचनीयवाद का आश्रयण करने से सिद्ध होता है कि बौद्धों की फिलालफ़ी की झलक मायानाद में है, यदि यह झलक इनके यत में न होती तो स्वामी शं० चा० जैसे जच्च उद्देश्य के आचार्यों के मन का हास कदापि इस मकार न होता जैसाकि हुआ और बौद्धों को अनीश्वरनाद की फिलासफ़ी तथा नाह्य अर्थ को मिश्या मानने की फिलासफ़ी ने मिराया, अधिक क्या नहीं मिश्यानाद के भाव और अंद्रब्ह्म चनकर ईश्वर को जलाझली देने के भानों ने स्वामी के सम्मदाय को अत्युच्च नैदिक भाव से गिरा दिया।

अन्यथा "ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत"

ऋ०८।८। ४८। १ और "याथातध्यतोऽधीच्विद्धाच्छा३वतीभ्यः समाभ्यः" यज्ञ०४०।८ इत्यादि मंत्रों में विजत जग द

के सत्यभाव को मिटाकर भारत को मिध्यावाद का भूषण न पहनाया

जाता और "न वणी न वणीश्रमाचारधर्मा" इत्यादि छेख

िक्कर सब वर्णाश्रमादिकों को समाप्त न कियाजाता, यह सब मिध्यावाद का ही महत्व है जो "शुद्धोऽसि जुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि

संसारमाया परिवर्जितोऽसि संसारस्वप्रत्यजमोहनिद्रां

मन्दालसा वाक्यमुवाचपुत्रम्" च्द नित्य शृद्ध बुद्ध सुक्त

स्वभाव है और संसार की माया से वीजत है यह संसार स्वम है,

द इस मोद निद्रा को छोड़कर चढ, यह मन्दालसा ने अपने पुत्र

को कोरी दी है, कथा इस मकार है कि एक राजा के सात पुत्र थे

उनकी माता मायाबाद वेदानतानुकूल ब्रह्मवादिनी थी वह सब पुत्रों
को उक्त लोरी दिया करती थी जिसका फल यह हुआ कि उसके
छ पुत्र तो बनवासी होगणे और सात्रें को उसने उक्त लोरी न
ही वह राज्य करता रहा, पर उसने पूरोंक्त मिध्याबाद के श्लोक
को ताल्लपात्र में मह़कर उसके गले में डाल दिया था कि जब तुम
को कोई निपांच पड़े तो इसको खोलकर पढ़ना, जब उसके बनवासी
मायाबादी श्राताओं को ममता आई तो उन्होंने उससे घोर युद्ध
करके राज्य छुड़ालिया, उस समय उसने उस श्लोक को ताल्लपात्र
से निकालकर पढ़ा तो राज्य के चले जाने का सब शोक भूलकर
अपने माइयों के साथ होलिया, बाहरे मायाबाद तेरी महिमा
जो द ने परस्परा से माप्त धर्मराज्य को छुड़ाकर गली गली में भीक्त
मंगवाने को ही धर्म अर्थ काम मोक्षक्पी फलचतुष्ट्य का साधन
समझा, अधिक क्या उक्त मनुष्यजन्म के फलचतुष्ट्य को इस मायावाद के भाव ने ऐसा नाश किया कि सारी मर्थादा ही मुलादी ॥

मनु-सर्वोपिर मनुष्यजन्म के फल मोक्ष को मायावादियों ने
मुख्य रखा है फिर कैसे कहाजाता है कि फलचतुष्ट्य को नाश कर
दिया? इसका उत्तर यह है कि चतुर्थ फल भी धर्मादि कर्मसमुच्चय
से ही मिलता है अन्यथा नहीं और मायावाद कर्मसमुच्चय का
नाशक होने से फलचतुष्ट्य का भी नाशक है, अधिक क्या इसने सब
वेद शास्त्र और कर्मादिकों को मिथ्या बना दिया है इस मिथ्यावाद
की निर्दात्त और धर्मादि फलचतुष्ट्य की सिद्धि के लिये या यों
कहो कि वैदिक द्वैतवाद के मण्डनार्थ इमने "वेदान्तार्थभाष्य"
बनाकर शारीरक से शक्करमत के मायाजाल को काटा है ॥

Ġ

शकुरमत को जाल इसिलिये कहा गया है कि इनके मत में कहीं जीव की माया उपाधि है कहीं अविद्या उपाधि है कहीं एक जीववाद है कहीं अनेक जीववाद हैं कहीं बिम्बक्स ईश्वर है उसीका प्रति-बिम्ब जीव है, कहीं अन्तः करणाविद्यन्न जीव है, कहीं अन्तः कर-णोपहित जीव है, एवं अनन्त घाटियें हैं जिनको इनकी अघटन घटनापटीयसी माया ही मण्डन करसक्ती है।

इस मायावाद के मर्भी को जानने के छिये हम यहां यतिक-श्चित मायावाद की मिक्रया दिखलाते हैं जिसमे ज्ञात होगा कि इनके मायावाद में कहांतक सचाई है, इनका कथन है कि इस सृष्टि से मथम एकमात्र ब्रह्म ही था जो सर्वथा निर्विशेष था, जिसमें धर्म-धर्मीभाव भी कल्पना किया गया है, वास्तव में उसमें कोई धर्म नहीं, इस स्वतः पकाश बहा में अनादि काल से माया मोहिनी निवास करती है, ब्रह्म ही उसका आश्रय और विषय है अर्थाव ब्रह्म के सहारे रहकर ब्रह्म कोही अज्ञानी बनादेती है, उस माया के साथ मिला हुआ ब्रह्म जगत का अभिक्रीनिमित्तोपादान कारण है, जब उस ब्रह्म ने माया के वशीश्रूत होकर जगत रचने की इच्छा की तो वह ईश्वर कहलाया और उसी ब्रह्म का जो भाग अविद्या कृत उपाधि से घटाकाश के समान ब्रह्म से भिन्न हुआ वह जीव कहलाया, जीवों के अनादि कमें का फल देने के लिये उस ईश्वर ने शब्द, स्पर्श, रूप, रस,गन्ध इन पञ्चतन्मात्र रूप अपञ्चीकृत भूतों को उत्पन्न किया, फिर उनसे पांच स्थूल भूत हुए, इन स्थूल भूतों से श्रोत्र, लक्, चक्षुः, रसना, घाण, यह पांच इन्द्रिय उत्पन्न हुए, पश्च तलों के सालिक अंशों से मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, यह चतुष्ट्य अन्तःकरण उत्पन्न हुए, रजोगुण से पांच माण, रजोगुण

विशिष्ट स्यूछ भूतों से बागादि पांच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुए, पांच हानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राणं, मन, बुद्धि, इन १७ तत्वों का छिङ्गश्रीर मुक्ति पर्यन्त स्थिर रहने वाला उत्पन्न हुआ और बह छिङ्गश्रीर दो प्रकार का है, एक हिरण्यगर्भ का छिङ्गश्रीर माना गया है और दृशरा जीवात्मा का, हिरण्यगर्भ इनके मन में छोटे ईश्वर का नाम है ॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, यह तीन शरीर जीवात्मा के हैं, स्थूल= वाश्वभौतिकशरीर, सूक्ष्म=लिङ शरीर, कारण=अज्ञान शरीर, एवं हिरण्यगर्भ के भी तीन शरीर हैं, महत्तत्व = लिङ्गशरीर, माया=कारण शरीर और विराद = स्थूल शरीर,* यह संक्षेप से मायावादियों की पिक्रया है।।

प्रथम यहां विचारणीय बात यह है कि क्या स्वामी शं०चा० के मत में भी यह बात स्पष्ट है कि माया उपाधि से ईश्वर बनता है ? यद्यपि स्वामी शं० चा० की फिलासफी का प्रवाह इस ओर अत्यन्त बल से बह रहा था कि ईश्वर को भी औपाधिक ही बना दिया जाय पर उपनिषदों के इस भाव ने कि ईश्वर और ब्रह्म एक ही हैं नाना ईश्वर मानने वाला घोर नरक में पड़ता है, स्वामी को ईश्वर के तीन भेद नहीं बनाने दिये, इसलिय आधुनिक माया-वादियों के समान एक ही ब्रह्म के खण्ड २ करके स्वामी ने

^{*} दनके मत में उक्त तीनी गरीरों के भेट से एक ही परमाक्ता के हिरक्शार्भ, दंखर चौर वैखानर,यह तीन नाम हैं,एवं उक्त तीनी गरीरा के भेद में विख्न,तेजस चौर प्राच्च यह तीन नाम जीव के हैं।

चार भेदों में विभक्त नहीं किया, पर यह यहां बाद रखने योग्य बात है कि अज्ञान को स्वामी ने भी स्वाश्रय ओर स्वविषय भाना है अर्थात बहा में ही अज्ञान है और उसी को अपनी चारिक से अज्ञानी बना देता है, इस याव से स्वामी ही आधुनिक वेदान्तियों के नाना यतों की नीव डाल गये हैं, इसी छिये पश्चदशी के चित्र दीप में विद्यारण्य ने लिखा है कि जिसमकार उपाधिभेद से आकावा के (१) घटाकाश (२) जलाकाश (३) मेघाकाश (४) महाकाश यह चार भेद हैं अर्थाव उक्त उपाधियों से आकाश चार मकार का होजाता है, जैसाकि घटकप उपाधि से घिरे हुए आकाश का नाम " घटाकाश " घट के जल में जो मतिबिध्वित आकाश उसका नाम " जलाकाश " मैघ=बादलों के जल में प्रतिबि-म्बित आकाश का नाम " मेघाकाश " और उक्त तीनों उपाधि-यों से बचे हुए आकाश का नाम " महाकाश " है. इसी प्रकार इनके यत में सर्व उपाधियों से विनिर्धुक्त चेतन का नाम "ब्रह्म" स्यूल तथा सूक्ष्म कारीर के अधिष्ठान चेतन का नाम "क्ट्रस्थ " घट स्थानीय जो शारीर उसमें जल स्थानीय बुद्धि में चतन का मतिविम्व " जीव " और माया रूप मेघ में स्थित जो जलकण के समान बुद्धिवासनायें उनमें प्रतिबिम्ब का नाम "ईश्वर" है,इस पकार यह एक ब्रह्म से चेतन के चार भेद बनाते हैं परन्तु यह भेद अन्य वेदान्त ग्रन्थों में नहीं मिलते,संक्षेपवारीरक में चतन के तीन ही भेदमाने हैं, एक ब्रह्म दूसरा ईश्वर और तीसरा जीव, वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य्य भी षट् अनादि मानने से इस बात को

क्फुट कर दिया है कि चेतन के तीन ही भेद हैं (१) शुद्ध चेतन (२) ईश्वर चेतन (३) जीवचेतन (४) अविद्य: (५) अविद्या चेतन का परस्पर सम्बन्ध (६) इन पाचों का परस्पर भेद, यह पद पदार्थ बायाशादियों के कत में अनादि हैं, वार्तिककार का यह कथन शं० था। के विरुद्ध है, क्योंकि स्वामी शं० चा। ने प्रयोजनवन्ताधिकरण में जीव ईश्वर और जीवों के कर्म, यह तीन पदार्थ ही अनादि माने हैं।।

यदि यहां उक्त विरोध परिहार करने के लिये यह समाधान कियाजाय कि जीव ईश्वर का भेद अविया ने बनाया है इसिछये अविद्या भी अनादि है, उत अविद्या का बहा चेतन से अनादि काल से सम्बन्ध है, इसलिये सम्बन्ध भी अनादि है और ब्रह्म, अविद्या, जीव, ईश्वर, सम्बन्ध और इन पांचों का भेद, इस मानन से विरोध परिहार नहीं होता, क्यों कि यह इम पूर्व ही लिख आये हैं कि अविद्यावत से ब्रह्म ईश्वर बन गया ऐमा लेख स्वामी बं॰चा॰ जी का कहीं भी नहीं, यदि होता तो ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रकरण चलाकर ईश्वर का लक्षण कदापि न करते, जैशाकि व्र० सू० शशर में मिसद्ध है और उक्त दोप के परिहार में परिणाम यह निकलता है कि आविद्या और चेतन का परस्पर सम्बन्ध मानने से उलटे तीन अनादि थी उड़जाते हैं,क्यों कि अविद्या और चेतन का सम्बन्ध होगा तो जीव ईश्वर की उत्पांच होगी अन्यथा नहीं और उस प्रयोजनवच्चाधि-करण में इन्होंने जीव ब्रह्म में अविद्याकृत भेद नहीं माना, अस्तु विषारण्य और सुरेश्वराचार्य्य का शं० भा० से विरोध का विश्वार छोड़कर यदि इनके छेख पर ध्यान दिया जाय तो भी इनका छेख अद्वेतवाद के सर्वथा विरुद्ध मतीत होता है, एक ओर ब्रह्म को क्स्तु मात्र की मकृति मानना अर्थाद ब्रह्म ही सर्वोपादान है, अन्यथा एक वस्तु से सर्व का ज्ञान और मृदादि एक वस्तु ही स्व कार्यों में उपादान का दृष्टान्त, इसमकार मितज्ञा और दृष्टान्त का विरोध आता है, एवं पद अनादि और ब्रह्मवाद परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि जिनके मत में अज्ञान भी अधिष्ठान से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं उनके मत में उस अज्ञान से जीव ईश्वर हुए, उसी से जीव ईश्वर का भेद हुआ और "अधिष्ठानाविशेषों हि नाशः किल्पतवस्तूनाम्" चसी एकमात्र ब्रह्म में उस कल्पित वस्तु अविद्या का नाश हुआ, एवं एक ब्रह्म ही अनादि उहरता है।

और जो अद्वेतवादियों ने अज्ञान का आश्रय ब्रह्म माना है यह भी ठीक नहीं, क्यों कि "मैं अज्ञानी हूं" यह प्रतीति जीव को होती है निक ब्रह्म को, इमिल्रिये अज्ञान का आश्रय ब्रह्म नहीं होसक्ता, और बात यह है कि ब्रह्म स्वप्नकाश है इसिल्रिये भी अज्ञान का आश्रय नहीं होसक्ता, यदि स्वप्नकाश ब्रह्म भी उस अज्ञान को निष्टत्त नहीं करसकेगा तो ब्रह्म से प्रवल और कौन प्रकाश उस अज्ञानान्धतम का निवर्तक होगा ? यदि यह कहें कि उसका निवर्तक होता ? यदि यह कहें कि उसका निवर्तक होता है स्वक्ष्पभूत ज्ञान नहीं, यह कथन ऐना ही है जैने कोई कहे कि जिस अन्धकार को सूर्य्य नहीं निष्टत्त कर सक्ता उसको खबोत निष्टत्त कर देता है।

और जो अद्वेतवादी यह कहते हैं कि अज्ञान ब्रह्म के स्वरूप को तिरोहित करके जीव और ईश्वरं बना देता है यह भी ठीक नहीं, यहां तिरोधान से तात्पर्यं ब्रह्म के स्वरूप को इटा देना अथवा अज्ञान से इके इए स्वरूप की प्रतीति करा देना है ? प्रथम पक्ष में दोष यह है कि उसके स्वरूप का तिरोहित होजाना उसको विकारी वनाता है और दूमरे पक्ष में दोष यह है कि जब दूमरी वस्तु के प्रभाव से उसका स्वरूप दव गया तो उसके स्वरूप का तिरस्कृत होजाना स्वक्ष्पनाश ही हुआ, हम आपसे यह पूछते हैं कि जिस अज्ञान को आपने ब्रह्म के स्वरूप को दकने वाला माना है वह अज्ञान स्वयं किसी के अनुभव का विषय हुआ २ ब्रह्म को दकता है वा नहीं ? यदि किसी अनुभव का विषय होकर ब्रह्म के स्वक्ष को दकता है तो अन्योऽन्याश्रय दोष आता है अर्थात प्रथम ब्रह्म उसको प्रकाश करे तो वह ब्रह्म को दके। जब ब्रह्म को दके तब ब्रह्म उसका प्रकाश करे, और यदि अज्ञान अनुभव का विषय होकर ब्रह्म को दक लेता है तो जब अनाच्छा-दित ब्रह्म अज्ञान को अनुभव कर सक्ता है फिर अज्ञान से ब्रह्म के तिरोधान मानने की क्या आवश्यकता ? और प्रष्टुच्य यह है कि ब्रह्म में अज्ञान को अनुभव करना स्वभाव से है अथवा किशी अन्य की ओर मे ? यदि स्वतः ब्रह्म अज्ञान को अनुभव करता है तो स्वाभाविक अज्ञानानुगवी ब्रह्म कदापि मुक्त नहीं होसक्ता, और यदि ब्रह्म परतः अज्ञान को अनुभव करता है तो शुद्ध ब्रह्म में अज्ञानं का आश्रयपन क्या ? और जिम अन्य अज्ञान से ब्रह्म 9 8

अज्ञान को अनुभव करता है वह अज्ञान भी अन्य अज्ञान से अनुभव का विषय होगा, एवं अन्य, अन्य से, इस प्रकार अनवस्था होष आता है, इत्यादि अनेक दोष अज्ञानाश्रयोपपत्ति अर्थाद ब्रद्ध को अज्ञान का आश्रय होने में आते हैं, इस विषय को अधिक तको द्वारा बढ़ाने से ग्रंथ सुक्ष्म होता है, इसिल्ये इसके अधिकारी श्रीभाष्य की अज्ञानाश्रयाऽनुपपत्ति को पढ़ लें, यहां इतना ही जप्युक्त था कि किसी प्रकार भी ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं बन सक्ता ॥

शाङ्कर जारीरक भाष्यादि वेदान्त के सब ग्रन्थों में याया, अविद्या, अज्ञान एकही वस्तु को मानकर उसको अनिर्वचनीय माना है, अनिर्वचनीय के अर्थ इनके यत में जिसका निर्वचन= लक्षण न होसके उसके नहीं किन्त जो न सत् हो, न असत्, न ब्रह्म से भिन्न हो न अभिन्न, इत्यादि विकल्पों के अयोग्य होकर भी जो भावरूप है वही अनिर्वचनीय माया मानी गई है, बस्तुतः वह माया ऐसी शक्तिमती है कि इस निख्छ प्रपञ्च की इनके मत में एकमात्र वही जड़ है. मांख्य और योग के समान इनके मत में वह अनादि अनन्त नहीं किन्तु ज्ञान से रज्जुमर्प के समान नाश होजाती हैइसीलिये वह अज्ञानमात्र कथन कीगई है और ब्रह्म के साथ तादातम्यद्भप से मिली हुई वह अविद्या जगत का उपादान कारण है, तादात्म्यक्प के अर्थ एक आत्मारूप के हैं, इसी भाव से अद्वैत बादी ब्रह्म को अभिन्निनिमित्तोपादान कारण कहते हैं अर्थात आप ही निमित्त और आप ही उपादान है, जिसका अपना स्वरूप ही

भूमिका

कार्याकार हो उसको " उपादांन " कारण कहते हैं, जैसे घट का जपादानं कारण मिट्टी है, न्यायशास्त्र की परिभाषा में इसी को " समवायि" कारण कहते हैं, यह उपादान कारण दो प्रकार का है, एक आरम्भक उपादान, दूसरा परिणामि उपादान, बहुत से पदार्थ मिलेहुए अवयवपुञ्ज से एक कार्य्य वन जाने का नाम " आरम्भक" और उस कारणक्य पदार्थ का परिणाम= स्वक्ष बदलकर कार्याकार होजाना "परिणामी" जपादान कहाता है, जैसे दूध से दिध आदि, मायावादी तीसरा विवर्णि उपादान भी मानते हैं,अन्य में अन्य की मतीति का नाम "विवर्ति" है, जैसे रज्जू में सर्प की मतीति आदि, और यह अविद्या का परिणाम तथा चेतन का विवर्त्त है " विवर्त्त " वास्तव में स्वस्वरूप न त्यागने को कहते हैं और " निमित्तकारण " उसको कहते हैं 'तो कार्याकार न होकर और ज्ञान, इच्छा, यववाला होकर कार्य को बनाये, जसे जीवात्मा अपने शरीर के बाहर भीतर के यथाशकि काय्यों का कर्ता है, निमित्तकारण में यह नियम नहीं कि वह कार्य से पृथक् होकर ही उसको उत्पन्न करे जैसाकि एकदेशी कुलाल आदिक करते हैं किन्तु वह कार्यके बाहर भीतर सर्वदेशी होकर कार्य को बनात है जैसाकि मकड़ी कीटका जीव अपने स्वदेश में स्थित तन्तुओं का निमित्त-कारण है, और ईश्वर बाहर भीतर सर्वदेशी होकर निमित्तकारण है, और जो उपादान कारण में सम्बन्धी होकर कार्य्य का जनक हो उसकी " असमवायि " कारण कहते हैं, जैसे तन्तुओं का संयोग पट

का असमवायि कारण है और जो उक्त तीन प्रकार के कारण से भिन्न हो वह " साधारण " कारण कहलाता है, जैसेकि घटादि-कों की उत्पत्ति में देश, काल, आकाशादिं साधारण कारण हैं, जिस उपयोग से यहां कारण का विचार किया गया है वह प्रकृत यह है कि ब्रह्म जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं हो-सक्ता, यदि इसके यह अर्थ हैं कि आपही निमित्तकारण और आप ही उपादान है तो उक्त तीन पकार की उपादानता में से कौनसी उपादानता ब्रह्म में इष्ट है ? आरम्भक और परिणामी उपादानता तो ब्रह्म के निरवयव होने से ही नहीं मानी जासक्ती, शेष रहा विवर्त्तक्षी उपादानता वह अज्ञान से बिना नहीं हो मक्ती, और अज्ञान का आश्रयण ब्रह्म में इम प्रथम ही खण्डन कर आये हैं, और जो मायावादी माया को उपादान और ब्रह्म को निमित्तकारण मानते हैं, यह तो घट्टकुटीमभात न्याय से द्वैतवाद का दण्ड इनको सहारना ही पड़ता है, वह इस मकार कि मक्तातिक्षी उपादानता माया में मानी और माया के अर्थ इनके मत में प्रकृति के भी हैं और निमित्त कारणता चेवन ब्रह्म में मानते हैं इस अंश में वैदिक द्वैत से क्या, भेद रहा ॥

यदि यह कहाजाय कि प्रकृति तो मायावाद में अज्ञानमात्र है फिर उसमें उपादानता क्या, एकमात्र ब्रह्म ही उपादान रहा, यह सिद्धान्त ब्रह्म की कूटस्थ नित्यता का विरोधी होने से असङ्गत है, इसिछिये अज्ञानोपहित ब्रह्म कारण नहीं कहा जासक्ता, वैदिक दैतवाद में प्रकृति परिणामी उपादानकारण और कूटस्थ नित्य ब्रह्म निमित्तकारण है, इसिछिये कोई दोप नहीं, और जो उक्त

अज्ञानमात्र से माया के कई एक लच्छेद।र लक्षण करके मायावादी उससे इस प्रकार जीव ईक्षर की रचना बना छेते हैं कि शुद्ध चेतन के आश्रित मूलमकाति में चेतन का प्रतिबिम्ब ईक्तर है और अवर्ण-शक्तिविधिष्टमूलमकृति के अंशों में चेतन का प्रतिविम्ब जीव है, जब बह प्रकृति इनके मत में अज्ञानमात्र है फिर उसमें मुख्यकृति और अवर्णशक्तिविशिष्टमूलप्रकृति यह भेद क्या ? यदि यह कहा जाय कि शुद्धसत्वमधान प्रकृति माया कहलाती है और मिलनसत्वभधान अविद्या, इस भेद से दो प्रकार की अज्ञानकपी मक्कति ही कही जासक्ती है ? इसका उत्तर यह है कि सत्वादि गुण उस ब्रह्म के विवर्त्तक इप अज्ञान में कहां से आये क्यों कि विवर्त्त तो उनके यत में अतत्वतोऽन्यथाभाव=मतीतिमात्र है, इनके स्वरचित जीव तथा ईववरवाद के कई एक पक्ष हैं, कोई जीव ईववर दोनों को प्रतिबिम्ब पानता है, कोई जीव को ईक्वर का प्रतिबिम्ब पानता है, कोई ब्रह्म का प्रतिविम्ब मानता है, इत्यादि मायावाद के इस झगड़े को छोड़कर इम इनके मुख्यसिद्धान्त (१) प्रतिबिम्बवाद (२) अवच्छेदवाद (३) आभासवाद, इन तीनों वादों की मीमांसा करके इनको अवैदिक सिद्ध करते हैं जिससे इत होगा कि इनका मत कहांतक हढ़ है, कूटस्थ नित्य सर्वदेशी ब्रह्मका अज्ञानमात्र=मनोरथ मात्र की माया में कदापि प्रतिविम्य नहीं पड्सक्ता, क्योंकि प्रति-विम्ब तब पड़ता है जब दोनों में से एक आकार वाला आवश्य हो सो उक्त नियम ब्रह्म और अज्ञान दोनों में नहीं, अज्ञान को अनि-र्वचनीय बनाकर साकार मानना यह अँद्रेतवादियों का साहसमात्र है, और अवच्छेदवाद उसको कहते हैं कि जिस २ उपाधि के साथ ब्रह्म मिलता है उसीसे घटाकाश के ममान भिन्न होजाता है, एवं अन्तः करणावाच्छन जीव का स्वरूप मानने पर जिस २ देश में अन्तः करण जायगा वहां २ का नित्य मुक्त ब्रह्म बन्धन में आता जायगा और जिसको छोड़ता जायगा वह युक्त होता जायगा, फिर षाप पुण्य की व्यवस्था क्या ? और पाप पुण्य की व्यवस्था को स्वामी ने बड़े बलपूर्वक पयोजनवत्वाधिकरण में निरूपण किया है इसिक्षये यह अवच्छेदवाद अद्वैतविद्याचार्य्य स्वामी के सिद्धान्त

से विरुद्ध है ॥

और "आभास एव च" ब॰स्॰ २।३।५० इस सूब में जो स्वामी घां० चा० ने आभासवाद को वर्णन किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि अद्वेतपत में चेतन की छाया का नाम " अा-आसवाद " है, वह छाया भी निराकार में नहीं होसक्ती, और उस छाया को किसी ने बिम्ब का स्वक्ष भी नहीं माना किन्त भ्रमक्ष माना है, इसलिये इसके मिध्या होने से बन्ध मोक्ष की च्यवस्था नहीं वन सक्ती, अतएव इनके उक्त तीनो वादों से जीव ईक्वर का स्वरूप निरूपण नहीं किया जासका।।

वैदिकसिद्धान्त में जीव ईश्वर का स्वरूप कूटस्थ नित्य है अर्थाद किसी उपाधि से बना हुआ नहीं, जीव सत्चित्स्वरूप और ईक्वर सिंबदानन्दस्वद्य है, माया और प्रकृति एक ही पदार्थ के नाम हैं और वह परिणामी नित्य है, कहीं २ माया बाब्द का प्रयोग अन्यथाज्ञान में भी आता है, जैसाकि 'भायामार्त्र कारस्नेनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" वर् स्र ३। २।३ इस्वादि स्थलों में अन्यथाज्ञान के अभिपाय से आया है और छछ कपटादिकों में भी माया का प्रयोग किया जाता है पर वह मुख्य नहीं मुख्य प्रकृति ही का नाम माया है, वैदिक यस में विपरीत ज्ञान का नाम अज्ञान और इसी अर्थ में कहीं र

अविद्या शब्द भी आया है, और अविद्या शब्द विद्या मान में भिन्न अर्थ में भी आया है, जैसाकि "विद्या ह्या दिवेद्या उच्च यस्त है-दो भ्राय क्ष्महं" यज्ञ ४०। १४ इत्यादिकों में कर्म का नाम अविद्या है, पर अविद्या शब्द ब्रह्म को अज्ञानी बना देने वाले अज्ञान में कहीं भी वेद और वैदिक ग्रन्थों में नहीं आया, इसलिये अविद्या शब्द के अर्थ ब्रह्मानेष्ठ अज्ञान के अविद्या वादियों ने अविद्या से ही किये हैं॥

नेतु—"नीहारेणप्रावृत्ताः" ऋ०८। ३। १७ "अनृतेनप्रत्यृद्धाः " छा०८।४।२ "तम आसीत्तमसागूद्धमेष्रे "
ऋ० ८।७।१७ "मायान्तुप्रकृतिविद्यात् " खे० ४। १०
"अजामेकांलोहितशुक्ककृष्णां " ख०३। ५ " अवि
द्यायामन्तरेवत्तमानाः " गुण्ड० २। ८ " भूयश्चान्ते
विश्वमायानिवृत्तिः " खे० इत्यादि अनेक वेदोपनिषदों के
वचनों में अज्ञान को ब्रह्मानिष्ठ सिद्ध किया है फिर कैसे कहा जाता
है कि अज्ञान के स्वाश्रय स्वविषयह्म ब्रह्मविषयक कोई प्रमाण
नहीं ?

उत्तर-यहहमने "आर्यभाष्य"के अनेक स्थलों में स्पष्ट किया है कि मायावादी लोग साहसमात्र से स्वार्थसिद्धि के लिये वेदो-पनिषदों के वाक्यों की माला पुरोदेते हैं पर पूर्तोत्तर विचार करने से उनके मायावाद का गन्धमात्र भी उन वाक्यों में नहीं होता, यही भाव मधुस्रदनसरस्वती ने अद्वैतिसिद्धि के द्वितीय परिच्छेद अविद्या-प्रतिपादकश्रुत्युपपित वाद०३४ में भरिदया है,देखों उक्त "नीहा-रेणप्रावृत्ताः" यह सारा मन्त्र वेद में इस प्रकार है:— . न तं विदाध य इमा जजानान्यसुष्माकमन्तरं वभूव । नीहरिणपारृत्ता जल्या चास्रतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ऋ०८।३।१०।७

अर्थ-नीहार=धुन्ध के समान अविद्याक्षपी दोनों से आन्छन्न नयनों वाली प्रजा उस जगज्जनमादि कारण ब्रह्म को नहीं जानती, वह प्रजा कैसी है जरूपा=नानापकार के प्रलाप करतीहै, कोई कहता है कि मैं ब्रह्म हूं, कोई कहता है कि ईश्वर ही नहीं यह सब छिष्ट स्वभाव सिद्ध है, इत्यादि अनेक प्रलाप करने वाले लोगों को प्रलापी कह कर फिर यह कहा है कि अञ्चत्यः पेट भरकर मो रहने वाले मनुष्य जन्म के फल से सर्वथा विश्वत हैं, एवं उस पहा प्रभु परमात्मा के महत्व विषयक यह मन्त्र था जिसकी एक प्रतीक को लेकर मायावादियों ने ऐसी माया फैलाई है कि उस सर्वज्ञाता को अज्ञानी ही बना दिया है, इससे पूर्व का मन्त्र यह है जितमें परमात्मा का प्रभाव इस प्रकार वर्णन किया गया है कि:—

तिभे । अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्
विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ ३०८।३।१०।६

अर्थ-उस परमात्मा ने प्रथम इस सुक्ष्म सृष्टि को धारण किया जिसमें सम्पूर्ण सूर्य चन्द्रमादि देव बीजक्ष से मक्कत थे अर्थात उस सर्वाधार परमात्मा में एक प्रकृतिक्ष्म बीज था जिसमें कार्य क्ष्म से सम्पूर्ण भुवन स्थिर थे, यह उस परमात्मा का महत्व है जिस के आगे अज्ञानी जीवों का तुच्छत्व निक्षण किया गया है, यहां वहा के अज्ञानी होने की क्या कथा, यह वह भाव है जिसमें

आकर जीव उसकी अनन्तता का अनुसन्धान करके ब्रह्माम्युधि में निमग्न होता है, या यों कही कि स्व अज्ञानाग्नि से सन्तप्त जीव इसी असीमाम्बुधि रूप ज्ञानसागर में गोता लगाकर शीतल होता है, इसी मकार " अनृतेन प्रत्यूदाः" यह वचन भी जीव को अद्यानी बोधन करता है, वहां यह मकरणहै कि :—

"हिरण्यानिधिनिहतंक्षेत्रज्ञा उपिर उपिर सञ्चरन्तो न विन्दे अरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दिन्त अनृतेन हि प्रत्यूदाः"

छा०८।३।२

अर्थ-जिममकार क्षेत्र में गढ़ दुए धन को अज्ञानी छोग न जानते दुए उपर २ फिरते हैं इसीमकार परमात्मा को न जानती दुई मजा उपर २ फिरती है अर्थाद समाधि, सुदुप्ति, मूर्ळादिकों में औपाधिक चित्तहित्तिरोध से उस परमात्मा के सामान्य आनन्दको जानती दुई भी अज्ञानवत्र ब्रह्मानन्द से विश्वत है, इसमें स्पष्टतया जीव के अज्ञान का वर्णन है, और "तम आश्रामसागूद्रमंत्रे " ऋ०८। ७। १७। ६ इस मन्त्र का आज्ञाय यह है कि प्रख्यकाल में तमोगुण का आधिक्य होने से यह कार्य जगद मानो तम से आच्छादित था, इससे ब्रह्म अज्ञानी कैसे सिद्ध दुआ, पत्युत आगे के मं० ७ में यह भाव स्पष्ट कर दिया है कि एकमात्र परमात्मा ही अपनी स्रष्टि को सम्पूर्ण क्य से जानता है अज्ञानी जीव उमके महत्व को ठीक २ नहीं जानमक्ता।

"मायान्तुप्रकृतिंविद्यात्" इस वाक्य में माया प्रकृति का नाम है इसमें ईश्वर की अज्ञानता कैसे ? और

" अजामेकां लोहित शुक्क कृष्णां " यर वाक्य मकृति को वर्णन करता है, यह हमने समन्त्रयाध्याय में स्पष्ट शित ले वर्णन किया है " अविद्यायामन्तरेवर्त्तमाना " यह जीव के अ-ज्ञान की वर्णन करता है, यह वाक्य मुण्डक में उस प्रकरण में आया है जिसमें अज्ञान से एक दूसरे के पीछे चलने का निवेध किया गया है कि अन्यपरम्परा से चलना अज्ञानी जीवों का काम है, एवं " अयुश्चान्तेविश्व प्रायानिवृत्तिः " यह भी जीव के अज्ञान की निरुत्ति ब्रह्मज्ञान से कथन करता है, इत्यादि अनेक वाल्या-, आसों से मायावादियों ने ब्रह्म को अज्ञानी बनाने का कोटि २ यत्न किया है और इससे या फल समझा है कि अज्ञान से बहा भूलकर धीव वने तथी उसको "तत्वमसि" का उपदेश करके बहा वना-स्थे, पदि इस निस, शुद्द, बुद्ध युक्तस्वभाष रहा और जीव अज्ञानी इससे भिन हुआ सो "तत्त्वमसि" किस काम आयेगा, अत-स्वमसि " " अहंब्रह्मास्मि " इन नाक्यों की इसने भाष्य में सङ्गत किया है, यहां प्रसङ्ग सङ्गति से इतना और दिख्छा देते हैं कि "प्रज्ञानंबस " ऐ॰ ५।३ " अयमात्माबस " वृहं॰ २।५। १९ इन बाक्यों का भी ऐने ही अर्थ बिगाड़ा है, " प्रज्ञा-नैब्रह्म " यह ईश्वर मक्रण का वाक्य है इसमें मज्ञान की ब्रह्म कथन किया गया है अर्थात जिनसे सब कुछ जाना जाता है वह ब्रह्म है और इससे आगे के श्लोक में यह कथन किया है कि जो इस प्रज्ञान रूप परमात्मा के ज्ञान द्वारा इस लोक से उत्क्रमण करता है वह सब कामनाओं को प्राप्त होता है, इससे सिद्ध है कि जिसको यहां " प्रज्ञानंत्रका" कथन किया गया है वह जीव से भिन्न है, दूसरा "अयमात्माब्रह्म" यह भी ब्रह्म प्रकरण का बाक्य है, सारा इस प्रकार है कि:—

" तदेतद्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यमयमात्माब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्"व्र०२।५।१९

अर्थ-यह बह बहा है जिसका कोई कारण नहीं, नाहीं उसका पिटी के घट समान कोई कार्य और न उससे कोई बाहर है अर्थात बह सर्वगत है, सर्व का जाता है, इस वाक्य में जीव का कोई मकरण नहीं, फिर इन वाक्यों से जीव ब्रह्म कैसे बनसक्ता है।

मायात्रादी सब लेखकों का यह आवाय रहा है कि अर्थामास बनाकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लियाजाय कौन देखता है कि पूर्वीत्तर क्या है, इसीमकार इन्होंने तकीभास से यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म के आश्रित अज्ञान रहता है और वह उसको जीव बना देता है जैसाकि " अच्छाद्यविक्षिपतिसंस्फुरदात्मरूपं "सं० धा ०१।२० इस वाक्य में संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञमाने युद्ध ब्रह्म को अज्ञान से ढकाजाना माना है,इमं इनके तर्क का प्रभाव दिख्छाने से प्रथम यह दिखलाते हैं कि ब्रह्म के जीव बनते इप भाव को इन्होंने किस निर्भयता के साथ वर्णन किया है :--दीनता को त्याग नर आपनो स्वरूप देख ततो शुद्ध ब्रह्म अज दश्य को प्रकाशी है। आपने अज्ञान से ज-गत् सब तूही रचेसबको संहार करे आप अविनाशी है। मिथ्या परंपच देख दुख जिन आन जिय देवन को देव तूंतो सब सुखरासी है। जीव जगईश होय माया

से प्रभासे तही जैसे रज्ज सांप सीपरूप हैं प्रभासी है।।

इस किथन में इस भाव को स्पष्ट किया है कि रज्जू सर्प के समान यह सब मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सर्वाकार होरहा है, इतर व्यपदेशाधिकरण ब्र० स्र० २। १-२१-२२ में इस भाव को स्पष्ट रीति से निषेध किया यया है कि ब्रह्म अपने आप दुःख में नहीं पड़ सकता, फिर भी शङ्करमत के श्रद्धालु इस ब्रह्म विकारवाद को अनेक मकार के वर्णन करते हैं, जैसािक :—

ज्यों कोई कूप में झाक अलापत ऐसे ही भान्ति सो कूप अलापे। ज्यों जल हालत है लग पौन सुलोग कहें प्रतिविष्व ही कांपे। देह के प्राण के औ मन के कृत मानत है सब मोहि कों ज्यापे। सुन्दर पेच परयो अतिशयकर भूल गयो अमते ब्रह्म आपे।। सु॰ वि॰

प्तं विधि अनेक शङ्कर सम्पदायी लोगों के ग्रन्थ भाषा और संस्कृत में प्रचलित हैं जो अहर्निश यही उपदेश करते हैं कि ब्रह्म ही भूलकर जीव बना हुआ है और द ब्रह्म है, इस उपदेश से ज्यों का त्यों ब्रह्म होजायगा।

इम इसका उत्तर यही देते हैं कि ब्रह्म बनना तो जो है सो है पर "असझेव स अवित असद्गृह्मितिखेदचेत्" नै॰ ६। १ इस बाक्यानुकूछ ब्रह्मांबकार मानने बाले स्वयं विकृत होजाते हैं, अस्तु, मकृत यह है कि हम इन भाषा छन्दों का एक भाषाछन्द में ही उत्तर देते हैं जो मायाबादियों ने पूर्वपक्ष क्य से लिखा है:—

स्त आर्थ्य जो तम होय बड़ो रिव को निह

छाद सके पुन सोई। तिम आत्म नित्य प्रकाश महां जिनके सम दूसर और न कोई।। सुल सागर नीत उजागर है फिर भूल कहो किहिं भांति सु होई। अब दूर करो करुणा करके यह शङ्क बड़ी उर अन्तर मोही॥

यह मबोधचन्द्रोदय नाटक के उस स्थल का छन्द है जहां ब्रह्माश्रित अज्ञान मानकर सब विश्ववर्ग की उत्पत्ति उससे मानीगई है, यहां यह पश्च उत्पन्न हुआ कि स्वतः प्रकाश ब्रह्म में अज्ञान कैसे ? क्योंकि वह तो सबका प्रकाशक है ? इसका उत्तर उस स्थल में इससे भिन्न और कुछ नहीं कि उपाधि के वल से वह अज्ञानी बना और वह जपाधि मायावाद में कल्पित है अस्तु, इस मायावाद के नवीन वेदान्त की कल्पना में पड़करे यदि सहस्रों वर्ष भी यत्र कियाजाय तब भी इसका पार कोई नहीं पासकता,इसिछये हम इनके मुख्य तार्किकों की कुछ तर्कों के तर्काभास दिखलाकर माचीन वेदान्त की ओर दृष्टि दिलाते हैं, जीव ब्रह्म को एक सिद्ध करने के लिये अद्वेतकौस्त्रभ में यह तर्क दिया है कि (१) "जीवः परस्मान्नभिद्यते " (२) "सचिदानन्दलक्षणत्वात्" (३) "यःसचिदानन्दलक्ष-णः स परस्मान्नभिद्यते यथा परमात्मा "=जीव परमात्मा से भिन्न नहीं. सिचदानन्द लक्षण बाला होने से, जैसाकि परमात्मा सिचदानन्द लक्षण वाला है, इसलिये अपने से भिन्न नहीं, एवं जीव भी परमात्मा ही है।

इस अनुमान में हेलिसिद्धि है अर्थाद हम जीव को आनन्द-स्वरूप नहीं मानते फिर आनन्दस्वरूप हेतु से जीव ब्रह्म कैसे ? और आधुनिक वेदान्त के सर्वोपिर पण्डित निश्चछदासजी ने जीव क्य के ऐक्य का साथक यह अनुमान लिखा है कि (१) " जीही व्याधिन: " (१) " चेतानत्वात्" (३) " ब्रह्मवत्" = बीब ब्रह्म है क्योंकि चेतन है, जो चेतन होता है वह ब्रह्म से भिन्न नहीं होता, जैताकि ब्रह्म चेतन है और ब्रह्म से भिन्न नहीं।

इस अनुमान में हम चेतनत्व की विवेचना पूछते हैं कि चेत-नत्व क्या ? क्या विषयमकाशकत्व का नाम चेतनत्व है वा विषय का मकाशक न होने पर भी चेतनत्व धर्म रहता है ? यदि चूर्व विकल्प मानें तो ऐसा चेतनव मायावादियों को ब्रह्म में स्वीकार नहीं, क्योंकि किसी वस्तु का प्रकाश करना उसमें उपाधि से आता है स्वतः नहीं और इसीलिये वह शुद्ध लक्ष को सर्वज्ञ नहीं मानते, सर्वज्ञादिधर्म उनके मत में ईश्वर में हैं, फिर चेतन हेतु से जीव की ब्रह्म सिद्ध करना कैसे ? और दूसरा पक्ष जिसमें विना विषय मकाश के चेतनत्वधर्म है वह अनुभव विरुद्ध है तथा यहां दुःखमाग-भावानधिकरणत उपाधि भी है अर्थात दुःखप्रागभावानधिकरणत ब्रह्म में है जीव में नहीं, एवं चेतनल हेतु जीव में है पर उसमें दुःख-मागमावानिधकरणत नहीं, इस प्रकार साधन की अञ्यापक उपाधि है, और अद्वैतिसिद्धि में प्रपञ्च के मिध्याल में यह अनुमान है कि (१) "प्रपञ्चोमिथ्या" (२) " दृश्यत्वात्" (३) "शुक्ति-रजतवत् "=यह संसार मिथ्या है अर्थात श्रमक्य है दृश्य होने से, जैसे सीप में चांदी भ्रम है, इससे सिद्ध है कि जो दर्शन का विषय होता है बह सब भ्रम होता है, मथम तो यह हेतु ही व्यथिचारी है क्योंकि " दृश्यते त्वप्रया बुद्धवासूक्ष्मयासूक्ष्मदर्शिभिः" इसादि वाक्यों से ब्रह्म में दृक्यत्व=ज्ञानविषयत्व है पर मिध्यात्व महीं और यह बात भी विवेचनाई है कि दृइयत्व क्या ? दृश्चिक्या-

ति इस है वा फलन्यापिकप ? यदि हइयन से तात्पर्ध्य फलन्यापि का है अर्थात जहां २ फलन्याप्यत्व है वहां २ ही मिथ्यात्व है तो इस अवस्था में परमाणु आदि अंतीन्द्रिय पदार्थों में मिथ्यात्व नहीं आयेगा, क्योंकि उनमें दृत्तिन्याप्ति के होने पर भी फलन्याप्ति नहीं, और दूसरा पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि ब्रह्म में दृत्तिन्याप्ति तो है पर मिथ्यात्व नहीं, इसलिये हेतु न्यभिचारी हुआ और यदि ज्ञान विषयत्व हेतु ही मिथ्यात्व का साथक है तो निक्नलिक्ति अनुमान ठीक क्यों नहीं ?:—

(१) "ब्रह्ममिथ्या" (२) "अविद्यावदुत्पन्नज्ञानविष-यत्वात्" (३) "प्रपञ्चवत्" (१) "ब्रह्ममिथ्या" (२) "ज्ञान-विषयत्वात्" (३) "प्रपञ्चवत्" (१) "ब्रह्ममिथ्या" (२) "असत्य हेतुजन्मज्ञानविषयत्वात्" (३) "प्रपञ्चवत्"

अर्थ-(१) मायावादियों का ब्रह्म मिध्या है, (२) अविद्यासां का जीव उसके ज्ञान का विषय होने से (३) प्रपञ्च के समान, इस बात को खामी शं० चा० जी. ने प्रथम सूत्र की भूमिका में खीकार भी किया है कि जो अविद्यावाछे के ज्ञान का विषय होता है वह सब मिध्या होता है (१) ब्रह्म मिध्या है (२) ज्ञान का विषय होने से (३) प्रपञ्च के समान (१) ब्रह्म मिध्या है (२) असंस्थ हेतु से है जन्म जिसका, ऐसे ज्ञान का विषय होने से अर्थाद असंस्थ से जो ज्ञान होता है उसका फल भी मिध्या ही होता है, और मायावादी लोग सब ज्ञानों को असद से ही मानते हैं वेद आख आदि सब उनके मत में भ्रममात्र हैं, एवंविध तर्काभास और अर्थाभास के देखे जाने से ज्ञात होता है कि इन्होंने खपक्रमादि

षट्छिङ्ग अज्ञानी जनों के मनों को मोइनार्थ ही माने हैं अन्यथा क्या कारण कि उपक्रमादि षट्लिङ्गां को मानकर भी यह अपने यत को तदनुकूल सिद्ध नहीं करते, वह लिङ्ग यह हैं (१) " उप-क्रमोपसंहार " (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद (६) उपपत्ति"=जहां प्रारम्भ और अन्त एक अर्थ में सक्तत हों उसको " उपक्रमीपसंहार " कहते हैं, जैसाकि छान्दोग्य में उपासना से उठाकर " यावदायुषमेवंवर्त्तयत्" यहां तक कर्म में ही उपसंहार किया है (२) बार २ एक अर्थ की दहता करने का नाम "अभ्यास" है, जैसाकि उदालक ने खेतकेतु को जीवात्मा का तत्व नोवार दृहता से बतलाया है (३) "अपूर्वता" उस अर्थ में होती है जो मथम माप्त न हों, जैसाकि ब्रह्म के अपहत-पाप्मादि धर्म जीव को प्रथम प्राप्त नहीं मुक्ति के साधनों से ही प्राप्त होते हैं, (४) तद्रमंतापत्तिक्प मुक्ति " फूल " है (५) मुक्त पुरुष का जो सब लोकलोकान्तरों में स्वेच्छा से विचरना छान्दोग्य में कथन किया गया है वह " अर्थवाद " है अर्थाव सर्व में पूर्ण होना ईश्वर का ही सामर्थ्य है मुक्त पुरुष का नहीं (६) पत्ति " नाम युक्ति का है, जैसाकि छान्दोग्य में एक पुरुष की आंखें बांधकर जङ्गल में छोड़ देने का दृष्टान्त देकर यह युक्ति बत-लाई है कि जैसे वह पूछता पूछता स्वदेश को प्राप्त होजाता है एवं आचार्यवानं पुरुष ही परमार्थ को लाभ करसक्ता है अन्य नहीं, उक्त षट्छिङ्ग नाममात्र से भी मायावाद में सङ्गत नहीं होसक्ते। और जो मायावादी यह कहते हैं कि " सदेवसोम्येदम्य आसीदेकमेवाऽदितीयम्" छां० ६।२।१ यह उपक्रम है और "एतदात्म्यमिदेसर्व" छा०५।२।७ यह उपसंहार है अर्थात एक का मारम्भ करके एक में समाप्ति कीगई है,इसलिये उपक्रम उपसंहार अद्वैतवाद में घट सकते है ? उत्तर-प्रथम तो इस उपक्रमोपसंहार में यह बात सस नहीं कि एक ब्रह्म का उपक्रम और उसी का उपसंदार है, क्योंकि इस छवें प्रपाठक में सस का पकरण चलाकर सस ही में उपसंहार देखा जाता है, और दूसरी वात यह है कि अद्वितीय से तात्पर्य यहां मायावादियों के अद्वेत का नहीं, क्योंकि वह अद्वेत के यह अर्थ करते हैं कि जिसका कोई सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद नहीं अर्थाव उससे भिन्न कोई वस्त्वन्तर न हो वह अद्वेत है, यह सात्पर्य यदि यहां एकमेवाद्वितीयम् का होता तो इससे प्रथम यह न कहा जाता कि " असतः सदजायत " छा० ६।२।१= असव से सव उत्पन्न हुआ, यहां असव से तात्पर्य मूक्ष्म प्रकृति का है और यदि एकमेवादितीयम का अर्थ भेदत्रयशुन्य है तो मायावादियों के विचारे (१) ईश्वर (२) जीव (३) अविद्या (४) अविद्या चेतन का परस्पर सम्बन्ध (५) ब्रह्म अनादि को मिलाकर पांचो का परस्पर यह पांचो अनादि कट जार्वेगे और जो मायावादी यह बल दिखाया करते हैं कि एकं, एव, अद्वितीयं, इन तीन पदों से तीनो भेदों के निषेध का तात्पर्ध्य है तो "असदेवसोम्येदमग्र आसीत" इस वाक्य में "एव" पद कौन से विजातीय भेद का निषेध करता है ? हमारे वैदिक मत में तो "असदेवेदमग्रआसीदेकमेवाद्धि- तीयम्" छा० ६।२। १ में जैसे स्रक्ष्मच्य मकृति डपाइक्ष कारण की दृहता के लिये एकं, एव, अद्वितीयं यह सीनों चाब्दं आये हैं एवं एकार्थ की दृहता के लिये उक्त तीनों चाब्द आते हैं इस से सिद्ध हुआ कि उपक्रंम उपसंहार से मायावादियों का अद्वैत-वाद सिद्ध नहीं होता (२) "तत्त्वमसि" का अध्यास अर्थाव नोवार पढ़ा जाना "जीवापेतं किलेदं प्रियते, न जीवो प्रियते"

इत्यादि छिड़ों से जीवात्या के अविनाशी होने की दृहता सिद्ध करता है निक माथावाद की (३) अर्थवाद—इनके यस में एक विकान से सर्वविज्ञान है अर्थाद एक के जानने से सर्व का जानलेना, यहि यह भी अर्थवाद ही है तो मायावादियों का सब अर्थ अनर्थ होगया, क्योंकि झहा के अभिकानियत्तोपादान कारण मानने में यही तो एक मुख्य तर्क था कि एक के जानने से सब जाना जाता है और एक के जानने से तभी सब जानाजाता है जब उपादानकारण एक हो, जब सर्वज्ञान अर्थवाद है तो मतिज्ञा दृष्टान्त से अभिक्रनिमित्तो-पादानकारण की सिद्धि कैसे ? (४) जो उक्त छ छिड़ों से तात्पर्य का निर्णायक अर्थ हो उसका नाम "उपपत्ति" है, सो वह तो

इनके मत में मनोरथमात्र ही है जैसाकि हम वेदोपनिषदों के अनेक मन्त्रों से सिद्ध कर आये हैं कि अन्धपरस्परा से मायावादसागर का सेतु मायावादी वेदोपनिषदों को मान रहे हैं वास्तव में इनमें मायावाद का गन्ध-मात्र भी नहीं "अपूर्वता" और "फल्ल" इनके मत में इसिल्चिय सङ्गत नहीं कि नित्यमाप्त की माप्ति में क्या अपूर्वता, बह तो पूर्व ही माप्त थी मायः अद्वैतवादी यह आक्षेप किया करते हैं कि भेद तो मत्यक्ष सिद्ध है इसमें क्या अपूर्वता? इसका उत्तर यह है कि इमारे मत में ईक्वर

का साक्षात्कार अपूर्व है वह पूर्व सिंद्ध न होने से चक्त दोष नहीं और फल मुक्ति इनके यत में पाषाणकल्प है इसलिये फल श्री निक्षकल है ॥

(१) तुम्हारी तीनो सत्ताओं का कथन सूत्रों में नहीं, क्योंकि जब स्वप्न और जाग्रत के पदार्थों की सत्ता का भेद है तो फिर स्वप्नादि दृष्टातों से जगत मिथ्या कैसे ?

(२)सूत्रों में कहीं भी विवर्त्तवाद का स्वीकार नहीं,हां परिणामषाद को सूत्र कथन करते हैं तथा सूत्रों में कहीं परमाणु वा मकृति का खण्डन भी नहीं प्रत्युत प्रकृत्युपादान कारण का "प्रकृति स्वप्रतिज्ञाहणा-न्तानुपरोधात्" ब०स० १।४।२३ इस सूत्र में मण्डन है।

और जो स्वामी शं॰ चा॰ जी ने परमाणुओं में आकाश यानकर उनको सछिट्र निरूपण करके अनिस सिद्ध किया है वह इस मकार ठीक नहीं कि जैसे इनके मत में जीव के भीतर परमात्मा होने से जीव सच्छिद्र नहीं होता एवं विभु पदार्थों से परमाणु सच्छिद्र नहीं होते, यदि यह कहाजाय कि परिच्छिन्न पदार्थ ही भीतर और बाहर पदेशों वाला होता है और मायाबादियों के मत में जीव परिच्छिन नहीं ! इसका उत्तर यह है कि अंशाधिकरण में जीव को स्वामी ने परिच्छिन माना है, उस उपाधिकृत परिच्छेद वाले जीव में परमात्मा है वा नहीं ? यदि यह माना जाय कि वही परमात्मा है उस देश में उससे भिन्न परमात्मा नहीं तो उस का निसमुक्तत्व और मर्वज्ञत्व नावा होता है, और यह बात अनुभव से भी विरुद्ध प्रतीत होती है कि जितने देश में जीवात्मा अविद्याद्भप उपाधि से परिच्छित्र है उतने देश में उससे भिन्न वहां परमात्मा नहीं, और "य आत्मानितिष्ठन् आत्मनो उन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शारीरम् " इसादि वाक्यों में जीव के अन्दर अन्तरात्मा का वर्णन किया गया है, एवं परमाणुओं के खण्डन के लिये जो दोष दिये गये हैं वह मायावादियों के जीववाद में भी तदबस्थ हैं, यह परमतिनदर्शन मे दर्शाया गया है, और परमाणुओं का खण्डन मायावाद के तकों से इसिंछये भी नहीं होता कि परमाणुवादियों का तात्पर्य प्रकृति के परिणामि निसत्व वर्णन में है अथीव प्रकृति को कितना ही मुस्म क्यों न करें फिर भी वह नाश नहीं होती यही तात्पर्यं तीन गुणों की माम्यावस्था का है कि गुणक्ष मे वह बनी रहती है नाश नहीं होती और मांख्य योग न्याय, वैशेषिकादि

सब शास्त्रकार इस बात को पानते हैं कि जड़ दृब्य जगत का उपादान कारण है यह सर्वतन्त्रिसद्धान्त है फिर वेदान्तदर्शन इसके विरुद्ध कैसे होसक्ता है।

और जो " जिनकर्तुः प्रकृतिः " अष्टा॰ १।४।३० इस सूत्र से स्वामी ने उपादानकारण में पश्चमी मानी है यह ठीक नहीं " पुत्रात्प्रमोदोजायते " " आदित्याञ्जायते वृष्टिः " इसादि स्थलों में विना उपादान के भी पश्चमी देखी जाती है, यदि जीनघातु के प्रयोग में उपादान में ही पश्चमी होती तो उक्त उदाहरणों में पश्चमी कैसे ? और महाभाष्य के "गोलोमाजलोमाविलोमभ्योदूर्वाजायन्तेअपकामन्ति-तास्तेभ्यः " इसादि वाक्यों में दुर्वा का उनसे पृथक् होना ही माना है गोल्लामादि उसके उपादान नहीं, इसमकार " जिन-कर्तुः प्रकृतिः " का खण्डन करके " ध्रुवमपाये अपादानम् " अष्टा॰ १। ४। २४ इस सूत्र से " यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते " तै० ३। १ इसादि वाक्यों में निमित्तकारण में पंचमी मानी है, इसिलये स्वामी का उपादान कारण में पंचमी मानना ठीक नहीं, उपादान का छक्षण यह है कि जो अपने आप में कार्य्य के उत्पन्न करने का हेतु हो उसको " उपादान " कारण कहते हैं, सो इसनकार का उपादान कारण मायावाद में माया ही इष्ट है ब्रह्म नहीं, इस भाव को इम पूर्व स्पष्ट कर आये हैं कि इस मकार का उपादानकारण प्रकृति ही ठहरती है, उक्त रीति से इर्शन तथा व्याकरण से विरुद्ध ब्रह्म को उपादानकारण मानने से मायाबादियों का मत असङ्गत है और ब्र० सू० २ । १ । २४ में परिणामनाद स्पष्ट है ॥

३—सूत्रों में कहीं भी ब्रह्म का भूछकर जीव बनना कथन नहीं किया गया प्रत्युत ब्र० सू० १। २। ३—४ इसादिकों में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट वर्णन किया गया है ॥

४-मायावादियों के हिरण्यगर्भादि अनेक ईश्वरवाद का गन्ध भी सूत्रों में नहीं ॥

५—माया, अविद्या और अज्ञान जो इनके ब्रह्म के प्रबल शञ्ज हैं उनका नाममात्र भी खुत्रों में नहीं और जो अन्यथा ज्ञान के अभि-प्राय से माया शब्द ब्र० सू० ३।२।३ में आया है वह भी जीव विषयक है ब्रह्मविषयक नहीं ॥

६—इनकी पाषाणकरप कैवरयमुक्ति का नाम तक सूत्रों में नहीं, अधिक क्या ब्रह्मसूत्र सर्वथा शङ्करमत से विरुद्ध हैं, इस भाव को हस्तामलकवद दर्शाने के लिये आगे स्वामी शङ्कराचार्य और रामानुज के भाष्यों सहित कई एक अधिकरण लिखकर यह स्पष्ट करिद्या है कि ब्रह्मसूत्र मायाबाद को सिद्ध नहीं करते॥

एवं इनके उपक्रमोपसंहारादि षद्छिङ्गों की सङ्गति सूत्रों में नहीं मत्युत सूत्र वैदिकसिद्धान्तों के भाण्डार, मनुष्य जन्म के फल-चतुष्ट्य का आगार और औपनिषद विद्या का सार हैं।

इस भाव को साक्षात्कार करने के लिये इमते प्रायः ब्रह्मसूत्रों के सब भाष्यों को पढ़ा जिनसे यह अवगत हुआ कि सूत्रकार ने इन ब्रह्मसूत्रों में मणिक्ष्पी वैदिक वाक्यों को प्रनथन किया है, इसलिये वैदिकसिद्धान्तों को छक्ष्य रखकर इसने यह " वेद्धान्ता- र्यभाष्य " लिखा है अर्थात इसमें एकमात्र वैदिकमार्थों का आश्रय लिया है अन्य किसी भाष्य का नहीं।

यदापि " मध्वभाष्य " द्वेतवाद का मण्डन करता है इस अंश में वैदिक द्वेतवाद ब्रह्मसूत्रों में च्याख्यान कियागया है तथापि इमने उसका अनलम्बन इसलिये नहीं किया कि उसमें कुछ विशेष व्याख्या नहीं "अधिकन्तुभेदिनहेंशात्" ब्र॰स्॰२। १। २२ इसादि वेदान्त के मर्मस्थलों पर भी वह कुछ नहीं लिखता, आरम्भणाधिकरण में भी उसमें कुछ विशेषता नहीं, केवल इतना ही लिखा है कि जीव ब्रह्म नहीं होस हा, सच तो यह है कि केवल द्वैतवाद की विलक्षणता से उक्त भाष्य वेदान्तसूत्रों पर मसिद्ध है बरन उसमें कोई अपूर्वता नहीं जिससे उसको भाष्य कहाजाय, केवल पुराणों के श्लोक इकत्रे करके एक सङ्ग्रह करदिया है जो आकार में भी खामी शं०चा० और रामानुज की चतुस्सूत्री की व्याख्या से कम है, इसका कोई महत्व देखना चाहे तो ब्र० सू०२। ३। ७ की व्याख्या में देखे जिसके मायावादियों के मत में यह अर्थ हैं कि जो भेदवाला होता है वह विकारी अर्थाद मिध्या होता है, इस सूत्र के भाष्य में पुराणों के इधर उधर के दो चार वाक्य लिखकर वैदिक द्वैतवाद को ऐसा शिथिल किया है कि भाष्यकर्त्ता से कुछ नहीं बनपड़ा, ऐसे आश्रय से इम क्या लाभ उठाते।

एवं "अणुभाष्य" में भी कोई विशेषता नहीं, केवल जीवात्मा के अणुवाद पर सत्तर्क न्याख्या की है सो श्रीभाष्य की अपेक्षा से तुच्छ है, सार यह है कि वैष्णवों की चारो सम्भदायों के भाष्यों में रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य ही मुख्य है सो हमने

श्रीमाज्याचार्य के जो २ सिद्धान्त वैदिक हैं वह कई एक स्थलों से स्पष्टरीति से दिखलाये हैं।

"विद्यान भिक्षु" के भाष्य में इतनी विचित्रता है कि उन्होंने वैदिक दैतवाद को बड़े बळपूर्वक मण्डन किया है अर्थाद अञ्जान दिवञ्चतद जुपपित्तिः" त्र खु० २।१।२३ में उन्होंने यह सिख किया है कि जिसमकार पत्थरादिक त्रखा नहीं बनसक्ते इसीमकार जीव भी त्रह्म नहीं बनसक्ता, जेते पत्थरादिकों के सचादि गुण त्रद्ध के समान भी हैं पर जड़त्वादि गुण त्रह्म से भिक्ष हैं, इसिछये पाषाण त्रह्म नहीं होसक्ता, एवं जीव के सद चित्र गुण त्रद्ध के समान होने पर भी अल्पइत्वादि गुण जीव को त्रह्म से भिक्ष करते हैं इसिछये जीव त्रह्म नहीं।

यहां स्वामी "विज्ञानिभिद्धु"की यह बात अत्यन्त सराहनीय है
कि उन्होंने संन्यासी होकर भी वैदिक द्वैतवाद को नहीं छिपाया
और अपने से पूर्व प्रदत्त स्वामी शं० चा० के मायावाद को मन्तर्व्य
नहीं समझा, पर इनके व्याख्यान का आश्रयण हमने इसिछये नहीं
किया कि यह भी सब अधिकरणों में जीव ब्रह्म का भेद और प्रकृति
को उपादान कारण,इत्यादि वैदिक भावों को ठीक रमण्डन नहीं करसके, प्रकृत्यधिकरण में इन्होंने भी प्रकृति को ब्रह्म की उपाधिकप ही
माना है तथा सांख्य का भी वैसा ही खण्डन किया है जैसा स्वा०
शं० चा० ने किया है और दोष इस भाष्य में यह है कि जैसी युक्ति
का भाण्डार ब्रह्मसूत्र हैं उन पर उस युक्ति के साथ भाष्य नहीं
किया, यह वह ब्रह्मसूत्र हैं जिनकी अद्भुत युक्ति का वर्णन " ब्रह्मसूत्रपदेश्चेवहेतुमद्भिविनिश्चितै: "गी० १३।४ में किया है कि

वह ज्ञासूत्र कैसे हैं युक्तियों वाले तथा निश्चित अर्थ वाले हैं, और यह वात तो ज्ञासूत्रों के पढ़ने से ही मतीत होती है कि यह वेदालुकूल तर्क और ज्ञासिवा के आकर हैं फिर इन पर युक्तिहीन भाष्य क्या, इसिलेय हमने मुख्य भाष्यकार स्वा॰ शङ्कराचार्य और स्वा॰रामा- नुज जिनकी फिलासफी न केवल लेख में है मत्युत लाखों मनुष्यों के हृदय में है उनके लेखों को आगे उद्धृत करके इस " वेदान्तार्य- भाष्य " को युक्तियुक्त किया है।

और जो इम पर यह शङ्का होगी कि जब किसी प्राचीन भाष्य का अबलम्बन इस भाष्य में नहीं कियागया तो इसके प्रामाणिक होने में क्या प्रमाण ? इसका उत्तर यह है कि १- ब्रह्मसूत्रों में वेद तथा वैदिकवाक्यों का ग्रन्थन कियागया है और जो भाष्य इन वाक्यों से विरुद्ध नहीं वह प्रामाणिक है, इस विषय के प्रामाण्याप्रामाण्य की यही परीक्षा है, '- ब्रह्ममूत्र अन्य दर्शनों से विरुद्ध नहीं, इसिलिय जो भाष्य अन्य दर्शनों से सङ्गति रखता है वह मामाणिक है, जैसाकि जीव और ब्रह्म के एकल ज्ञान में किसी दर्शनकार ने मुक्ति नहीं मानी, न किसी ने " बाधसमानाधिकरण "=सर कुछ मिटाकर एक ब्रह्म ही ब्रह्म है,इस भाव को माना और नाही किसी ने जीव घटाकाश के समान महाकाशक्षी ब्रह्म से अभिञ्च है यह "मुख्यसमानाधिकरण" माना है, ३-ईश्वर किसी उपाधि के वश में आकर सृष्टि को रचता है यह किसी दर्शनकार का मत नहीं, ४-जगत को मिथ्या किसी दर्शनकार ने नहीं माना, ५-न किसी ने धर्माधर्म को मिथ्या माना, ६-जड़ उपादानकारण से विना सृष्टि की उत्पत्ति किसी दर्शनकार ने कथन नहीं की, इसादि

अनेक विरोधों से बाङ्करभाष्य अपापाणिक और "वेदान्तार्यभाष्य" शाबाणिक है, उक्त विरोधों के पते यह हैं, नैशे० ३।१।१९-२०-२१सूत्रों में जीवात्माओं को परस्पर भिन्न माना है, न्याय०४।१।१९ में ईश्वर को बिना किसी ख्वाधि के कारण माना है,इसी के ख़०१० में जीव को बिना लपाधि के निस सानकर परलोक यात्रा सिद्ध की है, सां०२। १५७ में एक जीवबाद का खण्डन कियागया है तथा सां० ६। ५२ में जगत को सब वर्णन कियागवा है और यह सब परिणामी निसता के अभिपाय से है अर्थात् उसका उपादानकारण प्रकृति परिणामी निस है, इसी मकार योग में जीव ईश्वर का भेद और मक्कित को ज्यादान कारण स्पष्ट रीति से वर्णन कियागया है और मीमांसा में धर्माधर्म को सस वर्णन किया है, अधिक क्या किसी दर्शन-कार ने भी पायावादियों के समान जगद, जीव, ईश्वर और प्रकृति को मनोरथमात्र नहीं माना किन्तु सब ने तात्विक माना है, और यही थाव ब्रह्मसूत्रों में स्पष्ट है कि जीव, ईव्वर और प्रकृति यह तीनों अनादि अनन्त हैं, या यों कहो कि चार वेदों में जीव, ईइवर और जड,चेतन का मिसद जो भेद उसे जिज्ञासुओं के सम्यक शकार बोधन के लिये वेदान्त तथा उपनिषदों में महर्षियों ने व्याख्यान रीति से विस्तार किया।

जीव, ईश्वर और प्रकृति के स्वाभाविक गुणों से प्रगट भेद अर्थाद एक कारण से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते और एक में ही छप होजाते हैं, उपनिषदों में इस प्रकार समानाधिकरण के होने और ब्रह्म के स्वरूपलक्षण करने वाले वाक्यों में विणत जीव और ईश्वर दोनों में पाये जाने से यह विषय केवल अल्पबुद्धि वालों के ही विवादक्षी मार्ग को नहीं किन्तु मौढ़बुद्धि वालों के थी विवादक्षी मार्ग को मास हुआ।

एवं नाना प्रकार की विमित से ब्रह्ममीमांसा शास्त्र में जनों को वित्रादग्रस्त देखकर महर्षि न्यास ने चार आध्यायों वासी ब्रह्म-श्रीमांसा निर्माण की।

अध्ययीमांसा सूत्रों में बनाई गई अतएव उसमें भी द्वैताद्वैत के विवाद की जगह रहजाने से इसके व्याख्यान की आवश्यकता देखकर महार्ष बोधायन ने इस पर "वृत्ति" नाम वाळी व्याख्या बनाई।

बह "वृत्ति" मचार की न्यूनता अथवा दूसरे पक्ष वालों के द्वेष से चिर हुआ नाश को प्राप्त होगई, यह बात निम्नलिखित श्रीभाष्य की प्रविक से अनुमान की जाती है "भगवद्बोधायन की विस्तीर्ण वृत्ति का जो पूर्वाचाय्यों ने संक्षेप किया उनके मता जुसार सूंत्राक्षरों का व्याख्यान किया जाता है" इससे पाया गया कि रामानुज को भी दिन नहीं मिली, यह बात परीक्षकों से छिपी नहीं कि दिन को छोड़कर ब्रह्मसूत्रों का और कोई व्याख्यान ऋषि प्रणीत नहीं, इसिलये यह अवस्य वि-चारणीय है कि दिन देत को बतलाती थी वा विशिष्टाद्वित को ?

जो कई एक यह कहते हैं कि द्यत्ति विशिष्टाद्वेत पर थी यह बात बिना विचार के सार माल्य होती है, कारण यह कि विशिष्टा देत के मण्डन करने वाली बोधायन की कोई मतीक नहीं मिलती, यह नियम नहीं कि जो शङ्करमत से विपरीत हो वह विशिष्टादेत ही हो, क्योंकि शङ्करमत के विपरीत द्वेतवाद है और वह विशिष्टादेत नहीं और जैसा देतवाद शङ्करमत से विपरीत है वैसा विशिष्टादेत

नहीं, प्रत्युत विशिष्टाद्वेत जड़ चेतन सब बहा का शरीर होने से और पदार्थमात्र की एक कारण से उत्पत्ति द्वारा अद्वैतवाद का सहायक है, प्रख्यकाल में जीव और प्रकृति ब्रह्म का शरीर होकर रहते हैं नाम नहीं होते, ऐसा मानने से यद्यपि विशिष्टाद्वेत द्वैतवाद का सात्पर्य रखता है तथापि एकत्व के समर्थन करने से अद्वेतनाद के समान है, विशिष्टाद्वैत का लक्षण यह है कि जीव और मक्कति की जो ब्रह्म के शरीर रूपता से एकता है उसका नाम "विशिष्टाद्धेत" है, और ब्रह्म से अभेदक्पता करके ं जो जीव प्रकृति का अस्तीत्व उसका नाम "चिद्वचिद्धस्तु दारीरत्व " है, बातपथ के अन्तर्यामी ब्राह्मण में कथन किया है कि पृथिव्यादि अस के शरीर हैं,इस कथनसे विशिष्टाद्वैतवादियों ने शरीर का यह लक्षण किया है कि जिस द्रव्य को चेतन जैसे चाहे व्यवहार में छासके वह द्रव्य उस चेतन का शरीर कहलाता है, इस अभिप्राय से जहा के शरीरत्व की उक्ति है, सदासद् से विलक्षण अद्वैतवादियों की अनिर्वचनीय माया की भांति यह विशिष्टाद्वैत द्वैताद्वैत से विलक्षण है, अस्तु जो हो यह "आर्र्यभाष्य"में लिखा जायगा, यहां अपेक्षित यह है कि महर्षि बोधायन को विशिष्टाद्वेत सम्मत न था, कारण यह हैं:--

(१) शङ्करभाष्य में द्वेतक्पता से महर्षि बोधायन मत का

खण्डन किया जाना

(२) श्रीभाष्य के पूर्व कहीं भी विशिष्टाद्वेत का नाम न

(३) श्रीभाष्याचार्य निर्मित "वेदार्थसंग्रह" में महर्षि बोधायनमतानुयायी टक्क, द्रिमड़, गुहदेवादि के उद्धृत प्रतीकों से भी दैतवाद ही स्पष्ट होना। (४) द्वैतवाद कपिल, गौतम, कणाद, पतअल्यादि सब महर्षियों का मन्तव्य होना।

उक्त कारणों तथा कपिलादि महर्पियों के ग्रन्थ देखने से इस विषय में किसी को भी शङ्का नहीं रहती कि द्वेत और विशिष्टाद्वेतादि विवाद महर्षि बोधायन प्रणीत ग्रन्थ के लय हो जाने से प्रवत्त हुए, अधिक क्या प्रयोजन यह है कि विनष्टमचार भी विशिष्टाद्वेत श्रीभाष्य के आश्रयं से जीता है, शङ्करभाष्य से उत्पन्न हुआ अद्वेतवाद शङ्कर के शिष्यों के रचे हुए तर्काकर ग्रन्थों द्वारा विद्वानों से सत्कृत हुआ तथा निष्कर्म की प्रधानता से अकर्तव्यप्रधान मोक्ष मानने वालों में प्रतिदिन बढ़ता है, शोक का स्थान है कि वैदिक होने से साश्रय और सनाथ भी द्वेतवाद वेदानुकूल तर्क की खानि जो ब्रह्मसूत्र उन के अच्छे व्याख्यानाभाव मे निराश्रय हुआ प्रतिदिन क्षय को प्राप्त होता जाता है, इन प्रकार द्वान को प्राप्त हुआ जो आप्तजनों का द्वैतपक्ष उमके रक्षणार्थ सामियक कत्त्रच्य यह है कि वेदाविरुद्ध तर्कयुक्त और महर्षि वोधायन पद्धित बुद्धिवशच युक्त समर्थन से अपने पाणों के ममान यह वैदिकपक्ष रक्षण किया जाय, ब्रह्मसूत्रों पर द्वेतभाष्य के विना इस कार्य्य के सिद्ध करने का और दूसरा उपाय नहीं,इम़िलये "आर्यभाष्य"नाम मे अङ्कित आर्यभाष्यभूमिका प्रारम्भ वाला "भाष्य" किया जाता है।

अद्वैत और विशिष्टाद्वैतवादियों की सवलता तथा निर्व-लता की परीक्षा के लिये उक्त दोनो पतों के भाष्य साथ २ रखकर अन्त में समीक्षा करने के कारण आर्घ्यभाष्यभूमिका का भाष्य के आरम्भ में रहना सम्बन्ध रखता है।

"ब्रह्मजिज्ञामा"मे आरम्भ किये हुए ब्रह्मदर्शन का इस प्रकार

उत्तरोत्तर सम्बन्ध है कि पश्चोत्तर की सङ्गति से जन्मादि खुत्र के साथ स्पृति और तर्कपाद द्वारा अविरोधनिरूपण करके अविरोधाध्याय के साथ, ब्रह्म प्राप्तचुपाय से तृतीयाध्याय के साथ, फलनिरूपण करके फलाध्याय के साथ, ऐसे उत्तरोत्तर सङ्गति वाले ब्रह्मदर्शन का इतरव्यपदेशाधिकरण से पारम्भ करना इसलिये असङ्गत नहीं कि भूमिका सूत्रार्थों की विपतिपत्ति के निवारणार्थ है और इस अर्थाभास के समय में सत्य और असत्यार्थ की मीमांसा करने के विना ब्रह्म की जिज्ञासा सफल नहीं होती,इसलिये जिन अधिकरणों में श्रीभाष्याचार्य और शङ्कराचार्य का विशेष मतभेद है उन्हीं का यहां निर्णय किया जाता है, और वात यह है कि ब्रह्मदर्शन प्रधानता से जीव ब्रह्म के भेद को वर्णन करता है, यह इतरच्यपदेशाधिकरण से सुसाध्य है, क्योंकि ''अधिकन्तुभेद्निर्देशात्''इस अग्रिम सूत्र में शङ्कराचार्यका भी जाव ब्रह्म का भेद माने बिना निर्वाह नहीं, इसिछिये प्रथम इसी अधिकरण से पारम्भ करते हैं ताकि जिज्ञासुओं को द्वैतवाद में सन्देह न रहे।

इतरव्यपदेशादिताकरणादिदोषप्रसक्तिः

ब्र॰ सु॰ २। १। २१

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते, चेतनाद्धि जगत्मिक्रयायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते, कृत इतरव्यपदेशात्, इतरस्थ शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः "स आत्मा तत्त्वमिस

श्वेतकेतो "इति प्रतिबोधनात्, यदा इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति "तत्सृष्ट्वा तदेवानुपाविशत्" इति सुष्टुरेवाविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरा-त्मत्वदर्शनात्, "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि" इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति, तस्माद् यद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति, अतश्च स्वतन्त्रःकर्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्यात् नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम्, कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वानुप्रविशति। न च स्वयमत्यन्तनिर्भलःसन्नत्यन्तमिलनं देहमात्मत्वे-नोपेयात् कृतमपिकथिबद् यत् दुः सकरं तदिच्छया ज-ह्यात् सुखकरश्रोपाददीत स्मरेच, मयेदं जगदिविधं कि चित्रं विरचितमिति, सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरित मयेदं कृतिमिति, यथा च मायावी स्वयं प्रसारि-तां मायामिच्छयाऽनायासेनैवोपसंहरति, एवं शारीरोऽपि इमां सृष्टिं उपसंहरेत्, स्वकीयमपि तावत् शरीरं आरीरो न शकोत्यनायासेनोपसंहर्तुम्, एवं हितकियाचदर्शना-दन्याय्या चेत्नात् जगत्प्रक्रियेति मन्यते । शं॰ भा॰

अर्थ-फिर अन्य प्रकार से चेतन कारणवाद पर आक्षेप

कियाजाता है, चेतन से जगद की रचना मानने में हित का न करना आदि दोष लगते हैं, इतर के कथन किये जाने से "हे इवेतकेती! वह आत्मा तू है" इस वाक्य से श्रुति इतर=जीव को ब्रह्म इपता से कथन करती है अथवा "वह बनाकर आप ही प्रविष्ट होगया" इस वाक्य में जगत्स्रष्टा ब्रह्म के ही कार्य में प्रवेश होने से श्रुति ब्रह्म को जीवक्ष कथन करती है, 'इस जीव रूप आत्मा से प्रवेश करके नामरूप को करूं" इन प्रकार श्रुति परा देवता का जीवात्मा शब्द से कथन करती है कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं, इसलिये जो ब्रह्म का जगत्कर्तृत्व है वह जीव का ही है; अंतएव स्वतन्त्र हुआ चेतन अपना हित ही करता न कि जन्म मरण बुढ़ापा आदि अनेक अनर्थों का जाल फैलाकर अहित करता, कोई स्वतन्त्र अपने आप कारागार बनाकर आप ही मिवछ नहीं होता और नाहीं अत्यन्त निर्मल हुआ अत्यन्त मिलन देह को आत्मक्षाता से धारण करता है मत्युत किया हुआ भी कोई कर्मजो दुःखदायक हो उसको खेच्छा से छोड़ देता है और छुख देने वालेका ग्रहण करता तथा स्मरण करता है कि भैंने इस जगत् बिम्ब को रचा है, और यह नियम भी है कि सब कोई करने के पश्चात स्मरण करता है कि मैंने यह किया, जैमे मायाजाल करने वाला पुरुष अपनी मसारित पाया को खेच्छा से अनायामपूर्वक संबेट लेता है इसी प्रकार जीव भी इस स्टीष्ट को ममेट लेना परन्तु अपने शरीर को भी खेच्छा मे अनायास पूर्वक नहीं समेट सक्ता, इस प्रकार हिन करने बाली क्रिया के न देखे जाने से चेतन द्वारा जगत्मिक्रया का मानना अन्याय है।

जगतो ब्रह्मानन्यत्वं प्रतिपाद्यद्भिस्तत्त्वमिस अय-मात्मात्रहोत्यादिभिर्जीवस्यापि ब्रह्मानन्यत्वं व्यपदिश्यत इत्युक्तं,तत्रेदं चोद्यते यदीतरस्यजीवस्यब्रह्मभावोऽमीभि-र्वाक्यैर्व्यविश्यते तदा ब्रह्मणः सर्वज्ञसत्यसङ्कल्पत्वादि **यक्तस्यात्मनो** हितरूपजगदकरणमहितरूपजगत्क-रणमित्यादयोदोषाः प्रसज्येरन्,आध्यात्मिकाधिदैविका-धिभौतिकानन्तदुःखाकरं चेदं जगत्,न चेहशे स्वानर्थे स्वाधीनो बुद्धिमीनप्रवर्तते जीवाइह्मणो भेदवादिन्यः श्रुतयो जगइह्मणोरनन्यत्वं वदता त्वयैव परित्यक्ताः भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः, औषाधिकभेद्विषया भेदश्चतय-स्स्वभाविकाभेदविषयाश्वाभेदश्रुतय इति चेत्तत्रेदं व-क्तर्यं स्वभावतः स्वस्माद्भिन्नं जीवं किमनुपहितं जगत्कारणं ब्रह्म जानाति वा न वा, न जानाति चे-त्सर्वज्ञत्वहानिः,जानाति चेत्स्वस्मादभिन्नस्य जीवस्य दुः सं स्वदुः समिति जानतो ब्रह्मणोहिताकरणाहित-करणादिदोषप्रसक्तिरनिवार्या ।

जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतो भेदस्तिद्विषया भेदश्वितिरिति चेत् अत्रापि जीवाज्ञानपक्षेप्वर्योक्तो विकल्पस्तत्फलं च तदवस्थं ब्रह्माज्ञानपक्षे स्वप्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽ ज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतजगत्सृष्टिश्च न सम्भवति, अज्ञानेन प्रकाशस्तिरोहितश्चेति तिरोधानस्य प्रकाशनिवृतिकरत्वे-न प्रकाशस्येव स्वरूपत्वात्स्वरूपिनवृत्ति रेवेति स्वरूपनाशादिदोषसहस्रंप्रागेवोदीरितम्,अत इदमसङ्ग-तं ब्रह्मणो जगत्कारणत्विमिति प्राप्तेऽभिधीयते ॥ श्री०भा०

अर्थ-जगत ब्रह्म का अभेद मानने वाले पुरुषों का कथन है कि "तत्त्वमसि""अयमात्मा ब्रह्म"इसादिवाक्यों से जीव ब्रह्म का अभेद है, यह कह आये हैं, यहां यह शङ्का होती है कि यदि इन वाक्यों से जीव ब्रह्म की एकता है तो सर्वज्ञ, सत्य सङ्करपत्वादि से युक्त आत्मा को हित रूप जगत का न करना और अहिन रूप जगत का करना आदि दोष लगेंगे अर्थात आध्यात्मिक, अधिदैविक, अधिभौतिकादि अनन्त दुःखों की खानि जो यह जगत है ऐसे अनर्थ में स्वाधीन बुद्धिमान कभी मदल नहीं होता, जीव ब्रह्म का भेद कथन करने वाली श्रुतियें तुमने छोड़दीं, क्योंकि भेद कहने से तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, यदि यह कहाजाय कि उपाधिकृत भेद को भेदश्रुतियें कहती हैं और स्वाभाविक अभेद को अभेद श्रुतियें, तो यहां यह प्रष्टच्य है कि अपने से आभिन्न जीव को ब्रह्म जानता है वा नहीं? यदि नहीं जानता तो सर्वज्ञ न रहा, यदि जानता है तो अपने से अभिन्न जीव का दुःख स्वदुःख जानते हुए ब्रह्म को " अहित करना " आदि दोषों का लगना नहीं हट सकता, जीव ब्रह्म का अज्ञानकृत भेद है, इस विषय में भेदमीतपादक श्रुतियें हैं, यदि ऐमा मानाजाय तो यहां भी जीव के अज्ञान पक्ष में पूर्वोक्त दोष और इनका फल वैसाही रहा, यदि ब्रह्म में अज्ञान मानाजाय तो ब्रह्म अज्ञानी है और जगत का कर्ता भी है यह दोनो बातें नहीं बन सकती, यदि यह कहाजाय कि अज्ञान से प्रकाश दक जाता है तो तिरोधान प्रकाश को निरुत करने वाला होने से और प्रकाश ब्रह्म का स्वरूप होने से स्वरूप का नाश हुआ, और स्वरूप का नाश नहीं होसक्ता, यह स्वरूपनाशादि अनेक दोष प्रथम कहआये हैं, इसलिये ऐसा जगत कारणत्व ब्रह्म में असङ्गत है, ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार विधान करते हैं कि—

स्मिश्ना—जीव किस लक्षण वाला है ?इस सन्देह के होने पर कोई कहते हैं कि जीव ब्रह्म का मितिबम्ब है, कोई कहते हैं कि अपने आप मवेश हुआ ब्रह्म ही जीव है, अन्य कहते हैं कि पदार्थ की स्वाभाविक विभिन्नता की भांति ब्रह्म ही नानाकार में मतीत हो रहा है और वही जीव है, इस मकार तर्क और अर्थाभास के कारण श्रुति के अर्थ में अनेक बादी विवादग्रस्त हैं।

इस विषय में वैदिकों का यह मत है कि सुख दुःख भोगने वाला चेतन जीव है और वह न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब, नाही उसका विकार, न विवर्त्त, न अग्नि के चिक्नारे की भांति ब्रह्म का अंश और न घटादि उपाधि से भिन्न किये हुए घटाकाश की भांति अवास्तव खण्ड है किन्तु वह अनादि, अनन्त परब्रह्म से अत्यन्त विलक्षण है, जैसाकि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" ऋग्०२।३।१७ इस मन्त्र में जीव ईश्वर के भिन्न २ लक्षण किये हैं कि प्रकृतिकप दृश्न से दो चेतन सम्बन्ध रखते हैं, एक जीव कर्मफल भोक्ता और दृसरा ईश्वर फल्पदाता है, इस प्रकार वेदार्थ में बहुपक्षा का अवकाश देखकर महर्षिच्यास ने कथन

किया है कि "इतर=जीव को ब्रह्म कथन करने से हित का न करना आदि दोष लगेंगे" विश्व राशा २१ अर्थात जीव को ब्रह्म विधान किये जाने से ही हित का न करना आदि दोष छगते हैं अन्यथा नहीं, इसलिये जीव का ब्रह्मक्प से कथन किया जाना ठीक नहीं, क्योंकि दूर हैं सब दोष जिससे ऐसे ब्रह्म की सुलक्ष्पता की हानि होगी, और बात यह है कि भिन्न पदार्थों की एकता दो कारणों से होती है, उपादान के एक होने से अथवा जिस अविद्या से दैत-मतीत होरहा हो उसके हटाये जाने से, उपादान की एकता से मिट्टी तथा घट में ऐक्य देखागया है और अविद्या के हटाने से एकत्व दृष्ट है दोष से दो मतीत होने वाले चन्द्रमा में, और ब्रह्म में निर्विशेषता तथा मकाशक्षता के कारण दोनों का अभाव है, जीव ब्रह्म की एकता में मकारान्तर की अनुपपत्ति होने से हिताकरणादि दोषों द्वारा दृषित हो ऐक्य सिद्ध होता है और यह ठीक नहीं, यह सूत्रकार का आश्रय है।

कई लोगों ने इस सूत्र को पूर्वपक्ष में लगाया है और अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये "अधिकन्तुभेदिनिर्देशात्" इस अग्रिम सूत्र का तु शब्द प्रमाण दिया है कि "तु"शब्द पूर्वपक्ष सूत्र की व्यावृत्ति करता है और पूर्व मूत्र के पूर्वपक्ष पर होने से जीव ब्रह्म का अनन्यत्व सिद्ध है और यहां उपाधिकृत भेद लेकर हिताकर-णादि दोषों का परिहार कियागया है।

यह पूर्वपक्ष ठीक नहीं, क्योंिक उक्त सूत्र यथार्थ भेद को कहता है और यथार्थ भेद ही वेद तथा उपनिषदों में कथन कियागया है अयथार्थ नहीं, यदि अयथार्थ भेद कथन किया जाता तो ऐसा कथन करने से वेद भी अयथार्थ होजाता, यह अतात्विक भेद अवैदिक है जिनका आगे कथन किया जायगा।

यह नियम नहीं कि उत्तर सूत्र का "तु" शब्द पूर्व सूत्र का खण्डन ही करता हो, जैसाकि "तत्तुसमन्वयात्" सूत्र में पूर्वपक्ष के अभाव होने पर भी "तु" शब्द का प्रयोग ठीक पाया जाता है, इस मूत्र को पूर्वपक्षपरक मानने से भी अद्वैतवादियों का मत ठीक नहीं,क्योंकि उत्तर सूत्र में वैदिकभेदनिर्देश द्वारा वर्णित ब्रह्माधिक्य से ब्रह्मप्रवेशादि पक्षों का खण्डन पायाजाता है, और जो यह कहा गया है कि "वह आपही बनाकर आप पविष्ट होगया" इसलिये जीव ब्रह्म की एकता है, यह लेख विकल्प के न सहारने से ठीक नहीं, क्या कार्यमें ब्रह्म स्वयं प्रविष्ट है अथवा जीवात्मा द्वारा प्रविष्ट है ? ब्रह्म की सर्वव्यापकता के कारण प्रवेशाभाव होने से प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि प्रवेश अल्पदेशी पदार्थ का होता है सर्वदेशी का नहीं, यदि जीवात्मा द्वारा प्रविष्ट हुआ मानें तो ब्रह्म के अधीन होने के कारण जीव ब्रह्म का आत्मा होने से वैदिक मार्ग पर आगये, और जीव के अनादिपन की हानि होने से ब्रह्म का मवेश होना सत्तर्कानुकूछ नहीं, यह वात प्रयोजनवत्वाधिकरण पे में विस्तारपूर्वक वर्णन कीगई है।

अधिकं तु भेदनिर्देशात्॥ २२॥

तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति,यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीराद्धिकमन्यक्तद्ध-

ने विषय, संग्रय, सङ्गति, पृवपच श्रीर सिद्दास्त इन पांच श्रव-यवो से जिसमें निर्णय हो उसका नाम "श्रिधिकर्गा" है।।

यं जगतः स्रष्टु ब्रूमः, न तस्मिन् हिताकरणाद्यो दो-षाः प्रसज्यन्ते,न हि तस्य हितं किञ्चित् कर्तव्यमस्ति अहितं वा परिहर्तव्यं नित्यमुक्तत्वात्, न च तस्य ज्ञा-नप्रतिवन्धः शक्तिप्रतिवन्धो वा कचिदप्यस्ति, सर्व-ज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वाचः, शारीरस्त्वनेवंविधः, तस्मि-च् प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषा न तु तं वयं जगतः स्रष्टारं बूमः, कत एतत् भेदनिर्देशात्, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्ट्वःस विजिज्ञासितव्यः"सतासोम्यतदासम्पन्नो भवति" शारीर आत्मा भाज्ञेनात्मनान्वारूढः" इत्येवं जातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशोजीवादिधकं ब्रह्म-द्शयति, नन्वभेदानिर्देशोऽपि द्शितः "तत्त्वमसि" इत्येवं जातीयकः, कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ सम्भवेयातास्, नैष दोषः, आकाराघटाकारान्यायेनोभयसम्भवस्य यत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्, अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजा-तीयकेनाभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवति अपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्चस्रष्टृत्वं सम-स्तस्य मिथ्याज्ञानविज्ञाम्भतस्य भेदव्यवहारस्य सम्य-क्जानेन बाधितत्वात् तत्रकत एव सृष्टिः कुतो वा हिता करणाद्यो दोषाः, अविद्याप्रत्यपस्थापितनामरूपकृत-

कार्यकरणसङ्घातोपाध्यविवेककृता हि स्रान्तिः, हिता-हितकरणादिलक्षणः संसारो न तु परमार्थतोऽस्तित्यस-कृदवोचाम जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यिमानवत्, अ-वाधिते तु भेदव्यवहारे "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासि-तव्यः" इत्येवं जातीयकेन भेदनिर्देशेनावगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्ति निरुणिद्ध ॥ शं० भा०

अर्थ-"तु" शब्द पूर्वपक्ष को इटाता है,जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् निस शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव वाला जीव से अधिक ब्रह्म है उसको इम जगद स्रष्टा कहते हैं, उसमें हित का न करना आदि दोष नहीं लगसकते,क्योंकि निख मुक्त होने से न उसका कुछ कर्चन्य है न कुछ छोड़ने योग्य है और सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होने से न उसके ज्ञान की रुकावट है न शक्ति की और जीव ऐसा नहीं, क्योंकि जीव को अहितकरणादि दोष लगने के कारण और भेद का कथन पाये जाने से इय उसको जगत्स्रष्टा नहीं कहते, "हे मैत्रेयी! आत्मा द्रष्ट्रच्य श्रोतच्य मन्तच्य और निदिध्यासितच्य है वह दूढ्ने और जानने योग्य है " " हे सौम्य ! तब सत्य के साथ मिल्जाता है, जीवात्मा परमात्मा के आश्रय है " इस प्रकार कत्तां और कार्य्य का जो भेदिनर्देश है वह जीव से अधिक ब्रह्म को कथन करता है, यदि यह कहाजाय कि "वह तु है" इस मकार का अभेद निर्देश भी है, फिर किस मकार भेद और अभेद दो विरुद्ध धर्म एक में रहसकते हैं ? यह दोष नहीं,क्योंकि घटाकाश की युक्ति से दोनों का सम्भव होना प्रथम कई स्थलों में दर्शाया गया है

वेदान्तार्थभाष्य

42

श्रीर "वह तु है" इस प्रकार अभेद बोधन कियाजाता है तब विध्या ज्ञान से जाना हुआ सम्पूर्ण भेद न्यवहार सम्यक् ज्ञान के द्वारा बाधित होने से जीव का संसारील और ब्रह्म का जगत्कर्तृल पृथक् होजाता है, इस दशा में कहां सृष्टि और कहां हित का न करना आदि दोष लगसकते हैं क्योंकि हम कई बार कह आये हैं कि आवद्याकृत नामकृप से की हुई देह इन्द्रियादि सङ्घात कृप उपाधि अविवेक से उत्पन्न हुआ संसार भ्रम है न कि परमार्थ, इत्यादि जैसे जन्म मरण छेदन आदि भ्रम से हम अपने धर्म मानते हैं और वास्तव में ये शरीर के धर्म हैं, जब तक भेद न्यवहार बना रहता है तब तक "वह आत्मा जानने योग्य है" इस प्रकार के भेद न्यवहार से जो ब्रह्म का आधिक्य देखा जाता है वह हित का न करना आदि दोषों को नहीं लगने देता।

तु-शब्दः पक्षं व्यावर्तयति, आध्यात्मिकादिदुःख् योगार्हात्प्रत्यगात्मनोऽधिकमर्थान्तरभृतं ब्रह्म-कुतः ? भेदनिर्देशात्प्रत्यगात्मनो हि भेदेन निर्दिश्यते परं ब्रह्म "य आत्मिन तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" "स कारणं करणाधिपाधि-पः" "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्धस्मश्रन्नन्योऽभिचाकशी-ति" "ज्ञाज्ञो द्वावजावीशनीशौ" "प्राज्ञेनात्मना संप-रिष्वक्तः" "प्राज्ञेनात्मनान्वाक्दः" "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तिसँश्वान्यो मायया सिन्नरुद्धः" "प्रधानसेत्र-ज्ञपतिर्धणेशः" "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विद्धाति कामान्" "यो व्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद" "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद" "योमत्युमन्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्युनं वेद एष सर्वभृतान्तरात्माऽपहत-पाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यादिभिः॥श्री॰भा॰

अर्थ-सूत्र में तु'ताब्द पूर्वपक्ष का खण्डन करता है, वेदोपनिषदों में भेद पायेजाने के कारण आध्यात्मिकादि दुःखों से दुखी जीवात्मा से अधिक=भिन्न पदार्थ ब्रह्म है अर्थात जीवात्मा से ब्रह्म पृथक् वर्णन किया गया है, जैमाकि नीचे लिखी प्रतीकों से स्पष्ट है :—

"जो जीवात्मा में रहता है उससे भिन्न है और जीवात्मा जिसको नहीं जानता जिसका जीवात्मा शरीर है जो उसको नियम में रखता है वह तुम्हारा अन्तर्यामी परमात्मा अमृत है" "ईश्वर को अपने में रखता है वह तुम्हारा अन्तर्यामी परमात्मा अमृत है" "ईश्वर को अपने में भिन्न नियन्ता जानकर जीव उसकी कृपा से अमृत को पाता है" "वही कारण है और वही इन्द्रियों के स्त्रुमी जीवात्मा का स्वामी है" "उन दोनों से एक फल भोक्ता और दूसरा अभोका रूप से साक्षी है" "ईश्वर अनीश दो अजन्मा हैं, एक ज्ञानी दूसरा अज्ञानी" "प्रज्ञात्मा के साथ मिला हुआ है" "प्राज्ञात्मा के आश्रित है" "शाया वाला ईश्वर विश्व को रचता है और दूसरा जीव मायाब द है" "ईश्वर प्रकृति और जीव का स्वामी है" "निसों में निस है, चेतनों में चेतन है, वही एक बहुनों की कामना को पूर्ण करता है" "जो प्रकृति के भीतर रहता है वा प्रकृति जिसका शरीर

है और जिसको प्रकृति नहीं जानती" जो अक्षर के भीतर रहता है तथा जिसका अक्षर शरीर है और जिसको अक्षर नहीं जानता, जो घृत्यु के भीतर रहता है और जिसको घृत्यु नहीं जानता, वहीं सब भूतों का निष्पाप अन्तरात्मा प्रकाशस्त्रक्षण एक देव है।

समिश्वा—केवल हित का न करना आदि दोषों के लगने से ही जीव ब्रह्म का अन्यत्व नहीं किन्तु ब्रह्म के अधिक होने से भी अन्यत्व है, लघुत्व तथा महत्व के कारण भी अत्यन्त भिन्नत्व पायाजाता है और सत्य वस्तु जो जीव ब्रह्म हैं उनका भेद बास्तव है, इसी को अन्य तर्क से पुष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि " जीव से ब्रह्म अधिक होने से भी भेद पायाजाता है "।

पूर्व सूत्र के अर्थ को हद करने के लिये 'तु' शब्द इस सूत्र में च के अर्थ में आया है, जैते "शब्देश्यः" अष्टा०२।३।६ "यावद्धिकारन्तु विभागी लीकवत्"अष्टा०२।३।७ इत्यादि सूत्रों में पूर्व सूत्रार्थ को हद करने के लिये उत्तर सूत्र में तु शब्द का व्यवहार किया गया है।

जीव से अधिक=बड़ा ब्रह्म है, क्यों कि वेदों में भेद का निर्देश स्पष्टतया किया गया है, जैसाकि "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" पजु० ३१। ३ "यत्र देवा अमृ-तमानशानाः" यजु० ३२। १० इसादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि "एकपाद स्थानीय सब संसार वर्ग और तीनपाद अमृत है" " उसमें मुक्त जीव अमृत को उपलब्ध करते हुए भेद से रहते हैं" इसी मकार द्रमिड़ भाष्यकार जो महांप बोधायान मतानुयायी हुए हैं वह भी मुक्ति में भेद से ही जीव की स्थिति मानते हैं कि परादेवता ब्रह्म के साथ योग होने से मुक्ति में जीव भी ब्रह्म की भांति निरितशय आनन्द छाभ करता है, इसीलिये मुक्तामुक्त दोनों में रहने वाला होने से भेद वास्तव है, यदि ऐसा न होता तो मुक्ति से प्रथम भेद और मुक्त होने पर अभेद कहा जाता।

और जो कई एक लोग संत्यासत्य के समान परस्पर विरुद्ध धर्म बाले भेद अभेद को घटाकाश न्याय से ठीक होना कथन करते हैं यह बात निस्तर्क है, क्यों कि आपस में दो विरोधियों में से एक के पिथ्या होने से दोनों का यथार्थ होना बनसक्ता है परन्तु जीव ईव्वर दोनों के अनादि होने से यह बात सर्वथा असम्भव है, घटाकाश की युक्ति उपाधि के होने पर भेदाभेद के सम्भव का हेत है, और विना हद वाले कल्याण गुणों की खानि ईश्वर में उपाधि न होने से भेदाभेद का होना असम्भव है, अब मश्र यह होता है कि उपाधि क्या ? जीवाश्रय अज्ञान का नाम उपाधि है वा ब्रह्माश्रय अज्ञान का नाम उपाधि है ? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि कल्पित जीव मानने वालों के मतमें उपाधि के विना जीवभाव नहीं होसक्ता, क्योंकि अज्ञान हो तो जीव बने और जीव हो तो अज्ञान हो यह परस्पराश्रय दोप लगता है और नाही ब्रह्म के आश्रय वाला अज्ञान उपाधि कहाजासक्ता है, क्योंकि ब्रह्म स्वतः प्रकाश होने से अज्ञान का आश्रय नहीं और जो यह कहागया है कि हिताहित वाला जो संसार है वह परमार्थ से नहीं,यह अपने कणन से ही कट जाता है,क्योंकि आपका कथन भी संसार से भिन्न न होने से अपरमार्थ है, इसी मकार तत्त्व-मस्यादि वाक्यों से उत्पन्न जो भेद का निवर्तक ज्ञान वह स्वप्नज्ञान की भांति भ्रममात्र होने से जागृत का जो वन्धन उसका निवर्तक स्वप्रज्ञान की तरह निष्फल हुआ और जो ब्रह्म के किएत भेद से हित का न करना आदि दोषों का परिहार किया गया है वह केवल अल्पन्न मनुष्यों की बुद्धि का खण्डन मात्र है, क्योंकि कल्पित भेदू भिन्न ब्रह्म का जीवं रूपता से प्रवेश न होने के कारण दोषाभाव की सिद्धि है, अब प्रश्न यह है कि शुद्ध ब्रह्म ने संसार रूप द्वारा बहुत होने के समय में हिताहित किया? यहां अद्वेतवादियों का उत्तर यह है कि उपाधिकृत भेद के कारण दोषों का अभाव और एक होने में एकता के कारण दोषों का अभाव है, यह उत्तर प्रश्न के तात्पर्य की अनभिन्नता को प्रगट करता है अथवा छिपा हुआ जो तर्काभास उसको केवल टाला है परिहार नहीं किया।

अश्मादिवच तदनुपपत्तिः ॥२३॥

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्य
इमनांकेचिन्महार्हाः मणयो वज्रवेदुर्यादयोऽन्ये मध्यम

वीर्याःस्र्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः स्ववायसप्रक्षेपणार्हाः

पाषाणाः इत्यनेकविधं वैचित्रयं दृस्यते, यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि वीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यचन्दनिकंपाकादिषूपलभ्यते, यथा

चैकस्याप्यन्नरसस्य लतादीनि केशलोमादीनि च

विचित्राणि कार्याणि भवन्ति, एवमकस्यापि ब्रह्मणो

जीवपाञ्चप्रक्तं कार्यवैचित्रञ्चोपपद्यते इति अतस्त
दन्नपपत्तः परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः, श्रुते
स्व प्रामाण्यादिकरस्य वाचारम्भणमात्रत्वात् स्वप्रदृश्य
भाववैचित्रयवच्चेत्यम्युच्चयः ॥ शं० भा०

अर्थ-जैसे लोक में पृथिवीत जाति वाले पत्थरों में कई एक उत्तम मणि हीरा वैदुर्यादि, दूसरे मध्यम सूर्य्यकान्तादि और तीसरे मन्दमकार के केवल कुत्ते कोवों पर फेंकने योग्य पत्थर होते हैं यह अनेक मकार की विचित्रता देखीजाती है, जैसे एक पृथिवी में उत्पन्न होने वाले बीजों में पत्र, पुष्प, फल, गन्धादिकों की विचित्रता देखी जाती है और जैसे एक अन्न के रस से उत्पन्न होने वाले लता केवा लोमादि विचित्र कार्य्य उत्पन्न होते हैं, वैसे ही एक ब्रह्म का जीव ईश्वर भेदरूप विचित्र कार्य्य बनसक्ता है, इसलिये स्वम हक्ष्य पदार्थों की विचित्रता होने से श्रुति ममाण द्वारा विकार वाणी का आरम्भ मात्र है, अतएव वादी का दिया हुआ दोष ठीक नहीं।

अश्मकाष्ठलेहितृणादीनामत्यन्तहेयानां सततिन-कारास्पदानामचिद्धिशेषाणां निरवद्यनिर्विकारिनिर्विल हेयप्रत्यनीककल्याणेकतानस्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणान-न्तज्ञानानन्देकस्वरूपनानाविधानन्तमहाविभूति ब्रह्म-स्वरूपेक्यं यथा नोपपद्यते तथा चेतनस्याप्यनन्तदुःख-योगार्हस्य खद्योतकल्पस्यापहतपाप्मेत्यादिवाक्यावगत-सकलहेयप्रत्यनीकानविधकातिशयासङ्ख्येयकल्याणग्र-णाकरब्रह्मभावान्तपपत्तिः सामानाधिकरण्यनिर्देशो य-णाकरब्रह्मभावान्तपपत्तिः सामानाधिकरण्यनिर्देशो य-स्यात्मा शरीरिमत्यादिश्रुतेर्जीवस्यब्रह्मशरीरत्वात ब्रह्मणो जीवशरीरतया तदास्यत्वनावस्थितेर्जीवप्रकारब्रह्मप्रति-पादनपरश्चितद्विरोधी, प्रत्युतेतस्यार्थस्योपपादकश्चित्य-

वस्थितेरिति काशकृत्स्न इत्यादिभिरसकृदुपपादितस्, अतस्सर्वावस्थं ब्रह्म चिदचिद्धस्तु शरीरिमिति सूक्ष्मचिद-चिद्रस्तुशरीरं ब्रह्म कारणं तदेव ब्रह्म स्थूलचिद्रचिद्र-स्तुशरीरं जगदारूयं कार्यमिति जगद्रह्मणोःसामाना-धिकरण्योपपत्तिः जगतो ब्रह्मकार्य्यत्वं ब्रह्मणोऽनन्य-त्वमचिद्रस्तुनोजीवस्य च ब्रह्मणश्चपरिणामित्वदुःखित्व कल्याणग्रणाकरत्वस्वभावासङ्करस्सर्वश्रुत्यविरोधश्च भव-ति "सदेव सोम्येदमम् आसीदेकमेवेत्यविभागावस्था-यामचिद्युक्तजीवस्य ब्रह्मशरीरतया सूक्ष्मरूपेणावस्था-नम् अवश्याभ्युपगन्तन्यं, वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वान कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चप्युपलभ्यते चेति सूत्रद्वयोदितत्वातदानीमपि सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य अविभागस्त नामरूपविभागाभावादुपपद्यते,अतो ब्रह्म-कारणत्वं सम्भवत्येव।

ये पुनरस्यैव जीवस्याविद्यावियुक्तावस्थामभि-प्रेत्यैवं भेदं वर्णयन्ति तेषामिदं सर्वमसङ्गतं स्यात्,न हि तदवस्थस्य सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं समस्तकारणत्वं सर्वा-त्मकत्वं सर्वनियन्तृत्वमित्यादीनि सन्ति अनेनैव रूपेण ह्याभिः श्रुतिभिः प्रत्यगात्मनो भेदः प्रतिपाद्यते तस्य सर्वस्याविद्यापरिकल्पितत्वात् तत्सर्वं ह्यविद्यापरिकल्पितं त्वन्मतेन चाविद्यापरिकिल्पतस्याविद्यावस्थायां श्रुक्ति-कारजतादिभेदवत्परस्परभेदोऽत्र सूत्रकारेणाधिकं तु भेदिनिर्देशादित्यादिष्ठ प्रतिपाद्यते ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्ये-ति जिज्ञास्यतया प्रकान्तस्य ब्रह्मणोजगज्जन्मादिकारण-स्य वेदान्तवेद्यत्वं तस्य च स्मृतिन्यायविरोधपरिहारश्च कियते अपीतौ तद्धत्मसङ्गादसमञ्जसं, न तु दृष्टान्तभा-वादिति सूत्रद्धयमेतद्धिकरणसिद्धमन्जवद्ति, तत्र हि विलक्षणयोः कार्य्यकारणभावसम्भव एवाधिकरणार्थः असादिति,चेत्र प्रतिषेधमात्रत्वादिति च पूर्वाधिकरणस्थ मनुवदित ॥ श्री० भा०

अर्थ-जिस प्रकार पत्थर काष्ठ लोहा तृणादि जो असन्त तुच्छ पदार्थ हैं और सदैव विकारी जड़िवशेप हैं उनका निर्दृषण निर्विकार, आनन्दस्वरूप सब वस्तुओं से विलक्षण ज्ञानस्वरूप नानाविध महाविभूति वाले ब्रह्म के साथ अभेद नहीं होसक्ता, इसी प्रकार अत्यन्त दुःखों वाला खद्योत के समान जो जीव उसका बिना हद वाले कल्याण गुणों की खानि ब्रह्म के साथ अभेद नहीं होसक्ता, और जो अभेद का कथन है वह "जिसका आत्मा शरीर हैं" इत्यादि श्रुतियों से जीव को ब्रह्म का शरीर प्रतिपादन करता हुआ जीव ब्रह्म का शरीर है इस प्रकार के अभेद द्वारा एकत्व बोधन करता हुआ भेद का अविरोधी है,केवल अविरोधी ही नहीं किन्तु भेद का प्रतिपादन भी करता है और यह बात "अवस्थितिरिति काञा- कृत्स्त्र " त्र० सू० १ । ४। २२ इत्यादि सूत्रों से अनेकवार कही गई है, इससे सिद्ध है कि प्रकृति और जीव को मिलाकर सब अवस्थाओं वाला ब्रह्म सूक्ष्म जड़ चेतन वस्तु शरीरहरपता से कारण है और वहीं स्थूल जड़ चेतन वस्तु शरीरहरपता से जगद क्ष कार्य है, इसी अभिपाय से उपनिषदों में जगत ब्रह्म के समाना-धिकरण=एकत्व का निर्देश है, इससे सिद्ध है कि जगत ब्रह्म का कार्य है, जड़ चेतन वस्तुमात्र प्रस्यकाल में सूक्ष्म रूप होकर ब्रह्म में रहने से अभेद है, प्रकृति, जीव, ब्रह्म इन तीनों के भिन्न स्वभाव परिणामित्व दुःखित्व कल्याणगुणाकरत्वादि स्वभावों का आपस में न मिलना और सब श्रुतियों का अविरोध होना "हे सी-म्य ? सृष्टि से पूर्व एक अद्भितीय था " इस प्रकार अवि-भागावस्था में जीव प्रकृति ब्रह्म का शरीर होने के कारण सुक्ष्मक्ष्प से उस समय इनका रहना समझना चाहिये " वैषम्य नैधृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति " व मू २ २ । १ । ३४ कर्म विभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युप-लभ्यते च " व स् २३५ इत्यादि सूत्रों से भी प्रलयकाल में जीव पकृति का सूक्ष्म रूप से रहना पाया जाता है, इसिलये सव पदार्थीं का ब्रह्म कारण होसका है।

और जो लोग जीव को अविद्यावस्था वाला मानकर भेद वर्णन करते हैं उनके मत में ब्रह्म के सर्वेश्वरत्व, समस्तकारणत्व, सर्वा-त्मकत्व, मर्वनियन्तृत्व इत्यादि मत्र विशेषण अम्मक्त होजाते हैं, इसी रूप मे श्रुतियों द्वारा ब्रह्म का भेद प्रतिपादन किया गया है, और यह भेद अविद्या कल्पित होने से सर्वज्ञत्वादि सब गुण भी अविद्या कल्पित होजायंगे, सीपी में भ्रम कल्पित चांदी की भांते "अधिकृन्तु भेदिनिर्देशात् " इत्यादि सूत्रों में सूत्रकार को मिथ्या भेद अभीष्ट नहीं किन्तु " ब्रह्मिजज्ञासा " कर्तव्य है, इस प्रकरण वाला जगअन्मादिकों का कारण जो ब्रह्म वह वेदान्त वेद्य है और उसमें स्पृति न्यायिवरोध का परिहार किया गया है "अपीतौतद्धत्प्रसङ्गादसमंजसम्" ब्र॰सू॰ १। २।८ "न तु दृष्टान्त भावात्"व्र॰मू॰९यहदोनों सूत्र इसी अभिपाय को सिद्ध कारते हैं, और वहां विलक्षणों का भी आपस में कार्यकारण भाव रूप सम्बन्ध होता है यह अधिकरण का अर्थ है और "अस-दितिचेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् " व्र॰मू॰९ यह प्रथम अधिकरण को प्रष्ट करता है॥

समिक्षा—नदी समुद्रादि दृष्टानतों द्वारा छोटे और वड़े का भी आपस में अभेद देखा जाता है, अतएव ब्रह्म बड़ा रहे इससे क्या? इस आश्रय को छक्ष्य रखकर जीव ब्रह्म का अत्यन्त वैछक्षण्य कथन करने के छिये मूत्रकार कहते हैं कि जैसे अश्रम=पाषाणादि पदार्थ जड़त्व परिच्छिनत्व छक्षणों की विछक्षणता के कारण ब्रह्म नहीं होमक्ते इसीप्रकार जीव ब्रह्म से अत्यन्त विछक्षण होने के कारण ब्रह्म नहीं होमक्ता अर्थाद यह जो परिच्छिन मृत् चित् आदि गुणों ब्रह्म नहीं बनमक्ता और जीव ब्रह्म का विछक्षण्य अल्पइत्व सर्वइत्व आदि गुणों से प्रमिद्ध है।

यद्यपि उक्त सूत्र का अर्थ श्रीभाष्याचार्य के विस्तृत व्याख्यान द्वारा स्पष्ट होने के कारण इमारा अधिक लिखना निष्मयोजन है तथापि अद्वैतवादियों की अयुक्तयुक्ति और अर्थाभास के निरा-करणार्थ कुछ लिखना अनुपयुक्त न होगा।

स्वामी शङ्कराचार्य का यह कथन कि पृथिवी के नाना विकारों की भांति एक ही ब्रह्म के जीव और ईश्वर रूपी भिन्नरकार्य वैचित्रय होसक्ते हैं, यह बात स्वभाववाद का तात्पर्य रखने और बहार्ष व्यास के अभिपायानुकुछ न होने से विशेष जानने वाछों में आदरणीय नहीं, यदि महर्षि व्यास को स्वभाववाद अभिपेत होता तो "ईश्वतेन्शिब्दम्" वर्व स्वर्शिश्व भागानु अवश्व १।१।५ "रचनाऽनुपपत्तेश्चनानु मानम् " ब्रद्ध २।२।१ इत्यादि चेतन कारण के प्रतिपादन कारने वाछे सूत्रों को न बनाते, ऐसे सूत्रों में उक्त महर्षि का अभिपाय स्वभाववाद के खण्डन और चेतनाविशिष्ठ सृष्टि के मण्डन में स्पष्ट है।

पश्च—" उपसंहार दर्शनान्नेतिचन्नश्वीरविद्ध " ब॰स॰
२ । १। २४ इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट स्वभाववाद पायाजाता
है फिर कैसे कहा जाता है कि महर्षि व्यास को स्वभाववाद सम्मत
न था ? इसका उत्तर यह है कि इन सूत्रों में दिथ आदिकों के
हष्टान्त सहायान्तर की अपेक्षा न रखने के कारण दिये गये हैं
कर्मी की आवश्यकता छोड़कर ब्रह्म परिणाम रूपी छिष्ट मतिपादन
के छिये नहीं, और " स्वाभाविकी ज्ञानबलिकिया च"
त्रैता॰ इस वाक्य में साधनान्तर की अपेक्षा न रखने वाले ब्रह्म
के स्वाभाविक=विना निमित्त वाले ज्ञान बल और क्रियायों के
वर्णन होने से भी यही बात सिद्ध होती है, और प्रयोजनवत्वाधिकरण के साथ विरोध आने से भी स्वा॰शङ्कराचार्य्य का सिद्धान्त ठीक

नहीं अर्थात ब्रह्म का जो जीव ईश्वर रूप से बहुत होजाना विधान किया है उसका प्रयोजनवत्वाधिकरण के साथ विरोध आता है, क्योंकि इस अधिकरण में जीव को अनादि मानकर ईश्वर के वैषम्य नैष्ट्रण्य दोषों का परिहार किया गया है, इस प्रकार पूर्वापर विचार करने से सिद्ध है कि महर्षि च्यास का अभिप्राय पाप पुण्य की च्यवस्था करने में स्पष्ट है और यही भाव प्रयोजनवस्वा-धिकरण में मले प्रकार दर्शाया गया है॥

"न प्रयोजनवत्त्वात्" ब॰स॰ २।१।३२

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृकत्वं जगतः आक्षिपति,
न खल्ज चेतनः परमात्मेदं जगिद्धम्वं विरचियतुमहिति,
कृतः प्रयोजनवत्वात् प्रवृत्तीताम्, चेतनो हि लोके
बुद्धि पूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामि
तावत् प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो हृष्टः
किम्रुत गुरुतरसंरम्भाम् भवति च लोकप्रसिद्धचनुवादनी श्रुतिः "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं
भवति आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति " इति,
गुरुतसंरम्भा चेयं प्रवृतिः यदुच्चावचप्रपञ्चं जगिद्धम्बं
विरच्चायतन्यम्, यदीयमिष प्रवृत्तिः चेतनस्य परमात्मन
आत्मप्रयोजनोपयोगनी परिकल्प्येत परितृष्ठत्वं परमात्मनः श्रयमाणं बाध्येत, प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्यभा-

वोऽपि स्यात्, अथ चेतनोऽपि सन् उन्मत्तो बुद्धचपरा-धादन्तरे णैवात्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमा-त्मापि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत, तथा सति सर्वज्ञत्वं पर-मात्मानः श्रूयमाणं वाध्येत, तस्मादिश्ठिष्टा चेतनात् सृष्टिरिति ॥ शं० भा०

अर्थ-जगत के चेतनकर्तृत्व में अन्य प्रकार से आक्षेप किया जाता है कि चेतन परमात्मा इस जगत विम्व को नहीं रचसक्ता, क्योंकि सब कामों में प्रयोजन देखा जाता है और सृष्टि रचने में उसका कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता, लोक में बुद्धिमान पुरुप थोड़े यत वाला काम भी निष्पयोजन नहीं करता तो वड़ की तो कथा ही क्या और इस लोक प्रसिद्ध को श्रुति भी कहती है कि "हे मैत्रेयी ! जगत्के लिये जगत् प्यारा नहीं किन्तु अपने ही लिये जगत प्यारा होता है " यह सृष्टि वड़ मारम्भ वाली है, यदि ईश्वर के स्वप्रयोजनार्थ मानीजाय तो वह नित्य आनन्दस्वरूप नहीं रहता, यदि प्रयोजन का अभाव मानाजाय लो प्रवित्त भी नहीं रहती और यदि यह कहाजाय कि ईश्वर ने विना प्रयोजन ही जगत को रचा जैसे एक चेतन उन्मत्तावस्था में बुद्धि अपराध में बिना पयोजन वाला काम भी करता है, ऐसा मानने पर श्रुति सम्मत परमात्मा का सर्वज्ञत्व न रहेगा, इसलिय चेतन से सृष्टि मानना ठीक नहीं।

यद्यपीश्वरः प्राक्सृष्टरेक एव सन् सकलेतरविलक्ष-णत्वेन सर्वार्थशाक्तियुक्तः स्वयमेवं विचित्रं जगत्स ष्टुं शकोति तथाऽपीश्वरस्य कारणत्वं न सम्भवति, प्रयोजनवत्त्वाद् विचित्रसृष्टेः, ईश्वरस्य च प्रयोजनाभावात्
बुद्धिपूर्वकारिणामारम्भे द्विविधं हि प्रयोजनं स्वार्थः
परार्थों वा, न हि परस्य ब्रह्मणः स्वभावत एवावाससमस्तकामस्य जगत्सर्गण किञ्चन प्रयोजनमनवाप्तमवाप्यते, नापि परार्थः आप्तसमस्तकामस्य परार्थता हि
परानुष्रहेण भवति नचेद्दशगर्भजन्मजरामरणनरकादिनानाविधानन्तदुःख बहुलं जगत्करुणावान्सुजति,
प्रत्युत सखैकतानमेव सुजेज्ञगत्करुणया सृजन् ॥

अर्थ-यद्यपि सृष्टि से पूर्व मत पदार्थी से विलक्षण एक ही
परमात्मा सर्वशिक्तसम्पन्न होने के कारण विचित्र जगत को
रचसक्ता है तथापि ईश्वर का जगतकारणत्व नहीं बनसक्ता, क्योंिक
विचित्र सृष्टिरचना के लिये प्रयोजन होना चाहिये और सृष्टि
बनाने में जसका कोई प्रयोजन नहीं, बुद्धिमान के काम में दो
प्रकार का अर्थ देखा जाता है अपना वा दूसरे का, स्वभाव
से नित्य तृप्त परमात्मा का न अपना अर्थ होसक्ता है न
दूसरे का, क्योंिक दूसरे का अर्थ उस पर कृपा करने से होता है और
ऐसे जगत को जिसमें जन्म, परण, बुहापा आदि अनेक दुःख भरे
हैं दयाशील नहीं रचसक्ता, यदि करुणा से परमेश्वर जगत को
रचता तो वह सुखक्ष होता पर ऐसा नहीं, इसलिये प्रयोजन का
अभाव होने से बहा जगत का स्रष्टा नहीं, यह सन्देह जत्यन्न होने
पर सूत्रकार आगे के सूत्र से समाधान करते हैं—

समिक्षा—सृष्टि रचने में ईश्वर का क्या प्रयोजन ? नित्यमुक्त होने के कारण उसका अपना प्रयोजन नहीं होसक्ता, संसार बहुत दुः खों वाला होने से अपरमार्थ के कारण जीव के अर्थ भी संसार रचना का प्रयोजन नहीं बनसक्ता, न्यायाधीश की भांति शुभाशुभ दातृत्व के कारण जगत रचना का प्रयोजन होसक्ता है सो यह भी नहीं, क्यों कि प्रथम स्रष्टि में कोई कर्म थे ही नहीं फिर न्याय किसका! कमीं के अनादि होने से व्यवस्था होसकेगी, यह कथन तर्क न जानने वालों को ही सन्तोष जनक होसकेगी, यह कथन तर्क न जानने वालों को ही सन्तोष जनक होसका है, क्यों के कमी शरीर के अधीन और शरीर कमों के अधीन है, इस प्रकार एक दूसरे के सहारे पर होने से भी कर्म सापेक्ष स्रष्टि ठींक नहीं, लोक में थोड़े यज्ञ वाली प्रविच भी निष्प्रयोजन नहीं देखी जाती फिर इतने बड़े प्रयत्न से सिद्ध होने वाली संसार रचना में मुक्तस्वभाव ब्रह्म प्रवत्त हुआ यह कैसे सम्भव है ?

वास्तव बात यह है कि वैदिक तर्क न जानने के कारण ईश्वरास्तीत्व में जो संशयात्मा हैं उनके हृदय में इस मकार के प्रश्न बहुधा उत्पन्न हुआ करते हैं और ईश्वर का अनस्तीत्व मन में बैठ जाने से अनथों की प्राप्ति होती है, इस अनर्थ जाल के प्रश्नों को मूल से काटने के लिये और ईश्वरास्तीत्व को पूर्वपक्ष द्वारा अति हद करने के लिये उत्तरमीमांसाचार्य्य कथन करते हैं कि :—

लोकवत्त लीलाकैवल्यम् ॥ ३३॥

त शब्दे नाक्षेपं परिहरति, यथा लोके कस्यचि-दारीप्रणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किश्चित् प्रयोजनमनभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः कीडाविहारेषु भवान्त, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽन-भिसन्धाय वाह्यं किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्षयः किञ्चित प्रयोजना-न्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिभीवष्यति, न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति, न च स्वभावः पर्यनुयोक्तं शक्यते,यद्य-प्यस्माक्तियं जगिडम्बविरचना गुरुतरसंरम्भेवा गाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं अपरिमितशाक्ति-त्वात, यदि नाम लोके लीलास्विप किञ्चित सूक्ष्मं प्रयोजनं उत्प्रेक्षेत तथापि नैवात्र किञ्चित् प्रयोजनमु-त्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्चतेः, नाप्यप्रवृत्तिः उन्मत्त-प्रवृत्तिर्वा सृष्टिश्रुतेः सर्वज्ञश्रुतेश्च, न चेयं परमार्थ विषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकित्पतनामरूपव्यवहारगो-चरत्वात् ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाचेत्येतद्पि विस्मतृ वयं ।। शं०भा०

अर्थ-सूत्र में "तु" शब्द से पूर्वोक्त आक्षेप का परिहार किया गया है कि जैसे छोक में किसी एक प्राप्त समस्तकाम राजा वा उसके मंत्री की विना प्रयोजन केवल लीलारूप प्रदित्तयें देखी जाती हैं और जैसे श्वास प्रश्वास आदि स्वाभाविक विना किसी प्रयोजन के होते हैं इसी प्रकार ईश्वर भी किसी प्रयोजन की अपेक्षा न रखकर जगत रचना में स्त्रभाव से ही परत होता है, अन्य कोई मयोजन स्षष्टिरचने का युक्ति और श्रुति से निरूपण नहीं होसक्ता और न उसके स्त्रभाव में कोई तर्क होसक्ता है, यद्याप हमको यह जगत्विम्बरूपी रचना वड़े प्रारम्भ वाली प्रतीत होती है परन्तु ईश्वर अपिरिमित शक्तिवाला होने से उसके लिये केवल लिलामात्र है।

लोक में कोई प्रयोजन लीला में भी कल्पना किया जासका है परन्तु इश्वर का जगद रचने में कोई प्रयोजन नहीं होसका, क्यों कि वह पर्याप्तकाम सुना गया है, और नाही यह कहसको हैं कि ईश्वर ने जगद नहीं बनाया और न यह कहसको हैं कि उसने उन्मत्त की भांति बनाया, क्यों कि जगद की रचना और उसका 'सर्वज्ञ होना श्रुति कथन करती है और यह भी भूलने योग्य नहीं कि सृष्टि अविद्याकृत नाम कप व्यवहार कल्पित होने से परमार्थ में नहीं है और न यह कहसको हैं कि ब्रह्म आत्मभाव प्रतिपादन करने के लिये है।

अवाप्तसमस्तकामस्य परिप्रणिस्य स्वसङ्कल्पवि-कार्य्यविविधविचित्र चिदचिन्मिश्रजगत्सर्गे लीलैव केवलं प्रयोजनं लोकवत्, यथा लोके सप्तद्वीपां मेदिनीमधितिष्ठतः सम्प्रणिशौर्य्यवीर्ध्यपराक्रमस्यापि महाराजस्य केवल लीलैकप्रयोजनाः कन्दुकाद्यारम्भा हश्यन्ते तथैव परस्यापि ब्रह्मणः स्वसङ्कल्पमात्राव्क-प्रजगज्जन्मस्थितिष्वंसादेलीलैव प्रयोजनामिति नि-रवद्यम् ॥ श्री॰भा॰

भूमिका

अर्थ-समस्त काम प्राप्त परिपूर्ण परमेश्वर के लिये अपने सङ्करण से विविध विकार वाले जड़ चेतन के साथ मिले हुए जगत की रचना में केवल लीला ही पयोजन है, जिसपकार संसार में सम्पूर्ण पृथिवी के अधिष्ठाता शौर्य्य, वीर्य्य, पराक्रमादि युक्त महाराज के लिये केवल लीला प्रयोजन वाले ही गेंद खेलनादि व्यवहार देखे जाते हैं इसी प्रकार परब्रह्म को भी जगत की रचना, स्थित प्रलयादि में लीला ही एक प्रयोजन है,इस प्रकार उक्त दोष का परिहार किया है।

समिशा-आगे चार सूत्रों द्वारा उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए ईश्वर को संसार रचने में प्रयत्न करना पड़ता है इसका खण्डन करने के छिये प्रथम इस आशयवाले सूत्र को आचार्य्य ने रचा अर्थाद जैसे संसार में वड़ी विभूती वाले महाराजाओं के लीलामात्र क्रीड्रोत्सव को देखकर असमर्थों को आश्चर्य होता है कि यह क्रीड़ाव्यवहार का साधन बड़े प्रयत्न से किया गया होगा इसी प्रकार महामाय महेश्वर की शक्ति को न जानते हुए पुरुष को सन्देह होता है कि महाप्रयत्न साध्य यह विविध आकार वाला और अधिकरणादि असम्भव मतीति वाला जगत ईश्वर ने कैंसे बनाया !इसका मुत्रकार ने यह उत्तर दिया है कि "ज्ञात् रचने में लोक की भांति केवल लीलामात्र प्रयत है " यहां " लीला " शब्द ईश्वर में परिश्रम के अभाव का कथन करता है न कि प्रयोजनाभाव का, और यदि ऐसा न हो तो आगे का सूत्र व्यर्थ होजायगा अर्थात् निष्पयोजन लीलामात्र ही जगत् रचना कीगई है तो ऐसी रचना व्यर्थ हैं, या यों कही कि ईश्वर का ऐसा ऐश्वर्घ जिससे अन्धे, विधर तथा गाँछतशरीर वार्छों को रचकर निष्पयोजन क्रीड़ा की परन्तु ऐसा नहीं, पूर्वकर्मी की अपेक्षा से अन्ध बिधरादि शरीरों की असमानता है, इसी अभिनाय से
"तेषम्य नेष्ट्रिण्येनo" और जगत रचने में ईश्वर को बड़ा परिश्रम पड़ता है इस दोष को दूर करने के लिये " लोकवत्तु लिलाकेवल्यम् " कथन किया है, निष्मयोजनता बोधन
के लिये पूर्वेक्ति सूत्र नहीं रचा, और जो कई एक भाष्यकारोंने
"लीलामात्र ही जगत रचने में प्रयोजन है अन्य नहीं " इस प्रकार
इस सूत्र का न्याख्यान किया है वह महिष न्यास के अभिनायानुकूल
नहीं, क्योंकि उक्त महिष ने कर्मसापेक्ष सृष्टि मानी है।

और जो यह कहाजाता है कि स्रष्टि परमार्थ से न होने के कारण उसके रचने में कोई पर्योजन नहीं होसक्ता, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ जगतकर्ता में भ्रमाभाव होने के कारण अपरमार्थ स्रष्टि नहीं होसक्ती, यदि यह कहाजाय कि जीव की दृष्टि में स्रष्टि है और वह भ्रान्त है तो ईश्वरकर्तृत्व आकाशपुष्प के समान हुआ, यदि यह कहें कि ईश्वस्कृतृत्व भी तो जीव किल्पत है तो फिर अपरमार्थ कहना भी जीव किल्पत होने से अपरमार्थ है, इत्यादि युक्तियों से स्रष्टि का अपरमार्थ होना प्रथम खण्डन कियागया है फिर जो यह कहाजाता है कि ब्रह्मात्मभाव बोधन के लिये यह स्रष्टि है तो स्रष्टि से प्रथम भी ब्रह्मात्मभाव था, इसके लिये स्रष्टि रचके नाना प्रकार भ्रान्तिजन्य दुःखों में डालकर ब्रह्मात्मभाव बोधन से क्या लाभ ? ऐसे कीचड़ को लगाकर धोने से तो दूर ही रहना अच्छा था।

अद्वेतवादियों के मत में इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन स्रोष्ट का नहीं कहाजासक्ता कि ब्रह्म ने यह खेळ किया,यहां प्रष्टव्य यह है कि ब्रह्म को ऐसे खेळ से क्या ? यदि यह कहाजाय कि उसका स्वभाव है तो इस प्रकार निष्प्रयोजन उन्मत्तों के सहश स्वभाव से ब्रह्म में ब्रह्मत्व कैसे ? यदि यह कही कि सर्वात्मत्व. होने से ब्रह्मत्व है तो सर्वात्मत्व क्या ? सब कुछ अपने आप होना वा सबका स्वामी होना ? यदि प्रथम पक्ष मानाजाय तो ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव न रहेगा और दूसरा पक्ष मानाजाय तो द्वैतवाद सिद्ध है, और जो यह कहागया है कि अविद्या कल्पित नाम रूप व्यवहार गोचर होने से परमार्थ में सृष्टि श्रुति नहीं, यहां वादी से यह प्रष्टुटय है कि अविद्या क्या ? जिसकी कल्पना से यह झूठी सृष्टि है उसका न जानना अविद्या है वा मिथ्याज्ञान का नाम अविद्या है? सर्वज्ञ होने से ईश्वर न जानने वाला नहीं होसक्ता और न मिथ्याज्ञान वाला होसकता है, इसिलये उक्त कथन ठीक नहीं, अब पश्च यह होता है कि किसको आश्रय करके अविद्या भ्रान्तिक्ष जगत को उत्पन्न करती है ? यदि ब्रह्म को आश्रय करके जगद को उत्पन्न करती है तो ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप होने पर भी उसमें अविद्या बनी रहेगी, इस कथन से गहन वेदान्तार्थ सम्प्रदायी आपने अपने तर्क का भाण्डार प्रकट करिदया, क्योंकि जब ज्ञानस्वरूप ब्रह्म अविद्या को निष्टत नहीं करसक्ता तो और कौन उसके निवृत करने में समर्थ होसक्ता है? ईश्वर को आश्रय करके अंविद्या जगत को उत्पन्न करसक्ती है, क्योंकि अद्भैत वादियों के मत में ब्रह्म में अविद्या होने से दिना ईश्वर नहीं बनसक्ता और जीवाश्रय भी नहीं कहसक्ते, यह हम इतरेतराश्रय पसङ्ग से पथम ही खण्डन करआये हैं।

और बात यह है कि अविद्या सस है वा असस अथवा ससामस से विलक्षण है ? यदि सस मानें तो अविद्या के सदा बने रहने के कारण ब्रह्म को निस मुक्त कहना शशश्रुङ्ग के समान है और अद्वैत की हानि भी होगी, यदि असस है तो वन्ध्यापुत्र के समान कुछ न करने वाली होनी चाहिये और तीसरा पक्ष इसलिये नहीं बनसक्ता कि सखासख से निराली कोई चीज़ संसार में नहीं, बिनाश के न होने से चेतन सत है और प्रतीति के न होने से शश्युद्धादि असत हैं और जिसकी प्रतीति तथा विनाश दोनों हों वह पदार्थ भिष्या होता है, जैसे सीपी में चांदी आदि भ्रम, इसी प्रकार जगत में भी प्रतीति और नाश दोनों पाये जाते हैं, इसलिये इसका मिष्या होना आवश्यक है ? यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जिस आश्रय में जो प्रतीत होता है जस आश्रय के ज्ञान से बाध होना ही उसके मिष्यापन का चिह्न है, यदि ऐसा न होता तो परिणामी निख भी मिष्या होजाता, इस प्रकार प्रपश्च मिष्या नहीं, फिर उसके मिष्यात्वहेत से जो उसकी उत्पत्ति में निष्पयोजनता कथन कीगई है वह मरुपूमि के जल की भांति कथन मात्र है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्श-यति ॥ ३४॥

पुनश्च जगजनमादिहेत्तवमीश्वरस्याक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य द्रदीकरणाय,
नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते, कृतः वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात्, कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्,कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः करोति पश्चादीन् कांश्चिन्मध्यमभाजो
मन्जष्यादीनित्येवं विषमांसृष्टिं निर्मिमाणस्यश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागदेषोपपत्तेः श्चितस्मृत्यवधारितस्वच्छ-

त्वादिश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत तथा खलजनै-रिप जुगुप्सतं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात् सर्वप्रजोपसंहरणाचप्रसज्येत, तस्माद्वैषम्यनैर्घण्यप्रस-ङ्गान्नश्वरः कारणिमत्येवं प्राप्त ब्रमः, वैषम्यनैर्घृण्येनेश्व-रस्य प्रसज्येते, कस्मात् सापेक्षत्वात्, यदि हिं निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेती दोषी वैषम्यं नैघृण्यञ्च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति,सा-पेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्भिमीते, किमपेक्षत इति चेत् धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः, अतः सृज्यमान प्राणिधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः, ईश्वरस्तु पर्जन्यवत् द्रष्टव्यः, यथा हि पर्जन्या बीहि-यवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, ब्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्रीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कार-णानि भवन्ति, एवमीश्वरी देवमनुष्यादिसृष्टी साधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगता-न्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति, एवमी-श्वरः सापेस्त्वात्र वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दूष्यति, कथं पुन-रवगम्यते सापेक्ष ईश्वरोनीचमध्यमोत्तमं संसारं निर्मि-मीत इति, तथा हि दर्शयति श्रुतिः "एप हयेव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपत एष उ CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection

एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते"इति "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापन " इति च स्मृति-रिप प्राणिकभिविशेषापेक्षमेवेश्वरस्यातुत्रहीतृत्वं निग्रहीतृ-त्वञ्च दर्शयति "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथेव भजा-म्यहं, इत्येवं जातीयका ॥ वं भा

अर्थ-जंसे लकड़ी गाढ़ते समय उसको एतद्थ हिलायाजाता है कि इसकी जड़ में अधिक मिट्टी डालकर इसकी टट करिंदया जाय, इसी प्रकार पूर्व प्रतिज्ञात अर्थ को दृढ़ करने के छिये फिर यह पश्च किया जाता है कि ईश्वर जगजन्मादिकों का हेतु कैसे अर्थात् असमता और निर्दयता का प्रसङ्ग होने से ईश्वर जगद का कारण नहीं होसक्ता, क्योंकि उसने देवादिकों को अत्यन्त सुख वाले, पश्वादिकों को अत्यन्त दुःख वाले और मनुष्यादिकों को मध्यम मुख वाले बनाया है, इन प्रकार की असमता वाली खिष्ट बनाते दुए ईश्वर को रागद्वेष लगते हैं, और श्रुति स्पृति में जो ईश्वर को शुद्ध स्वभाव वर्णन किया गया है वह भी लोप होजाता है और संसार में असन्त दुःख रचनां तथा सारी प्रजा को नाश करदेना जो खलु-जनों से भी निन्दित है इस प्रकार का निर्दयपन और क्रूरतादि दोष परमेश्वर में लगते हैं, इसिलिये असमता और निर्दयता के कारण ईश्वर जगत का कत्ती नहीं होसक्ता, इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर उत्तर दिया जाता है कि उक्त दोष ईश्वर में नहीं लगते, क्योंकि वह कर्मों के निमित्त से छिष्टि रचता है, यदि बिना किसी कारण के असमता वाली स्राष्टि को ईश्वर रचता तो यह दोष लगते और विना किसी हेतु के ईश्वर जगद को नहीं बनाता, यदि यह कहाजाय कि

किस निमित्त से बनाता है तो उत्तर यह है कि धर्माधर्म के निमित्त से बनाता है, इसिछये पापपुण्य की अपेक्षा से विषय स्रिष्ट है और वह ईश्वर का अपराध नहीं, ईश्वर तो बादल की न्यांई है अर्थात जसे दृष्टि ब्रीही, यव आदि सृष्टि के लिये एक जैसा कारण है और उनकी विषमता में उनके वीजों का सामर्थ्य कारण है इसी मकार देव सनुष्यादि सृष्टि में ईश्वर साधारण कारण है और देव मनुष्यादि की विषमता में उनके कर्म कारण हैं, इस मकार ईश्वर निमित्त से विषयता करता है. इसलिये दूषित नहीं होता, प्रश्न-यह कैसे जानाजाय कि ईश्वर कमों के कारण ऊंच नीच रचता है? उत्तर-यह बात श्रुति कथन करती है कि "जिनको वह उन्नत करना चाहता है उनसे अन्छे कर्म और जिनकी वह अवनती करना चाहता है उनसे बुरे कर्म कराता है" भले कर्म से पुण्यात्मा और बुरे कर्म से पापात्मा होता है " स्मृति भी जीवों के कमों द्वारा ही ईश्वर को उन्नति और अवनति करने वाला कथन करती है कि "जो जैसे मुझको पाप्त होते हैं वैते ही मैं भी उनके साथ वर्ताव करता हं "।

यद्यपि परमपुरुषस्य सकलेतरिवदिवदस्तुविल-श्वणस्याचिन्त्यशक्तियोगात्प्राक्सृष्टेरेकस्य निरवयव-स्यापि विचित्रचिदिविन्मश्रजगत्सृष्टिः सम्भाव्येत तथापि देवतिर्ध्यङ्मनुष्यस्थावरात्मनोत्कृष्टमध्यमापकृष्ट-सृष्ट्या पश्चपातः प्रसज्येत अतिघोरदुःखयोगकरणाने-र्षृण्यं चावर्जनीयमिति तत्रोत्तरं न सापेक्षत्वादिति, न प्रसज्येयातां वैषम्यनैर्घृण्ये कृतः सापेक्षत्वात् सृज्यमान- देवादिक्षेत्रज्ञकर्मसापेक्षत्वाद्विषमसृष्टेर्देवादीनां क्षेत्रज्ञानां देवादिशरीरयोगं तत्तत्कर्मसापेक्षत्वं दर्शयन्ति हि श्रुति-स्मृतयः "साधुकारी साधुभवित पापकारी पापो भवित पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवित पापः पापेन कर्मणा "तथा भगवता पराशरेणापि देवादिवैचित्रयहेतुः सृज्यमानानां क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशिक्तरेवेत्युक्तं, "निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि, प्रधानकारणीभृता यतो न सृज्यशक्तयः" निमित्तमात्रं सुत्वेव नान्यत्किच्चदपेक्षते, नीयते तपसां श्रेष्ठ! स्वशान्त्या वस्तु वस्तुता" मिति स्वशक्त्या स्वकर्मणेव देवादिवस्तुताप्राप्तिरिति ॥ श्री० भा०

अर्थ-पद्यपि सम्पूर्ण जड़ चेतन पदार्थों से विलक्षण निरवयव स्विष्ट से पूर्व एक जो परमपुरुप परमात्मा उससे अचिन्त्यशक्ति के कारण जड़ चेतन के साथ मिली हुई विचित्र स्विष्ट होसक्ती है तथापि देव,तिर्ध्यक्, मनुष्य और स्थावरादि उत्कृष्ट, मध्यम और नीच रचना के कारण उसमें पक्षपात आयेगा, क्यों कि जीव को ऐसे भयानक दुःख में डाल देने से निर्द्यता हटाई नहीं जासक्ती ? उत्तर—ऐसा मत कहो, कमों के कारण वैपम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं लगते, क्यों कि असमता वाली स्वष्टि का पूर्वकर्मों के कारण से होना श्रुति स्मृति द्वारा पाया जाता है, अच्छे कर्म करने वाला अच्छा फल पाता और बुरे कर्म करने वाला बुरा फल पाता है, भगवान पराशर ने भी पूर्वकर्मानुसार ही देवादि विचित्र योनियें मानी हैं, जैसाकि "स्रष्टिके रचने में निर्मित्त ईश्वर है और सुख दुःख जीवों के कर्माधीन होते हैं" अतएव अपने कर्मों द्वारा ही देवादि योनियों की माप्ति पाईजाती है अन्यथा नहीं।

समीक्षा-यह सूत्र स्पष्टार्थ के कारण विवादरहित होने से अधिक व्याख्यान की आवश्यकता नहीं रखता अर्थात कर्माधीन ही वैषम्य=असमानता और नैर्घृण्य=निर्द्यता यह दोनों दोष परिहार करके इस सूत्र में सामान्य रीति से दिखलाये गये हैं, और कर्म कैसे निभित्त होसक्ते हैं तथा कैसे अनादि हैं यह भाव विस्तारपूर्वक सर्कद्वारा आग्रम सूत्र में कथन करते हैं:—

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादु-पपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३५॥

"सदेव सोम्येदमय आसीदेकमेवाद्वितीयं" इति प्राक्षृष्टरित्रभागावधारणात्रास्ति कर्म यदपेक्षा विषमा-सृष्टिः स्यात्, सृष्टयुत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म कर्मापक्षश्च शरीरादिविभाग इति इतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत, अतो विभागादृष्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्त्ततां नाम, प्राक् तु विभागादेवित्रयिनिमत्तस्य कर्मणोऽभा-वात्तुल्यवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत्, नेष दोषः,अनादि-त्वात् संसारस्य,भवेदेष दोषोयद्यादिमानयं संसारःस्यात्, अनादौ तु संसारे वीजाङ्करवद्धेतु हेतुमद्भावेन कर्मणः स्मिनेषम्यस्य च प्रवृत्तिन विरुध्यते, कथं पुनरवगम्यते अनादिरेष संसार इति, अत उत्तरं पठति ।

उपपद्यते च संसारस्यानादित्वं, आदिमत्त्वे हि संसारस्य अकस्मादुङ्कृतेर्भुक्तानामपि पुनः संसारोङ्क्-तिप्रसङ्गः अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च. सुखदुःखादिवेषम्यस्य निर्निमित्तत्वात्, न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम्, न चाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणं एकरूपत्वात्, रागा-दिक्केशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षात्वविद्या वैषम्यकरी स्यात्, न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः, अनादित्वे तु वीजाङ्करन्यायेनोपपत्तर्न कश्चिद्दोषो भवति, उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः, श्रुतौतावत् "अनेन जीवेनात्मना " इति सर्ग प्रमुखे शारीरमात्मानं जीव-शब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिलपन्ननादिः संसार इति द्शियति, आदिमत्वे तु ततः प्रागनवधारितः प्राणः स कथं प्राणधारणनिमित्तन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभि-लप्येत, न च धारियच्यतीत्यतोऽभिलप्येत, अनाग-तादि सम्बन्धादतीतः सम्बन्धो बलीयान् भवति अभिनिष्पन्नत्वात्, "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वम- क ल्पयत् " इति च मंत्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति, स्मृतावप्यनादित्वं संसारस्योपलभ्यते, "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो नचादिर्न च सम्प्रतिष्ठा" इति पुराणे चातीतानामनागतानाञ्च कल्पानां न परिमा-णमस्तीति स्थापितम् ॥ शं० भा०

अर्थ-"हे सौम्य! यह प्रथम एक अद्वितीय था" इस प्रकार स्टिष्ट से पूर्व अविभाग सुने जाने से, नही हैं कर्म जिनके कारण विषम सृष्टि हो, सृष्टि के उत्तरकाल में जो विभाग उसके अधीन कर्म और कर्मों के अधीन वारीरादि विभाग, इस प्रकार एक दूसरे के सहारे होने का दोप लगगा, इसलिये विभाग के पश्चात कमीं के कारण ईश्वर प्रवत्त हो, पर विभाग से प्रथम विवित्र कर्म के अभाव से विषमसृष्टि में वेषम्य नैवृण्य दोष बने रहेंगे ? यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि संमार अनादि है, यदि संसार आदि वाला होता तो यह दोष लगता, अनादि संसार में बीज और दूस की भांति कार्यकारणभाव से कर्म और सृष्टि की प्रवृत्ति नहीं रुक सकर्ती, प्रश्न-यह कैसे जानाजाय कि संसार अनादि है ? उत्तर-संसार का अनादिपन उपपादन होतका है, क्योंकि यदि संसार अनादि न होता तो अकस्मात उत्पन्न होने के कारण सक्त भी बन्धन में आजाते और न किये हुए कर्म भी लगजाते परन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि सुल दुः ल वैपम्य के निमित्त होने से ईश्वर वैषम्य का हेतु नहीं यह पीछे कइ आये हैं और एकरूप होने से नाही केवल अविद्या वैषम्य का कारण है, हां रागादि क्लेश वासना से किये हुए कमों के अधीन अविद्या वैषम्य करी है, बिना कमों के अरीर

और शारीर के बिना कर्म नहीं होते, यह अन्योन्याश्रय दोष का मसङ्ग भी होगा और अनादि मानने पर बीज दक्ष के दृष्टान्त से कोई दोष नहीं आता, और श्रुति स्मृति में भी संसार का अनादित्व पाया जाता है, जैसाकि "इस जीवात्मा से प्रवेश करके नामरूप को कहं " इस श्रुति में वर्णन किया है, यह सृष्टि के प्रारम्भ में शारीर आत्मा प्राणधारणनिमित्त वाले जीव शब्द से श्रुति कहती. हुई संसार अनादि है यह कथन करती है, यदि संसार आदि वाला हाता तो उसने पूर्व प्राणघारण के न होने से सृष्टि के प्रथम जीव शब्द का प्रयोग कैसे कियाजाता, यदि यह कहाजाय कि पाणों को भविष्यत् में धारण करेगा इस अभिप्राय से जीव शब्द कहागया है,यह इसलिये ठीक नहीं कि सिद्ध होने के कारण अनागत सम्बन्ध से भूत सम्बन्ध बलवान होता है ''ईश्वर सूर्य तथा चन्द्रमा को प्रथम की भांति पत्येक सृष्टि में बनाता है" यह वेद प्रथम सृष्टि के सद्भाव को दिखलाता है, और स्मृति में भी संसार का अनादित्व पायाजाता है, जैसाकि "न उसका रूप हैन अन्त है न आदि"पुराणों में भी अतीत और अनागत कल्पों की कोई गिनती नहीं, यह बात स्थापन कीगई है।

प्राक्सृष्टेः क्षेत्रज्ञा नाम न सन्ति कृतः अविभागश्रवणात् "सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति" अतस्तदानीं
तदभावात्तर्कर्म न विद्यते कथं तद्पेक्षं सृष्टिवैषम्यमित्यच्यत इति चेन्न अनादित्वात्, क्षेत्रज्ञानान्तत्कर्मप्रवाह्मणां च तदनादित्वेऽविभाग उपपद्यते च यतस्त-

त्क्षेत्रज्ञवस्तुपरित्यक्तनामरूपं ब्रह्मशारीरतयाऽपि पृथग्व्य-पदेशान हम् अतिस्कष्ममवितष्ठते तथाऽनम्युपगमे अकृ-ताभ्यागमप्रकृतविप्रणाशप्रसङ्गश्च, उपलभ्यते च तेषाम-नादित्वं "न जायते प्रियते वा विपश्चिदिति" सृष्टि प्रवाहानादित्वं च "स्पीचन्द्रमसौ धाता यथाप्रवंमक-ल्पयदित्यादौ" "तद्धेदं तर्द्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते " इति नामरूपव्याकरणमात्रश्रवणात् क्षेत्रज्ञानां स्वरूपानादित्वं सिद्धं, स्मृताविप "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धचनादी उभावपीति" अतस्सर्वविलक्ष-णत्वात्सर्वशक्तित्वाहीलैकप्रयोजनत्वात् क्षेत्रज्ञकर्मानु-युण्येन विचित्रसृष्टियोगाद्रह्मैव जगत्कारणम्॥ श्री०भा०

अर्थ-सृष्टि से प्रथम जीव न थे, क्यों कि 'हे सौम्य ! पहले सच्छव्द-वाच्य एक ही ब्रह्म था" और उस समय जीवों का अभावहोंने से कर्म भी न थे फिर कमों की अपेक्षा सृष्टि का वैषम्य कैसे कहा जासकता है ? यदि यह कहाजाय तो ठीक नहीं, क्यों कि जीव और उनके कमों का प्रवाह अनादि है और अनादि होने पर भी अविभाग के होने में कोई बाधा नहीं. क्यों कि जीव नाम रूप को छोड़ कर ब्रह्मशरीर-रूपता से भिन्न कथन के अयोग्य हुए उस अवस्था में रहते हैं, ऐसा न मानने पर किये हुए कमों की हानि और न किये हुए का प्रसङ्ग होगा ।

और जीवों का अनादित्व शास्त्र में भी पाया जाता है , जैसाकि

"न जीव जन्मता है न मरता है" सृष्टिम्वाह को वेद भी अनादि कथन करता है "ईश्वर सूर्य्य चन्द्रमा को पूर्व कल्पों के समान बनाता है" तब सृष्टि से पूर्व आविभागावस्था में अन्याकृत नाम रूप की दशा में न था और यह नाम रूप द्वारा विस्तार किया ग्या, इस प्रकार नाम रूप का विस्तार मात्र सुने जाने के कारण जीव स्वरूप से अनादि है और स्मृति में भी यही पाया जाता है कि "प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जान " अतएव सब वस्तुओं से विलक्षण सर्वशाक्तिमान ब्रह्म ही लिलक्षण सर्वशाक्तिमान के कारण जीवां के कर्म द्वारा विचित्र स्रिष्टियोग से जगद का कारण है।

समिश्वा—ब्रह्म ही जीवरूप से बहुत होगया यह अद्वैतंवादियों का मत है इसका भन्ने प्रकार खण्डन करने के लिये प्रथम अद्वैत मत से पूर्वपक्ष किया जाता है 'क्रिम न थे अविभाग से"—पूर्व सिष्ट में कर्म न थे एक के सुने जाने से, वेद में एक अद्वितीय सुना जाता है उसके एक होने से ही कर्मों का प्रथकत नहीं रहता? इस सन्देह के होने पर सूत्रकार कहते हैं कि 'ऐसा मत कहो अना-दि होने से"अर्थाद कर्मों के अनादि होने से एक सुने जाने के समय में भी कर्म रहते हैं, इसलिये उक्त दोष नहीं, पहां प्रतिपक्षी का कथन यह है कि कर्म शरीर के अधीन होने के कारण इतरे-तराश्रय प्रसंग से वह संसार की विषमता के कारण नहीं होसकते, यह ठीक है कि कर्म शरीर के अधीन हैं पर शरीर के अधीन होना कोई सादी होने को सिद्ध नहीं करता क्योंकि वह प्रवाह रूप से अनादि हैं, कार्य्य का प्रवाहरूप से अनादि होना देखा गया है जैसे परमाणुओं के निस्न होने पर उनका पिण्ड भी निस्न देखा

जाता है, कमों के बिना शरीर नहीं होता और शरीर से बिना कर्म नहीं होते, यह जो एक दूसरे के सहारे पर होना कहागया है यह ठीक नहीं, क्योंकि बीजाङ्करन्याय से यह बात कट जाती है परास्पराश्रय=एक दूसरे के सहारे पर होना वह कहलाता है जहां दे। नीं और महारा छोड़कर एक दूसरे की आवश्यकता रखें और यह लक्षण कर्म तथा करीर में नहीं घटसकता, क्योंकि जिन कर्मों से जो शारीर बनता है वह कर्म उस शरीर से उत्पन्न नहीं होते किन्तु अन्य बारीर से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार प्रवाहक्ष से परस्पराश्रय दोष नहीं लगता, यदि एसा होता कि सूक्ष्म हो तो स्यूल हो और स्थूल हो तो सूक्ष्म, इस प्रकार प्रकृति में इतरेतराश्रय द्वारा कार्य-कारणभाव के लोप होने से यह संसार न दीखता पर दीखता है, इमिलिये चेतन का कर्म स्वभाव होने से प्रकृति के स्यूल सूक्ष्म इप की भांति आश्रय के निस पाये जाने के कारण कमों का निस होना हटाया नहीं जासकता, कई लोगों का कथन है कि निस पदार्थों के कार्यक्ष स्वभाव अपने आश्रय से पृथक् न होने के कारण निस देखे गये हैं तथा जीव के अनिस होने से कर्म निस नहीं होसकते और दूतरे पदार्थ के आश्रय द्वारा प्रकट होने से अन्यथा न पकट होने से जीव का कार्य होना पाया जाता है. दू शी बात यह है कि कहीं भी प्रकृति से भिन्न जीव नहीं देखा जाता किन्तु प्रकृति के अधीव ही सर्वत्र देखाजाता है यदि जीव पृथक् होता तो स्वतन्त्र द्रव्य की भांति पतीत होता पर ऐसा नहीं. और बात यह है कि यदि जीव निस है तो प्रकृति की किसी एक शांक्त के न रहने से क्यों नहीं रहता और रहने से रहता है.

यह कथन इसिलये ठीक नहीं कि जीव का द्रव्य होना युक्ति तथा प्रमाण दोनों से पाया जाता है, युक्ति यह है कि अन्य पदार्थों के साथ मिले हुए की उपलब्धि होना गुण होने का कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि पदार्थमात्र दृसरे पदार्थों के साथ मिला हुआ पाया जाता है फिर यह निश्चय नहीं किया जासकता कि कौन किसका गुण है, यदि यह कहाजाय कि जो जिसके बिना आत्मा को धारण न करसके वह उसका गुण होता है, यह इसलिये ठीक नहीं कि आकाश के बिना कोई सूर्तिमान पदार्थ आत्मा को धारण नहीं करसकता पर आकाश समवाय सम्बन्ध से उन पदार्थी का गुणी नहीं, यदि यह कहाजाय कि समवाय सम्बन्ध से जो जिसका आश्रय हो वह उसका गुण होता है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थान्तर भी वहां रहता है, फिर यह कैसे कहा जासकता है कि इसी के साथ इनका समवाय है अन्य के लाथ नहीं, क्यों कि स्पष्ट भेद नहीं पायाजाता, यदि यह कहें कि यह पदार्थ के खभाव से निश्चय किया जासकता है, जैसे नील पीतादि तद्रप होने से द्रव्य के गुण हैं इसी प्रकार जीवात्मा भी द्रव्य का गुण है, ऐसा मत कहो क्योंकि चैतन्य आनन्दादि गुणों द्वारा आत्मा को द्रव्य ऋपता का भाव होने और प्रकृति के आकार को जीवात्मा के सद्भाव मात्र सूचक होने से जीवात्मा द्रव्य का गुण नहीं कहा नासकता, यदि वह ऐसा न होता तो अभिन्यङ्गच पदार्थमात्र में अतिप्रसंग आजाता, और जो यह कहागया है कि प्रकृति के परिणाम . और अपरिणाम होने से चेतन के भावाभाव की उपलब्धि पाई जाती है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर प्रकृति भी अनिस

होजायगी और ऐसा होने से सूक्ष्म अवस्था वाली प्रकृति की भी उपलब्धि नहीं होगी, और जो यह कहागया है कि यदि जीवात्मा शरीर से पृथक् होता तो स्वतन्त्र उपलब्ध होता, यहां विचारणीय यह है कि स्वतन्त्रता क्या? किसी पदार्थका आश्रय न लेकर पदार्थमात्र से पृथक रहना अथवा अपनी सत्ता से उपलब्ध होना स्वतन्त्रता है ? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि पदार्थमात्र दूसरे पदार्थ से निरास्त्र उपलब्ध नहीं होता, और दूमरा पक्ष रहने पर भी कोई हानि नहीं, क्योंकि चेतन पदार्थ की परुत्ति देखी जाती है और दुतरे की परित्त न देखे जाने से म्याटीरियलिस्टों के पत में भी चेतन का अपनी सत्ता से उपलब्धि वाला होना पाया जाता है, इस प्रकार स्वतः प्रकाश होने से अनादित्व सिद्ध है, विस्तारपूर्वक यथावमर कथन किया जायगा, इस प्रकार तकौं द्वारा अनादिपन कहाजासकता है और "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया" ऋग्॰ २।३। १७ तथा "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" छा॰ इत्यादि वेदोपनिषदों में भी जीवात्मा का अनादि होना कथन किया गया है, यदि जीवात्मा अनादि न होता तो उमको जीव शब्द से उपनिषत्कार वर्णन न करते, इम प्रकार वर्णन करने से जीव का अनादित्व स्पष्ट सिद्ध है और यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त स्वामी राङ्कराचार्य्य को भी अभिमत है, पर यह बात समझ में नहीं आती कि जीवात्या को अनादि कहना और ब्रह्मक्प प्रकृति से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ मानना यह परस्पर विरोध नहीं तो क्या है ?

इमका वह यह उत्तर देते हैं कि स्रष्टि की असमता में पाप पुण्य की व्यवस्था करने के लिये न कैवल जीवात्मा ही अनादि माना गया है किन्तु ईश्वर, अविद्या, अविद्या का सम्बन्ध, ब्रह्म और जीवों के कर्म यह सब अनादि माने गये हैं, इपिलिये ब्रह्म के साथ एकल बोधन करने के लिये सब का म्याटीरियलकाज़ ब्रह्म है इसिलिये परस्पर विरोध नहीं, बाह ! क्या ही अद्वैतवादियों की अनादित्व परिभाषा की विलक्षणता है जिससे अनादित्व और सादित्व आपस में विरोधी नहीं, यहां प्रष्ट्रच्य यह है कि अनादित्व क्या ? क्या जिसकी उत्पत्ति न हो उसको अनादि कहते हैं वा अनादि के जो सहश हो उसको अनादि कहते हैं ? यदि उत्पत्ति-शुन्य का नाम अनादि है तो जीवादिकों का म्याटीरियलकाज़ बह्म नहीं होसक्ता यदि यह कहाजाय कि अनादि के सहश को अनादि कहते हैं सो किस धर्म से साहदय है उत्पत्ति शून्य वा किसी अन्य धर्म से! प्रथम पक्ष इसिछियेठीक नहीं कि सादृइय भी परमार्थ में अनादि होजायगा और साह्य के मण्डन करने वाले धर्मान्तर के अभाव होने से दूमरा पक्ष भी नहीं बनसकता,क्या दीतर्क की चतुराई है कि मन्दों के लालनार्थ सब द्वैत पथ से सिद्ध किया जाता है और खमार्ग के अन्तरङ्गों के मति सब ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं इसका उपदेश किया जाता है, यदि उनसे यह पूछाजाय कि जीवादिकों का अनादि होना और सब पदार्थी का ब्रग्न से उत्पन्न होना, इनमें से कीन ठीक है ? तो उत्तर यही मिलेगा कि पाप पुण्य की व्यवस्था के लिये जीवादि सब अनादि हैं और ब्रह्म बनाने के छिये सब सादि हैं, इस प्रकार तकीभास से अद्वेतवादी अपने मत का मण्डने करते हैं, और युक्ति यह है कि यदि एक ही ब्रह्म होता तो यह न कहाजाता कि "इतनी उसकी महिमा है ओर पुरुष उससे बढ़ा है" प्रत्युत यह कहाजाता कि "यह ब्रह्म की भ्रान्ति है" ओर जो यह कहा है कि सृष्टि की रचना में कोई पयोजन नहीं किन्तु परमार्थ बोधन में तात्पर्य तथा असल से भी

सय की प्राप्ति देखी गई है, जैसाकि छि। पे से सस अक्षर की प्राप्ति देखी जाती है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि लेखहूप लिपि सत्य है, सस केवल कूटस्य नित्य ही को नहीं कहते किन्तु अर्थ वाली क्रिया करने वाले को भी सस कहते हैं और यह बात लिप्यादिकों में भी है, और जो यह कहा है कि इसके रचने में न इंश्वर का अपना प्रयोजन है और न पराया इसिछये यह निष्प्रयोजन स्टिष्ट है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि रचने में दोनों प्रयोजन सिद हैं, निख मुक्त होने से ईश्वर का स्वाभाविक ईश्वरत नष्ट नहीं होता यदि ऐसा होता तो वह ईश्वर न रहता परन्तु ऐसा नहीं,इससे स्पष्ट है कि नित्यमुक्त होना जगत्कर्तृत्व का विरोधी नहीं मत्युत अनुकूल है, यदि यह कहाजाय कि दुलसागर होने से संसार रचना ठीक नहीं, यह बात भी विना विचार के सार मालूम होती है, क्योंकि संसार में धर्म अर्थ काम मोक्ष यह चार प्रकार का फल देखाजाता है, इसलिये यह स्रिष्ट प्रयोजन वाली है, ऐसा वैदिक लोग उपपादन करते हैं।

सर्वधर्मोपपत्तेरच ॥३६॥

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नव-धारिते वेदार्थे परैरुपिक्षप्तान् विलक्षणत्वादीन् दोषान् पर्यहार्षीदाचार्यः, इदानीं परपक्षप्रतिषधप्रधानं प्रकर-णमारिष्समाणः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहराति, यस्मादिस्मन् ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे पदिशितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते "सर्वज्ञं सर्वशक्ति

महामायश्व तद्रब्रह्म" इति तस्मादनतिशङ्कनीयमि-दमौपनिषदं दर्शनमिति ॥ शं० भा०

अर्थ—चेतन ब्रह्म जगद का निमित्त और उपादान दोनों कारण है, इस प्रकार वेदार्थ के निर्धारण में वादी के दिये हुस विलक्षणतादि दोषों को आचार्य ने परिहार किया है, अब वादी के पक्ष का निषेध है प्रवान जिस प्रकरण में उसके चलाने की इच्छा करते हुए अपने प्रधान पक्ष वाले प्रकरण का उपसंहार करते हैं, ब्रह्म को जगद का कारण मानने पर पूर्वीक्त प्रकार से ब्रह्म में जगद कारण होने के सब धर्म पाये जाते हैं,क्यों कि ब्रह्म सर्वन्न सर्वन कारिय वाला है, इसलिये वेदान्त मानने वालों का सिद्धान्त शक्का योग्य नहीं।

प्रधानपरमाण्वादीनां कारणत्वे यद्धर्भवैक-ल्यमुक्तं वश्यमाणं च तस्य सर्वस्य धर्मजातस्य कार-णत्वापपादिनो ब्रह्मण्यपपत्तेश्च ब्रह्मेव जगत्कारणमिति स्थितम् ॥ श्री०भा०

अर्थ-प्रधान और परमाणु आदि के कारण होने में जिन धर्मों की अनुपपत्ति कही गई है और कही जायगी उन सब धर्मों की ब्रह्म में उपपत्ति होने से ब्रह्म ही जगद का कारण मानना ठीक है॥

समीक्षा—मर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर में अन्याय का दोष नहीं लगसकता, इसी आशय से कहा है कि उसमें सब धर्म पाये जाने से भी कोई दोष नहीं।

इस सूत्र का व्याख्यान इस प्रकार नहीं किया जासकता

कि ब्रह्म सबका उपादान कारण होने से सर्वात्मक्रप है और इसीलिये सब धमें वाला होसकता है, क्योंकि "सर्व" शब्द यहां सापेक्ष है जैसे "देवदत्त बलवान है" इस कथन से मनुष्यों में देवदत्त बलवान समझा जायगा निक धिहादिकों में, वैसे ही यहां सर्वधर्म के कथन करने मे जो कारण धर्म हैं वही समझे जायंगे अन्य नहीं, यदि ऐमा न हो तो इतरों का निपेध करके ब्रह्म में निमित्तकारणत्व स्थापन करना निरर्थक होजाता है,क्योंकि ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई पदार्थ न होने से उसकी व्याद्यत्ति करना व्यर्थ है।

ईश्वर कल्याण गुणों का आकर होने से भी "सर्व" शब्द निरपेक्ष दित्त नहीं, यदि ऐसा मानाजाय तो अपगुण भी सर्व शब्द के भीतर आजाने से ईश्वर में अपगुणों के आकर होने का दोष लगेगा।

यहां यह शङ्का होतीं है कि उक्त शब्द की संकु चितहित्त मानने से सजातीय विजातीय स्वगतभेदश्र-य ब्रह्म न रहेगा और उक्त वितयभेद श्र्-य ब्रह्म "एक् मेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है, यह कथन ठीक नहीं, क्यों कि "न द्वितीयों न तृतीयः " अथर्व० शक्षाश्र इत्यादि मन्त्रों से सजातीय भेद तथा "सप्रध्या इत्याद्व मन्त्रों से सजातीय भेद तथा "सप्रध्या इत्याद्व मन्त्रों से स्वगतभेद के न पाये जाने पर भी विजातीय भेद की निहात्त में कोई प्रमाण नहीं प्रत्युत "यस्मि-प्रतिष्ठिता रथनाभा विवास " यज्ञ० ३४। ६ इत्यादि मन्त्रों से वलपूर्वक ब्रह्म में विजातीय भेद प्रतिपादन कियागया है।

दूसरी शङ्का यह है कि विजातीय भेद के होने पर ब्रह्म यस्तुपरिच्छेद से रहित कैसे होसक्ता है ? यदि वस्तुपरिच्छेद

वाला ब्रह्म मानाजाय तो देशकालपरिच्छेद भी उसमें अवद्य आवेगा और देशकालपरिच्छेद से घटादिकों की भांति अनिसल दोष लगेगा, इसलिये ब्रह्म को आभिकानीमित्तापादानकारण मानने से वस्तुकृत परिच्छेद दोष इट जाता है. और यह बात " सर्व " इाब्द को निरवधिक दृत्ति मानने से बनसकती है अन्यथा नहीं? इसका समाधान यह है कि यह नियम नहीं कि जिसका बस्तुकृत परिच्छेद हो उसका देशकालकृतपरिच्छेद भी हो, जैसेकि जीव में वस्तुकृत परिच्छेद होने पर भी कालकृतपरिच्छेद नहीं और आकाश में बस्तुकृत परिच्छेद होने पर देशकृतपरिच्छेद नहीं, इससे सिद्ध है कि वस्तुकृतपरिच्छद देशकालकृतपरिच्छेद का प्रयोजक नहीं किन्त उसका मयोजक साकारत है, ब्रह्म में साकारत के अभावद्वारा विजातीय भेद से देशकालपरिच्छेद नहीं, और जो यह कहागया है कि अभिनानिमित्तोपादानकारण होने से ब्रह्म विजातीयभेद शून्य होसकता है, यह इसिलिये ठीक नहीं कि विजातीय पदार्थ के न होने से ब्रह्म में व्याद्यति की उपपत्ति ही नहीं बनसक्ती,यादे ब्रह्म में विजातीय भेद का अभाव है तो काँन किससे पृथक् किया जाता है, क्योंकि अविद्या से विलक्षण बहा मानने से तुम्हारे मत में भी विजातीय भेद बना रहता है, और दृष्टान्त के अभाव होने से भी विजातीय भेद इटाया नहीं जासकता, क्योंकि ऐसा कोई द्रष्टान्त नहीं मिलता जहां अभिन्निनिमित्तोपादानकारण प्रसिद्ध हो, मकड़ी भी शरीर से जपादान और अपने आत्मा से निमित्तकारण है, इसिंख्ये उसका दृष्टान्त भी सङ्गत नहीं होसकता, यदि दुर्जनतोष न्याय से मान भी छियाजाय कि ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है तो भी वह प्रकृतिकप से उपादान और चेतनकप से निमित्त होने पर भी अर्थ से निमित्तकारण ही सिद्ध होता है, इसिछये ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानना ठीक नहीं।

"सर्व" शब्द सापेक्ष होने से ब्रह्म सर्व कल्याण गुणों वाला रहे पर प्रश्न यह है कि प्रयोजनवन्त्राधिकरण के साथ इस सूत्र का क्या सम्बन्ध ? क्योंकि सर्वशिक्तमान होना प्रयोजन और निष्प्रयोजन के साथ सम्बन्ध नहीं रखता, सम्बन्ध यह है कि पूर्व सूत्र में यह दिखलाया गया है कि वैपम्य नैर्घृण्य दोष कर्म के अनादि होने से ईश्वर में नहीं आता, इसी सङ्गित में यह भी कथन किया है कि सर्वशिक्तमान होने से भी उक्त दोष नहीं आसक्ता, क्योंकि वैषम्य नैर्घृण्य अज्ञान और न्यूनतादि से होते हैं पर सर्वशिक्तमान होना अज्ञानता तथा न्यूनतादिकों के अभाव को बोधन करता है।

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।। व॰ स॰ २१३१४२

जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः, स च सम्बद्धियोरेव लोके दृष्टः यथा स्वामिभृत्ययोयथावाऽभिवि-स्फुलिङ्गयोः, तक्तश्च जीवेश्वरयोरप्यपकार्योपकारकभावाभ्यपगमात् किं स्वामिभृत्यवत् सम्बन्धः आहोस्वित् विस्फुलिङ्गविद्यस्यां विचिकित्सायामिनयमो वा प्रामिशित अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेष्वेवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात् तद्धिथ एव सम्बन्ध इति प्राप्नोति, अतो

त्रवीति अंश इति, जीवईश्वरस्यांशो भवितुमहिति यथाऽ-मेर्विस्फुलिङ्गः, अंश इवांशः नहि निखयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति, कस्मात् पुनर्निखयवत्वात् स एव न भवति नानाव्यपदेशात् "सोऽन्वेष्टव्यः विजिज्ञासितव्यः" एतमेव विदित्वा सुनिर्भवति " य आत्मनि तिष्ठनात्मानमन्तरो यमयति" इति चैवंजा-तीयको भेदनिर्देशो नासति भेदे युज्यते, ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये पुज्यत इति, अत आह अन्यथा चापीति, नच नानाव्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्तिः किं तर्द्यन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्यनानात्वस्य प्रतिपादकः, तथा हि एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनित आथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्ममे कितवा उत" इत्यादिना, दाशा य एते कैवर्ताः प्रसिद्धाः ये चामी दाशाः स्वामिन्यात्मानसुपक्षिपन्ति ये चान्ये कितवा चूतवृत्तास्ते सर्वे ब्रह्मेवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसङ्घातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्व-माह,तथा अन्यत्रापि ब्रह्मप्रिक्रयायामवायमर्थः प्रपंच्यते "तं स्त्री तवं पुमानिस तवं कुमार उत वा कुमारी तवं जीणीं दण्डेन वन्नसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः"

इति "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा-भिवदन् यदास्ते " इति च "नान्योऽस्ति द्रष्टा" इत्यादिश्रुतिभ्यश्चास्यार्थस्य सिद्धिः, चैतन्यश्चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्पथाऽभिविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्, अतो भेदा-भेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः,कृतश्चांशत्वावगमः। शं॰भा ३/३/४

अर्थ-जीव उपकारपात्र और ईश्वर उपकारक है, यह कथन कियागया है और यह बात लोक में सम्बन्ध वालों में भी देखी जाती है, जैमाकि स्वामी सेवक में, अग्नि चिङ्गारे में, जीव और ईश्वरक जपकार्य, जपकारकभाव सम्बन्ध में यह सन्देह होता है कि वह सम्बन्ध क्या स्वामी और सेवक की भांति है वा अग्नि और चिक्रारे की भांति हैं? पूर्वपक्षी का कथन है कि दोनों में से कोई नहीं वा स्वामी और सेवक की भांति शामनकत्ता और शासनाई यह सम्बन्ध छोक में प्राप्तिद्ध होने से इसी प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है, इसलिये सूत्र में कहा है कि जीव ईश्वर का अंश है जैसे अग्नि का चिक्नारा, जीव ईश्वर के अंश की तरह है मुख्य अंश नहीं निरवयव होने से, और नाना कथन किये जाने से जीव अंश की भांति भी नहीं होसकता, और "वह अन्त्रेष्टच्य तथा जिज्ञामा योग्य है" "इमी को जानकर मुनि होसकता है" "जो आत्ना में रहता है और आत्मा के भीतर पेरणा करता है " इस प्रकार के भेदानिर्देश भेद के न होने पर ठीक नहीं रहते, यहां यह कहा जासकता है कि यह नानाच्यपदेश स्वामी भूस की भांति ही ठीक होसकता है, इमलिये कहा है कि " और मकार से भी " अर्थात केवल नानात्व के कथन में ही अंशल की सिद्धि नहीं किन्तु अन्य प्रकार से भी एकत्व का व्यपदेश पाया जाता है यह बात दिखलाई जाती है, कई शाला वाले आयर्गिक ब्रह्मसूक्त में "ब्रह्म ही मछली वाला है, ब्रह्म ही दास है और ब्रह्म ही ज्वारी है " इसादिकों से जीव में दास कितवादि भाव कथन करते हैं, दास वह हैं जो कैवर्त्त हैं, दास वह हैं जो स्वामी के आश्रित हैं और जूए से दिन करने वाले जो कितव हैं यह सब ब्रह्म ही हैं, हीन जन्तुओं के उदाहरण से सब नाम इप वाला जो कार्य कारणक्प संघात है उसमें प्रविष्ट जीवों के ब्रह्मभाव को बोधन करने के लिये हैं, इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी ब्रह्मपिकया में इस अर्थ का विस्तार किया गया है, "तू स्त्री है, तूही पुरुष है, त लड़का है वा लड़को है तू बूढ़ा है त्ही लाठी लेकर चलता है, तू उत्पन्न होता है और तू सर्वसुख है " विवेकी पुरुष सब नामक्य को ब्रह्मस्वक्य जानकर उपशम का माप्त होता है "इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं"इसादि श्रुतियों से इस अर्थ की सिद्धि है,और अग्नि तथा चिङ्गारे की भांति जीव ईश्वर की चेतनता भी समान है, इसिलये भेदाभेद करके अंशत्व की सिद्धि होती है, फिर और प्रकार भी अंशत्व की सिद्धि है।

जीवस्य कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तिमत्युक्तम्, इदानीं किमयं जीवः परमादत्यन्तिभन्नः ? उत परमेव ब्रह्म भान्तम् ? उत ब्रह्मैवोपाध्यविच्छन्नम् ? अथ ब्रह्मांश ? इति संशय्यते, श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः, नन्न तदनन्य-त्वमारमभणशब्दादिभ्यः, अधिकं तु भेदनिर्देशादित्यत्रै-वायमथौनिणीतः सत्यं, स एव नानात्वैकत्वश्रुतिविप्र-तिपत्याऽऽक्षिप्य जीवस्य ब्रह्मांशत्वोपपादनेन विशेषतो

निर्णीयते, यावद्धि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं न निर्णीतं ताव-जीवस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं ब्रह्मणस्तस्मादिषकत्वं च न प्रतितिष्ठति, किंतावत्पाप्तम् अत्यन्तिभन्न इति, कुतः ब्राज्ञौ द्वावजावीशानिशावित्यादिना भेदनिर्देशात ब्राज्ञयोरभेदश्चतयस्त्विमना सिश्चेदितिवत विरुद्धार्थप्रति पादनादौपचारिक्यः, ब्रह्मणोंऽशो जीव इत्यपि न सा-धीयः, एकवस्त्वेकदेशवाची ह्यंशशब्दः जीवस्य ब्रह्मकदेशत्वे तद्गता दोषा ब्रह्मणि भवेग्रः, नच ब्रह्म-खण्डो जीव इत्यंशत्वोपपत्तिः खण्डनानईत्वात ब्रह्मणः प्रायक्तदोषप्रसङ्गाच, तस्मादत्यन्तिभन्नस्य च तदंशत्वं दुरुपपादम्।

यदा आन्तं ब्रह्मैव जीवः, क्रतः तत्त्वमस्ययमात्मां ब्रह्मेत्यादिब्रह्मात्मभावोपदेशात्,नानात्ववादिन्यस्तु प्रत्य-क्षादिसद्धार्थान्जवादित्वादनन्यथासिद्धाऽद्वैतापदेशपरा-भिः श्रुतिभिः प्रत्यक्षादय इवाविद्यान्तर्गताः ख्याप्यन्ते, अथवा ब्रह्मैवानाद्यपाध्यवच्छित्रं जीवः, क्रतः तत एव ब्रह्मात्मभावोपदेशात् नचायसुपाधिर्आन्तिपरिकर्तिपत इति वक्तुं शक्यं बन्धमोक्षादिव्यवस्थाऽन्तपपेकरियवं प्राप्तेऽभिधीयते ब्रह्मांश इति, क्रतः नानाव्यपदेशाद-न्यथा च एकत्वेनव्यपदेशात्, उभयथा हि व्यपदेशो

दृश्यते नानात्वव्यपदेशस्तावत्स्रष्टृत्वसृज्यत्वनियन्तृत्व -**नियाम्यत्वसवेज्ञत्वाज्ञत्वस्वाधीनत्वश्रद्धत्वाश्रद्धत्वक**ल्या णगुणाकरत्वतिद्वपरीतत्वपतित्वशेषत्वादिभिद्दंश्यते, अ-न्यथा चाभेदेन व्यपदेशोऽपि तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्मे-त्यादिभिर्दश्यते, अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके " ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्ममे कितवाः" इत्यार्थवाणिक। ब्रह्मणो दाशकितवादित्वमप्यधीयते. ततश्च सर्वजीव-व्यापित्वेनाभेदो व्यपदिश्यते इत्यर्थः, एवसुभयव्यपदे-शमुख्यत्वसिद्धये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्युपगन्तव्यः, नच भेदव्यपदेशानां प्रत्यक्षादिप्रसिद्धार्थत्वेनान्यथा-सिद्धत्वं ब्रह्मसृज्यत्वतित्रयाम्यत्वतच्छरीरत्वतच्छेषत्वत-दाधारत्वतत्पाल्यत्व तत्संहार्घ्यत्वतदुपासकत्वतत्प्रसाद-लभ्यधर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थभोक्तत्वादयः तत्कृतश्च जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रत्यक्षाचगोचरत्वेनानन्यथासिद्धः अतो न जगत्सृष्ट्यादिवादिनीनां प्रमाणान्तरसिद्धभेदानुवा-देन मिध्यार्थीपदेशपरत्वम्।

नचालण्डेकरसचिन्मात्रस्वरूपेण ब्रह्मणाऽऽत्मनोऽ-तद्भावानुसन्धानं बहुभवनसङ्गल्पपूर्वकवियदादिसृष्टिं जीवभावेन तत्प्रवेशं विचित्रनामरूपव्याकरणं तत्कृता-नन्तविषयानुभवनिमित्तसुखदुःखभागित्वमभोकृत्वेन तत्र स्थित्वा तिश्रयमनेनान्तर्यामित्वं जीवभूतस्य स्वस्य कारणब्रह्मात्मभावानुसन्धानं संसारमोक्षं तदुपदेशशास्त्रं च क्रवीणेन अभितव्यभित्यपदिश्यते, तथा सित उन्मन्त्रलिपतत्वापातात्, उपाध्यविच्छन्नं ब्रह्म जीव इत्यपि न साधीयः पूर्वनिर्दिष्टनियन्तृनियाम्यत्वादिव्यपदेशाः बाधादेव, न हि देवदत्तादेरेकस्यैव गृहाद्यपाधिभेदान्नियन्तृनियाम्यभावादिसिद्धः,अत उभयव्यपदेशोपपत्तये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्यपेयम् ॥ श्री०भा०

अर्थ-जीव का कर्तृत्व=कर्ता होनां ईश्वराधीन है, यह वात कथन कर आये हैं, अब श्रुतियों के विवाद से यह सन्देह उत्पन्न होता है कि जीव परमेश्वर से अत्यन्त भिन्न है अथवा परत्रहा ही भ्रान्ति से जीव होगया है वा उपाधि के साथ मिला हुआ ब्रह्म ही जीव है अथवा जीव ब्रह्म का अंश है ? नतु-"तदनन्यत्वमारम्भ-णशब्दादिभ्यः" "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" इन सूत्रों में इसका निर्णय किया गया है फिर यहां दोबारा यह विचार क्यों ? उत्तर-वही नानात्व और एकत्व श्रुति के वित्राद द्वारा पश्च करके जीव का ब्रह्मांश होना विशेषक्ष से यहां निर्णय किया जाता है अर्थात जब तक जीव का ब्रह्मांश होना निर्णय न कियाजाय तबतक जीव का ब्रह्म के साथ अभेद होना और ब्रह्म का उससे अधिक होना स्थिर नहीं हो सक्ता, " एक ज्ञानी दूसरा अज्ञानी" ईश्वर और दूसरा अनीश्वर है " इसादिश्रातयों द्वारा भेद के पाये जाने से सिद्ध है कि ब्रह्म से जीव असन्त भिन्न है,

जीवेश्वर की एकत्व प्रतिपादक श्रुतियें "दृक्ष को अग्नि से सींचे" इस अवार विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने वाली होने से गौण हैं, जीव ख़ुख़ का अंश है यह बात भी ठीक नहीं, क्योंकि वस्तु के एकदेश का वाचक अंश शब्द है, यदि जीव की ब्रह्म का एकदेश मानाजाय ती जीव के सब दोष ब्रह्म को लगेंगे, ब्रह्म का खण्ड न होने से और पूर्वोक्त दोषों के लगने से " ब्रह्म का खण्ड जीव है " इस अर्थ में भो अंशत्व की सिद्धि नहीं होसकती, इसलिये अत्यन्त भिन्न को अंश कहना समीचीन नहीं अथवा "वृह तू है" " यह आत्मा ब्रह्म है "इसादि श्रुतियों द्वारा जीव को ब्रह्मभाव उपदेश किण जाने से ब्रह्म ही भूलकर जीव बनगया है ? जैसे अद्वेत परक श्रुतियों से अविद्यान्तर्गत प्रसक्षादि प्रमाण निष्फल सिद्ध होते हैं इसीमकार नानात्व को कथन करने वाली श्रुतियें प्रसंस सिद्ध अर्थ का अनुवादक होने से निष्फल हैं अथवा ब्रह्मात्मभाव उपदेश किये जाने से अनादि उपाधि के साथ मिला हुआ ब्रह्म ही जीव है, बन्ध मोक्षादिकों की व्यवस्था न बनने से यह उपाधि भ्रान्ति कल्पित है यह भी नहीं कहाजासकता, इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त करते हैं कि नानाव्यपदेश पाये जाने तथा भकारान्तर से एकत्व पाये जाने के कारण जीव ब्रह्म का अंश है अर्थात जैसे "स्रष्टुत्व, स्टज्यत्व, नियन्तृत्व, नियाम्यत्व, सर्वज्ञत्व, अरपन्नत्व, स्वाधीनत्व, पराधीनत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, करुयाणगुणा-करत्व, ताद्वेपरीतत्व, पातत्व, शेषत्व, इसादि ब्रह्म और जीव के भिन २ प्रकार के गुण पाये जाने से नानात्व व्यपदेश है, इसी प्रकार "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म "इसादि वाक्यों से अभेद निर्देशभी पाया जाता है, आथर्वणिक शाखा वाले जीव को ब्रह्म का दास कहते हैं, इसिलिये ब्रह्म सर्व जीव न्यापी होने के कारण अभेद का निर्देश किया गया है वास्तव में भेद है।

प्रसप्ति अर्थ के कथन करने वाली भंदश्रितियें अन्यथासिद हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि उपरोक्त गुणों के कारण जीव ब्रह्म में भेद है और वह भेद प्रसप्तादिकों का अविषय होने से जीवेश्वर भेदमितपादक श्रुतियें अन्यथासिद्ध नहीं, इसलिये जगत्सृष्टि के कथन करने वाली श्रुतियें प्रसप्तादिकों की अनुवादक न होने से मिध्यार्थ कथन करने वाली नहीं।

अखण्ड एकरस चिन्मात्र ब्रह्म का अपने आपको न जानना वेद से उपदेश नहीं किया जाता और नाहीं ब्रह्म का बहुत होजाने के सङ्खल्प से आकाशादि स्टिष्ट में जीवक्षप से प्रविष्ट होना, विचित्र नामक्य को करना, तत्कृत अनन्त विषयों के अनुभव निमित्त सुख दुःख के भोक्ता होने के विना ही वहां स्थित होकर नियमन करते हुए अन्तर्यामी होना, जीवभूत अपने स्वरूप का अपने आप को कारण ब्रह्म समझना, संसार से मुक्त होना और मुक्ति शास्त्र का बनाना इसादि व्यवहार भूलकर ब्रह्म का वेद से उपदेश नहीं कियाजायक्ता, नयों कि ऐसा करने पर वेदों में उन्मत्तप्रहाप दोष लगेगा, और उपाधि के साथ मिला हुआ ब्रह्म जीव है यह बात भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व कथन किये गये नियन्तृत्व नियाम्यत्वादि ब्रह्म के गुण न रहेंगे, एक ही देवदत्त में यहादि के उपाधि भेद से नियन्तृत्व नियाम्यत्व की सिद्धि नहीं होती, इसिंखिये दोनों प्रकार के कथन की सिद्धि के छिये जीव ब्रह्म का अंश है यही मानना चाहिये।

समीक्षा-उक्त प्रकार से कर्म रूप निमित्त द्वारा वैषम्य नैर्घृ-

ण्य होनों की व्यवस्था करके जीव के अनादि निरूपण किये जाने पर भी जीव का ब्रह्म से अत्यन्त भिष्म होना स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि श्रुति स्पृति में जीव का त्रह्मांश होना पाया जाता है यह बात अग्नि और चिङ्गारे के दृष्टान्त से मिसद है ? इस आक्षेप का समाधान करने के लिये अंशाधिकरण का व्याख्यान किया जाता है कि जीव ईश्वर का अंश है, अंश शब्द यहां एकदेश का वाची है, ईक्ष्यर के निराकार होने के कारण खण्ड वाची नहीं, और नानाव्य-पदेश के कारण भेद है, जैसाकि " नित्योनित्यानां चेतनश्री-तनानां एको बहुनां विद्धातिकामान् "=नित्यों में नित्य चेतनों में चेतन और एक बहुतों की कामना को पूर्ण करता है इत्यादि बाक्यों में पाया जाता है, यहां बहुतों से तात्पर्य जीव का है, और एकशाला बाले " ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्म मे कितवा उत " इत्यादिकों से ब्रह्म का सर्वस्वापित्व कथन करते हैं, यहां ब्रह्म का दाश कितवादि होना विवक्षित नहीं किन्तु हीन जन्तुओं का उदाहरण व्रह्म का सर्वस्वामित्व बोधन करने के अभिपाय से है, और यदि ब्रह्म का दाशादिभाव माना जाय तो ब्रह्म आपही कर्म और आपही कर्त्ता यह विरोध आवेगा और सर्वाकार मानने से ब्रह्म कल्याण गुणाकर न रहेगा, अद्वैत-भाष्यकार ने जो यह कहा है कि अंश की तरह अंश है वास्तव में अंश नहीं, यह बात ठीक है, क्योंकि यहां ब्रह्म के निराकार होने के कारण वैदिक द्वैतपक्ष ही का शरण लेना पड़ा और यदि अग्नि के चिक्रारे की भांति जीव ब्रह्म का अश मानाजाय तो उत्पत्यस-म्भवाधिकरण के साथ विरोध आवेगा, क्योंकि इस अधिकरण में

जाता है अनादि नहीं, यदि यह कहाजाय कि अंश भी अंकी कार्या है अनादि नहीं, यदि यह कहाजाय कि अंश भी अंकी क्ष्मि अनादि है तो यह ठीक नहीं, क्यों कि आरन चिक्रारे की भांति अंशत्व स्वरूप से सादि होता है और उत्पत्यसम्भवाधिकरण में स्वरूप से ही जीव अनादि सिद्ध किया गया है, इसिल्चिय सर्वस्था-पित्व के आभिमाय से जीव ब्रह्म का अंशाअंशीभाव मानना ठीक है अद्भेतवाद के अभिमाय से नहीं, और जो यह कहागया है कि ब्रह्म और जीव में चेतनता समान है जैसे अग्नि और अग्नि के अंश चिक्रारे में गरमी समान होती है इससे जीव ब्रह्म की एकता स्पष्ट है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि नियाम्यत्व और नियंत्त्वादि गुणों से जीव ब्रह्म का भेद पाया जाता है और एक होने पर ऐसा नहीं होसकता।

यदि यह कहाजाय कि ईक्कर का विभाग होने के कारण जीव अंश है तो ईक्कर ही अंशी बन जाता है, क्योंकि अंशों से अंशी का आरम्भ होने के कारण अंशी अंशों का कार्य्य होता है आंर अंशों के विना अंशी की उपलब्धि कहीं नहीं देखी गई, जैसा कि तन्तुओं से बने हुए कपड़े का तन्तु रूप होना देखा जाता है और विभाग रूप अंश मानने में प्रकृत यह होता है कि विभाग किस निमित्त से हुआ ? स्वभाव से वा अविद्या से ? यदि स्वभाव से हुआ तो मुक्ति न रहेगी, क्योंकि जीव रूप विभाग स्वाभाविक होने के कारण बना ही रहेगा, यदि अविद्या निमित्त से हुआ तो मिध्या होने के कारण अंशत्व न बनेगा, क्योंकि अविद्या निमित्त मरूस्थल के जलादिकों का सत्यत्व नहीं देखा जाता, ऐसा मानने पर जीव

का भी अंश होना मिथ्या ही है, इस मकार अगवान सूत्रकार आपके कथनानुसार मिथ्यावादी हुआ, यहां प्रकृत्य यह है कि आपका कथन आविधिक है वा पारमार्थिक ? यदि आविधिक है तो इषारी श्रद्धा आप के मिथ्या वचन छुनने में नहीं,और यदि आप सत्य कहते हैं तो क्या कहना है आपके पाण्डित्य और आत्मप्रशंसा को जो सूत्रकार को आविधिक और अपने आपको सत्यादी उहराया, विभागक्य से अंश मानने में इस्त पादादिकों की पीड़ा सब शरीर बास्टों में प्रतीत होने के कारण ईश्वर भी दुखाकर होगा और यह दोच नहीं इट सकेगा, इस विषय का श्रीभाष्याचार्य ने विस्तार किया है इसिखये हमें यहां विस्तार करने की आवश्यकता नहीं. 6 त्वं स्त्री त्वं प्रमानिस " अथर्व०१०। ४। ८ यह ईश्वर के सर्वात्मा होने के अभिमाय से कहा गया है जैसाकि "तदेवाग्निस्तदादित्यः तद्धायुस्तदुचन्द्रभा " यजु०३२।१ इत्यादिकों में वर्णन किया है कि वही ब्रह्म अग्नि आदित्यादि रूप है, यदि वह स्त्री आदि रूप होता तो " विश्वतोसुखः "=सर्वशक्तिसम्पन न कहानाता, मुलक्ष्यशक्ति वा शक्तियात्र जिसका सर्वत्र पायाजाय उसको " विश्वतीसुख " कहते हैं, इसमकार " विश्वतीसुख" साकार का विरोधी होने के कारणं निराकार ब्रह्म का वाचक है, यदि ऐसा न मानाजाय तो एक स्थान में दो मुख न रहसकने से श्रुति में उक्त पदका निवेश ही व्यर्थ होजाय, परस्पर विशेधी स्त्री पुंस्त्वादि भाव ब्रह्म में लिङ्गादि के अभाव को बोधन करते हैं।

उपनिषद् भिन्न २ कर्ताओं के कारण भिन्न २ अभिप्राय

वाले हों पर विचारणीय यह है कि "अशोनानाव्यपदेशात्" २ 3 इस सूत्र में व्यास का क्या तात्पर्य है ? और अंद्रतभाष्यकार तथा विशिष्टाद्वैतभाष्यकार ने दोनों प्रकार के व्यपदेश की सिद्धि के लिये जो व्याख्यान किया है वह विरोध पाये जाने से ठीक नहीं अर्थाद ब्रह्म का अंशाअंशीभाव से सर्वेष्ठप होजाना और जीव का अनादि होना इनका स्पष्ट विरोध देखा जाता है, और जीव ईश्वरभेदमतिपादक श्रुतियें प्रसप्त भेद का अनुवादक होने से अन्यथासिद्ध हैं, यह कथन इसिलये ठीक नहीं कि जीव ईश्वर का भेद प्रसक्षशोचर नहीं, यदि दुराग्रहवशात साधन करने से श्रुतिवाक्यों को अन्यथासिद्ध पानाजाय तो अद्वतवादी के भी "सोयं देवदत्तः" इसादिकों में सिद्ध अभेद के अनुवाद करने के कारण अभेद श्रुतियें भी अन्यथासिद्ध होजायंगी, और यदि अभेद श्रुतियों के विरोध से भेदश्रुतियें अप्रमाण मानीजायं तो इन्हीं भेद श्रुतियों के विरोध से अभेद श्रुतियों का अमामाण्य ही क्यों न मानाजाय, हमारे वैदिक द्वैतपक्ष में प्रसक्ष का विरोध न होने के कारण भेदश्रुतियें मबल हैं और अभेद श्रुतियों का भेदश्रुतियों से इसमकार अविरोध है कि कहीं ईश्वर स्वरूपपरक होने से एकता और कहीं सर्वान्तरत्व व्यापा बोधन के अभिपाय से गौण होने के कारण एकता है, इसीलिये भेदाभिपाय से ही व्यास का कथन है कि "जीव ब्रह्म का अंश= पादस्थानी है, क्योंकि प्रकारान्तर से भी श्रुतिवाक्यों में जीव को दाश कितवादिभाव से ब्रह्म का अंश कथन किया है " भेद के अभिपाय से नानान्यपदेश है अन्यथा नहीं, इसलिये यह सूत्र भेद दी को स्पष्ट करता है अभेद को नहीं।।

मन्त्रवर्णाञ्च ॥ ४४ ॥

मन्त्रवर्णश्चेतमर्थमवगमयति "एतावानस्य महि-मा ततो ज्यायांश्च प्ररुषः, पादे। ऽस्य विश्वाभूतानित्रिपा-दस्याऽमृतं दिवि" इति अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजंगमानि निर्दिश्चति "अहिंसन् सर्वाभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः" इति प्रयोगात्, अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरं, तस्मादप्यंशत्वावगमः, कुतश्चांशत्वा-वगमः ॥ शं० भा०

अर्थ-मन्त्रवर्ण=संहिता से भी यही अर्थ सिद्ध होता है कि "इसकी इसनी महिमा है इससे पुरुष अधिक है सब भूत एक पादस्थानीय और तीन पाद अमृत हैं" यहां भूत शब्द से स्थावर जङ्गम सब कथन किये गये हैं जिनमें जीव प्रधान है "तीर्थों से अन्यत्र सब भूतों की हिंसा न करना " इस प्रयोग से भी वही अर्थ पाया जाता है, अंश, पाद, माग यह पर्याय शब्द हैं इसिछिये जीव ईश्वर का अंश है।

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी-ति" मन्त्रवर्णाच ब्रह्मांशो जीवः, अंशवाची हि पाद सब्दः विश्वाभूतानीति जीवानां बहुत्वाद् बहुवचनं मन्त्रे, स्त्रेऽप्यंश इत्येकवचनं जात्यभिप्रायं नात्मा श्रुतेरित्यत्राप्येकवचनं जात्यभिप्रायं "नित्योनित्यानां वेतनश्रेतनानामेकोबहुनां यो विद्धाति कामाच्" इत्यादिश्वतिभ्यः ईश्वराद्वेदस्यात्मनां बहुत्वनित्यत्वयो श्वाभिधीयमानत्वात्, एवं नित्यानामात्मनां बहुत्वे श्वामाणिके सति ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वेषामेकरूपत्वेऽिप भेदकाकार आत्मयाथात्म्यवेदनक्षमेरवगम्यते, "अस-न्ततेश्वाव्यतिकर" इत्यनन्तरमेव च आत्मबहुत्वं वक्ष्यति ॥ श्री० भा०

अर्थ-" सब भूत एकपादस्थानी हैं और तीनपाद अमृत हैं "
इस यन्त्र से जीव ब्रह्म का अंश पाया जाता है, पाद शब्द यहां अंश का वाची है, बहुवचनार्थक "विश्वाभूतानि" पद मन्त्र में जीवों के बहुत होने के अभिप्राय से आया है, और मूत्र में अंश शब्द एकवचन के अभिप्राय से हैं "नात्माश्रुते" यहां भी एकवचन जाति के अभिप्राय से हैं "नात्माश्रुते" यहां भी एकवचन जाति के अभिप्राय से हैं "निसों में निस है चेतनों में चेतनहैं एक बहुतों की कामनाओं को पूर्ण करता है " इसादि श्रुतियों से जीवों का ईश्वर से भेद उनका बहुत होना और निस होना कथन किया गया है, इस प्रकार नित्य जीवों का नानात्व प्रमाणीमद्ध होने पर और ज्ञान स्वरूप में सब एक होने पर भी जो भेद होने के हेतु हैं वहआत्मा के यथावन स्वरूप के जानने वालों से छिपे नहीं, जीवात्माओं का नानात्व अगे कहा जायगा—

समीक्षा—पन्त्रवर्ण=" पादोऽस्यविश्वाभूतानित्रिपा-दस्याऽमृतंदिवि" वेद से भी अंशत्व की मिद्धि होती है, जैसाकि जपर कथन किया गया है, अतएव यह सूत्र वेदसंहिता के अर्थ का मित्रवादन करने बाला होने से विवाद रहित है, इसिल्ये अधिक न्याख्यान की आवश्यकता नहीं।

अपि च स्मर्यते ॥ ४४॥

ईश्वरगीतास्वपिचेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्थते "ममैवांशो जीवलोके जीवसूतः सनातम" इति, तस्माद्पंशत्वावगमः, यत्तुक्तं स्वामिभृत्यादिष्वेवेशि त्रीशितव्यभावो लोके प्रसिद्ध इति, यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धिस्तथापि शास्त्रात्त्वंशांशित्वमीशित्रीशितव्य-भावश्च निश्चीयते, निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसम्पन्नान् जीवान् प्रशास्तीति न किश्च-दिपातिषिच्यते, ननु जीवेश्वरांशालाम्यपगमे तदीयेन संसारदुः खोपभोगेनांशिन ईश्वरस्याऽपि दुः खित्वं स्यात्, यथा लोके हस्तपादा चन्यतमाङ्गगतेन दुः खेनागिनो देव-दत्तस्य दुःखित्वं तद्धत्, ततश्च तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्तुयात्, अतोवरं पूर्वावस्थः संसार एवास्त्वित सम्यादर्शनानर्थक्यप्रसङ्गःस्यादिति अत्रोच्यते॥गं०भा०

अर्थ-भगवद्गीता में भी जीव ईश्वर का अंश कथन किया गया है जैसाकि "मेरा ही अंश जीव लोक में जीवरूप सनातन है" इससे भी जीव अंश पाया जाता है, और जो यह कहा है कि स्वामी सेवका-दिकों में ही ईशित्ईशतन्यभाव लोक में देखा जाता है, यद्यपि यह बात लोक में प्रसिद्ध है तथापि शास्त्र से अंशांशित तथा ईशित्रईशतन्यभाव निश्चित हैं, बिना हद वाली बड़ी उपाधि वाला ईश्वर छोटी उपाधि वाले जीवों का शासन करता है, इसिल्पें कोई बिरोध नहीं, यहां यह शंका होती है कि जीव को ईश्वर का अंश यानने से उसके सांसारिक दुःख से अंशी जो ईश्वर है वह भी दुखी होगा, जैसे संसार में हस्तपादादि अंगों में दुःख होने से अंगी देवदत्त को भी दुःख होता है, इसमकार मुक्ति अवस्था में ईश्वर को प्राप्त होने वाले जीवों को भी असन्त दुःख होगा, इसिल्पें उसकी अपेक्षा अल्प दुःख वाले संसार की निष्टित्त के लिये पष्टत्त होना तथा दुःखनिष्टित्त हेतुक शास्त्र सर्वथा निष्फल होजायणा ? इसका उत्तर अगले सूत्र में कथन करते हैं:—

"मगैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" इति जीवस्य पुरुषोत्तमांशत्वं स्मर्थिते, अतश्चायमंशः।

अंशत्वेऽपि जीवस्य ब्रेह्मेकदेशत्वेन जीवगता दोषा ब्रह्मण एवेत्याशङ्कयाहः—श्री० भा०

अर्थ-" मेरा ही अंश संसार में जीवरूप सनातन है " इस प्रकार जीव ईश्वर का अंश है, यह स्पृति से पाया जाता है, जीव ब्रह्म का एकदेश होने के कारण अंश होने से जीव के दोष ब्रह्म के ही हैं यह आशंका करके कहा है कि :—

स्मित्री सं भी ऐसा ही पाया जाता है " ज्यास का यह कथन गीता को स्पृति मानने के अभिपाय से नहीं

किन्तु बन्वादिकों को स्मृति यानकर है, क्योंकि गीता महाभारत के अन्तर्गत होने से स्मृति नहीं "सोऽभिध्यायञ्चारीरात्"
यनु १। ८ इस श्लोक में जड़चेतन सब विक्ववर्ग और ब्रह्म का
अंधाअंधीभाव वर्णन किया गया है, ब्रह्म के शरीर का कथन इस
श्लोक में इस अभिप्राय से है कि सब जड़ चेतन व्याप्यव्यापकभाव
से ब्रह्म के पादस्थानी हैं, जैसाकि "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथि
व्यान्तरो यः पृथिवीमन्तरो यमयति यस्य पृथिवी
द्यारीरम् "=जो पृथ्वी में रहता है पृथ्वी का अंतरात्मा है और जो
पृथ्वी का पेरक है जिसका पृथ्वी शरीर है" "इस अंतर्थांभी
ब्राह्मण में कथन किया है।

प्रकाशादिवन्नेवं परः ॥ ४५॥

यथा जीवः संसारदुः खमनुभवित नैवं पर ईश्व-रोऽनुभवित इति प्रतिजानीमहे, जीवोद्यविद्यावेशव-शाहे हाद्यात्मभाविमव गत्वा तत्कृतेन दुः खेन दुः ख्यह-मिति अविद्याकृतं दुः खोपभोगमिभमन्यते नैवं परमे-श्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुः खाभिमानो वास्ति, जीव-स्याऽपि अविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यवि-वेकभ्रमनिमित्त एव दुः खाभिमानो न तु पारमार्थिकोऽ-स्ति, यथा च स्वदेहगतं दाहच्छेदादिनिमित्तं दुः खं तद्भिमानभ्रान्त्यानुभवति तथा पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तद्भिमानभ्रान्त्यैवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रिमित्येवं स्नेहवशेन पुत्र मित्रादिष्वभिनिविशमानः, ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति, व्यतिरेकदर्शनाचैवमवगम्यते, तथाहि पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्सम्बन्धाभि-मानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्यद्यो-षिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तिन-मित्तं दुःखमुत्पद्यते नाभिमानहीनानां परिवाजकानां अतश्च लौकिकस्याऽपि पुंसः सम्यग्दरीनिथवत्त्वं दृष्टं विषयज्ञून्यादात्मनोऽन्यद्भस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति, तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्श-नानर्थक्यप्रसङ्गः, प्रकाशादिवदिति निद्शनोपन्यासः, यथा प्रकाशः सौर्यश्चान्द्रमसो वा वियद्याप्यावतिष्ठ-मानोऽङ्गुल्याद्यपाधिसम्बन्धात् तेषु ऋजुवक्रादिभावं त्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भाविमव प्रतिपद्यमानोऽपि न पर-मार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते, यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्स गच्छित्रव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो मच्छति, यथाचोदशरावादिकम्पनात् तद्गते सूर्यप्रिति विम्बे कम्पमानेऽपि न तदान् सूर्यः कम्पते, एवम-विद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्धचाद्युपाध्यपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तदानीश्वरोद्यःखायते, जीवस्यापि दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तेवेत्युक्तं तथाचाविद्यानिमित्त जीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः "तत्त्वमसि" इत्येवमादयः तस्मान्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः ॥ शं०भा०

अर्थ-जैसे जीव संसार के दुःख को अनुभव करता है इस प्रकार ईश्वर अनुभव नहीं करता, जीव अविद्या उपाधि के वश से देहादिकों में आत्मभाव मानकर देहादि दुःखों से दुःखी हूं " इस अविद्याकृत दुःख के भोग को मानता है, इस प्रकार परमेक्वर को देहादि में आत्मभाव तथा दुःख का अभिमान नहीं, जीव को भी आविधिक नाम रूप जन्य देह इन्द्रियादि उपाधि के सम्बन्ध से अविवेक द्वारा भ्रम निमित्त ही दुःखाभिमान है वास्तव नहीं, जैसे अपने देह में दाहछेंदादि निमित्त जो दुःख है उसको देहादि विषयक के अभिमान के भ्रम से अनुभव करता है वैसे ही पुत्र मित्रादिंकों के दुःख को भी उनके अभिमान की भ्रान्ति से ही "में ही पुत्र हूं " मैं ही भित्र हूं " इस प्रकार स्नेहवश पुत्र मित्रादिकों में आभिनिवेश करता हुआ दुखी होता है, इससे सिद्ध है कि विध्याभिमान भ्रमनिमित्त से ही दुःख का अनुभव है और यह बात अन्वयव्यतिरेक से भी पाई जाती है, जैसाकि बहुत से पुरुषों के मध्य " पुत्र मरगया " " मित्र मरगया " ऐसा कहे जाने

यर जिनको पुत्र वित्रादि का अभिमान है उन्हीं को दुः स होता है अन्य संन्यासी आदि विरक्त पुरुषों को नहीं, अतएव जब संसारी पुरुष को भी सम्यग्दर्शन अर्थ वाला देखा गया है तो फिर विषय शुन्य आत्मा से भिन्न पदार्थान्तर को न देखते दुए नित्य चैतन्यनाम स्वक्ष ईक्कर की कथाही क्या, इसिलये सम्यग्दर्शन अनर्थक नहीं, मकाशादिकों की भांति यह दृष्टान्त दिखलाया गया है कि जिस प्रकार सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश आकाश को अभिन्याप्त होकर ठहरा हुआ अङ्गली आदिकों के उपाधि सम्बन्ध से उनके सीधे और टेढ़े भावों में वैसेही सीधे टेढ़े भावों को प्राप्त हुए की तरह मतीत होता है वास्तव में सीधा टेढ़ा नहीं, और जैसे आकाचा घटादिकों के चलते हुए चलता दृष्टिगत होता है वास्तव में नहीं चलता, जिस मकार घड़े के कांपने से तद्गत सूर्यमतिष्म भी कांपता दिखाई देता है वास्तव में नहीं कांपता, इसी प्रकार अविद्या कुत बुद्धि आदि उपाधि के साथ मिला हुआ जो जीवरूप अंश है उसके दुःखी की तरह होते हुए भी उस जीवरूप अंशवाला ईश्वर दुली नहीं होता, जीव को भी दुःखपाप्ति अविद्या निमित्त से ही है यह बात कहीगई, और "तन्त्रमित " आदि वेदान्त बाक्य आविधिक जीवल को इटाकर उसके प्रद्याभाव को वोधन करते हैं, इसलिये जीव के दुःख से परमात्मा में दुःख का मसङ्ग नहीं लगसक्ता।

तु-शब्दश्चोद्यं व्यावर्तयित प्रकाशादिवजीवः परमात्मनोंऽशः यथाऽग्न्यादित्यादेभीस्वतो भारूपः प्रकाशोंऽशो भवति यथागवाश्वशुक्कंकृष्णादिनां गो-त्वादिविशिष्टानां वस्तृनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशः

यथा वा देहिनो देवमनुष्यदिदेहीं आस्तबदेकवस्त्वेक-देशत्वं हांशत्वं विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव, तथा च विवेचका विशिष्टे वस्तुनि विशेषणांशीऽयं विशेष्यांशोऽयमिति व्यपदिशन्ति विशेषणविशेष्य-योरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते, एवं जीव-परयोविशेषणाविशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चोपप-खते, तदिंदमुच्यते नैवं पर इति यथाभूतो जीवस्तथा भूतो न परः, यथैव हि प्रभायाः प्रभावोनन्यथाभूतः तथा प्रभास्थानियात् स्वांशाजीवादंशी परोऽप्यर्थान्तर भूत इत्यर्थः, एवं जीवपरयोर्विशेषणिवशेष्यत्वकृतं स्व-भाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेदानिर्हेशाः प्रवर्त्तानते, अभेद-निर्देशास्तु पृथक्सिच्चनहिवशेषणानां विशेष्यपर्यन्त-त्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोपपद्यन्ते तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रेह्मेत्यादिषु तच्छन्दब्रह्मशब्दवत्वमयमात्मेति शब्दा अपि जीवशरीरक ब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वादि-त्ययमर्थः प्रागेव प्रपञ्चितः ॥ श्री० भा०

अर्थ-तु-शब्द शङ्का की निर्दात्त करता है, प्रकाशादिकों की भांति जीव ब्रह्म का अंश है अर्थाद विशिष्ट वस्तुं का विशेषण अंश होता है, इस नियम के अनुसार जैसे प्रकाशस्वरूप अग्नि और सुर्यादिकों का चांदनीरूप प्रकाश अंश होता है, जैसे गोलादि धर्मविशिष्ट गौ, घोड़ा सफेद काला आदि वस्तुओं के गोलादि

विशेषण अंश हैं,जैसे देव मनुष्यादिकों के जीवात्मा का देइ अंश है इसीमकार जीव ब्रह्म का अंश है, इसी अभिमाय से विशिष्ट वस्तु में भीमांसा करने वाले लोग यह विशेष्य अंश है, यह विशेषण अंश है, ऐना कथन करते हैं, तिशेषण विशेष्य का अंशांशिभाव होने पर भी आपस में उनका स्वभाव वैलक्षण्य देखाजाता है, इस पकार जीव ब्रह्म का अंशाअंशीभाव और स्वभावभेद दोनों कहे जासक्ते हैं, इसीलिये कहा है कि " जिसप्रकार का जीवहै उसप्रकार का ईश्वर नहीं " जैसे प्रकाश से प्रकाश वाला अन्य होता है वैसे ही प्रकाशक्ष अपने अंश जीव से परभेश्वर भिन्न है, इसमकार जीवेश्वर का विशेष्यविशेषणकृत स्वभाववैलक्षण्य= निरालापन अङ्गीकार करके भेदवाक्य प्रष्टत्त होते हैं, विशेष्यों से भिन न रहने के कारण विशेषणीं को विशेष्यक्ष स्वीकार करके अभेद निर्देश मुख्यार्थ से उपपादन किये जाते हैं, "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म"इसादिकों में ईश्वरवाची तत तथा ब्रह्म शब्द की भांति त्वं, अयं, आत्मादि शब्द भी जीवक्ष शारीरवाले ब्रह्म के वाचक होने से एकल के पतिपादक हैं यह बात प्रथम ही विस्तार से कथन कर आये हैं।

समीक्षा—ईश्वर का विमाग न होसकने से जीव अग्नि के चिद्गारे की भांति अंश न हो पर प्रकाश और प्रकाशवालों की भांति तो जीव ब्रह्म का अंश है, क्योंकि प्रकाशवाले का खण्ड न होने पर भी प्रकाश अंश होता है, जैसाकि विना खण्ड से अंश होना सूर्य्य के प्रकाश में देखा गया है, इस शङ्का का सूत्रकार इसपकार समाधान करते हैं कि "प्रकाशादिकों की भांति भी अंश

अशीभाव ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म निराकार है " "प्रकाशादिवसु"यह पूर्वपक्ष के अभिपाय से और "नैवस्परः" यह उत्तर पक्ष के अभिनाय से आया है, ईश्वर में साकारादि समस्त दोषों का गंध न होने से उसका अंश प्रकाशादिकों की तरह नहीं होसक्ता, और जो अद्वैतभाष्यकार ने "ईश्वर को दुःख नहीं होता" इसमकार इस सूत्र का ब्याख्यान किया है इसमें सिद्धसाधन दोष आता है, क्योंकि ईश्वर तो ईश्वर होने से ही दुःखरहित है फिर उपका सिद्ध करना ही क्या, और अंशअंशीभाव के कारण दुःख के प्रश्न का अवकाश इसिलये नहीं कि नानाच्यपदेश से ईश्वर के क्य का ऐता अंशअंशीभाव मथम ही खण्डन करआये हैं,यदि ईश्वर-रांचा का संशय कियाजाय तो " मृन्त्रवर्णात् " इसादि सूत्र व्यर्थ होजायंगे, क्योंकि इन सुत्रों में पूर्णक्रप से अंश का किया गया है, इसमकार पादस्थानी जीव है यह सिद्धान्त किये जाने पर फिर यह प्रश्न ही नहीं होसकता कि जीव के दुःख से ईश्वर दुःखी होता है वा नहीं ? यह केवल अद्वेत विद्या के आचार्यों को तर्क न मिलने से श्रान्तिपधान तर्कामास की मूभिका है, बुद्धिक्रप उपाधि से उपहित जीव के दुःखी होने पर परमात्मा दुःखी नहीं होता वह सूर्य्य की भांति उसके प्रतिविम्ब के कम्पायमान होने पर भी अचल रहता है, इस अभिपाय वाला यह सूत्र है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि सूत्र का यही तात्पर्य होता तो सूत्र ऐसा होता कि " प्रकाझादिवत् न परः "= मकाशादिकों की भांति जीव है और परमात्मा दुःखी नहीं होता परन्तु " प्रकाशादिवस नैवम्परः " ऐसा कथन किये जाने पर प्रकाशादिकों की तरह जीव अंश है, इस पूर्वपक्ष के निर्धारणार्थ " परमेश्वर ऐसा नहीं " यह कथन किया है और श्रीभाष्याचार्य ने भी इस सूत्र को इसी प्रकार लिखा है ॥

स्मर्नित च॥ ४६॥

स्मरिन्त च व्यासादयः यथा जैवेन दुःसेन न परमात्मा दुःखायते इति ।

तत्र यः परमात्मा हिस नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चाऽपि पद्मपत्रिमवाम्भसा ॥ कर्मात्मत्वपरो योऽसा मोक्षबन्धः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः॥

इति च शब्दात् समामनित चेति वाक्यशेषः,तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्धक्तयनश्रन्नन्योऽभिचाकशीति" इति"एक-स्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुः सेन वाह्य" इति च, अत्राह यदि तर्हि एक एव सर्वेषां भू तानामन्तरात्मा स्यात् कथमन्रज्ञापरिहारो स्यातां लो-किको वैदिको वेति, नन्न चांशो जीव ईश्वरस्यत्युक्तं तद्भेदाचानुज्ञापरिहारो तदाश्रयावव्यतिकीर्णानुपपचेते किमत्र चोद्यत इति, उच्यते नैतदेवं, अनंशत्वमपि हि जीवस्याभेदवादिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" नान्योऽतोऽस्ति दृष्टा" मुत्योः स पृत्युमाम्नोति य इह नानेव पश्यति " "तत्त्वमसि"
"अहं ब्रह्मास्मि" इत्येवंजातीयिकाः, नन्न भेदाभेदावगमाभ्यामंश्रत्वं सिध्यतीत्युक्तं, स्यादेतदेवं यसुभाविष्
भेदाभेदी प्रतिपिपादियिषितो स्यातां, अभेद एव
त्वन्न प्रतिपिपादियिषितः, ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तीपुरुषार्थसिद्धः, स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनृद्यते, नच निरवयवस्य
ब्रह्मणो सुख्योंऽशो जीवः सम्भवतीत्युक्तं, तस्मात् पर
एव एकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेनावस्थित
इत्यतो वक्तव्यानुज्ञापरिहारोपपितः, तां ब्र्मः॥ शंव्याः

अर्थ-ज्यासादि कथन करते हैं कि जीव के दुःख से प्रमारमा दुःखी नहीं होता वह निय निर्मुण है, जैसे कमछ के पत्ते को जल नहीं छसकता वैसे ही उसको कर्मफल स्पर्श नहीं करसकते, जो कर्मी बाला जीव है वही मोक्ष बन्ध के साथ सम्बन्ध रखता है, ख्रूत्र में "च" शब्द से ज्यासादि भी कथन करते हैं यह वाक्यशेष है, "उन दोनों में से एक कर्मफल भोका और दूमरा साक्षीक्ष्प से स्थिर रहता है " "एक सर्व भूतों का आत्मा लोक दुःख से लिपायमान नहीं होता " यहां यह शंका की जाती है कि यदि एंक ही सब भूतों का अन्तरात्मा है तो लीकिक और वैदिक विधि निषेध क्यों? इस शंका की निवृत्ति इन कथन से नहीं होसक्ती कि जीव ईश्वर का केवल अंश है और इसी भेद के कारण विधि और निषेध वन सकता है, क्योंकि जीव का ब्रह्म से अभेद कथन करने वाली श्वांतियें पाई जाती हैं, जैसाकि "वह बनाकर आपही गविष्ट

होगया " " उससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं " " वह मृत्यु से मृत्यु को माप्त है जो ब्रह्म में नानात्व देखता है " इसादि श्रुतियों में वर्णन किया है, ननु—भेद और अभेद के पाये जाने से अंशत्व की सिद्धि होती है ! यह ऐसा ही होता यदि मेदामेद दोनों के प्रतिपादन करने की इच्छा होती, पर यहां तो अमेद ही प्रतिपादन कियागया है, क्योंकि ब्रह्मात्मा की प्राप्ति द्वारा मुक्ति की सिद्धि होती है स्वभाव पाप्त भेद का केवल अनुवाद कियागया है निरवयव ब्रह्म का जीव मुख्य अंश नहीं होसकता यह कथन किया गया है, अतएव एकही ब्रह्म सब भूतों का अन्तरात्मा जीव बनगया, इसलिये अनुज्ञा और परिहार की सिद्धि कैसे होगी, यह कथन शेष रहा जिसको अग्रिम सूत्र से स्पष्ट करेंगे—

एवं प्रभाप्रभावद्वूपेण शक्तिशक्तिमदूपेण शरीरा-त्मभावनचांशांशिभावं जगदब्रह्मणोः पराशरादयः स्मरन्ति ।

एकदेशस्थितस्यामेज्योंत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्यब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमिखलं जगत्॥ यत्किञ्चित्सृज्यते येन सत्त्वजातेन वै दिज। तस्य सृज्यस्य सम्भूतौ तत्सर्वं वै हरेस्ततः॥

इत्यादिना, चकाराच्छ्रुतयोऽपि यस्यात्मा शरीरमित्यादिनाऽऽत्मशरीरभावेनांशांशित्वं वदन्ती-त्युच्यते, एवं ब्रह्मणोंऽशत्वे ब्रह्मश्वर्त्यत्वे ज्ञत्वे च

वेदान्तार्थ्यभाष्य

286

सर्वेषां समाने केषाञ्चिद्धदाध्ययनतदर्थानुष्ठानाद्यन्त केषाञ्चिद्धर्भान्य स्वाचित्र केषाञ्चिद्धर्भनस्पर्शनाद्यन्त के-षाञ्चित्तत्परिहारश्च शास्त्रेषु कथमुपपद्यत इत्या-शङ्कराह ॥ श्री०मा०

अर्थ-मकावा तथा प्रकाशवाले, बक्ति और शक्ति वाले, बारीर और आत्मा इनकी भांति जगत और ब्रह्म का अशांशिभाव पराशर आदिक कथन करते हैं, जैसाकि एकदेश स्थित अग्नि की ज्योति चारो ओर विस्तृत हो जाती है इसी प्रकार यह सब जगत पर ब्रह्म की शक्ति है, जो कुछ कार्य्य है यह सब पर मेश्वर का शरीर है, ख्रूत्र में 'च'शब्द से "जिसका आत्मा शरीर है " इसादि श्रुतियें जीवात्मा के बारीर भाव द्वारा अशांशिभाव प्रतिपादन करती हैं, इसपकार सब जड़ चेतन एक ब्रह्म का और दूसरों को उसका निषेध और कितनों को स्पर्श की आज्ञा और दूसरों को उसका निषेध और कितनों को स्पर्श की आज्ञा और अन्यों को निषेध यह शास्त्र में कैसे बनसंकता है, इस शङ्का का समाधान अग्निम सुत्र से कियाजायगा—

समिक्षा—स्मृति भी परमात्मा को निराकार वर्णन करती है

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्पृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रिमवाम्भसा ॥

अर्थ-परमात्मा निख निर्गुण तथा निराकार होने के कारण जल में कमल के पत्र की भांति पाप पुण्य के फल से सङ्ग बाला नहीं होता, इसिखये उसमें जीव के दुःख से दुखी होने का दोष नहीं आसकता, इसका विशेष विचार भाष्य में किया है।

"अनुज्ञापरिहारो देहसम्बन्धाज्ज्योतिरा-दिवत्"॥ ४७॥

ऋती भार्यामुपेयादित्यनुज्ञा, युर्वङ्गनां नोपगच्छे दिति परिहारः, तथाऽमीषोमीयं पशुं सञ्ज्ञपयेदित्य-नुज्ञा माहिंस्यात् सर्वाभूतानीति परिहारः, एवं लोकेऽपि मित्रमुपसेवितव्यमित्यनुज्ञा, शत्रुःपरिहर्तव्य इति परि-एवं प्रकाराव जुज्ञापि रहारावेक त्वे ऽप्यात्म नो देहस-म्बन्धात् स्यातां, देहैं: सम्बन्धो देहसम्बन्धः,कःपुनर्देहे सम्बन्धः? देहादिरयं सङ्घातोऽहमेवेत्यात्मानि विपरीत-प्रत्ययोत्पतिः, दृष्टा च सा सर्वप्राणिनां अहं गच्छाम्य-हमागच्छामि अहमन्धोऽहमनन्धोऽहंमुढोऽहममूढ इत्येवमात्मिका, न ह्यस्याः सम्यग्दर्शनादन्यित्रवार-कमस्ति प्राक् तु सम्यगदर्शनात् प्रततेषा आन्तिः सर्वजन्तूनां, तदेवमविद्यानिमित्तदेहाद्यपाधिसम्बन्ध-कृतादिशेषादेकात्म्याभ्युपगमेऽपि अनुज्ञापारिहारावव-कल्प्येते, सम्यग्दार्शनस्तर्ह्यापरिहारानर्थक्यं प्राप्तं. न, तस्य कृतार्थत्वात्रियोज्यत्वानुपपत्तेः,हेयोपादेययोहि

नियोज्यो नियोक्तव्यः स्यात्, आत्मनस्त्वतिरिक्तं हेयसुपादेयं वा वस्त्वपश्यन् कथं नियुज्येत, न चात्म-त्मन्येव नियोज्यः स्यात्, शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेन्न तत्संहतत्वाभिमानात् सत्यं व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्वं तथापि व्योमादिवहेहा-चसंहतत्वमपश्यत एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमानः, न हि देहाचसंहतत्वदर्शिनः कस्यचिदपि नियोगो दृष्टः किसुतैकाल्यदर्शिनः, नच नियोगाभावात् सम्यूग्-दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसंगः, सर्वत्राभिमानस्येव प्रवर्तक-त्वात्, अभिमानाभावाच सम्यग्द्तिनः, तस्माहह-सम्बन्धादेवानुज्ञापरिहारौ ज्योतिरादिवत,यथा ज्योतिष एकत्वेऽपि अग्निः ऋञ्यात् पारिहियते नेतरः, यथा च प्रकाश एकस्यापि सवितुरमेध्यप्रदेशसम्बन्धः परिद्वियते नेतरः शुचिभूमिष्ठः तथा भौमाः प्रदेशा वज्रवैदूर्यादयो उपादीयन्ते, भौमा आपि सन्तो नरकलेवरादयःपरिद्धि-यन्ते, तथा मूत्रपुरीषं गवां पावित्रतया परिगृह्यते, तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते तद्धत् ॥ गं० भा०

अर्थ- "ऋतुकाल में स्वस्त्री के पास जावे " यह अनुज्ञा "गुरू की स्त्री से गमन न करे" यह परिहार है " अग्निषोम यज्ञ के लिये पश्च को मारे " यह अनुज्ञा "किसी माणी की हिंसा न करें" यह

परिहार है, इसी प्रकार लोक में मित्र की सेवा करे यह अनुज्ञा और शञ्ज सागने योग्य है यह परिहार है, इस मकार के अनुझा परिहार आत्मा के एक होने पर भी देह के सम्बन्ध से होसकते हैं, वारीर के साथ सम्बन्ध होना देहसम्बन्ध कहलाता है, देहसम्बन्ध क्या है ? यह देहादि संघात "मैं हूं " इस मकार देहादि अनात्म पदार्थों में आत्मक्रप मिथ्याबुद्धि का होना देहसम्बन्ध" कहा जाता है, इस प्रकार की बुद्धि मब पाणियों में देखी जाती है, जैसे में जाता हूं, मैं आता हूं, मैं अन्धा हूं, मैं आंखों वाला हूं, मैं श्रमित हूं, मैं अश्रमित हूं, इस श्रम की निर्हात्त करने बाला यथार्थद्र्यन के बिना अन्य कुछ नहीं और यथार्थज्ञान पाप्ति से प्रथम सब जीवों को यह भ्रान्ति बनी रहती है, इस प्रकार अविद्यानिमित्तक देहादि उपाधि सम्बन्धविशेष के कारण एक आत्मा के होने पर भी अनुज्ञा परिहार कल्पना किये जासकते हैं तत्वज्ञानी के लिये नहीं, क्योंकि वह कृतार्थ होचुका, इसिछिये उसमें नियोज्यत्व की अनुपपत्ति है, किसी पदार्थ के छोड़ने वा ग्रहण करने योग्य होने से नियोज्य नियोक्तव्य होता है, आत्मा से भिन्न पदार्थान्तर न देखे जाने से न उसका कोई नियोगता और नाही किसी से नियोज्य होता है, यदि यह कहाजाय कि शरीर से मिन्न आत्मदर्शी के लिये ही विधि निषेध होते हैं अन्य के लिये नहीं तो उत्तर यह है कि नियोज्यत मनुष्य के अपने आपको शरीर से मिला हुआ विचार करने पर निर्भर करता है, यह सस है कि नियोज्यल केवल उसी के लिये है जो आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है पर वास्तविक नियोजल केवल भ्रममात्र है जो देहाभिमान तक वना रहना है और जिसका आकाशादि की भांति असङ्ग आत्मज्ञान से देशभिमान निरुत्त

होगया है उसके छिये विधिनिषेध नहीं, यदि यह कहाजाय कि
नियोगाभाव होने के कारण तलज्ञानी की यथारुचि शुभाशुभ
कर्मों में चेष्ठा होगी, यह ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र कर्तृत्वादि
का अश्रिमान ही पवर्त्तक होता है और तल्ज्ञानी के अश्रिमान का
अश्राव है, इसिछिये प्रकाशादिकों की भांति देह के सम्बन्ध से ही
अनुज्ञा परिहार होते हैं, जैसािक अधि के एक होने पर भी वमशान
की अधि साज्यहै दूसरे स्थान की नहीं,जैसे सूर्य्य का एक ही प्रकाश
अपवित्र स्थान वाला बुरा समझा जाता है पवित्र स्थान का नहीं,
जैसे पृथ्वी के विकार वज्रवेद्य्यीदि ग्रहण किये जाते हैं और
स्थातक शरीरादि सागने योग्य होते हैं, गौओं के सूत्र गोवर
पवित्र होने के कारण ग्रहण किये जाते हैं और वही अन्य
जाति के त्याग दिये जाते हैं।

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञत्वादिनैकरूपत्वे सत्यि ब्राह्मण-स्तियवैश्यश्रद्रादिरूपश्रच्यश्रिचदेहसम्बन्धनिवन्धनाव नुज्ञापरिहाराचुपपचेत ज्योतिरादिवद्यथा उन्नेरिनन्त्वे-नैकरूपत्वेऽपि श्रोत्रियागारादिग्नराह्मियते श्मशानादेः परिद्रियते, यथा चान्नादि श्रोत्रियादेरनुज्ञायते अभि-श्रस्तादेस्तु परिद्रियते ॥ श्री० भा०

अर्थ-सब के ब्रह्मांश होने पर भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य श्रूदादि हप पवित्र अपवित्र देह सम्बन्ध के कारण ज्योति आदिकों की गांति अनुज्ञा परिहार बन सकते हैं, जैसे अग्नि एक हप होने पर भी वेदपाडी के ग्रह से लीजाती है और इमशान की त्यागी जाती है, जैसे अकादिक वेदपाठी के गृह से लिये जाते हैं और पातकी के गृह के त्याग दिये जाते हैं॥

स्माक्षा-यद्यपि निराकार चिन्मात्र स्वरूप जीव पादस्थानीय अंश होने के कारण ईव्वर से अत्यन्त भिन्न है तथापि जीव के लिये अनुद्रा परिहार नहीं होसकते, क्योंकि चिन्मात्र स्वरूप होने के कारण तर जीवों का एक जैसा स्वरूप है यह शंका करके कहा है कि "अनुज्ञा परिहार देह के सम्बन्ध से ज्योति आदिकों की तरह ठीक होसकते हैं" अर्थात सब जीवों का चिन्मात्र एक स्वरूप होने पर भी अनुज्ञा परिहार होते हैं, जैसे प्रकाश और अग्नि के समान होने पर भी पवित्र अपवित्र स्थान के सम्बन्ध से अग्नि आदिकों में अनुवा परिहार पायेजाते हैं वैसे ही आत्मा को भी देहकृत कर्मों के निभित्त से अनुज्ञा परिहार होते हैं, यहां यह शंका कीजाती है कि अप्नि के साकार होने के कारण यह दृष्टान्त ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि आप्ने का प्रकाश एक जैसा होने और जीव के चिन्मात्र एक स्वरूप होने के कारण दोनों में समानता पाये जाने से दृष्टान्त ठीक है।

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४८॥

स्यातां नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देह-विशेषयोगात्, यस्त्वयं कर्मफलसम्बन्धः स वैकात्स्या भ्युपगमे व्यतिकीर्येत स्वाम्येकत्वादिति चेत्, नैतदेवं, असन्ततेः,निह कर्तुभोक्तुश्चात्मनः सन्तातिःसर्वैः शरीरैः सम्बन्धोऽस्ति, उपाधितन्त्रो हि जीवः इत्युक्तं उपाध्य-सन्तानाच नास्ति जीवसन्तानः, ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ॥ शं०भा०

अर्थ-आत्मा के एकत्त्र होने पर भी देहविशेष के योग से अनुज्ञा परिहार हों पर कर्मफल का सम्बन्ध एक आत्मा के मानने पर सबको लगेगा ? इसका उत्तर यह है कि कर्त्ता भोक्ता आत्मा का सब शरीरों के साथ सम्बन्ध नहीं, क्योंकि उपाधि के हाने पर कर्तृत्व अभिमान वाला जीव भी परिच्छिन्न है, इसलिये कर्मी और उनके फलों का संकर नहीं होसकता ॥

ब्रह्मांशत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि जीवानामन्योन्य-भेदादण्रत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वाच भोगव्यतिकरोऽपि न सम्भवति, भ्रान्तब्रह्मजीववादे चोपहिनब्रह्मजीववादे च जीवपरयोजीवानां च भोगव्यतिकरादयः सर्वे देाषास्सन्तीत्यभिप्रायेण स्वपक्ष भोगव्यतिकराभाव उक्तः, ननुभान्तब्रह्मजीववादेऽप्यविद्याकृतोपाधिभेदा-द्रोगव्यवस्थादय उपपद्यन्ते तन्नाह—श्री० भा०

अर्थ-ब्रह्मांश होने से जीवों के एकक्ष्य होने पर भी उन का आपस में भेद होने तथा अणुक्ष से पत्येक शरीर में भिन्न र होने के कारण एक का कर्मफल दृसरे को नहीं लगता, भ्रान्त ब्रह्म ही जीव है, इस पक्ष में और उपाधि संयुक्त ब्रह्म जीव है इस पक्ष में जीव तथा ब्रह्म का और आपस में जीवों के सुख दुःख का सांकर्य पाये जाने से पूर्वोक्त सब दोष बने रहते हैं, इस अभिपाय से अपने पक्ष में अणु परिमाण बाले जीवों का भेद मानकर फल संकरकप दोषाभाव कथन किया है, ननु — भ्रान्त ब्रह्म जीववाद में भी अविद्याक्तत जपाधि भेद के कारण भोग व्यवस्थादि वन सकते हैं ? इसका उत्तर आगे खूत्र में देते हैं —

समिश्ला—देह के सम्बन्ध से अनुज्ञा परिहार हों पर जीव चेतन होने के कारण विना हद वाला होने से सब गरीरों में है इस कारण एक के कर्म दूसरे को लगेंगे? यह शंका करके कहा है कि "जीव के अणु होने से कर्मों का सङ्गर नहीं होता." इसका विस्तार श्रीभाष्य में होने के कारण विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं।

आमास एव च॥ ४९॥

आभास एवं चैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकाकादिवत् प्रतिपत्तव्यः न स एव साक्षान्नापि वस्त्वन्तरम्, अतश्च यथा नैकिस्मिन् जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकिस्मिन् जीवे कर्मफलसम्बदिधिन जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः, एवमव्यतिकर एव
कर्मफलयोः, आभासस्यचाविद्याकृतत्वात् तदाश्रयस्य
संसारस्याविद्याकृतत्वोपपित्तिरिति तद्वयुदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपित्तः, येषान्तु बहव
आत्मानस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषामेवेष व्यतिकरः

प्राप्तोति, कथं,बहवो विभवश्चात्मानश्चेतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च तद्ये साधारणं प्रधानं तन्निमि-त्तेषां भोगापवर्गसिद्धिरिति साङ्ख्याः, सति बहुत्वे वि-अत्वे च घटकुड्यादिसमानाः द्रव्यमात्रस्वरूपाः स्वतोऽ-चेतना आत्मानस्तदुपकरणानि चाण्यनि मनांसि अचेतनानि तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च संयोगा-नवेच्छादयो वैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते, ते चाव्य-तिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवयन्ति, स संसारस्तेषां नवानामात्मग्रणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणा-दाः, तत्र साङ्ख्यानां तावचैतन्यस्वरूपत्वात् सर्वात्मनां सिन्नधानाचिविशेषाच एकस्य सुलदुः ससम्बन्धे सर्वेषां सुखदुःखसम्बन्धः प्राप्नोति, स्यादेतत् प्रधानप्रवृत्तेः पुरु-षकैवल्यार्थत्वात् व्यवस्थाभविष्यति, अन्यथा हि स्व-विभूतिरूयापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात्, तथा चानि-मोंक्षः त्रसज्येतेति, नैतत्सारम्, न ह्यभिल्षितसिद्धिनि, बन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुं,उपपत्त्या तु कथाचित् व्यवस्थोच्येतासत्यां पुनरुपपत्ती कामं माभूदभिलिषतं पुरुषकैवल्यं, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद्वधतिकरः, काणादानामपि यदैकेनात्मना मनः संयुज्यते तदा-त्मान्तरेरिप नान्तरीयकः संयोगः स्यात् सन्निधानाद्य-

विशेषात्, ततश्च हेत्वविशेषात् फलाविशेष इत्येकस्या-त्मनः सुखदुःखसंयोगे सर्वात्मनामेव समानसुखदुःखत्वं श्रसज्यते,स्यादेतत् अदृष्टानिमित्तो नियमो भविष्यतीति, नेत्याह—शं० भा०

अर्थ-जलगत सुर्य के मिताबेम्ब की भांति यह जीव परमा-या का आभास है, न साक्षाद है न पदार्थान्तर है, इसलिये जैसे एक प्रतिबिम्ब के कांपने से दूसरे प्रतिबिम्ब नहीं कांपते इसी शकार एक जीव के कर्मफलसम्बन्ध होने से और जीवों का सम्बन्ध उसके साथ नहीं होता, इस प्रकार कर्म तथा फल का संकर नहीं और आभास अविद्याकृत होने के कारण तदाश्रय संसार भी अविद्याकृत है उसके वाधपूर्वक यथार्थ ब्रह्मात्मभाव का उपदेश उप-षादन कियाजाता है, जिनके मत में जीवात्मा नाना तथा विभु हैं उन्हीं के यत में एक का कर्म दूसरे को लगने का दोष आता है, चैतन्यमात्रस्वरूप निर्गुण विभु आत्मा नाना हैं भोगापवर्ग की सिद्धि के छिये निमित्त एक प्रधान है यह सांख्य वाले मानते हैं, जीवात्मा नाना और विभु हैं द्रव्यमात्र स्वरूप और स्वयं अचेतन हैं उनके साधन मन भी अणु और अचेतन हैं, आत्मा और मन के संयोग से इच्छा आदिक आत्मा के नव विद्योष गुण उत्पन्न होते हैं और वह प्रसेक आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से रहते हैं यही संसार है, आत्मा के उन नव गुणों का असन्ताभाव ही मोस हैं, यह कणादमतानुयायी मानते हैं, सांख्य वालों के मतानुसार आत्मा चेतनस्वरूप होने और सब के साथ एक जैसा सम्बन्ध होने से एक के सुख दुःख का

सम्बन्ध होने पर सबको छुख दुःख का सम्बन्ध प्राप्त होगाः यहां वह यह कहसकते हैं कि प्रधान की प्रवित्त पुरुष के मोक्षार्थ होने के कारण व्यवस्था होजायगी, यदि ऐसा न होता तो अपनी यहिमा बतलाने के लिये प्रधान की प्रदत्ति होती, ऐसा होने पर मोक्षाभाव का प्रसंग आता,इसका उत्तर यह दियाजाता है कि यह बात ठीक नहीं, क्योंकि इष्टीसिद्धि के लिये व्यवस्था नहीं कीजामकती किसी एक युक्ति से व्यवस्था की जासकती है, यदि युक्ति न हो तो इष्टिसिद्धि भी नहीं होसकती और भेदकारण के अभाव होने से कर्ष और फल का संकर आता है तथा काणाद लोगों के यत में भी सम्बन्ध एक समान होने से एक आत्मा के साथ मन का संयोग होता है तब और आत्माओं के साथ भी वही सम्बन्ध है, इसिलिये हेतु एक जैसा होने से फल भी एक जैसा होगा, इस भकार एक २ आत्मा को सुख दुःख का संयोग होने पर सब आत्माओं को सुख दुःख होगा, यदि यह कहाजाय कि अष्टष्टों के निमित्त नियम होसकेगा तो भी ठीक नहीं ? इसका उत्तर अग्निम सूत्र से देते हैं —

अखण्डिकरसप्रकाशमात्रस्वरूपस्यस्वरूपतिरोधानपूर्वकोपाधिमेदोपपादनहेतुराभास एव, प्रकाशकस्वरूपस्य प्रकाशितरोधानं प्रकाशनाश एवेति प्रागेवोपपादितम्, "आभासा एवइति वा पाठः तथा सित हेतव
आभासाः चकारात्पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा ज्ञाज्ञौ
दावजावीशानीशौ तयोरन्यः पिष्पलं स्वाद्धनीत्यादिश्रुतिविरोधश्च, अविद्यापरिकल्पितोपाधिभेदे हि सर्वो-

पाधिभिरुपहितस्वरूपस्यैकत्वाभ्यपगमाद्गोगव्यतिकर -स्तदवस्थ एव, पारमार्थिकोपाध्यपहितब्रह्मजीववादे उपाधिभेदहेतुभूतानाद्यदृष्टवशाद्ययवस्था भविष्यतीत्या-शङ्कयाह-श्री० भा०

अर्थ-अखण्ड एकरस पकाशस्त्र जो ब्रह्म उसका किसी
उपाधि से ढक जाना मिथ्या है, क्योंकि प्रकाशस्त्र प का प्रकाश
ढक जाना प्रकाश नाश ही है यह बात प्रथम कह आये हैं अथवा
सूत्र में "आभासां " पाठ है, ऐसा होने पर सब हेतु हेलाभास हैं,
और "ज्ञकार" से "आत्मा को पृथक पेरणा करने वाला मानकर एक
ज्ञानी दूसरा अज्ञानी एक ईश्वर दूसरा अनीश्वर उन दोनों में से
एक कर्मफल का भोक्ता और दूसरा अभोक्ता है" इसादि श्रुतियों का
विरोध भी आवेगा, अविद्या परिकल्पित उपाधि भेद पक्ष में सब
उपाधियों से उपहित स्वरूप एक होने के कारण भोग का संकर
वैसाहि बना रहता है, पारमाधिक उपाधि के साथ मिला हुआ ही
ब्रह्म जीव है, इस पक्ष में उपाधिभेद के कारण जो अनादि कर्म हैं
उनके द्वारा व्यवस्था होजायगी ? इस आशंका का उत्तर अग्निम
सूत्र से देते हैं :—

समिक्षा—जैसे उपाधि के कारण जलगत सूर्यों में नानाल देखा जाता है इसी प्रकार एक चेतन में भी उपाधि के कारण नानाल बनसकने से कर्मों का सङ्कर न होगा फिर जीव का अणु मानना व्यर्थ है ? इस शंका के उत्तर में कहा है कि "यह तकि। मास ही है" तर्काभास इसलिये है कि निराकार होने के कारण ब्रह्म का प्रतिविभव हो ही नहीं सकता, यहां अद्वैतवादियों का यह

कथन है कि जीव ब्रह्म का जलगत सूर्य के समान आभास है, क्योंिक पूर्व सूत्र में जीव को परिछिन्न निरूपण किया गया है और चेतन ब्रह्म स्वतः परिच्छिन्न नहोंने के कारण जीव का परिच्छिन्न होना आभास मानने ही से होसकता है? यह कथन ठीक नहीं, क्योंिक ऐसा अर्थ होने से सूत्र का 'एव' शब्द व्यर्थ होजायगा, यदि सूत्रकार का अभासवाद में तात्पर्थ्य होता तो 'अभासाद ' इस मकार सूत्र रचते जिससे पूर्वोक्त परिच्छिन्नरूप जीव के अणु होने का समर्थन होजाता परन्तु ऐसा नहीं किन्तु "आभास एव च" ऐसा सूत्र रचने से स्पष्ट है कि सूत्रकार का तात्पर्थ्य ब्रह्म के मितिबम्बवाद के खण्डन में है, यदि यह कहाजाय कि यह सूत्र आत्मा को विभु मानने वाले के मतका खण्डन करता है तो भी ठीक नहीं, क्योंिक " प्रदेशभेदात्" यह आगे का सूत्र अवच्छेदवाद का स्पष्ट खण्डन करता है।

यहां यह शङ्का की जाती है कि तुम्हारे पक्ष में भी "आभास एव च" इस सूत्र से उपाधि के खण्डन किये जाने पर फिर "मदेशभेदात" इस सूत्र में उपाधि का खण्डन करना पिसे को पीसने की भांति अयुक्त है ? यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि "आभास एव च" इससे मीतिबम्ब का और "मदेशभेदात" इससे अबन्छद्वाद का खण्डन किया गया है, इस मकार विषय के सिम २ होने से दोनों सूत्र एकही विषय को समर्थन न करने के कारण अद्वैतवाद में नहीं लग सकते।

और जो यह कहागया है कि निराकार होने के कारण का प्रतिविम्ब नहीं होता, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रहिनयम नहीं कि इप वाले का ही प्रतिबिम्ब होता है इपराहत

भूमिका ।

का नहीं, जैसाकि बिना रूप से आकाश का प्रतिबिम्ब होता है, विना रूप वाली ध्वनि का मितिबिम्ब मितिध्विन होता है और विना क्प से रूप का प्रतिबिम्ब होता है ? इसका उत्तर यह है कि आकाश का प्रतिविम्व नहीं अर्थात आकाश में जो अन्य पदार्थ हैं उनका और उस में भ्रान्ति से जो रूप प्रतीत हो रहा है उसका प्रतिविम्य होने से सिद्ध है कि जो पदार्थ चक्क का विषय हो उसी का प्रतिविम्ब होता है अन्य का नहीं, और जो यह कहा है कि ध्वीन का प्रतिविम्ब होता है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिध्वनि आकाश का गुण है, विना इप वाले इप का मितिबम्ब होता है यह जो कहा गया है यह चालकों को मोहन करने मात्र है, क्योंकि रूप तो स्वयं रूप है, हम यह नहीं कहते कि क्ष्पवाले का ही मितिविम्ब होता है किन्तु यह कहते हैं कि चक्षुप्राह्म पदार्थ में चक्कुग्राह्म पदार्थ का ही मितिबिम्ब होता है अन्य का नहीं. इस नियमानुसार जो विना रूप से रूप का प्रतिविम्ब होना कहा गया है ऐसे तर्काभास का स्थान नहीं, इस प्रकार ब्रह्म नेत्रों का विषय न होने से उसका प्रतिबिम्ब नहीं होसकता, इस अभिपाय को " उभयस्टिङ्गाधिकरण " में सूत्रकार ने स्पष्ट कियाहै कि निरा-कार होने के कारण ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं होसक्ता, जल सुर्या-दिकों की उपपा ब्रह्म की सूर्यादिकों की भांति निर्दोष होने के अभिमाय से है यह विषय ब्र॰सू॰३।२।१८-१९-२० में स्पष्ट है कि "जिस महार जल में अन्य पदार्थों का मतिबिम्ब पड़ता है इस प्रकार ब्रह्म का प्रतिविम्ब पृथिव्यादिकों में न पड़ने से दृष्टान्त ठीक नहीं " इसका उत्तर २० वें सूत्र में यों दिया है कि सूर्यादिकों के मांतविम्ब का दृष्टान्त इस आभगाय से है कि जैसे जल के बढ़ने घटने से सूर्य वास्तव में बढ़ता घटता नहीं इसी मकार परमात्मा सब पदार्थों में व्यापक होने के कारण उन पदार्थों के बढ़ने घटने से उसमें कुछ विकार नहीं आता, इसिल्ये उक्त व्याख्यान ठीक नहीं।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः॥

व्र० स्०२।१।१४

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तभोग्यलक्षणं विभागं स्यालोकवदिति परिहारोऽभिहितो न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात् तयोःकार्यकारण-योरनन्यत्वमवगम्यते, कार्यमाकाशादिकं बहुपपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽन-न्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते, कुतः आर-म्भणशब्दादिभ्यः, आरम्भणशब्दस्तावदेकविज्ञानेन सर्वेविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वे मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यं " इति, एतदुक्तं भवति एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृण्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदासलाविशेषादिज्ञातं भवेत्, यतो वाचारम्भणं वि-कारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते विकारो घटः शराव उदाञ्चनञ्चेति न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येच सत्यमिति, एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः, तत्र श्रुता-दाचारम्भणशब्दात् दार्षान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण का-यंजातस्याभाव इति गम्यते, पुनश्च तेजोऽबन्नानां ब्रह्म-कार्यतामुत्तवा तेजोऽबन्नकार्याणां तेजोऽबन्नव्यतिरेके-णाभावं ब्रवीति "अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येवसत्यं " इत्यादिना, आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् "ऐतदात्म्यिमदं सर्व " "तत्सत्यं स आत्मा " " तत्त्वमिस " इदं सर्व यदयमात्मा" "ब्रह्मैवेदं सर्व" "आत्मैवेदं सर्व" "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्येवमाद्यप्यासैकत्वप्रतिपादन-वचनजातमुदाहर्तव्यम्, नचान्यथा एकविज्ञानेन सर्वे-विज्ञानं सम्पद्यते, तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशादनन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीना-मूपरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेण त्वज्ञ-पाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्तत्वादिपपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरकेणाभाव इति द्रष्टव्यम्, नन्वनेकालकं ब्रह्म यथा वृक्षोऽनेकशाखः एवमनकशक्तिप्रवृत्तिकं ब्रह्म, अत एकत्वं नानात्वञ्चाभयमपि सत्यमेव, यथा वृक्ष इसेकत्वं शाला इति च नानात्वं, यथा च समुद्रासनै- कृत्वं फेणतरङ्गाद्यासना नानात्वंयथा च मृदासना एकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वं तत्र एकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति, नानात्वांशेन तु कर्भ-काण्डाश्रयो लौकिकवैदिकव्यवहारी सेत्स्यत इति एई च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति, नैवं स्या-न्मृतिकेत्येव सत्यमिति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वा-वधारणात्, वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानु-तत्वाभिधानात्, दार्षान्तिके अपि "ऐतदात्स्यमिदं सर्वं" "तत्सत्यं" इति च परमकारणस्यैवेकस्य सत्यत्वावधा-रणात् "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्, स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारी-रस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यं, अत-श्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमभ्युपगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं सम्पद्यते, रज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबद्धीनाम्, बाधितं च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प-सिद्धये नानात्वांशोऽपरोब्रह्मणः कल्प्येत, दशेयति च "यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केनकं पश्येत" इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदिशेनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्ष-णस्य व्यवहारस्याभावम्, नचायं व्यवहाराभावोऽवस्था- विशेषनिवद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तं, तत्त्वमसीति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात्, तस्करद्द-ष्टान्तेन चानृताभिसन्धस्य बन्धनं सत्याभिसन्धस्य मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति, मिथ्या-ज्ञानविज्रम्भितं अनानात्वं, उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसन्ध इत्युच्यते "मृत्योः स मृत्युमाप्रोति य इह नानेव पश्यति" इति भेददृष्टि-मपवदन्नेतदेव दर्शयति, न चास्मिन् दर्शने ज्ञानान्माक्ष इत्युपप्चते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञा-नस्य संसारकारणत्वेनानभ्युपगमात्,उभयस्य सत्यतायां हि कथमेकलज्ञानन नानालज्ञानमपनुचत इत्युच्यते, नन्वेकत्वैकान्ताभ्यपगमे नानात्वाभावात् प्रसक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्यरन्, निर्विषयत्वाद् स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि, तथा विधिप्रतिषेध-शास्त्रमपि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याघातः स्यात्, कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रण प्रतिपादि-तस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येत इति, अत्रोच्यते,नैषः दोषः सर्वव्यवहाराणामेव प्रागृब्ह्यात्मताविज्ञानात् स-त्यत्वोपपत्तेः, स्वप्रव्यवहारस्येव प्राक् बोधात्, यावद्धि

न सत्यात्मेकत्वप्रतिपत्तिस्तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिनं कस्यचिदुत्पद्यते, विकारानेव त्वहंममेत्यविद्यया आत्मात्मीयभावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा, तस्मात् प्रा-ग्बह्यात्मताप्रबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः, यथा सप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्ने उचाव-चान् भावान् पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक् प्रबोधात्, नच प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्त-त्काल भवति तद्रत्, कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन स-त्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्यते, न हि रज्जुसपेण दष्टो म्रियते, नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहना-दिप्रयोजनं क्रियत इति, नैष दोषः, शङ्काविषादिनि-मित्तमरणादिकार्योपलब्धेः, स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्प-दंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात्, तत्कार्यमप्यनृतमे-वेति चेत् ब्रुयात् तत्र ब्रूमः, तद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं यथापि तदवगतिः सत्यमेव फलं प्रतिबुद्धस्याप्यचाध्यमानत्वात्. न हि स्वप्राद्धितः स्वप्रदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकायं मि-थ्येति मन्यमानस्तद्वगतिमपि मिथ्येति मन्यते क-

श्चित्, एतेन स्वप्तदशोऽवगत्यवाधेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः। तथा च श्वतिः—

"यदा कर्मस्र काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्रजानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ।

इत्यसत्येन स्पन्नदर्शनेन सत्यस्य फलस्यसम्द्रेः पाप्तिं दर्शयति तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिद्रिष्टेषु जातेषु न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यादित्युक्त्वा अथयः स्वमे पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्तीत्यादिना तेनासत्येनैव स्वप्तदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति द्रीयति, प्रसिद्धश्चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलाना मीहशेन स्वप्नप्रदर्शनेन साध्वागमः सूच्यते ईहशेनासा-ध्वागम इति, तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्देष्टा रेखा-नृताक्षरप्रतिपत्तेः, अपि चान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किञ्चिद।कांक्ष्यमस्ति यथा लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथामित्याकाङ्क्यते न वैवं तत्त्व-मसीत्युक्ते किञ्चिदन्यदाकांक्ष्यमस्ति सर्वात्मैकत्वविष-यत्वादवगतेः, सति ह्यन्यस्मिन्नविशष्यमाणेर्थे आकांक्षा स्यात् नत्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणावशिष्यमाणोऽन्योथोंऽ स्ति य आकांक्ष्येत, नचयमवगीतनीत्पद्यत इति शक्यं वक्तं, "तद्धासौ विजज्ञौ" इत्यादिश्वतिभ्यः, अ-वगतिसाधनानां च श्रवणादीनाञ्च विधीयमानत्वात्, न चेयमवगतिरन्धिका भ्रान्तिर्वेति शक्यंवक्तं,अविद्या-निवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तराभावाच, प्राक्चा-मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकि-को वैदिकश्चेत्यवोचाम तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रति-पादिते आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनभेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति, ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात् परिणामवत् ब्रह्म शास्त्रस्या भिमतिमति गम्यते, परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति,नेत्युच्यते 'स वा एष महानजः" "आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म" "स एष नेति नेत्यात्मा" "अस्थूलमनणु"इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रिया-प्रतिषेधश्वतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्, न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वञ्च शक्यं प्रतिपत्तुम्, स्थितिगतिवत् स्यादिति चेन्न, कूटस्थस्येति विशेषणात्, न हि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवद्नेकधर्माश्रयत्वं सम्भवति, कूटस्थं नित्यञ्च ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधा-दित्यवोचाम, न च यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्ष-साधनं, एवं जगदाकारपरिणामित्वदशैनमपि स्वतन्त्र-

मेव कस्मैचित् फलायाभिप्रयेत, प्रमाणाभावात्, कूट-स्थब्रह्मात्मत्विवज्ञानादेव हि फलं दर्शयित शास्त्रं, "स एष नेति नेत्यात्मा " इत्युपक्रम्य " अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि " इत्येवंजातीयकम्, तत्रैतिसद्धं भवति ब्रह्म-प्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धी सत्यां यत्तत्राफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामि त्वादि तदब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत् सन्निधावफलं तदङ्गमितिवत्, न तु स्वतन्त्रफलाय क-ल्प्यते इति, न हि परिणामवत्त्वविज्ञानात् परिणामवत्त्व-मात्मनः फलं स्यादिति वक्तं युक्तं कूटस्थन्नह्यात्मवादिन एकत्वेकान्तादीशित्रीशितव्याभावे ईश्वरकारणप्रतिज्ञा-विरोध इति चेत, न, अविद्यात्मकनामरूपवीजव्याकर-णापेक्षत्वात् स्वज्ञत्वस्य "तस्मादा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धमुक्त-स्वरूपात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तिश्वराज्जगदुत्पत्तिस्थि-तिलयाः, नाचेतनात् प्रधानादन्यसमादेखेषोऽर्थः प्रति-ज्ञातो जन्माद्यस्य यत इति, सा प्रतिज्ञा तदव्स्थैव न तदिरुद्धोऽर्थः पुन्रिहोच्यते, कथं नोच्येत अत्यन्तमा-त्मन एकत्वमदितीयत्वश्च त्रुवता, श्रणु यथा नोच्यते सर्वज्ञस्येश्वरस्य आत्मभूते इवाविद्याकिएते नामरूपे

तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयसंसारप्रपञ्चवीजसूते स-र्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्ध-त्योरभिलप्येते, ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः "आकाशो वैनाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" इति श्रुतेः, "नामरूपे व्याकरवाणि" "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते, एकं वीजं बहुधा यः करोति " इत्यादिश्चितिभ्यश्च, एवमवि-द्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधी खरो भवति, व्योमेव घटक-रकाद्यपाध्यवंरोधि, सच स्वात्मभूतानेव घटाकादा स्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापतिनामरूपकृतकार्यकरण-सङ्घातानुराधिनो जीवरूयान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्य-वहारविषये, तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्ष्यभेवे-श्वरस्यश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वञ्च न परमार्थतो विष-यापास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञ-त्वादिव्यवहार उपपद्यते, तथा चोक्तम्, "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छुणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" इति "यत्र त्वम्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत"इत्यादि च, एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदनित वेदान्ताः, तथेश्वरगीतास्वपि :--

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ नादने कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन सुद्धान्ति जन्तवः ॥

इति परमार्थावस्थायामीशित्रत्रीशितव्यादिव्यवहा-राभावः प्रदर्श्यते, व्यवहारावस्थायान्तुक्तः श्रुतावपी-श्वरादिव्यवहारः "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" इति, तथा चेश्वरगीतास्विपः—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽज्जेन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

इति सूत्रकारोऽपि परमार्थाभित्रायेण तदनन्य-त्विमत्याह, व्यवहाराभित्रायेण तु स्यालोकविति महा-समुद्रादिस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति, अत्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियाश्राश्रयति सगुणोपासने-षूपयुज्यत इति ॥ शं० भा०

अर्थ-भोक्ता और योग्य के ज्यावहारिक भेद को मानकर यह
उत्तर दिया गया है कि लोक की भांति दोनों बनसकते हैं परन्तु
कार्य्य कारण की एकता पाये जाने से यह विभाग वास्तव में
नहीं, आकाशादिकों से लेकर वहुत विस्तार वालां जगत "कार्य्य"
और परब्रह्म "कारण" है, उस परब्रह्मक्प कारण से जगत

वेदान्तार्घभाष्य

185

का भेद नहीं, क्योंकि आरम्भण शब्द है आदि में जिनके ऐसे उपानषद् वाक्यों से ऐसाही पायाजाता है अर्थाद एक के ज्ञान से सब पदार्थों के ज्ञान की मीतज्ञा करके दृष्टान्त की अपेक्षा होने पर आरम्भण शब्द कहागया है, जैमाकि "हे श्वेतकेतो जैसे एक मृत्पिण्ड के जानने से सब मिट्टी के विकार जाने जाते 🖫 क्योंकि घट बारावादि विकार रूथनमात्र हैं वास्तव में कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मिट्टी ही सस है" यह ब्रह्म के एकत्व में वैदिक दृष्टान्त कथन किया गया है,इस दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म से भिन्न कार्य्य का अभाव पाया जाता है, फिर अग्नि, जल, पृथिवी इनको ब्रह्म का कार्य कथन करके इनके काय्यों का अभाव कथन कया है, जैसाकि "अग्निका अग्निपन कोई पदार्थ नहीं बाणी का आरम्भ मात्र है तीन इप ही सत्य हैं " इसादि, श्रुतिस्थ आदि पद से " यह सब आत्मा का स्वरूप है " "वह सत्य है" "हे श्वेतकेतो वह तू है" "यह सब आत्मा है" "यह सब ब्रह्म ही है" "नानात्व कुछ नहीं " इस प्रकार के उपनिषंद् वाक्य भी कार्य कारण की एकता बोधंन करते हैं अर्थाद कारण की सत्ता से अतिरिक्त कार्य्य की सत्ता का निषेध करते हैं, इस रीति से उपनिषद् वाक्यों का अद्वेतबोधन में तात्पर्य जानना चाहिये, यदि ऐमा न होता तो एक के जानने से सब का ज्ञान कथन न किया जाता, जैसे घटा-काशादिकों का महाकाश से भेद नहीं पाया जाता अथवा ग्रंग -तृष्णा के जल का जपर भूमि से भेद नहीं पाया जाता, इसी प्रकार भोग्य भोक्तरूप विश्ववर्ग का ब्रह्म से भेद नहीं, भेदा भेदवादी का कथन

है कि अनेक शाखा वाले दक्ष की भांति ब्रह्म अनेक आकार वाला है, इसिछये एकल और नानाल दोनों बनसक्ते हैं, जैसे दक्ष के कथन से एकल और शाखा कथन से नानाल, जैसे समुद्र कथन से एकल, फेन तरङ्गादि कथन से नानाल, जैसे मृत्पिण्ड से एकल और घटादि पदार्थों के कथन से नानाल है, इस प्रकार एकत्वविषयक ज्ञान से मोस और नानात्व के मानने से कर्मकाण्डरूपी छी किक वैदिक व्यवहार भी ठीक होजायंगे, एवं मिट्टी आदिकों के दृष्टान्त भी पकरणानुकुछ अर्थसिद्धि में उपयुक्त होसकेंगे, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि दृष्टान्त में पिट्टी सस कथन करने से कारण की ही ससता पाई जाती है और "विकार बाणी का आरम्भमात्र है"इस श्रुतिवाक्य से विकार मिथ्या कथन किया गया है और दार्ष्टान्तिक में भी "सब आत्मा का स्वरूप है " "वह सत्य है" इस मकार परम कारण की ही सबना दिखलाई है "हे श्वेतकेतो वह आत्मा तू है" यह ब्रह्म होने का उपदेश पाया जाता है और जीव ब्रह्म का एकल स्वाभाविक है किसी यवसाध्य नहीं, इसिलिये शास्त्रप्रमाणगोचर जीव ब्रह्म का एकल जीवलं प्रतीति का बाधक है,जैसाकि रज्जु आदिकों का ज्ञान सर्पादि बुद्धियों का बाधक है, और जीवभाव के मिटजाने पर जीवाश्रित कर्मकाण्डादि व्यवहार मिट जाते हैं, फिर किसके लिये ब्रह्म में नानात्व की कल्पना कीजाय, इस बात को श्रुति स्पष्ट दिखलाती है कि "जिस अवस्था में तत्त्ववेत्ता को सब अपना आप प्रतीत होता है उस अवस्था में कौन किसको देखें" इसाद वचनों से आत्मा को ब्रह्मक्प देखने वाले के लिये सब क्रियाकारकः

वेदान्तार्यभाष्य

रूप व्यवहार का अभाव कथन किया है, यहां यह नहीं कहा जासक्ता कि यह क्रिया कारक का अभाव किसी अवस्थाविद्योष के कारण से हैं, क्योंकि "हे श्वेतकेतो वह अत्मा तू है" यह उपनिषद्वाक्य किसी अवस्थाविशेष के कारण एकत्व होना नहीं बतलाया और तसकर के दृष्टान्त से मिथ्या मानने वाले को बन्धन और सस कहने वाले को मुक्ति दिखलाते हुए एक होना ही वास्तव है यही श्रुति मतिपादन करती है, मिध्याज्ञान से ही नानाल प्रतीत होरहा है, यदि एकल और नानाल दोनों सल मानेजांय तो "भेददशीं जीव निन्दनीय है"यह कैंसे कहाजाता, "वह मरण से मरण को प्राप्त होता है जो ब्रह्म में नानापन देखता है" इस भेद दृष्टि का खण्डन एकल को सिद्ध करता है और दोनों रूप सख मानने वाले के मत में ज्ञान से मोक्ष भी नहीं होसकता. क्योंकि उनके मत में कोई मिथ्याज्ञान नहीं कि जिस की निर्दात्त से मोल हो, पूर्वपक्षी शंका करता है कि यदि सब एक है तो यह छौकिक पसक्षादि प्रमाण जो नानाल दिखलाते हैं व्यर्थ होजायंगे और वैसे ही "ऐसा करो ऐसा न करो " इस मकार भेद की आवश्यकता रखने वाला शास्त्र भी व्यर्थ होजायगा, एवं मोक्षशास्त्र भी शिष्य गुरू के भेद की आवश्यकता रखता है, यदि भेद न हो तो वह भी व्यर्थ होजाय, फिर किस प्रकार मिथ्या मोक्ष शास्त्र से प्रतिपादित जीव ब्रह्म का एकत्व सस होसक्ता है? इसका उत्तर यह है कि अपने आपको ब्रह्म जानने से प्रथम सब व्यवहार सस है, जैसे कि जागने से पहले स्वप्न सस है, जब तक आत्मा के एकल का सस ज्ञान नहीं होता तब तक प्रमाण प्रमेय रप व्यवहारों में किसी को भी असस बुद्धि नहीं होती, खाभाविक

ब्रह्मात्मैकल को भूलकर "में हुं" "यह मेरा है" इस प्रकार अविद्या से विकारों को अपना समझ रहा है, इसिछिये ब्रह्मात्मैकत्व बोधन से प्रथम लौकिक वैदिक सब व्यवहार सत्य समझे जाते हैं, जैसे जागने से पथम स्वप्न में ऊंच नीचभाव देखने वाले पुरुष का प्रसम्बद्ध से अभिमत ज्ञान निश्चित ही होता है उस काल में प्रसक्ष झूउ है यह मन्देह नहीं होता, फिर यह प्रश्न होता है कि किस प्रकार असरां वेदान्तवाक्य से सरा की होसक्ती है,क्योंकि रज्जूमर्प से इसा हुआ कोई नहीं मरता और नाही मृगतृष्णा के जल से पान स्नानादि पयोजन सिद्ध होसक्ते हैं, यह दोष इसिल्ये नहीं आता कि शङ्कारूपी विष आदि निमित्त से मरणादि देखे जात हैं, और यदि स्वप्नदर्शी पुरुष सर्प का काटना या जल स्नानादि स्वप्न में देखे तो कार्यक्प ज्ञान के सस देखने से यह पाया जाता है कि मिध्या से भी सख की पाप्ति होती है, यदि यह कहाजाय कि वह कार्य भी झूरा है तो इम कहते हैं कि यद्यपि स्वप्न के सर्प से डमा जाना आदि कार्य मिथ्या है तथापि उसका ज्ञानक्र फल जागने पर मस ही पायाजाता है स्वप्न से जागा हुआ पुरुष स्वप्नदर्शन और जल स्नानादि कार्य्य को मिथ्या मानता हुआ उनका ज्ञान भी मिथ्या है ऐसा कोई नहीं मानता, इस हेतु से स्वप्रद्रष्टा का ज्ञान अवाधित होने के कारण देहमात्र का जो आत्मवाद है वह भी खण्डन कियागया समझना चाहिये, और श्रुति भी ऐसा ही मितपादन करती है कि "जब अभिलिपत काय्यों के उपास्थित होने पर स्वप्न में स्त्री को देखे तो ऐसे स्वप्नदर्शन को शुभ समझना चाहिये " "स्वप्न में कई अनिष्टों के देखने से चिरकाल

वंदान्तार्थभाष्य

१४६

तक नहीं जीवेगा " और यह भी श्रुति कहती है "जो स्वप्न में काले दांत वाले आदमी को देखे तो वह उसको हनन करेगा " इसादि असस स्वप्न से सस मरण सुचित होता है, और कार्यकारणभाव में निपुण पण्डित लोग इस बात को अलेमकार जानते हैं कि ऐसे खप्रदर्शन का साधु तथा ऐसे का असाधु फल होता है, रेखाक्ष्पी असस अक्षर से सस अक्षर अकार।दि की माप्ति देखीजाती है, और आत्मैकल का मतिपादक सब से बड़ा प्रमाण यह है जिससे परे प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं, जैसाकि जिन मकार लोक में "यूज्ज करे" इस कंथन से यह अकांक्षा पाई जाती है कि किस मकार किससे क्या करे, वैसे "तस्त्रमसि" वाक्य से जब जीव का ब्रह्मात्मभाव बोधन किया जाता है तब किसी कतेच्य की आवश्यकता नहीं रहती "वह तु है" यह ज्ञान सब पदार्थ और आत्मा का एकल बोधन करता है, बोष पदार्थ के रहने पर आकांक्षा होती है,ब्रह्मात्मैकल से व्यतिरिक्त कोई देश पदार्थ ही नहीं जिसकी आकांक्षा कीजाय, यह नहीं कह सक्ते कि ऐसा ज्ञान नहीं होसकता, अयों कि जीव ब्रह्म का एकल कथन करने वाले श्रुति बाक्य और श्रवण मननादिकों से ऐसा ही पाया जाता है, ज्ञान के साधन श्रवणादिक और वेदपाठादिकों के विघान किये जाने से यह ज्ञान अनर्थक है अथवा भ्रभ हैं यह भी नहीं कहाजासकता, क्योंकि इसमें अज्ञानानिष्टात्तिकप फल देखा जाता है और इसका कोई बाधक ज्ञानान्तर नहीं पाया जाता, जब तक भात्मा का एकल ज्ञान न हो तब तक छौकिक तथा वैदिक न्यवहार सस वने रहते हैं, यह हम कह आये हैं, इसलिये वेदान्त ममाणमितपादित ब्रह्मात्मा के एकल से सम्पूर्ण भेदन्यवहार के वाधित होने पर अनेकात्मा वाछे ब्रह्म की करपना का अवकाश नहीं।

ननु-मिट्टी आदिकों के दृष्टान्त से ज्ञात होता है कि अस को शास्त्र परिणामी कहता है, क्योंकि मिट्टी आदि पदार्थ छोक में परिणामी मिसद हैं ? उत्तर-"वह अजर है, अमर है, अमृत्यु है,अभयं है" "आत्मा न स्थूल है न अणु है" इसादि क्रियामात्र के प्रतिषेध करने वाली श्रुतियों से ब्रह्म कुटस्थ मिद्ध होता है परिणामी नहीं और एक ब्रह्म में परिणामित तथा कूटस्थल दोनों विरोधी धर्म नहीं रहसक्ते ब्रह्म कूटस्थ रहने के कारण स्थिति और गति की भांति भी परस्पर विरुद्धधर्म बाला नहीं अर्थाद जिम मकार एक ही बाणादि पदार्थ में काल्भेद से स्थिति और गति क्रिया के पाये जाने से अनेकधर्माश्रयन्त होता है इस प्रकार एक ब्रह्म में अनेकधर्माश्रयत्व नहीं होसक्ता, क्रियामात्र का निषेध होने के कारण कूटस्थ निस बहा है यह इम कह आये हैं, इस मकार परिणाम का दर्शन किसी फल का साधक नहीं, क्योंकि ब्रह्म का परिणाम नहीं होता कूटस्थ ब्रह्म के ज्ञान से ही शास्त्र फल दिखलाता है, जैसाकि "वह यह आत्मा नहीं है" यहां से आरम्भ करके "हे जनक ! तुम निश्चित अभय को प्राप्त होगये हो " यहां तक ब्रह्म का पकरण है,इस पकरण में सर्वधर्म रहित ब्रह्म के दर्शन से फल की सिद्धि प्रतिपादन कीगई है, और जो जगदूप परिणामादि कथन किया गया है वह ब्रह्मदर्शन का उपाय होने के अभिपाय से कथन

वेदान्तार्थ्यभाष्य

किया है, क्योंकि फल वाले के सम्बन्ध में अफल भी उसके अंग के

समान होता है स्वतन्त्र नहीं, और यह भी नहीं कहाजासक्ता

कि परिणामी के विज्ञान से परिणाम वाला फल हो, क्योंकि

मोक्ष कूटस्थ निस है।

186

यहां प्रश्न यह होता है कि कूटस्थ ब्रह्मवादी के मत में न कोई ईश्वर है और न ईश्वर की सृष्टि है, इसिलये ईश्वर को कारण मानने की प्रतिज्ञा का विरोध होगा ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि अविद्या उपाधि के कारण निस शुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति लय होसक्ता है न कि जड़ मधान से, इसलिये ईश्वर से सृष्टि उत्पत्ति की प्रतिज्ञा के विरुद्ध अर्थ यहां नहीं पाया जाता "जन्माद्यस्ययतः" इम सूत्र में वह प्रतिक्रा वैसे ही है उससे विरुद्ध अर्थ प्रतिपादन नहीं किया, ननु-यह कैसे कहसक्ते हो कि यहां मतिज्ञाविरोध नहीं,क्योंकि तुम आत्मा को एक मानते हो और यह प्रतिज्ञा एक के मानने से नहीं बनसकती? उत्तर-संसारं का कारणभूत अविद्याकाल्पत नामक्रपात्मक ईश्वर की उपाधि को श्रुति स्मृति में माया, शक्ति, प्रकृति आदि नामों से कथन कियागया है और उसकी अपेक्षा से ही ईश्वर सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान कहलाता है पर वह स्वयं उससे भिन्न है, जैसाकि " बृह्म नाम रूप का आश्रय है" रूप को करूं" "सब रूपों को बनाकर नामों कहता हुआ स्थिर होता है" "एक वीज बहुत करता है " इसादि श्रीतयों में प्रतिपादन कियागया है, इस मकार अविद्याकृत नाम रूप उपाधि द्वारा घटाकाश की भांति एकडी आत्मा में ईश्वरत्व कल्पित है वास्तव नहीं, आर अविद्याकृत

उपाधि से ही ईश्वरत, सर्वज्ञत सर्वशक्तिमत और जीवेश्वर येद पतीत होता है वस्तुतः सर्वोपाधियों से रहित ब्रह्म में ईम्बरत, सर्वज्ञतादि व्यवहार नहीं, "जिस अवस्था में दूसरे को न देखता न सनता और न जानता है वह ब्रह्म है" "जहां सब उसका अपना आप है वहां कौन किसको देखे " इस मकार परमार्थावस्था में सब व्यवहारों का अभाव वेदान्त कथन करता है,इसी प्रकार भगवद्गीता में भी कहा है कि न कर्ता है, न कर्म है, न ईश्वर सृष्टि को रचता है, न कर्मफल है और न कर्मफल का संयोग है केवल स्वभाव से सब होता है" "न किसी को पुण्य लगता है न पाप, अज्ञान से ज्ञान दका हुआ है और इसी कारण सब मोह को प्राप्त होरहे हैं " इस मकार परमार्थावस्था में न कोई ईश्वर है न कोई ईशितव्य है यह दिखलाया गया है, और व्यवहार की अवस्था में तो श्रुति में भी ईश्वर आदि व्यवहार कथन किये गये हैं, "यह सर्वेश्वर है, यह भूतों का पालन करने वाला है, इन लोगों की रक्षा के लिये यह भारण रूप सेतु है" ऐसा ही भगवद्गीता में भी कथन किया है कि "हे अर्जुन ? ईश्वर सब प्राणियों के हृदयदेश में विराजमान है और अपनी यन्त्ररूप माया से सब भूतों को अमाता है " सूत्रकार ने भी परमार्थानस्था में "जगत् ब्रह्म एक है" यह कहा है और व्यवहारावस्था में तो महा

त्रभुद्र स्थानीय ब्रह्म को कथनं किया है,इस मकार प्रपञ्च को ब्रह्म का परिणाम कथन करना स्गणोपासना में उपयोग के लिये दिखलाया है ब्रह्म परिणामी है इस अभिनाय से नहीं।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रलादित्यादिषु कार-णभूताद्नहाणः कार्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वमभ्युप-गम्य नहाणो जगत्कारणत्व मुपपादितम्, इदानीं तदे-वानन्यत्वमाक्षिप्य समाधीयते :—

तत्र काणादाः पादुः-नकारणात्काय्यस्यानन्यत्वं सम्भवति विलक्षणबुद्धिबोध्यत्वात्, न खलु तन्त्रपटमृ-त्पिण्डघटादिषु कार्य्यकारणविषया बुद्धिरेकरूपा, शब्द-भेदाच, न हि तन्तवः पट इत्युच्यन्ते, पटो वा तन्तव इति, कार्यभेदाच, न हि मृतिपण्डेनोदकमाहियते घटेन वा कुड्यं निर्मीयते, कालभेदाच, पूर्वकालं च कारणस्, अपरकालं च कार्यम्, आकारभेदाच पिण्डाकारं का-रणं, कार्यं च पृथुबुध्नोदराकारं, तथा सत्यामेव मृदि घटो नष्ट इति व्यवद्वियते, संख्याभेदश्च दृश्यते वहव-स्तन्तवः एकश्च पटः, कारकव्यापारवैयर्थ्यं च, कारण-मेव चेत्कार्य्य किं कारकव्यापारसाध्यं स्यात्, सत्यपि कार्ये कार्योपयोगितया कारकव्यापारेण नोपरन्तव्यं सर्वस्य सर्वदा सत्त्वेन नित्यानित्यविभागश्च न स्यात्,

अथ काय्यं सदेव पूर्वमनभिव्यक्तं कारकव्यापारेणाभि-व्यज्यते अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वं नित्यानित्यादि-भागश्चीच्यते तदसत् अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरापेक्षत्वेऽ नवस्थानात्, अनपेक्षत्वे क्रार्घ्यस्य नित्योपलन्धिप्रस-ङ्गात्,तदुत्पत्यभ्युपगमे चासत्कार्य्यवादप्रसङ्गात , किश्व कारकव्यापारस्याभिव्यञ्जकत्वे घटार्थेन कारकव्यापारेण करकादेरप्याभेव्यक्तिः प्रसज्यते, संप्रतिपन्नाभिव्यञ्जक-भावेषु दीपादिष्वभिन्यङ्गर्यावेशेषीनयमादशेनात्, न हि घटार्थमारोपितः प्रदीपः करकादीन्नाभिव्यनिक अतोऽसतः कार्य्यस्योत्पत्तिहेतुत्वेनैव कारकव्यापारार्थे-वस्बम्, अतश्च सत्कार्यवादासिद्धः, न च नियतका-रणोपादनं सत एव कार्यत्वं साधयति कारकशक्ति नियमादेव तदुपपत्तेः।

नन्वसत्कार्यवादिनोऽपि कारकव्यापारो नोपप-द्यते प्रागुत्पतेः कार्घ्यस्यासत्त्वात्, कार्घ्यादन्यत्र कार-क्वापारेण भवितव्यं तत्राऽन्यत्वविशेषात्तन्तुगतकार-कव्यापारेण घटोत्पत्तिरिप प्रसज्यते, नैवं यत्कार्योपा-दानशक्तं यत्कारणं तद्गतकारणव्यापारेण तत्काय्योत्य-तिसिद्धेः, अत्राहुः, कारणादनन्यत्कार्य्यं, न हि पर-मार्थतः कारणव्यतिरिक्तं कार्य्य नाम वस्त्वस्ति अवि-

द्यानिबन्धनत्वात्सकलकार्यतद्वयवहारयोः, अतो यथा-कारणभृतात् मृदद्रव्याद्धटादिषु विकारेषूपलभ्यमानाद् व्यतिरिक्तंघटशरावादिकार्यं व्यवहारमात्रालम्बनं मिथ्या कारणमृतं मृद्द्रव्यमेव सत्यं, तथा निर्विशेषसन्मा-त्रात् कारणमृताद्ब्रह्मणोऽन्योऽहङ्कारादिव्यवहारालम्ब-नः कृत्स्नः प्रपञ्चो मिथ्या कारणभृतं सन्मात्रं ब्रह्मेव सत्यं, तस्मात्कारणव्यतिरिक्तं कार्य्य नास्तीति कार-णादनन्यत्कार्य्य, न च वाच्यं शुक्तिकारजतादीनामिव घटा दिकार्याणामसत्यत्वाप्रसिद्धे दृष्टान्तानुपपन्ति रिति यतस्तत्रापि श्रुत्यामृदद्रव्यमात्रमेव सत्यतया व्यवस्था-प्यते तदतिरिक्तं तु युत्तया बाध्यते, का पुनरत्र युक्तिः, मृद्द्रव्यमात्रस्यानुवर्त्तमानत्वं तदतिरिक्तस्य च व्याव-र्तमानत्वं, रज्जुसपीदिषु ह्यजुवर्तमानस्याधिष्ठानभृतस्य रज्जवादेःसत्यता व्यावर्तमानस्य च सर्पभूदलनाम्बु-धारादेरसत्यतादृष्टा तथानुवर्तमानमधिष्टानभृतं मृद् द्रव्यमेव सत्यं व्यावर्तमानास्तुघटशरावादयोऽसत्यभृताः, किश्व सत आत्मनो विनाशाभावादसतश्च शदाविषाणा-देरुपलब्ध्यभाव। दुपलब्धिविनाशयोगि कार्य सदसद्-भ्यामनिर्वचनीयमिति गम्यते, अनिर्वचनीयं च शुक्ति कारजतादिवन्मुषैव तस्य चानिर्वचनीयत्वं प्रतीति-

बाधाभ्यांसिद्धम्, किञ्च कार्यमुत्पादयत् मृदादिकारण-द्रव्यं किगविकृतमेव कार्यमुत्पादयति ? उतकञ्चनविशेषं-मापन्नं ? नतावदविकृतमुत्पादयति सर्वदोत्पादकत्व-प्रसङ्गान्नापिविशेषान्तरमापन्नं विशेषान्तरापत्तेरापि वि-रोषान्तरापत्तिपूर्वत्वेन भवितव्यं तस्या अपि तथेत्यनव-स्थानात्, अविकृतमेव देशकालानामित्तविशेषसम्बद्धं कार्यमुत्पादयतीति चेन्न देशादिविशेषसम्बन्धोऽाप ह्यविकृतस्य विशेषान्तरमापन्नस्य च पूर्वन्न सम्भवति, न च वाच्यं मृत्सुवर्णदुग्धादिभ्यो घट६चकदध्यादीना-मुत्पतिर्देश्यते शाक्तिकारजतादिवत् देशकालादिप्रति-पन्नोपाधौ बाधश्च न दृश्यते अतः प्रतीतिशरणानां कारणात्कार्य्येत्पतिरवश्याऽऽश्रयगीयेति विकल्पासह-त्वात्, किं हेगादिमात्रमेवस्वस्तिकादेरारम्भकम् ? उत रुचकादिः ? अथं रुचकाद्याश्रयो हेपादिः ? न तावद्धेमादिमारम्भकं हेमव्यतिरिंक्तस्य कार्यस्याभावात, स्वात्मानं प्रत्यात्मन आरम्भकत्वासम्भवाच, हेमव्य-तिरिक्तं स्वस्तिकं दृश्यत इति चेत् न हेमव्यतिरिक्तं तत्, हेमप्रत्यभिज्ञानात्तदतिरिक्तवस्त्वन्तरानुपलब्धेश्च, बुद्धिशब्दान्तरादि।भर्वस्त्वन्तरत्वं साधितमिति चेन्ना-निरूपितवस्त्व ऽवलम्बनानां बुद्धिशब्दान्तरादीनां शु-

क्तिकारजतबुद्धिशब्दादिवदुभ्रान्तिमूलत्वेन वस्त्वन्तर-सद्भावासाधकत्वात् ।

नापि रुचकादि स्वस्तिकादेरारम्भकं, स्वस्तिके हि रुचकं पट इव तन्वतो भवताऽपि नोपलभ्यन्ते,नापि रुचकाश्रयमृतं हेम, रुचकाश्रयाकारेण हेम्नः स्वस्तिके-ऽचुपलब्धेः,अतो मृदादिकारणातिरिक्तस्य कार्यास्यास त्वदर्शनाद्वह्यव्यतिरिक्तं कृत्स्नं जगत्कार्यत्वेन मि-थ्याभृतं, तदिदं ब्रह्मन्यतिरिक्तमिथ्यात्वसुखप्रतिप-त्तये काल्पनिकमृदादिसत्यत्वमाश्रित्य कार्यस्यासत्यत्वं प्रतिपादितं, परमार्थतस्तु मृत्सुवर्णादिकारणमपि घट-रुचकादिकार्यविन्मध्यामृतं ब्रह्मकार्यत्वाविशेषात्, " ऐतदात्म्यमिदं सर्वं " " तत्सत्यं " " नेह नानास्ति किञ्चन" "मृत्योः स मृत्युमाप्रोति य इह नानेव पश्यति " "यत्रहिद्धैतमिव भवतितादितर इतरं पश्यति" "यत्र त्वस्य सर्वमासैवाभूत्रत्केन कं पश्येत्" "इन्द्रो मायाभिः पुरुष्प ईयत"इत्येवमादिभिः श्रुतिभिश्च ब्रह्म-व्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वमवगम्यते, न चागमावगता-र्थस्य प्रत्यक्षविरोधः शङ्कनीयः, यथोक्तप्रकारेण कार्यस्य सर्वस्य मिथ्यात्वावगमात्,प्रत्यक्षस्य सन्मात्रविषयत्वाच विरोधे सत्यसम्भावितदोषस्य चरमभाविनः स्वरूपसः

द्वावादौ प्रत्यक्षाद्यपेक्षत्वेऽपि प्रमितौ निराकाङ्कसस्य निरक्काशस्य शास्त्रस्य वलीयस्त्वादतः कारणभृताद्-ब्रह्मणोऽन्यत्सर्वे मिथ्या, न च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वन जीवमिथ्यात्वमाशङ्कनीयं, ब्रह्मण एव जीवभावाद्ब्रह्मेव हि सर्वशरीरेषु जीवभावमञ्जभवति, "अनेन जीवेनात्म-नाऽनुपविश्य" "एको देवः सर्वभूतेषुगूंदः" "एको देवो बहुधा सन्निविष्टः" "एष सर्वेषु भूतेषु भूदात्मा न प्रकाशते" "नान्योऽतोस्ति द्रष्टेत्येवमादिभ्यः, नन्वेक-मेव ब्रह्म सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवतीति चेत् पादे मे वेदना शिरसि सुखिमितिवत्सर्वशरीरेषु सुखदुःखप्रतिस-न्धानं स्यात् जीवेश्वरबद्धमुक्तिशिष्याचार्येज्ञलाज्ञत्व-व्यवस्था च न स्यात्, अत्र केचिददितीयत्वं ब्रह्मणो-उभ्युपयन्त एवं समादघते एकस्यैव ब्रह्मणः प्रतिबि-म्बभूतानां जीवानां सुखिलदुः खिलादय एकस्यैव सु-सस्य प्रतिविम्बानां मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमा-नानामल्पत्वमहत्त्वमलिनत्वादिवत्तत्तदुपाविवशाद्वय -वस्थाप्यन्ते, ननु अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्येत्यादि-श्रुतेन जीवा ब्रह्मणां भिद्यन्ते इत्युक्तं, सत्यं, परमार्थतः काल्पनिकं तु भेदमाश्रित्येयं व्यवस्थोच्यते कस्य पुनः कल्पना ? न तावद्ब्रह्मणः तस्य परिशुद्धज्ञानात्मनः

कल्पनाश्यन्यत्वात् नापि जीवानाम् इतरेतराश्रयत्व-प्रसङ्गात् कल्पनाधीनो हि जीवभावो जीवाश्रया च कल्पनेति, नैतदेवम्, अविद्याजीवभावयोवीं जाङ्क्रर-न्यायेनाऽनादित्वात्, किञ्च प्रासादिनगरणादिवद्जुप-पन्नतैकवेषायामवस्तुभूतायामविद्यायां नेतरेतराश्रया-दयो वस्तुदोपा अनवल्कृप्तिमावहन्ति वस्तुतो ब्रह्माव्य-तिरिक्तानां जीवनां स्वतोविशुद्धक्तवेऽपि कृपाणादिग-तमुखप्रतिबिम्बरयामतादिवदौपाधिकाशुद्धिसम्भवाद -विद्याश्रयत्वोपपत्तेः काल्पनिकत्वोपपत्तिः, प्रतिबिम्ब-गतश्यामतादिवज्जीवगताशुद्धिरापि भ्रान्तिरेव,अन्यथा-<u>ऽनिम्मोंक्षत्वप्रसङ्गात्,जीवानां भ्रमस्य प्रवाहानादित्वाञ्च</u> तद्धेतुरन्वेषणीय इति, तदेतद्विदिताद्वैतयाथात्म्यानां भेदवादश्रद्धाळुजनसबहुमानावलोकनलिप्साविजृम्भि-तं, तथा हि जीवस्य कल्पितस्वाभाविकरूपेणाविद्याश्र-पत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात्, तदतिरिक्तेन तास्मन् कल्पितेनाकारेणाविद्याश्रयत्वे जड्स्याविद्या-श्रयत्वमुक्तं स्यात्।

न खल्बद्धैतवादिनस्तदुभयव्यतिरिक्तमाकारकम-भ्युपगच्छिन्ति, कल्पिताकारिवरिष्टेन स्वरूपेणवाबि-चाश्रयत्विमिति चेन्न स्वरूपस्याखण्डैकरसस्याविद्याम-

न्तरेणविशिष्टरूपत्वासिद्धेः, अविद्याश्रयाकार एव हि निरूप्यते, किञ्च बन्धमोक्षादिव्यवस्थासिच्धर्थे हि जी-वाज्ञानस्य समाश्रयणं सा तु व्यवस्था जीवाज्ञानपक्षे अपि न सिध्यति, अविद्याविनाश एव हि मोक्षः, तन्त्रे-कस्मिन, मुक्ते अविद्याविनाशादितरेऽपि मुच्येरन, अन्यस्याऽसुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत् तर्ह्येकस्याप्य-मुक्तिः स्यात् अविद्याया अविनष्टत्वात्. प्रतिजीवम-विद्याभेदः कल्प्यते तत्र यस्याऽविद्या नष्टा स मोक्ष्यते, यस्य त्वनष्टा स भन्तस्यत इति चेन्न प्रतिजीविमिति जीवभेदमाश्रित्य बूषे स जीवभेदः किं स्वाभाविक ? उताविद्याकिल्पतः ? न तावस्त्वाभाविकः अनभ्युप-गमात्,भेदसिच्धर्थस्यास्य चाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात्, अथाविद्याकल्पितः, तत्रेयं जीवभेदकल्पिकाऽविद्या किं ब्रह्मण ? उत जीवानां ? ब्रह्मण इति चेदागतोऽसि म-दीयं मार्गम्, अथ जीवानां किमस्या जीवभेदल्कृति-सिद्धर्थतां विस्मरसि अथ प्रतिजीवं बद्धमुक्तव्यवस्था-सिद्धर्थ या अविद्याः कल्पनते ताभिरेव जीवभेदोऽ पीति मनुपे जीवभेदिस द्रा ताः सिच्चन्ति तासु सिद्धासु जीवभेदीसिङिरितीतरेतगश्रयत्वं, न चात्र न्यायः सिद्धचित बीजाङ्करेषु ह्यन्यद्न्यद्वीजमन्यस्या-

न्यस्याङ्करस्योत्पादकम्, इह तु याभिरविद्याभिर्ये जीवाः कल्पन्ते तानेवाश्रित्य तासां सिद्धिरित्यशङ्कनीयता अथ बीजाङ्करन्यायेन पूर्वपूर्वजीवाश्रयाभिरविद्याभिरुत्त-रोत्तरजीवकल्पनां मन्यसे तथा सति जीवानां अङ्गुरत्व मकृताभ्यागमकृतप्रहाणादिप्रसङ्गश्च, अत एव नृह्मणः पूर्वपूर्वजीवाश्रयाभिरविद्याभिरुत्तरोत्तरजीवभावकल्पनः मित्यपि निरस्तम्, अविद्याप्रवाहेऽभ्युपगम्यमाने तत्त-त्कल्पितजीवभावस्यापि तद्धत्प्रवाहानादिता स्यात् न ध्रुवरूपता, आमोक्षं च जीवभावस्य ध्रुवत्विमष्टं न सिद्धयेत्, यचोक्तम् आविद्याया अवस्तुरूपत्वेनानुपप-न्नतैकवेषायां नेतरेतराश्रयत्वाढयोवस्तुदोषा अनवक्क-प्तिमावहन्तीति, तथा सति मुक्तान् परं च ब्रह्माश्रयेद-विद्याः शुद्धविद्यास्वरूपत्वादशुद्धिरूपा न तत्र प्रसज-तीति चेत्किमुपपत्त्य वर्वातन्य अविद्या ? एवं तह्यकाभि-रुपपत्तिभिर्जीवानीप नाश्रयेत, किञ्च जीवाश्रयाया अविद्यायास्तत्त्वज्ञानोदयात्राशे सति जीवो नश्यदा ? न वा ? यदि नश्येत्स्वरूपोच्छित्तिलक्षगो मोक्षः स्यात्, नोचेदविद्यानाशेप्यनिमोंक्षः,ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तजीव-त्वावस्थानात्, यज्ञोक्तं मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्य-

मानमुखमिलनत्वविमलत्वादिवच्छुद्धचशुद्धचादिव्यव-स्थोपपत्तिरिति तत्रेदं विमर्शनीयम् अल्पत्वमलिनत्वा-द्य औपाधिकाःदोषाःकदा नश्ययुरिति कृपाणाद्यपाध्य-पगम इति चेत् किं तदल्पत्वाद्याश्रयः प्रतिबिम्बः तिष्ठति न वा? तिष्टति चेत् तत्स्थानीयस्य जीवस्यापि स्थित्त्वाद-निर्मोक्षप्रसङ्गः नश्यति चेत् तद्धदेव जीवनाशात्स्वरूपो-च्छितिलक्षणो मोक्षः स्यात्, किञ्च यस्य ह्यपुरुषार्थरू-पदोषप्रतिभासः तस्य तद्दुच्छेदः पुरुषार्थः, तत्र किमौपाधिकदोषप्रतिभासी विम्बस्थानीयस्यब्रह्मणः उपप्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्य? उतान्यस्य कस्यचित्? आदचयोः कल्पयोद्देष्टान्तोऽयं न सङ्गच्छते मुसस्य मुखप्रतिबिम्बस्य चाल्पत्वादिदोषप्रतिभासश्चन्यत्वात्, न हि मुखं तत्प्रतिबिम्बं वा चेतयते ब्रह्मणोदोषप्रति-भासे ब्रह्मणो ऽविद्याश्रयत्वप्रसङ्गश्च तृतीयोऽपि कल्पो न कल्पते, जीवब्रह्मव्यतिरिक्तस्य द्रष्टुरभावात्, किश्चा-विद्याकल्प्यस्य जीवस्य कल्पकः क इति निरूपणीयं न तावद्विद्या अचेतनत्वात्, नापि जीव आत्माश्रय-दोषप्रसङ्गात, शुक्तिकारजतादिवदविद्याकल्प्यत्वाच जीवभावस्य, ब्रह्मैव कल्पकमिति चेत् ब्रह्माऽज्ञानमेवा-यातम्, किञ्च ब्रह्माज्ञानानभ्युपगमे किं ब्रह्म जीवा-

न्पश्यति? न वा ? न पश्यति चेत् ईक्षाप्रविका विचित्र-सृष्टिर्नामरूपव्याकरणमित्यादि ब्रह्मणो न स्यात्, अथ पशत्यखण्डैकरसं ब्रह्म नाविद्यामन्तरेण जीवाच् पश्य तीति ब्रह्माज्ञानप्रसङ्गः, अत एव मायाविद्याप्रविभाग-वादोऽपि निरस्तः,अज्ञानमन्तरेण हि मायिनोऽपिब्रह्मणो जीवदारीतं न स्यात् न च मायावी परानदृ मोह-यितुमलं, न च माया मायाविनोदर्शनसायनं दृष्टेषु-परेषु तन्मोहनसाधनमात्रत्वात्तंस्याः, अय ब्रह्मणो माया तस्य जीवदर्शित्वंकुर्वती जीवमोहनहेतुरिति-मन्यसे ताई परिशुद्धस्याखण्डेकरसस्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः परदर्शनं कुर्वती माया मायाऽपरपर्यायाऽविद्येवस्यात, अथ मतं, विपरीतदर्शनहेतुरविद्या, माया तु मिथ्याभृतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्यात्वेनैव दर्शयन्ती न ब्रह्मणो विपरीतदशनहेतुः अतस्तस्या नाविद्यात्वमिति नैवं, चन्द्रैकत्वे ज्ञायमाने द्विचनद्रज्ञानहेतोरप्यविद्यात्वात्, यादे च बृह्म मिथ्यात्वेनैव स्वव्यतिरिक्तं जानाति न तर्हि तन्मोहयति, न ह्यचन्मत्तो मिथ्यात्वेन ज्ञातान् मोहायितुमीहते, अथ पुरुपार्थाऽपरमार्थद्शनहेतुरविद्या, माया तु बृह्मणोनाऽपुरुपार्थदर्शनहेतुः अतोऽस्या ना-विद्यात्विमिति मतं, तन्न द्विचन्द्रज्ञानस्य दुः खहेतुत्वा-

आवेनापुरुषार्थत्वाभावेऽपि तद्धेतुरविद्येव तन्निरसने च प्रयस्यन्ती, यदि च नापुरुषार्थद्दीनकरी माया तह्येतु-च्छेद्यतया नित्या ब्रह्मस्वरूपानुवनिधनीस्यात्, अस्तु को दोष इति चेत् दैतदर्शनमेव दोषः, यत्र हि दैत-मिव भवाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन कं पश्येदि-त्याद्य रद्वेतश्रुतयः प्रकुप्येयुः परमार्थविषया अदैतश्रुतयः मायायास्त्वपरमार्थत्वादविरोध इति चेत्, अपरिच्छिन्ना-नन्दैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमाधिभृतमायादर्शनं तद्वता वाऽविद्यामन्तरेण नोपपद्यते, किञ्चापरमार्थभूतया नित्यया मायया किं प्रयोजनं ब्रह्मणो ? जीवमोहन मिति चेत् ? अपुरुषार्थेन मोहनेन किं प्रयोजनं, क्रीडेति चेत् ? अपरिच्छिन्नानन्दस्य किं क्रीडया, परिर्पूणभागा नामेव कीडा पुरुषार्थत्वेन लोके दृष्टिति चेत्? नैविमहो पपचते, न ह्यपरमार्थभूतैः क्रीडोपकरणैरपरमार्थतया प्रतिभासमानैर्निष्पन्नयाऽपरमार्थभूतया क्रीडयाऽ १र मार्थभृतेन च तत्प्रतिभासेनाचुन्मत्तानां कीडारसो निष्पद्यते।

मायाश्रयतयाऽभिमतब्रह्मात्मन्यतिरेकेणाविद्याश्रय-स्य जीवस्य कल्पनाऽसम्भवश्च पूर्ववदेव द्रष्टन्यः, अतो ब्रह्मैवानाद्यविद्याशवलं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्यदिती यत्वंब्रह्मणोऽभ्युपयद्भिरभ्युपेतव्यम्, यत्तु बन्धमोक्ष-व्यवस्था नोपपचत इति न तद्बह्याज्ञानवादिनश्चोद्यम् एकस्यैव ब्रह्मणोऽज्ञस्य स्वज्ञाननिवृत्त्या मोक्ष्यमाणत्वात् बद्धमुक्तादिन्यवस्थाया एवाभावात् न्यविहयमाणायाश्च बद्धमुक्ताशिष्याचार्यादिव्यवस्थायाः काल्पनिकत्वात् स्वप्नदर्शिन इव चैकस्यवाविद्यया सर्वकल्पनोपपत्तेः, स्वप्रदशा ह्येकेन दृष्टाः शिष्याचार्यादयः तद्विद्या-किल्पता एव, अतएव वह्नविद्याकल्पनमपि न यु-क्तिमत् पारमार्थिकी बन्धमोक्षव्यवस्था स्ववरव्यवस्था च जीवाज्ञानवादिनाऽपि नाभ्युपेयते, अपारमाथिकी त्वेकस्यैवाविद्ययोपपद्यते, प्रयोगश्चबन्धमोक्षव्यवस्थाः स्वपरव्यवस्थाश्चस्वाविद्याकित्पता अपारमार्थिकत्वा-त्स्वप्रदृष्टव्यवस्थावदिति, शरीरान्तराण्यपि मयैवात्म-वन्ति शरीरलादेतच्छरीरवत्, कार्य्यलात् जडलात्क-ल्यितत्वादा एतच्छरीवत्, विवादाध्यासितं चेतनजात-महमेव चेतनत्वात यदनहं तदचेतनं दृष्टं यथा घटः, अतः स्वपरविभागोबद्धमुक्तिशिष्याचार्यादिव्यवस्थाश्चै-कस्याविद्याकिल्पताः, द्वैतवादिनाऽपि बद्धमुक्तव्यव-स्था दुरुपपादा अतीतानां कल्पानामानन्त्यात् एकैक-स्गिन्कल्पे एकैकमुक्तावपि सर्वेषां मोक्षसम्भवादमुक्ता-

नुपपत्तेः, अनन्तत्वादात्मनाममुक्ताश्च सन्तीति चेत् किमिदमनन्तत्वम् असङ्ख्येयत्वमिति चेन्न भूयस्त्वाद-त्पज्ञैरसङ्ख्येयत्वे ऽपीश्वरस्य सर्वज्ञस्य सङ्ख्येया एव तस्या-प्यशक्यत्वे सर्वज्ञत्वं न स्यात्, आत्मनां निरसङ्ख्येय-त्वादीश्वरस्याविद्यगानसङ्ख्यावेदनाभावो नासार्वइय-मावहतीति चेन्न भिन्नत्वे सङ्ख्याविधुरत्वं नोपपद्यते आत्मानः संख्यावन्ते। भिन्नत्वात् माषसर्पपघटपटादिवत् भिन्नत्वे चात्मनां घटादिवत् जडत्वमनात्मत्वं क्षयित्वं च प्रसज्यते ब्रह्मणश्चानन्तत्वं न स्यात्,अनन्तत्वं नाम परिच्छेदरहितत्वं, भेदवादे च वस्त्वन्तराद्रिलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः परिच्छेदरहितत्वं न शक्यते वक्तुं वस्त्व-न्तरभाव एवहि वस्तुतः परिच्छेदः, वस्तुतः परिच्छिन्नस्य देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नत्वं न युज्यते वस्त्वन्तरा-द्विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छिन्ना एव हि घटादयो देशतःकालतश्च परिच्छिन्ना दृष्टा तथा सर्वे चेतनाः ब्रह्मच, वस्तुतः परिच्छिन्ना देशकालाभ्यामपि परिच्छिदयन्ते एवं च सत्यं ज्ञागमनन्त्मित्यादिभिस्सर्वप्रकारपरिच्छेद-रहितत्वं वदद्भिर्विरोधः, उत्पत्तिविनाशादयश्च जीवानां ब्रह्मणश्च प्रसज्येरन्, कालपरिच्छेद एव ह्युत्पत्तिविनाइ

भागित्वय, अत एवास्येवापरिन्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽविद्या-विज्ञाम्भितं ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तं कृत्स्नं जगत्सुखदुःख-प्रतिसन्धानव्यवस्थादयोऽपि स्वप्रव्यवस्थावद्विद्यास्वा-भाव्यादुपपचन्ते, तस्मादेकमेव नित्यसुक्तस्वप्रकाश-स्वभावमनाद्यविद्यावशाज्जगदाकारेण विवर्तते परमाधतो ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावात्तदनन्यत्वं जगत इति, अत्रोच्यते निर्विशेषस्वप्रकाशमात्रं ब्रह्मानाचिवचाति-रोहितस्वस्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्येतत्प्रकाशम्व-रूपस्य निरंशस्य प्रकाशनिर्वृत्तिरूपतिराधाने स्वरूपना-शप्रसङ्गेन तिरोधानासम्भवादिभ्यः सकलप्रमाणविरुद्धं स्ववचनविरुदं चेति पूर्वमेवोक्तं, यत्युनरुक्तं कारणव्य-तिरिक्तं कार्य्य युक्तिबाधितत्वेन शुक्तिकारजतादिवद् भ्रम इति तदयुक्तं युक्तेरभावात् ।

यत्त्ववुर्वत्तमानस्य कारणमात्रस्य सत्यत्वं व्यावर्त-मानानां घटशरावादिकार्य्याणामसत्यत्वमिति तद्य-न्यत्र दृष्टस्यान्यत्र व्यावर्तमानता न बाधिकेत्यादिभिः पूर्वमेव परिहृतम्, यच्चोपलभ्यमानत्वविनाशित्वाभ्यां सदसदिनर्वचनीयत्वेन कार्यस्य मृषात्विमिति तदसत् उपलिधिवनाशयोगो हि न मिथ्यात्वं साध्यति, किं तित्यत्वं यद्देशकालसम्बन्धितया यदुपल्रब्धं तद्देश-

कालसम्बन्धितया बाधितत्वमेव हि तस्य मिथ्यात्ये हेतुः देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयोपलब्धस्यान्यदेश-कालसम्बव्धित्वेन बाधितत्वं देशान्तरकालान्तराज्या-प्तिमात्रं साधयति न तु मिध्यात्वं, प्रतिप्रयोगश्च घटा-दिकार्य्यं सत्यं देशकालादिप्रतिपन्नोपाधावबाधितत्वात् आत्मवत्, यचोक्तं कारणस्वरूपादविकृतादिकृताच का-य्योंत्पत्तिर्ने सम्भवतीति सदसत्, देशकालादिसहका रिसमवहितात्कारणात्कारयोत्पत्तिसम्भवात्, तत्समव-धानं च विकृतस्याविकृतस्य च न सम्भवतीति यदुक्तं तद्प्ययुक्तं पूर्वमविकृतस्यैव कालादिसमवधानसम्भ-वाद विकृतत्वाविशेषात्पूर्वमपि देशकालादिसमवधानं प्रसज्यते इति चेत् न देशकालादिसमवधानस्य कारणन्तरायत्तस्यैतदायत्तत्वाभावात्, अतो देशकाला-दिसमवधानरूपविशेषमापन्नं कारणं कार्यमुत्पा-द्यतीति न किञ्चिदवहीनं, कारणस्य च कार्य प्रत्यारम्भकत्वमबाधितं दृश्यमानं न केनापि प्रकारणापन्होतुं शक्यत, यत्तु हेमादिमात्रस्य रुचकादि-कार्यस्येतदाश्रयस्य वा हेमादेरारम्भकत्वं न सम्स्व-तीति तदयुक्तं हेमादिमात्रस्यैव यथोक्तपरिकरयुक्तस्या-रम्भकत्वसम्भवात्, नचारम्भकहेमव्यतिरिक्तं कार्यं न

हरयते इति वक्तुं शक्यं हेमातिरिक्तस्य स्वस्तिकस्य दर्शनात्, बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वन्तरस्य साधित-चायं शुक्तिकारजतादिवड्रमः, त उत्पत्तिविनाशयोरन्तराले उपलभ्यमानस्य तहे-शकालसम्बन्धितया बाधादरीनात्, न चास्या उपल-ब्धबीधिका काचिदपि युक्तिर्दश्यते प्रागनुपलब्धस्व-स्तिकोपलिब्धवेलायामपि हेमप्रत्यभिज्ञा स्वस्तिकाश्रय-तया हेम्नोऽप्यनुवृत्तिरविरुद्धा,श्रुतिाभेस्तुप्रपञ्चमिथ्यात्व-साधनं पूर्वमेव निरस्तम्, यचान्यदापि प्रत्यक्षाविरोधादि प्रतिवक्तव्यं तदिप सर्व प्रविमेव सूक्तम्, यद्योक्तम् एकेनात्मना सर्वाणि शरीराण्यात्मवन्तीति तदसत्, एकस्यैव सर्वशरिषयुक्तसुखदुःखप्रातिसन्धानपसङ्गात्, सौभरिपश्वतिषु ह्यासैकत्वेनाऽनेकशरीरप्रयुक्तसुखादि-प्रतिसन्धानमेकस्य दृश्यते, न चाहमथस्य ज्ञातृत्वात्तद्भे-दात्प्रतिसन्धानाभावो नात्सभेदादिति वक्तुं शक्यम् आत्मा ज्ञातैव स चाहमर्थ एव अन्तःकरणभृतस्त्वह-इसो जडत्वात्करणत्वाच शरीरेन्द्रियादिवन्न ज्ञातेत्युप-पादितत्वात,यच शरीरत्वजडत्वकार्यत्वकल्पितत्वैस्सर्व-शरीराणामेकस्याविद्याकिल्पतत्वमुक्तं तदिप सर्वशरी-

राणामविद्याकित्पतत्वस्यैवाभावादयुक्तं तदभावश्चाबा-धितस्य सत्यतोपादानात् , यच चेतनादन्यस्य जड-त्वदर्शनात्सर्वचेतनानामनन्यत्वमुक्तं तदपि सुखदुःख-व्यवस्थया भेदोपपादनादेव निरस्तम् , यत्तु मयैवा-रमवन्ति मदविद्याकि रिपतान्यहमेव सर्वे चेतनजातिम-त्यहमर्थस्यैक्यसुपपादितं तदज्ञातस्वसिद्धान्तस्य भ्रा-न्तिजल्पितम् अहन्त्वमाद्यर्थविलक्षणं चिन्मात्रं ह्यात्मा त्वन्मते, किञ्च निर्विशेषचिन्मात्रातिरेकि सर्व मिथ्येति वदतोमोक्षार्थश्रवणादिष्रयतो निष्फराः, अविद्याकार्य-त्वात् शुक्तिकारजतादिषु रजताद्युपादानादिप्रयत्नव-न्मोक्षार्थप्रयत्नोऽपि व्यर्थः, कल्पिताचार्यायत्तज्ञानका-र्यत्वात् शुकप्रल्हादवामदेवादिप्रयत्नवत्,तत्त्वमस्यादि-वाक्यजन्यं ज्ञानं न बन्धनिवर्तकम् अविद्याकित्पतवा-क्यजन्यत्वात्स्वयमविद्यात्मकत्वात्, अविद्याकल्पितज्ञा-त्राश्रयत्वात्, कल्पिताचार्यायत्तश्रवणजन्यात्वाद्धाः स्वमः बन्धनिवर्त्तकवाक्यजन्यज्ञानवत्, किञ्च निर्विशेषचि-नमात्रं ब्रह्म मिथ्या अविद्याकार्य्यज्ञानगम्यत्वात् अवि-द्याकिरपतज्ञात्राश्रितज्ञानगम्यत्वात् अविद्याकिरपतज्ञा-नगम्यत्वाद्वा यदेवं तत्तथा,यथा स्वाप्तगन्धवनगरादिः। न च निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म स्वयं प्रकाशते येन

न प्रमाणान्तरमपेक्षते, यत्त्वात्मसाक्षिकं स्वयं प्रकाश-ज्ञानं हरयते तत्तु ज्ञेयविशेषसिद्धिरूपं ज्ञातृगतमेव हृश्यत इति पूर्वमेवोक्तं,यानि च तस्य निर्विशेषत्वसाध-नानि यौक्तिकानि ज्ञानान्युपन्यस्तानि तानि चानन्तरो-कैरविद्याकार्यत्वादित्यादिभिरनुमानैर्निरस्तानि, न च निर्विशेषस्यचिन्मात्रस्याज्ञानसाक्षित्वमहङ्कारादिजगङ्ग-मश्चोपपद्यते, साक्षित्वभ्रमादयोऽपि हि ज्ञातृविदेषगता हृष्टाः न इप्तिमात्रगताः न च तस्य प्रकाशकत्वं स्वायत्तप्रकाशता वा सिध्याते, प्रकाशो हि नाम कस्यचित्पुरुषस्य कञ्चनार्थविशेषं प्रति सिद्धिरूपो हृश्यते, तत एव हि तस्य म्वयंप्रकाशातोपपाद्यते अव-द्विरपि, नचातादशस्य निर्विशेषस्य स्वप्रकाशता सम्भवति, यः पुनस्स्वगोष्ठीष्वपरमार्थादापे परमार्थ-कार्य दृश्यत इत्युद्घोषः सोऽपि तानि कार्याणि सर्वाण्यवाधितकल्पानि व्यवहारिकसत्यानि वस्तुतस्त्व-विद्यात्मकान्येवेति स्वाभ्युपगमादेव निरस्तः।

अस्माभिरापि सर्वत्र परमार्थादेव कारणात्सर्वका-य्योत्पित्तमुपपादयाद्भः पूर्वमेव निरस्तः, न च त्वयै-पामनुभूयमानानां श्रुतिविरोधो वक्तुं शक्यते श्रुतेर-प्यविद्याकार्य्यत्वेनाविद्यात्मकत्वेन चोक्तहष्टान्तेभ्यो

विशेषाभावात्, यत्तु ब्रह्मणोऽपारमार्थिकज्ञानगम्यत्वेऽपि पश्चात्तनबाधादर्शनाद्बद्ध सत्यमेवेति तदसत् दुष्टकार-णजन्यज्ञानगम्यत्वे निश्चिते सति पश्चात्तनबाधादशंन-स्याकिश्चित्करत्वात्, तथा श्चन्यमेव तत्त्वामिति वाक्य-जन्यज्ञानस्य पश्चात्तनबाधादर्शनेऽपि दोषमूलत्वनिश्च-यादेष तदर्थस्यासत्यत्वम्, किञ्च नेह नानाऽस्ति किञ्चन विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति विज्ञानमात्रातिरिक्तस्य वस्तुजा-तस्य निषेधकत्वेन सर्वस्मात् परत्वात्पश्चात्तनबाधा-दर्शनमुच्यते शून्यमेव तत्त्वमिति तस्याप्यभावं वदत-स्तस्मात्परत्वेन पश्चात्तनबाधो दृश्यते सर्वश्चन्यताति-रे किनिषधासम्भवात्तस्यव पश्चात्तनबाधादर्शनं,दोष-यूलत्वं तु प्रत्यक्षादीनां वेदान्तजन्मनः सर्वश्यन्यज्ञान-स्याप्यविशिष्टम्, अतः सर्वे विज्ञानजातं पारमार्थिक ज्ञातृगतं स्वयं च परमार्थभूतमथेविशेषसिद्धिरूपं तत्र किञ्चिद् ज्ञानं दोषमूलं दोषश्च परमार्थः, किञ्चि निर्देषं पारमार्थिकसामग्रीजन्यमिति यावन्नाभ्युपेयते न ताव-त्सत्यामिथ्यार्थव्यवस्था लोकव्यवहारश्च सेत्स्यति, लोक-व्यवहारो हि पारमार्थिको भ्रान्तिरूपश्च पारमार्थिक-ज्ञातृगतार्थविशेषसिद्धिरूपप्रकाशपूर्वकः। निर्विशेषसन्मात्रस्य तु पारमार्थिकस्यऽपारमार्थि- कस्य च प्रतिभासादेईतुत्व सम्भवाछोकव्यवहारो न सम्भवति, यच तैर्निरिधष्ठानभ्रमासम्भवात् सर्वाध्या-साधिष्ठानस्य सन्मात्रस्य तु पारमार्थिकत्वसुक्तं तदापि दोषदेषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि पार-माथिकस्य अमोपपात्तवद्धिष्ठानापारमार्थ्येऽपि अमो-पपत्तेर्निस्तम्, अथाधिष्ठानापारमार्थ्ये न काचेद् अमो दृष्ट इति सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमवश्याश्रयणीयमिति मन्यसे हन्त तर्हि दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानाम-पारमाध्येंऽपि न कांचेदभ्रमो दृष्ट इति सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमवश्याश्रयणीयमिति मन्यसे हन्त तर्हि दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि न क-चिद्भमो दृष्ट इति दर्शनानुगुण्येन तेषामपि पारमार्थ्ये मवश्याश्रयणीयमिति न कश्चिदिशेषोऽन्यत्र तत्संर-म्भात्, यत्तु भेदपक्षेऽप्यतीतकल्पनामानन्त्यात्सर्वे-षामात्मनां मुक्तत्वेन बद्धासम्भवादद्रमुक्तव्यवस्था न सम्भवतीति तदात्मानन्त्येन परिहृतस्।

यत्त्वात्मनां भिन्नत्वे माषस्पपघटादिवत्सङ्ख्याव-त्त्वमवर्जनीयमिति तत्र घटादीनामप्यनन्तत्वात् दृष्टा-न्तः साध्यविकलस्स्यात्, दश घटास्सहस्रं माषा इति सङ्ख्यावत्त्वं दृशत इति चेत् सत्यं, तत्तु न घटादि-

स्वरूपगतमापे तु देशकालाद्युपाधिमदघटादिगतं ताहशं तु सङ्खयावत्त्वमात्मनामप्यभ्युपगच्छामः, नच तावता सर्वमुक्तिशसङ्गः, आत्मस्वरूपानन्त्यात्, य-त्त्वात्मनां भित्रत्वे घटादिवज्जङ्त्वानात्मत्वक्षायत्वप्रसङ्ग इति तद्यक्तम एकजातीयानां भेदस्य तजातीयानां जात्यन्तरीयत्वानापादनात्, न हि घटादीनां भेदस्तेषां पटत्वमापादयति, यत्तु भिन्नत्वे वस्तुतः परिच्छेदाद् देशकालाभ्यामपि परिच्छेदो ब्रह्मणः प्रसज्यत इत्यन-न्तत्वं ब्रह्मणो न सिध्यति इति, तद्युक्तं वस्तुतः परिच्छित्रानामपि देशकालपरिच्छेदस्य यूनाधिकभा-वेनानियमदर्शनोद्देशकालसम्बन्धेयत्तायाः प्रमाणान्त-रायत्तनिर्णयत्वेन ब्रह्मणः सर्वदेशकालसम्बन्धस्यापि प्रमाणान्तरादापततो विरोधाभावात् वस्तुतः परिच्छेद-मात्रादपि सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वाभावादानन्त्यासि-द्धि रिति चेत्, तद्भवतोऽप्यविद्याविलक्षणत्वं ब्रह्मणोऽभ्यु-पयतः समानम्।

अतम्मतोऽविद्याविलक्षणत्वाभ्युपगमाद्ब्रह्मणोऽपि भिन्नत्वेन भेदप्रयुक्ता दोषास्सर्वे तवापि प्रसज्येरन्, यद्यविद्याविलक्षणत्वं नाभ्युपेयते तह्यविद्यात्मकत्वमेव ब्रह्मणः स्यात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति लक्षणवाक्य- मित तत् एवापार्थकं स्यात्, भेदतत्त्वानभ्युपगमे हि स्वपक्षपरपक्ष साधनदूषणादिविवेकाभावात्सर्वमसमञ्जसं स्यात्,आनन्त्यप्रसिद्धिश्च देशकालपरिच्छेदरहितत्वमा त्रेण न वस्तुतोऽपि पच्छिदरहितत्वेन तथाविधस्य शशाविषाणायमानस्यानुपलब्धेः।

भेदवादिनस्तु सर्वचिदचिद्धस्तुशरीरत्वेन ब्रह्मण-स्सर्वप्रकारत्वात्स्वतः परतोऽपि परिच्छेदो न विद्यते, तदेवं कारणाद्विन्नस्य कार्यस्य सत्यत्वाद्बह्मकार्यं कृतस्न जगद्बह्मणोऽन्यदेवेति प्राप्ते प्रध्महे "तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः"तस्मात्परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वंजगतः आरम्भणशब्दादिभ्यः तदुपपादयद्भ्योऽवगम्यते आ-रम्भणशब्द आदिर्येषां वाक्यानां तान्यारम्भणशब्दा-दीनिवाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकत्येव सत्यं, सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदेशतबहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्र-विश्य,सन्मूलास्सौम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनाःसत्प्र-तिष्ठाः ऐतदातम्यमिदं सर्व तत्सत्यं स आत्मा तत्त्व-मसि खेतकेतो इत्येतानि प्रकरणान्तरस्थान्यप्येवञ्जा-तीयकान्यत्राभिषेतानि, एतानि हि वाक्यानि चिद-चिदात्मकस्य जगतः परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वसुपपाद यन्ति, तथा हि "स्तब्धे। प्रसुत तमादेशमप्राध्योयेनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातिमिति कृत्स्नस्य
जगतो ब्रह्मेककारणत्वं कारणात्कार्ध्यस्यानन्यत्वं चहृदि
निधाय कारणभूतबद्यविज्ञानेन कार्ध्यभूतस्य सर्वस्य
विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति कृत्स्वस्य ब्रह्मेककारणतामजानता शिष्येण कथं च भगवः स आदेश इत्यन्यज्ञानेनान्यज्ञाततासम्भवं चोदितो जगतो ब्रह्मेककारणतासुपदेश्यच् लोकिकप्रतीतिसिद्धं कारणात्कार्ध्यस्यानन्यत्वं
तावत यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्व मृण्मयं विज्ञातं
स्यादिति दर्शयित यथेकमृत्पिण्डरब्धानां घटशरावादीनां तस्मादनतिरिक्तद्रब्यतयातज्ञ्ज्ञानेनज्ञाततेत्वर्थः।

अत्र काणादवादेन कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तर-त्वमाशंक्य लोकप्रतीत्येव कारणात्कार्यस्यानन्यत्व-मुपपादयति वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति आरम्यते—आलम्यते स्पृश्यत इत्यारम्भणं "कृत्य ल्युटो बहुल" मिति कर्मणि ल्युद्, वाचो वाक् पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः, घटेनादकमाहरत्यादि वाक्षूर्वकाह्यदकाहरणादिव्यवहारः, तस्य व्यवहारस्य सिद्धये तेनैव मृद्द्वयेण पृथुबुध्नोदराकारत्वादिलक्षणो विकारः संस्थानविशेषस्तत्प्रयुक्तं च घट इत्यादि नाम- भेयं स्पृश्यते उदकाहरणादिव्यवहारविशेषसिध्यर्थं मृद्र-द्रव्यमेव संस्थानान्तरनामधेयान्तरभाग्भवति ।

अतो घटाद्यपि मृत्तिकेत्येव सत्यं मृत्तिका द्रव्यमित्येव सत्यं प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः, न तु द्रव्या-न्तरत्वन, अतस्तस्येव मृद्धिरण्यादेईव्यस्य संस्थानान्तर-भाक्त्यमात्रेणैव बुद्धिशब्दान्तरादय एवोपपद्यन्ते, य-थैकस्यैव देवदत्तस्यावस्थाविशेषेर्बालो युवा स्थविर इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्य्यविशेषाश्च दृश्यन्ते-यदुक्तं सत्यामेव मृदि घटे। नष्ट इति व्यवहारात्कारणा-दन्यत्कार्यमिति तदुत्पत्तिविनाशादीनां कारणभूतस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषत्वाभ्यपगमादेव परिहृतं तत्तद्वस्थ-स्यैकस्येव तस्येव द्रव्यस्य ते ते शब्दास्तानि तानि च कार्याणीति युक्तं द्रव्यस्य तत्तद्वस्थत्वं कारकव्यापा-रायत्तमिति तस्यार्थ वत्त्वम्, अभिव्यत्तयनुबन्धीाने चोद्यानि तस्या अनभ्युपगमदेव परिहृतानि, उत्पत्त्य-भ्यपगमेऽपि सःकार्यवादो न विरुध्यते सत एवोत्पत्तः विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते पूर्वमेव सत्तदुत्पद्यते चेति अज्ञातोत्पत्तिविनाशयायातम्यस्येदं चोद्यं द्रव्यस्योत्तरोत्तर संस्थानयोगः पूर्वपूर्वसंस्थानसंस्थितस्य विनादाः स्वा-वस्थस्यतुत्पत्तिः, अतः सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य सत्त्वात्स-

त्कार्यवादो न विरुध्यते, संस्थानस्यासत उत्पत्तावस-त्कार्यवादप्रसङ्ग इति चेत् असत्कार्यवादिनोऽप्युत्पत्ते रवुत्पत्तिमत्त्वेसत्कार्यवादप्रसङ्गः,उत्पात्तमत्त्वे चानवंस्था, अस्माकं त्ववस्थानां पृथक्प्रतिएत्तिकार्घ्ययोगानईत्वादव स्थावत एवोत्पत्त्यादिकं सर्वमिति निखदां,कपालत्वचूर्ण-त्वपिण्डत्वावस्थाप्रहाणेन घटत्वावस्थावेदकत्वावस्थाप्रहा-णेन बहुत्वावस्था,तत्प्रहाणेनैकत्वावस्थाचेति न कश्चिदि-रोधः,तथा सदेव सौम्येदमप्र आसीदेकमेवाद्वितीयामिति सदेवेदम्इदानीम् विभक्तनामरूपत्वेन नानारूपंज्यदे-कम् अग्रे नामरूपविभागाभावेनैकमेवासीत्,सर्वशक्तित्वे नाष्ठात्रन्तरासहतयाऽद्वितीयं चेत्यनन्यत्वमेवोपपादितं त था तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति सक्ष्यमाणतेजः प्रभृतिवि-विधविचित्रीस्थरत्रसरूपजगत्त्वेनात्मनोबहुभवनं संक-ल्प जगत्सर्गाभिधानात् कार्यभृतस्य जगतः परमका-रणात्परस्माद्ब्रह्माणोऽनन्यत्वमवसीयते सच्छब्दवाच्य-स्य परस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य सत्यसंकल्पस्य निखच-स्यैव सदेवेदामिति निर्देशाईजगत्त्वं सच्छब्दवाच्यस्य च जगतोनामरूपविभागाभावेनैकत्वमद्भितीयत्वमिष्ठा -त्रन्तरानपेक्षत्वं पुनरपि तस्यैव विविधाविचित्रस्थिरत्रस-रूपजगत्त्वेन बहुभवनसंकल्परूपेक्षणं यथासंकल्पं

सर्गञ्च कथमुपपद्यत इत्याशङ्कचाह सेयं देवतेक्षत इन्ताइमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुपन विश्य नामरूपे व्याकरवाणीति" तासां त्रिवृतं त्रिवृ-तिमत्यादि तिस्रो देवता इति कृत्स्नमिचद्रस्तु निर्द्धिश्य स्वात्मकजीवानुप्रवेशेनैतद्धि चित्रनामरूपभाकरवाणी -त्युक्तम्, अनेन जीवेनात्मना मदात्मकजीवेनात्मतया अनुप्रविरेयतिद्विचित्रनामरूपभाकरवाणीत्यर्थः, स्वात्म-नो जीवस्य चात्मतयाऽनुप्रवेशकृतं नामरूपभाक्त्वमि-खुक्तं भवति,तत्सृङ्घा तदेवानुपाविशत्तदनुपविश्य सञ्च त्यचाभवदिति श्रुत्यन्तरेण स्पष्टं सजीवं जगत्परेण ब्रह्मणाऽऽत्मतयाऽनुप्रविष्टमिति तदेतत्कार्यावस्थस्य च कारणावस्थस्य च चिदचिद्रस्तुनः सकलस्य स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्मशारीरत्वं, परस्य च ब्रह्मण आत्मत्वम-न्तय्योमित्रह्मणादिषु सिद्धं स्मारितम्, अनेन पूर्वोक्ता शङ्का निरस्ता, अचिद्रस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयाऽ वस्थिते नामरूपव्याकरणवचनाचिद्चिद्रस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जंगच्छब्दवाच्यमिति सदेवेदमग्र एकमेवासी-दित्यादि सर्वमुपपन्नतरं शरीरभूतचिदचिदस्तुगताः सर्वविकाराश्चपुरुषार्थाश्चेति ब्रह्मणो निरवद्यत्वं कल्या-णगुणाकरत्वं च सुस्थितम्।

तदेत "दिधकंतुभेदिनिईशा" दित्यनन्तरमेव-वक्ष्यति, तथा " ऐतदात्म्यमिदं सर्व " इति कृत्स्नस्य चेतनाचेतनस्य ब्रह्मतादात्म्यमुपदिशति, तदेव च तत्त्वमसीति निगमयति तथा प्रकरणान्तरस्थेष्वाप मते विज्ञात इदं सर्वे विदितम्, इदं सर्वे यदयमात्मा ब्रह्मेवेदं सर्वमात्मेवेदं सर्वमित्यनन्यत्वं प्रतीयते, तथाऽ-न्यत्वं च निषिध्यते "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्व वेद, नेह नानाऽस्ति किंचन, मृत्योः स मृत्युमाप्रोति य इह नानेव पश्यतीति, तथा "यत्र हि दैतिमव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदित्यविदुषो दैतद्शनं विदुषश्चादैतद्शनं प्र-तिपादयदनन्यत्वमेव तात्त्विकमिति प्रतिपादयति,तदे-वमारम्भणशब्दादिम्योजगतः परमकारणात्परस्माद्रब्र-ह्मणोऽनन्यत्वमुपपाद्यते, अत्रेदं तत्त्वं चिद्चिद्धस्तु-शरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्व-शब्दाभिधेयं तत्कदाचित्स्वस्मात्स्वशारीरतयाऽपि पृथग्व्यपदेशानई-सूक्ष्मदशापन्नचिद्चिद्धस्तुशरीरं तत्कारणावस्थं ब्रह्म कदाचिच विभक्तनामरूपव्यवहार्राहस्थूलद्शापन्नचि-दचिद्रस्तुशरीरं, तच कार्यावस्थमिति कारणात्परस्मा- द्वसणः कार्यक्षं जगदनन्यत् शरीरभूत विद्विद्व त्तुनः श्ररिणो ब्रह्मणश्च कारणावस्थायां कार्यावस्था-णां च श्रुतिशतसिद्धाया स्वभावव्यवस्थाया गुणदोष-व्यवस्था च " नतु दृष्टान्तभावात्" इत्यत्रोक्ता ।

ये तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्या-त्वाश्रयणेन वर्णयन्ति न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिच्यति सत्यमिश्यार्थयोरेक्याजुपपत्तः,तथा सति ब्रह्मण-मिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वं वा स्यात्, ये च कार्यमपि पारमाथिकमम्युपयन्त एव जीवब्रह्मणोरौपाधिकमन्यत्वं स्वाभाविकं चानन्यत्वम् अचिद्ब्रह्मणोस्तु द्वयमपि स्वाभाविकमिति वदान्त तेषामुपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तव-स्त्वन्तराभावान्निरवयवस्थााखण्डितस्य ब्रह्मण एवोपाधि सम्बन्धाद्ब्रह्मस्वरूपस्यैव हेयाकारपरिणामाच शांक्तपरि-णामाम्युपगमे शक्तिब्रह्मणोरनन्यत्वाच जीवब्रह्मणोः कम्भेवश्यत्वापहतपाप्मत्वादिव्यवस्थावादिन्योऽचिद्ब् -द्यणोश्च परिणामापरिणामवादिन्यः श्रुतयो व्याकुप्पेयुः, पुनर्निरस्तनि खिलभोक्त लादिसमस्तविकलपविष्ठवं सर्वशक्तियुक्तं सन्मात्रद्रव्यमेव कारणं ब्रह्म तच्च प्रलयः वेलायां शान्ताशेषसुखदुःखानुभवंविशेषं स्वप्रकाशमः पि धुत्रात्मवदिचिद्रलक्षणमवस्थितं सृष्टिवेलायां मृत्ति-

काद्रव्यमिव घटशरावादिरूपं समुद्र इव च फेनतर-ङ्गबुद्धदादिरूपो भोक्तमोग्यानयनतृरूपेणांश त्रयावस्थ मवतिष्ठते, अतो भोक्तृत्वभोग्यत्वानियन्तृत्वानि तत्प-युक्ताश्च गुणदोषाः शरावत्वघटत्वमाणकत्ववत्तद्गत-कार्यभेदवच व्यवतिष्ठन्ते, भोक्तभोग्यनियन्तृणां सदा त्मनैकत्वं च घटशरावमणिकादीनां मृदात्मनैकत्ववदुप-पद्यते, अतस्सन्मात्रमेव द्रव्यंसर्वावस्थावास्थतमिति ब्रह्मणोऽनन्यज्जगदातिष्ठन्ते, तेषां सकलश्रुतिस्मृतीति-हासपुराणन्यायविरोधः, सर्वा हि श्रुतयस्सस्मृतीतिहा-सपुराणास्सर्वेश्वरेश्वरं सदैव सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सत्य-संकल्पं निखद्यं देशकालाविच्छन्नानविधकातिश-यानन्दं परमकारणं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, न पुनरी-श्वरादिप परमीश्वरांशि सन्मात्रं, तथा हि सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवादितीयं तदेश्वत बहुस्यां प्रजायेयेति, ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्नव्यभवत् तच्छ्रेयोरूमत्यसृजत् क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो सुत्यु-रीशान इति, आत्मा वा इदमेकमेवाप्र आसीत् नान्य-त्किञ्चनमिषत्स ऐक्षत लोकान्तु सृजा इति, एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावा-पृथिवी न नक्षत्राणि नापो नामिर्न सोमो न सूर्यः स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तस्थस्येत्यादिभिः परमकारणं सर्वेश्वरेश्वरो नारायण एवेत्यवगम्यते, सद्-ब्रह्मात्मशब्दा हि तुल्यप्रकरणस्थास्त चुल्यप्रकरणस्थेन नारायण-शब्देन विशेषितास्तमेवावगमयन्ति, तमी-श्वराणां परमं महेश्वरं तद्देवतानां परमं च देवतं, स कारणं करणाधिपाधिपो न तस्य कश्चिजनिता न चाधिप" इतिश्वरस्यैव कारणत्वं श्रूयते, स्मृतिरिप मानवी "ततः स्वयम्सूर्भगवानिति, प्रकृत्य 'सोऽभि-ध्याय शरीरात्स्वात्सिसृद्धार्वेविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तास्र वीजमवासृजदिति" इतिहासपुराणा-न्यपि पुरुषोत्तममेव परमकारणमभिद्धति"नारायणो जगन्मूर्तिरमन्तात्मा सनातनः । स सिसृश्चः सहस्रां-शादसृजत्पुरुषान् द्विधा। विष्णोः सकाशादुदूतं जगत्त-त्रैव च स्थित" मित्यादिषु, न चेश्वरः सन्मात्रमोति वक्तं राक्यं तस्य तदंशवाभ्यपगमात्सविशेषत्वाच, न च तस्य ज्ञानानन्दाचनन्तकल्याणग्रणयोगःकादाचित्क इति वक्तं शक्यते, तेषां स्वाभाविकत्वेन सदातनत्वात् पराऽस्य शक्तिविविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-

किया च, यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिभ्यः ज्ञानानन्दा-दिशक्तियोग एवास्य स्वाभाविक इति मा वोचः शक्तिसस्वाभाविकी ज्ञानबलिकया च स्वाभाविकीति पृथक्विदेशालक्षणाप्रसङ्गाच ।

न च पाचकादिवत्सर्वज्ञ इत्यादिषु शक्तिमात्रे कुत्प्रत्यय इति वक्तं शक्य कृत्प्रत्ययमात्रस्य शक्तावस्मर-णात्, "शक्ती हस्तिकपाटयो" रित्यादिषु केषांचिदेव कृत्प्रत्ययानां शक्तिविषयत्वस्मरणात्, पाचकादिषु त्व-गत्या लक्षणा समाश्रीयते, किञ्चेश्वरस्य तदंशविशे-षत्वात्तस्य चांशित्वे तरङ्गात्समुद्रस्येवांशादंशिनोऽधिक-त्वात् तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, न तत्समश्चाभ्य-धिकश्च दृश्यत इत्यादीनीश्वरविषयाणि परःशतानि वचांसि बाध्येरन्, किञ्च सन्मात्रस्य सर्वात्मकत्वेंऽशित्वे चेश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य सर्वात्मकत्वांशित्वोपदेश व्याहन्येरन्, न हि माणिकात्मकत्वं तदंशत्वं वा घट-शरावादेः स्वांशेषु सर्वेषु सन्मात्रस्य पूर्णत्वेनश्वरांशेऽपि तस्य पूर्णत्वात्तदात्मकानि तदंशाश्चेतराणि वस्तुनीति चेत् न घटेऽपि सन्मात्रस्य पूर्णत्वादीश्वरस्यापि घटा-त्मकत्वात्तदंशत्वप्रसङ्गात्, नच सन्मात्रस्य घटोऽस्ति पटोऽस्तीति वस्तुधर्मतयाऽवगतस्य द्रव्यत्वं कारणत्वं स्योग्यता तद्वयवहारयोग्यस्यासत्त्वं द्रव्यमेव सादित्य-रयोग्यता तद्वयवहारयोग्यस्यासत्त्वं द्रव्यमेव सादित्य-रखपगमेकियादीनामसत्त्वप्रसङ्गः, कियादिषु काशक-शावलम्बनेऽपि सर्वत्रेकरूपा सत्ता दुरुपपादा सदा-त्मना च सर्वस्याभिन्नत्वे सर्वज्ञत्वेन सर्वस्वभावप्रति-सन्धानात्स्वयुणदोषसंकरप्रसङ्गश्च पूर्वमेवोक्तः, अतो यथोक्तप्रकारमेवानन्यत्वस्, अथोच्यते एकस्यैवाव-स्थान्तरयोगेऽपि बुद्धिशब्दान्तरादयो बालत्वयुवत्वादिषु हश्यन्ते मृहारुहिरण्यादिषु द्रव्यान्तग्त्वेऽपि हश्यन्ते तत्र मृद्धाटादिषु कार्यकारणेषु बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्था निबन्धना एवति क्रतो निर्णीयत इति ॥ श्रीप्था

अर्थ-"सृष्टि से प्रथम असत् था, ऐसा मत कहो, क्यों कि कार्य्य कारण के समान लक्षण रूप नियम का निषेध पाया-जाता है" इसादि सूत्रों में कारण रूप ब्रह्म से कार्य्य प्रण जगद का अनन्यत्व स्वीकार करके ब्रह्म जगद का कारण प्रतिपादन किया गया है, अब वही एकत्व शंका करके समाधान किया जाता है, इस विषय में कष्माद मतानुयायियों का कथन है कि कारण से कार्य्य भित्र है क्यों कि(१) कार्य विलक्षण बुद्धि द्वारा जाना जाता है जैसाकि तन्तुओं की भिन्न प्रकार की प्रतीति है और कपड़े की भिन्न प्रकार की, वैसे ही मिट्टी और घट में भी भिन्न २ प्रतीति पाई जाती है (२) नाम भेद्ध होने से भी कार्य्य कारण का भिन्न २ शब्दों द्वारा प्रयोग

भूमिका

कियाजाता है जैसाकि तन्तु पट नहीं कहे जाते और पट तन्तु नहीं कहाजाता (१) कार्यमेंद से, जैसे मिट्टी के पिण्ड से जल नहीं स्नाया जासक्ता न घरों से दीवार वन पक्ती है (४) समयभेद से, जैसे प्रथम कारण पश्चात कार्य्य होता है (५) आकारभेद से,जैसे घट के कारण मृत्पिण्ड और घट की आकृति का परस्पर यद है (६) संख्याभेद से, जैसे तन्तु अनेक और पट एक है (9) कर्तृब्लाचार के व्यर्थ होने से अर्थाद कार्य कारण एक हो तो कर्चा के व्यापार का क्या प्रयोजन । यदि यह कहाजाय कि कार्य्य के होने पर भी उपयोगी होने के कारण कर्चा के व्यापार की आवश्यकता है वी सदा ही व्यापार होना चाहिये, और दूसरी बात यह है कि पह निस है और यह अनिस है ऐसा विभाग भी सत्कार्यवाद में नहीं होसक्ता, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य्य कारण की प्रथक सना नहीं पाई जाती, यदि यह कहाजाय कि कार्य्य सत् ही था कारक क्यापार से केवल पकट किया गया इसलिये कर्जा के व्यापार की आवश्यकता है और निसानिस का विभाग आविर्भाव तथा तिरी-भाव के अभिमाय से बनसक्ता है ? यह शंका भी ठीक नहीं, क्योंकि एक कार्य्य का प्रकट होना दूसरे कार्य्य पर निर्भर करता है और दूसरा तीमरे पर, इस प्रकार अनवस्था दोष लगेगा, यदि दूसरे की आक्दयकता के विना ही कार्य पकट होजाय तो सदैव कार्य की मतीति होनी चाहिये, और कार्य की उत्पांत मानने पर असत्कार्य वाद ममङ्ग लगेगा, इससे अतिरिक्त यह दोष है कि यदि कारक के व्यापार को दीपादिकों की भांति कार्य्य का अभिव्यञ्जक मार्ने तो घट के लिये जो कारक व्यापार है उनम करकादिकों की भी अभिन्यिक होनी चाहिये, क्योंकि उभयवादी सिद्ध जो दीपादि अभिन्यअक हैं उनमें यह नहीं देखाजाता कि घट के लिये रसा

वेदान्सार्थभाष्य

हुआ दीपक दूसरी बस्तुओं का प्रकाश न करे, असत्कार्य की उत्पत्ति मानने पर ही कर्त्ता का न्यापार अर्थ वाला होसक्ता है अन्यया नहीं, इसिछिये असत्कार्यवाद का मानना ही ठीक है, बदि यह कहो कि नियत कारण से उत्पन्न होना सत्कार्यवाद को सिद्ध करता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उसी कारण में एक विशेषशक्ति है जिससे नियत कारण का नियम बनसक्ता है, ननु-असरकार्यवादी के यत में भी कर्त्ता का व्यापार व्यर्थ है, क्योंकि जब उत्पत्ति से प्रथम कार्य्य विद्यमान ही नहीं तो फिर कर्ता किसके खिये प्रयत्न करे, यदि कही कि विना ही कार्य से कारक का व्यापार अर्थ वाला होसक्ता है तो तन्तुओं के व्यापार से भी घट की उत्पत्ति होजानी चाहिये ? उत्तर-जो कारण जिस कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति रखता है उसी कारण में क्रिया करने से वह कार्य उत्पन्न होता है, इसलिये तन्तु व्यापार से घट उत्पन्न नहीं होसका, इस विषयमें अद्वैतवादियों का कथन है कि कारण से कार्य भिषा नहीं कार्य्य का कारण से भिन्न मतीत होना केवल अविद्या से है, इसिंखिये जैसे अपने कारण मिट्टी से घटादि पदार्थ भिन्न नहीं केवल व्यवहार मात्र भिन्न मतीत होते हैं और वह मतीति मिध्या है कारण रूप मिट्टी ही सस है, इसी प्रकार निर्विशेष सन्मात्र कारणक्प ब्रह्म से यह सम्पूर्ण मपञ्ज भिन्न नहीं, भिन्न मतीति मिध्या है केवल कारणक्य ब्रह्म ही सस है, इसलिये कारण से भिन्न कार्य्य नहीं, इस प्रकार कार्य्यकारण का अभेद है, और शक्तरजतादिकों की भांति घटादि काय्यों की पायेजाने के कारण दृष्टान्त की उपपत्ति नहीं होसक्ती, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि युक्ति से घटादि काय्यों में मृत्तिका ही सस सिद्ध होती है घटादिकार्य द्रव्य नहीं,क्योंकि उनका शुक्तिरजत

की भांति बाध पायाजाता है अर्थाद जिसमकार रज्जु आदिक अधिष्ठान में सर्पादिक भ्रमकाल में प्रतीत होते हैं परन्तु अधिष्ठानरूप रज्जु आदि पदार्थों की स्थिति दोनों अवस्थाओं में समान बनी रहती है इसी प्रकार कार्यावस्था में भी ज्यों का त्यों बना रहने से प्रतिकाद्धप कारण द्रव्य ही सस है रज्जुसर्पादिकों की भांति कार्यकाल में प्रतीयमान घटादि कार्यद्रव्य मिध्या हैं, इसल्पिं ह्यान्त की अनुपपत्ति नहीं होसक्ती।

दूसरी बात यह है कि बिनाश न होने से आत्मा सब्स और उपलब्धि न होने से शश्युङ्गादि असय कहलाते हैं पर जिसकी उपलब्धि, विनाश दोनों पायेजायं वह सद असद से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय होता है और जो अनिर्वचनीय हो वह श्रुक्तिरजत की भांति मिथ्या होता है, कार्य्य के मिथ्या होने में और तर्क यह है कि कार्य्य को उत्पन्न हुआ करता मृदादि कारण अपने आप अविकारी रहता है वा किसी विकारविशेष को माप्त होता है? यदि प्रथमपक्ष मानें तो सर्वदा कार्य्य की उत्पत्त होनी चाहिये और यदि दूसरा पक्ष मानें तो उस विकार विशेष को विशेषान्तर की आवश्यकता वने रहने से अनवस्था होगी, यदि यह कहो कि अविकारी कारण ही देशकालादि निमित्तविशेष के सम्बन्ध से कार्य को उत्पन्न करता है तो भी ठीक नहीं क्योंकि वह सम्बन्ध प्रथम ही विद्यमान था फिर कार्योंत्पत्ति के पूर्वक्षण में भी क्यों नहीं उत्पन्न होता, इससे स्पष्ट है कि कार्य्य वाणी का आरम्भमात्र है।

ननु-मिट्टी, सुवर्ण, दुग्धादिकों से घट, भूषण, दिध आदिकों की उत्पत्ति देखी जाती है परन्तु मतीति वाले देश काल वस्तु में बाध नहीं पाया जाता, इसलिये अनिवचनीयवादी की

उत्पत्ति अवस्य माननी चाहियें ? यह आशङ्का इसलिये ठीक नहीं कि इसका विकल्प से खण्डन होजाता है, यह विकल्प इसमकार है कि सुवर्णमात्र स्वस्तिकादि कार्य का आरम्भक है अथवा रुचकादि का आश्रय सुवर्णादि आरम्भक है? सुवर्णादि आरम्भक नहीं कहेजासक्ते, क्योंकि सुवर्णादि से भिन्न कार्य की सत्ता का कथन सर्वथा असम्भव है, यदि यह कहाजाय कि सुवर्ण से भिन्न रुचकादि कार्य्य वस्तुतः उपलब्ध नहीं होते, बह कथन भी समीचीन नहीं,क्योंकि रुचकादि में भी सुवर्ण की प्रतीति निराबाध पाई जाती है वस्त्वन्तर की नहीं, और जो यह कहा था कि कार्य्य कारण में भिन्न र बुद्धि होने पर वह दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं ? इसका उत्तर यह है कि भिन्न २ मकार की बुद्धि शक्तिं रजता-दिकों की भांति बनसक्ती है इससे कार्य्य की सत्यता सिद्ध नहीं होती और नाही रुचकादि स्वस्तिकादिकों के आरम्भक होसक्ते हैं, क्योंकि वस्त्र में तन्तुओं की भांति स्वस्तिक में रुचक उपलब्ध नहीं होता और तीसरा पक्ष इसिलिये ठीक नहीं कि रुचक के आश्रय बाला सुवर्ण स्वस्तिक में नहीं पाया जाता, इस मकार के विकल्पों से सिद्ध है कि मृत्तिका, सुवर्ण आदि कारणों से अतिरिक्त कार्य्य की असत्यता पाये जाने के कारण बहा से भिन्न सम्पूर्ण जगत मिध्या है, अतएव ब्रह्मातिरिक्त वस्तुमात्र के भिथ्यात्व को सुगम रीति से समझाने के लिये मिट्टी आदि का कल्पित ससल आश्रयण करके कार्य की असस कहागया है वस्तुतः मिट्टी सुवर्णादि कारण भी घटादिकों की भांति ब्रह्मातिरिक्त सत्ता वाले न होने से मिथ्या हैं, "यह सब आत्मा का भाव है, वह सत्य है" "यहां नानापन कुछ नहीं " "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त है जो ब्रह्म में

नानापन देखता है " "जिस अवस्था में दैत होता है वहां एक दूसरे को देखता, सुनता है" "जहां इसका सब अपना आप है वहां कीन किसको देखे सुने " " ब्रह्म ही अपनी माया से अनेक रूप होगया है " इसादि श्रुतियों से भी ब्रह्मानिरिक्त सब मिध्या पाया जाता है, इस वेदार्थ में यह शंका ठीक नहीं कि मसक्ष से कार्य की ससता पाई जाती है, क्योंकि उक्त प्रकार से कार्य्य का मिध्यात्व सिद्ध है, और मसक्ष भी सन्मात्र की ही प्रतीति वतलाता है, यदि विरोध माना भी जाय तो आप्तोक्त होने के कारण जिसमें दोष की सम्भावना नहीं की जासक्ती ऐसा जो शब्द प्रमाण उसको अपने स्वरूप की सिद्धि के लिये प्रसादिकों की आवश्यकता होने पर भी अपने विषय में प्रमा को उत्पन्न करने के लिये निरकांक्ष होने के कारण शास्त्र प्रमाण बिलिष्ट है, इसिलिये कारण ब्रह्म से भिन्न सब मिथ्या है, यदि यह कहो कि प्रपञ्च मिथ्या होने के कारण जीव भी मिथ्या है? सो ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म ही सब शरीरों में जीवभाव को अनुभव कर रहा है, जैसाकि 'ब्रह्म ने ही जीव होकर प्रवेश किया" "एक देव ही सब तत्वों में छिपा हुआ है" "उससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं " इसादि श्रीतयों से ब्रह्म का ही जीव बनजाना पाया जाता है, ननु-यदि ब्रह्म ही सब शरीरों में जीवभाव को अनुभव कर रहा है तो जसे एक शरीर वाले जीव को यह प्रतीति होती है कि मरे पाउं में पीड़ा है जिसर में नहीं, इस प्रकार सब शरीरों के मुख दुःख का ज्ञान होना चाहिये, और ब्रह्म के ही सब स्थानों में जीव होने से वद, मुक्त, शिष्य, गुरू, ज्ञानी, अज्ञानी

आदिकों की व्यवस्था न रहेगी, क्योंकि सब जीव ब्रह्म का स्वरूप हैं फिर कौन बद्ध कौन मुक्त कहाजाय ? इस प्रश्न का कई एक अद्वेतवादी यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्म के प्रतिबिम्ब इए जीवों के सुखित दुःखितादि धर्म हैं, जैसाकि एक मुख के प्रतिविन्दों का छोटापन बड़ापन, मलीन तथा स्वच्छता आदि मणि कृपाणादि वद्य से प्रतीत होते हैं,ननु-"इस जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप को करूँ "इसादि श्रुतियों से यह कथन कर आये हैं कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं, फिर उपाधिभेद से व्यवस्था कैसे होसकेगी ? उत्तर-वस्तुतः ऐसा ही है परन्तु कल्पित भेद को मानकर सुख दुःख की व्यवस्था कही गई है, यहां पर प्रश्न यह होता है कि किसकी कल्पना ? शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तो कल्पना शुन्य होने के कारण उसकी कल्पना कथन करना तो सर्वथा अमुद्रत है और जीवों की कल्पना में यह दोष है कि कल्पना हो सो जीवभाव बने और जीवभाव हो तो कल्पना बनसके, इस प्रकार परस्पराश्रयदोष लगने से दूसरा पक्ष भी समीचीन नहीं ? इसका उत्तर यह है कि वीजाङ्करन्याय की भांति अविद्या तथा जीवभाव अनादि होने के कारण परस्पराश्रयदोष नहीं आता, इसलिये जीवों की कल्पना मानने में कोई बाधा नहीं अर्थात् नानाक्प बाली अवस्तुभूत अविद्या में गृह और स्तम्भ की भांति परस्पराश्रयादि दोष नहीं आते वास्तव में ब्रह्म से व्यतिरिक्त जीव स्वभाव से शुद्ध होने पर भी तलवार में प्रतिविम्वत मुख क्यामतादि की भांति औपाांधक अश्रोद्ध से कल्पना बनमक्ती है, क्योंकि प्रतिविम्ब गत क्यामतादि की भांति जीवगत अधिद्ध भी भ्रान्ति है, यदि ऐसा न पानें तो मोक्ष न बनमकेगा, और जीवों का भ्रमस्प मवाह अनादि

भूमिका

होने के कारण भ्रान्ति का मूल ढूंढना ठीक नहीं, अब आगे का पूर्वपक्ष अद्वेतवाद को न समझे हुए भेदवादियों की ओर से किया जाता है कि जीव को कल्पित स्वाभाविक रूप से अविद्या का आश्रय यानने पर ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय सिद्ध हुआ और ब्रह्म भिन्न कल्पित आकार से अविद्याश्रय मानने पर जड़ ही अविद्या-श्रय मानना पड़ेगा परन्तु अद्वैतवादी लोग चिदूप अचिदूप उक्त दोनों से पृथक् कोई आकार नहीं मानते, यदि यह कहाजाय कि कालिपताकार विशिष्ट रूप से अविद्याश्रयत्व है तो ठीक नहीं, क्योंकि अविद्या से विना अखण्डेकरस खद्भप के विशिष्ट दूप की सिद्धिन होसकने के कारण उसके विशिष्टक्य को ही अविद्याश्रया-कार कथन कियागया है इसके अतिरिक्त यह भी है कि अद्वैतवादी लोग बन्ध मोक्ष की व्यवस्था सिद्धि के लिये अज्ञान को जीवाश्रित मानते हैं पर यह व्यवस्था जीव के अज्ञानी मानने पर भी नहीं बनसक्ती, क्योंकि यह लोग अविद्या के नाश को ही मुक्ति मानते हैं तब एक के मुक्त होने पर ओरों को भी मुक्ति होनी चाहिये, यदि यह कहाजाय कि अन्यों के मुक्त न होने के कारण अविद्या बनी रहती है तो एक की भी मुक्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि बन्ध का कारण अविद्या बनी हुई है, यदि यह कहें कि प्रसेक जीव की अविद्या पृथक् २ है जिसकी अविद्या का नाश होगा वह मुक्त होजायगा और जिसकी बनी रहेगी वह बद्ध रहेगा, यहां प्रष्टुच्य यह है कि यह भेद खाभाविक है वा अविद्या करिएत ? खाभाविक इसिलिये नहीं कहसक्ते कि जीवों के भेद के लिये जो अविद्या कल्पना कीगई है वह व्यर्थ होजायगी, यदि यहं कहो कि वह भेद अविद्या कल्पित है तो प्रश्न यह है कि भेद की कल्पना करने वाली अविद्या ब्रह्म

वेदान्सार्यभाष्य

की है वा जीवों की ? यदि बहा की है तो हमारी ही बात याननी पड़ी कि एक अविद्या के नाश होने से सब की मुक्ति होजानी चाहिये, यदि जीवों की है तो पथम जीव हों तो उनके आश्रित अविद्या बने और अविद्या हो तो जीवों का भेद होसके यह इतरेत-राश्रय दोष सर्वथा अवार्य बना रहेगा, यदि यह कहाजाय कि बीजांकुर की भांति उक्त दोष नहीं होसकता अथाद जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज इसमकार आविद्या से जीव और जीव से अविद्या होना सम्भव है, यह इसिलये ठीक नहीं कि वीजांकुर न्याय में तो जिस बीज से जो इक्ष होता है उससे फिर वही बीज नहीं होता किन्तु दूसरा होता है और यहां तो जिस अविद्या से जो जीव कल्पना किये जाते हैं उन्हीं जीवों को आश्रय करके वह अविद्यायें रहती हैं, यदि कहाजाय कि वीजांकुर न्याय की भांति पूर्व २ जीवाश्रित अविद्याओं से उत्तर २ जीवों की कल्पना हो सक्ती है, ऐसा मानने से जीव अनिस होगा और विना किये हुए कर्म का फल मिलना और किये हुए का न मिलना यह दोष भी आयेगा, इसी वात से ब्रह्म में भी पूर्वर जीव के आश्रय से उत्तरर जीव की कल्पना का खण्डन समझ लेना चाहिय, अविद्या को मवाहरूप अनादि मानने पर तत्काल्पत जीव को भी मवाहरूप से अनादि पानना पड़ेगा, इसिलये मोक्ष पर्य्यन्त जीवभाव का निस रहना अद्वैतवाद में सिद्ध नहीं होसक्ता और जो अविया को अनि-र्वचनीय मानकर उसमें इतरेतराश्रयादि दोपों को भूषणकप माना है इसमें वक्तव्य यह है कि यदि ऐमा मानाजाय तो मुक्त पुरुषों को और परब्रह्म को भी अविद्या ग्रम लेगी, यदि कही कि वह शुद्ध और विद्यास्वरूप हैं इसलिये उनको अविद्या नहीं लगसक्ती तो फिर किस तर्क से शुद्ध चंतन को अविद्या आश्रयण करसक्ती है

और उक्त व्यक्तियों से जीव को भी आश्रयण नहीं करसकती क्योंकि अविद्या के लगने से प्रथम वह भी शुद्ध था, इसके अति-रिक्त प्रष्टुच्य यह है कि तत्वज्ञान के होने पर अविद्या नाश से जीव का नाश होता है वा नहीं ? यदि होता है तो स्वरूप नाश रूप मोक्ष हुआ, यदि नहीं होता तो अविद्या के नाश होने पर भी मोक्ष नहीं होगा अर्थात ब्रह्म स्वरूप से भिन्न जीव ज्यों का सों ही वना रहा फिर ब्रह्मात्मैकलक्ष्प मोक्ष का मानना ठीकं नहीं, क्योंकि अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्म से पृथक् जीव बने रहने से मुक्ति नहीं होती, और जो यह कहागया है कि मणि तलवार और दर्पण आदिकों में जैसे मुख का मैलापन वा शुद्धपन अथवा छोटापन आदि मतीत होता है इसी मकार उपाधिभेद से शुद्धि अशुद्धि आदिकों की व्यवस्था होसकेगी, यहां विचारणीय यह है कि अल्पत्व, मिलनत्वादि जो उपाधिकृत दोष हैं वह कव नाश होंगे ? यदि कहाजाय कि तलवार आदि उपाधियों के इट जाने से, तो मश्न यह है कि वह अल्पलादि प्रतिविम्ब रहेंगे वा नहीं! यदि रहेंगे तो जीव के वने रहने से मुक्ति न होगी, यदि मिट जावेंगे तो फिर भी जीव का नाशरूप ही मुक्ति हुई, और बात यह है कि जिसके यत में अपुरुवार्थ रूप दोवों की प्रतीति बन्ध और उन दोवों का नाश मुक्ति है उसके पत में पष्टव्य यह है कि आपाधिक दोषों की मंतीति विम्बस्थीनाय ब्रह्म को है अथवा मतिविम्ब स्थानीय जीव को वा किसी अन्य को है? प्रथम दो विकल्पों में यह दृष्टान्त कि मिलन-बादि दोष कृपाणादि उपाधि वश होते हैं नहीं घट सकते, क्योंकि ब्रह्म निराकार है उसका प्रतिविम्ब नहीं होसकता, यदि दोषों का होना ब्रह्म में मानाजाय तो अविद्या का आश्रय ब्रह्म वेढान्सार्यभाष्य

मानना पहेगा और वह मकाशस्त्रक्ष होने के कारण आविचा का आश्रय नहीं होसकता, तीसरा विकल्प इसल्यिये ठीक नहीं कि ब्रह्म से भिन्न जीव कोई अन्य द्रष्टा नहीं, फिर प्रश्न यह है कि अविद्या की करपना करने वाला कौन है क्योंकि आविद्या जड़ होने के कारण स्वयं कल्पना नहीं कर सकती और जीव अपनी कल्पना इसलिये नहीं करसकता कि आत्माश्रय दोष का मतंग आता है, यदि यह कहा जाय कि शुक्ति रजतादिकों की भांति जीव अविद्या कारिपत होने के कारण ब्रह्म ही कल्पना करने वाला है तो ऐसा मानने पर ब्रह्म में अज्ञान आता है, यदि ब्रह्म में अज्ञान न मानें तो प्रश्न यह होगा कि ब्रह्म जीवों को जानता है वा नहीं ? यदि नहीं जानता तो ज्ञान पूर्वक स्रष्टि नहीं रच सकता, यदि जानता है तो ब्रह्म में अविद्या बनी ही रही, क्योंकि अद्वैतवाद में विना अज्ञान से ब्रह्म में जानना नहीं होता, इस कथन से माया और अविद्या के विभाग का भी खण्डन समझ लेना चाहिये, क्योंकि विना अज्ञान से माया वाला ब्रह्म भी जीवों को नहीं देख सकता, यदि यह कहाजाय कि ब्रह्म की माया जीव दर्शन कराने की शक्ति रखती हुई जीवों के मोहन करने का हेतु होसकती है तब शुद्ध अखण्ड ब्रह्म के माति झूठ जीवों को दिखलाने वाली अविद्या ही माया नाम से व्यवद्वत होती है अविद्या पृथक् वस्त्वन्तर नहीं, यदि यह कहाजाय कि विपरीत दर्शन का हेतु अविद्या है और ब्रह्म से भिन्न जो मिथ्या जगत है इसको माया मिथ्या ही दिखलाती है इसलिये विपरीत दर्शन का हेतु न होने से माया को अविद्या नहीं कहाजासकता, यह बात ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रमा के एक जानने पर भी दो चांद ज्ञान का कारण अविद्या है, यदि मिथ्यादर्शन के हेतु को ही माया कहते

तो यहां भी उसको माया ही कहना चाहिये,यदि ब्रह्म अपने से भिन्नों को मिथ्या जानता है तो उनको मोहित नहीं करता,क्योंकि पिथ्या जानना दूसरे के श्रम का हेतु नहीं होनका, जैसाकि उन्पत्त पुरुष ओरों को मिथ्या जानता हुआ भ्रम उत्पन्न नहीं करसकता यदि यह कहा जाय कि अपुरुषार्थ अपर्यार्थ दर्शन का हेतु अविद्या है और माया पुरुषार्थदर्शन का हेतु है इसलिये वह अविद्या नहीं, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि दो चन्द्रज्ञान दुःख का हेतु न होने से अपुरुषार्थ नहीं और उसका हेतु अविद्या ही मानीजाती है, यदिं यह कहाजाय कि गाया पुरुषार्थ की कुछ हानि नहीं करती तो अद्वैतवादियों को ऐसा मानना चाहिये कि ब्रह्म का स्वरूप होकर षाया संदेव बनी रहती है,यदि वह यह कहें कि माया के ऐसा बने रहने पर भी सिद्धान्त की कोई हानि नहीं तो उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से उनके मत में द्वैतद्शन रूप हानि स्पष्ट है, और वह जिन श्रुतियों को अद्वेत प्रतिपादक मानते हैं उनका विरोध भी अवगा, यदि यह कहाजाय कि परमार्थ विषय में अद्भेत श्रुतियें हैं और माया मिथ्या है इसिलये अट्रेन श्रुतियों का उनके साय विरोध नहीं ? इसका उत्तर यह है कि परिपूर्ण आनन्द ब्रह्म को पिथ्या पाया का दर्शन और मायाय हा होना विना अविद्या से नहीं वनसक्ता, और प्रश्न यह है कि मिध्या माया से ब्रह्म का क्या प्रयोजन ? यदि कहाजाय कि जीवों को अज्ञानी वनाना प्रयोजन है तो ऐसे अज्ञानी बनाने में क्या अर्थ ? यदि यह उत्तर दियाजाय कि यह ब्रह्म का खेल है तो परिपूर्ण ब्रह्म को ऐसे खेल करने से किस आनन्द की कमी थी,इम प्रकार माया और अविद्या का विभाग सिद्ध नहीं इता, इमीलिये अद्भेतनादी ऐसा मानते हैं कि अनादि आविद्या संयुक्त ब्रह्म अपने में नानापन को देखता है, और जो यह कहा

गया है कि ब्रह्म में अज्ञान माननेवालों के यत में बन्ध मोक्षादि-कों भी व्यवस्था इसलिये नहीं बनसक्ती कि एक ही ब्रह्म के अज्ञान निरुत्त होने पर सब की मुक्ति होजायगी, यह भी ठीक नहीं,क्योंकि बद्ध मुक्त शिष्य आचार्य आदिकों की व्यवस्था कल्पित है। जैसे एक ही स्वप्रदर्शी पुरुष को सब मकार की कल्पना होती है, एक स्वप्रदर्शी पुरुष से रचे हुए शिष्य आचार्य आदि सब कारिपत होते हैं, इसिलिये बहुत अविद्याओं की करपना करना ठीक नहीं, फिर जीव में अज्ञान मानने वालों के मत में वन्ध मोसादिकों. की पारमाधिकी व्यवस्था नहीं होसकती और अपरमार्थिकी तो एक की ही अविद्या से बन सकती है, इस विषय में इस मकार के अनुमान भी पाये जाते हैं, जैसाकि (१) जो मिंध्या है वह कारिपत होता है, इस नियम के अनुसार स्वप्नपदार्थों की भांति कारिपत होने के कारण बन्धमोक्षादिकों की व्यवस्था अवि-चाकल्पित है (२) इस शारीर की भांति शारीरत्व धर्मवाला होने के कारण अन्य शरीर भी मेरे आत्मा से आत्मा वाले हैं (३) चेतन होने से मैं ही ब्रह्म हूं जो पदार्थ मैं नहीं वह ब्रह्म भी नहीं जैसाकि घट पट आदि पदार्थ, इत्यादि अनुमानों से सिद्ध है कि स्वपर भेद, बद्ध मुक्त व्यवस्था तथा शिष्याचार्यादिकों की व्यवस्था एक ही अविद्या से बनसक्ती हैं।

द्वैतवादी के मत में भी वद्ध मुक्तादिकों की व्यवस्था नहीं बनसकती, क्योंकि जो कल्प व्यतीत होचुके वह अनन्त हैं प्रति कल्प एक २ की मुक्ति हो तो भी सब की मुक्ति होना सम्भव है, इसिल्ये फिर कोई जीव ही न रहेगा तो बद्ध मुक्तादिकों की व्यवस्था तथा स्रष्टि रचना का कार्य्य ईश्वर का न रहेगा, यदि यह

कहाजाय कि आत्मा अनन्त होने से अनन्तकाल में भी सारे मुक्त न होंगे इसिलये ईन्बर को सृष्टि रचने का काम ज्यों का त्यीं बना रहेगा.इसमें प्रष्ट्रच्य यह है कि आप अनन्त किसे कहते हैं। यदि कही दि जिसकी गिनती न होसके उसको अनन्त कहते हैं तो बहुतों की अल्पन्नों से गिनती न हो पर सर्वज्ञ इश्वर तो सबकी गिनती करसकेगा, यदि वह भी गिनती करने में असमर्थ है तो सर्वज्ञ न रहेगा, यदि कही कि उनकी संख्या न होने के कारण ईश्वर असंख्य को असंख्य जानता है अतः असर्वज्ञ नहीं ठहरता तो यहभी ठीक नहीं, क्यों कि जो भिन्न पदार्थ होते हैं वह संख्यारहित नहीं होमकते, इसमें अनुमान यह है कि जो भिन्न हो यह संख्या वाला होता है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार याष तथा सन्सों के दाने भिन्न र होने से संख्या वाछे हैं इसी पकार भिन्न २ होने से आत्मा भी संख्यावाले हैं,यदि यह कहा जाय कि भिन्न होने के कारण जीवात्मा भी घटादिकों की भांति जड़ तथा नश्वर होंगे और ब्रह्म भी भेदवाला होने से अनन्त न रहेगा,क्योंकि अद्रैतवादियों के मत में भेदरहित को ही अनन्त कहते हैं और भेदवाद में वस्त्वन्तरों से विलक्षण होने के कारण ब्रह्म बस्त परिच्छेदरहित है यहभी नहीं कहा जासकता,क्यों कि बस्तुओं में भिन्न होना ही वस्तुकृत पार्रच्छेद है,जो पदार्थ वस्तुकृत पारच्छेद वाला है वह देशकालकृत परिच्छेद वाला नहीं यह नहीं कहाजासकता,जैसाकि वस्तु कृत परिच्छेद वाले घटादि देशकालकृत परिच्छेदवाले देखेजाते हैं इसी मकार सब जीवात्मा तथा ब्रह्म वस्तु कृत परिच्छेदवाले होने सेदेशकाल परिच्छदेवाले भी अवश्य होंगे, और ऐसे होने पर"सत्यंज्ञानमन-न्तं ब्रह्म" इत्यादि उपनिपंद् वाक्यों के साथ विरोध तथा ब्रह्म और जीवों की उत्पत्ति विनाश का भी दोष लगेगा, नयों कि कालपरिच्छेद

वेदान्तार्यभाष्य

१९६

उत्पत्ति तथा विनाश का कारण है, इसछिये अपिरिच्छिन ब्रह्म का बस्तुकृत परिच्छेद और ब्रह्म से लेकर चींटी पर्यन्त सम्पूर्ण जगत और उसमें सुख दुःख आदिकों की व्यवस्था स्वप्रव्यवस्था की भांति अविद्या के स्वभाव द्वारा बन सकती है. इसलिये एक ही नित्य मुक्त स्वप्रकाश स्वरूप वस्तुपरिच्छेद रहित ब्रह्म अनादि अविद्या के कारण नाना प्रकार जगद रूप हुआ मतीत होरहा है वास्तव में जहा से भिन्न जगत सत्य नहीं इसीम महर्षि ज्यास ने यह सूत्र रचा है कि "तुद्नन्यत्वभारम्भ-णद्याब्दादिस्य:"=नगत और ब्रह्म एक हैं और कार्य केवल बाणी का आरम्भमात्र है, इस अद्वैतवाद का इस प्रकार खण्डन किया जाता है कि निराकार स्वमकाशस्वरूप ब्रह्म अनादि अविद्या के कारण तिरोहित स्वरूप हुआ अपने आप में जगव को मिथ्या कल्पना करछेता है, यह वात निरंश ब्रह्म में नहीं बनसक्ती और नाही प्रकाश स्वरूप को अविद्या आच्छादन करसकती है, यह कथन कर आये हैं कि प्रकाशस्त्रक्ष का अविद्या से ट्रकजाना मानना प्रमाण विरुद्ध है, और जो यह कहागया है कि कार्य्य शक्तिरजत की भांति भ्रमह्म है, कारण ही सत्य है, यह बात तर्करहित होने से ठीक नहीं, और यह कथन कि कारण दोनों दशाओं में सत्य रहता है और घटादि पदार्थ कारणावस्था में नहीं रहते इसलिये कारण की सत्ता से अतिरिक्त कार्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं किन्तु कार्य्य मिथ्या है? इसका उत्तर यह है कि दूमरे स्थान पर देखे हुए पदार्थ का दुसरे स्थान वा काल में न होना मिथ्यात्व का प्रयोजक नहीं और नाही कार्य्य का उत्पत्तिविनाश मिथ्यात्व का साधक होसक्ता है अपितु बह अनित्यत्वमात्र का गमक है अर्थात जो पदार्थ जिस देश काल में पतीत हो उसी देश काल में उसकां बाध पायाजाना मिध्यापन को सिद्ध करता है, या यों कहा कि जो एक देश में हो दूसरे में न हो और एक काल में हो दूसरे काल में न हो वह अनित्य होता है मिध्या नहीं और यह बात अनुमान प्रमाण से भी स्पष्ट पाई जाती है, जैसाकि जो पातिभासि-क न हो वह सत्य होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार प्रातिभासिक न होने के कारण आत्मा इसीमकार प्रातिभासिक न होने से घटादि पदार्थ भी सत्य हैं, मतीतिकाल से अधिककाल में न रहने वाले का नाम"प्रातिभासिक" है,जैसाकि शुक्तिरजतादि, और जो यह कथन किया है कि विकारी तथा अविकारी दोनों प्रकार के कारणों से कार्य्य उत्पन्न नहीं होता,यह ठीक नहीं क्योंकि देश काळादि सहकारी कारण होने से कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, और जो यह कहा है कि कारण में विकार न होने के समय में भी देशकालादिकों का सम्बन्ध वैसाही था और जब विकारी हुआ तब भी देशकालादिकों का सम्बन्ध वैसाही है, इस लिये विकारी तथा अविकारी दोनों प्रकार के कारणों को देश काळादि सहायता नहीं देसक्ते? इसका उत्तर यह है कि जिस समय कर्ता के पयत से कार्य विकारी हुआ उसी समय देशकालादिकों की सहायता कार्य्य का हेतु समझी जाती है,इसलिये देशकालादिकों की सहायता से विशेषता को प्राप्त होकर कारण कार्य्य को उत्पन्न करता है, इस तर्क में कुछ न्यूनता नहीं किश्व कारण का जो कार्या के प्रति आरम्भक होना देखा जाता है वह किसी प्रकार छिपाया नहीं जासकता, और जो यह कहा है कि मुवर्णमात्र अपने कार्य्य का आरम्भक है वा लम्बा चौड़ा किया हुआ सुवर्ण अपने कार्य्य का

आरम्मक है ? यह शंका इसिछिये ठीक नहीं कि सुवर्णमात्र ही अपने कार्य्य का आरम्भक है सुवर्ण से भिन्न आकृतिवाले कन्-काहि अवर्णों के उपलब्ध होने तथा "यह सुचर्ण पिण्ड है " "यह द्धार्य कण है " इसमकार कार्यकारण में पृथक २ शब्द व्यवहार पायेजाने से स्पष्ट है कि कारण से भिक्त भी कार्य की सत्ता देखी जाती है, और कार्य्य को शक्तिरजतादिकों की भांति मिथ्या कथन करना भी ठीक नहीं,क्योंकि ज्ञान से कार्य का बाध नहीं होता और नाही कार्यमतीत की कोई बाधक युक्ति पाईजाती है, इसलिये दोनों अव्याओं में सुवर्णीद कारणों की प्रतिति से रुचकादि कार्यों को मिड्या सिद्ध करना केवल साहसयात्र हैं, श्रुति से प्रपन्न का मिड्या होना मथप ही खण्डन करआये हैं और जो पीछे अनुमान से सिद्ध किया था कि एक ही आत्मा से सब शरीर आत्मा वाले हैं, यदि ऐसा होता तो एक गरीर के सुख दुःख का अनुसंधान सारे शरीरों में होना चाहिये, जैसाकि योगसामध्य से विलक्षण ज्ञान होने के कारण एक आत्मा को पूर्व शरीरों के सुख दुःख का अनुमन्धान देखाजाता है, यर्द अहंकारक्ष अन्तःकरण ज्ञाता होने के कारण एक के सुख दुःख का अनुसन्धान दूसरे को न होना मानाजाय तो उत्तर यह है कि शरीर इन्द्रियादिकों की भांति जड़ होने से अन्तःकरण बाता नहीं किन्तु आत्मा ही ज्ञाता हैं, इसिछिये एकात्मवादी के यत में उक्त दोष तदवस्थ ही रहेगा, आत्मा का ज्ञाता होना पछि सिद्ध कर आये हैं यहां पुनः कथन की आवश्यकता नहीं, और जो शंरीरत्व, जड़त्व, कार्य्यत्व तथा कल्पितत्व हेतुओं से सब शरीरों को एकडी अविद्या काल्पित कथन कियागया है वह भी अयुक्त है क्योंकि सिद्धान्त में ज्ञान से बाध न होने के कारण शरीरों

को सत्य सिद्ध कियागया है, और जो यह कहा था कि मैं है। सब चेतन हूं इत्यादि, इस प्रकार जो अहमर्थ को एक उपपादन किया गया है वह अपने सिद्धान्त की अज्ञता बोधन करता है, क्योंकि अहुतवादियों के मत में अंह और त्वं आदि अर्थों से विलक्षण चिन्मात्र आत्मा चिन्मात्र निर्विशेष आत्मा से भिन्न सब को मिथ्या मानने से उनके मत में मोक्ष के छिये श्रवणादि प्रयत भी निष्फल होजाते हैं, और अविद्या कार्य्य होने के कारण शुक्तिरज-तादिकों में उनके प्रयत्न की भांति मोक्षार्थ प्रयत्न भी न्यर्थ होजायगा, क्योंकि अद्वैतमत में वेद गुरू शिष्यादि सब कल्पित हैं फिर उनसे बन्ध की निष्टात्त क्योंकर होसकेगी, इस विषय में यह अनुमान है कि जो अविद्याकिल्पित,स्वयं अविद्यात्मक अथवा अविद्या-किएत ज्ञाता के आश्रित हो वह वन्ध का निवर्त्तक नहीं होता, इस नियम के अनुसार जिसमकार अविद्याकित्पत आदि हेतुओं के पायेजाने से स्वप्नकालिकबन्धनिवर्त्तक वाक्य से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान केदी के बन्ध का निर्वत्तक नहीं होसक्ता,इसीपकार अविद्याक-लिपत किंवा अविद्याकल्पित ज्ञाता के आश्रित होने के कारण " तत्वमिस " वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी संसार बन्ध का निवर्त्तक नहीं अर्थात जैसे कोई स्वप्न में किसी कैदी को कथन करे कि तेरा बन्धन छूट गया तो उस काल्पित उपदेश के उपदेश से कैदी के वन्ध की निष्टति नहीं होती वैसे ही मिध्या वेद गुरू का उपदेश भी मायावादियों के बन्ध का निवर्त्तक नहीं होसकता और स्वप्नपदार्थ गन्धवनगरादि की भांति आविद्या का कार्य सान का विषय होने से अद्वैतवादियों को अभिमत निर्विशेष ब्रह्म भी मिथ्या

है, इत्यादि अनुमान अद्वेतवाद के बाधक जानने चाहियें, यह बात पीछे कथन कर आये हैं कि जो आत्मा साक्षिक स्वयं प्रकाश ब्रेयविशेष की सिद्धिक्य ज्ञान है वह ज्ञाता के अधीन ही देखा जाता है, इसिल्ये उनके मत में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखनेवाल. ब्रह्म स्वयंप्रकाश भी नहीं होसकता, और जो उन्होंने निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म के सिद्ध करने वाले यौक्तिक ज्ञान कथन किये थे वह पूर्वीक्त अविद्या कार्यित्वादि अनुमानों से खण्डन कियेगये हैं, निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म को जगदादि भ्रम भी नहीं होसकता, क्योंकि भ्रमादिक भी ज्ञात वस्तु में होते हैं अज्ञात में नहीं और अद्वेतवादियों के मत में ब्रह्म ज्ञात नहीं और स्वयं प्रकाश भी नहीं होसकता, प्रकाश उसे कहते हैं जो किसी अर्थविशेष की सिद्धि इप हो और ऐसी प्रतीति ज्ञाता से होती है इसलिये वह स्वप्रकाश भी नहीं बन सकता, और जो अद्वैतवादी यह कथन करते हैं कि मिथ्या से भी सत्य की पाप्ति होजाती है जैसे स्वप्न के सिंह से डर कर सत्य जागृत होजाता है तो जागृत भी उनके मत में अविद्या किएत होने के कारण मिथ्या होने से असत्य की प्राप्ति हुई, सत्य से सत्य पाप्ति कथन करके यह इम मथम ही खण्डन कर आये हैं और इमारे कयन किये हुए अनुमानों के साथ अद्वैतवादी श्रातिवरोध भी नहीं देसक्ते,क्योंकि उनके मतमें श्रीत अविद्या का कार्य होने के कारण उक्त दृष्टान्तों से विशेषता नहीं रखती, और जो यह कथन किया है कि जिसका नाध न हो वह पदार्थ सस होता है, इस नियम के अनुसार यद्यीप ब्रह्म की प्राप्ति मिथ्या साधनों से होती है तथापि उसका बाध न होने से वह सख है? इसका उत्तर यह है कि बाध का न होना ससल का मयोजक नहीं, यदि ऐसा होता तो "शून्य तल है" इस

बाक्यजन्य ज्ञान से ज्ञात शून्य का बाध न होने पर वह भी सल यानाजाता पर ऐसा मानना वादी को भी इष्ट नहीं, इससे स्पष्ट है कि बाधाभाव वस्तु की सत्यता का गमक नहीं किन्तु दोष वाले कारणजन्य ज्ञान से जो पदार्थ जानाजाय और ज्ञानान्तर से उसका नाघ भी पायाजाय नइ "मिथ्या" और इससे विपरीत को "सत्य" कहते हैं,ननु "नेहनानास्तिकिञ्चन" इसादि श्रुतियों द्वारा अन्य का निषेध किये जाने से ब्रह्म ही शेष रहता है जिसका पुनः निषेध नहीं होसक्ता इसलिये उक्त निषेध से शून्य का भी बाध होजायगा फिर कैसे कहाजाता है कि शुन्य का वाध नहीं होता ? उत्तर-शुन्य से भिन्न निषेध न पाये जाने के कारण शुन्य का बाध न होना चैसा ही बना रहता है इसिछिये शून्य का बाध कथन करना ठीक नहीं, और वात यह है कि अद्वेतवादियों के मत में प्रसक्षादि प्रमाणों की भांति श्रुति भी दोष वाली है इसलिये उनके मत में यह नहीं कहा जासकता कि उसका फिर बाध नहीं होता, इससे सिद्ध है कि ज्ञान सचे ज्ञाता जींव के आश्रित हैं उनमें से कोई ज्ञान दोषमूल तथा कोई सस सामग्री जन्य निर्दोष होते हैं,जब तक यह न मानाजाय तब तक ससासस की परीक्षा और लोकव्यवहार नहीं होसक्ता, और अद्वैतवादी ससासस की परीक्षा वाले तथा लोकव्यवहार के ज्ञान को मिथ्या मानते हैं और निर्विशेष सन्मात्र ब्रह्म उनके यत में सस है वह अससादि ज्ञानों का हेतु नहीं, इसिछिये लोकव्यवहार उनके पत में सिद्ध नहीं होसक्ता और जो उन्होंने निर्धिष्ठान असम्भव होने के कारण सर्वाधि-ष्टानक्रप ब्रह्म को संस कहा है, इसका उत्तर यह है कि जैसे दोष, दोषाश्रय, ज्ञान तथा जातृत्व के मिध्या होने पर भी तुम्हारे

मत में भ्रम बनसक्ता है वैसे अधिष्ठान के पारमार्थिक न होने पर श्री भ्रमज्ञान की सिद्धि होजायगी फिर अधिष्ठान को पारवार्थिक सस यानने की आवश्यकता ही क्या ? यदि यह जाय कि अधिष्ठान के मिध्या होने पर कहीं भ्रम नहीं देखागया इसिलिये अधिष्ठान सन्मात्र ब्रह्म सय मानना चाहिये,यदि ऐसा मानो तो बड़ा शोक है क्योंकि दोष और दोष के आश्रित जो झाहलादि हैं उनकी सयता से बिना भी कहीं श्रम नहीं देखाजाता इससे उनकी ससता अवश्य माननी चाहिये परन्तु अद्वैतवादी नहीं पानते,इससे सिद्ध है कि बिना इंटसे उनके पास अन्य कोई विशेष तर्क नहीं, और जो यह कहा है कि भेदवादियों के मत में सृष्टि के अनन्त कल्प न्यतीत हो चुके हैं अगर एक २ मुक्त होता तो सबकी मुक्ति होजाती, इस दोच का जीवात्याओं के अनन्त मानने से परिहार कियागया है, फिर इस में वक्तव्य ही क्या, और जो यह कहा था कि द्वैतवादी आत्मा को भिन्न मानते हैं इसल्यिय उनके मत में माष और सरसों की भांति उनकी गिनती इटाई नहीं जासकती,यह दोष दृष्टान्त में साध्य की विकलता से परिहार किया गया है, क्योंकि आज तक सरसों और माच के दाने किसी ने गिने नहीं कि इतने हैं, यदि कही कि इस घड़े में हज़ार माप के दाने हैं इस मकार संख्या पाई जाती है तो ठीक है हम भी मानते हैं कि संख्या पाई जाती है पर वह संख्या देशकालादिकों की ज्याधिवश से है कि इस देश में इस काल में इतने घड़े हैं न कि सारे ब्रह्माण्ड के घड़े और दानों की संख्या है, यदि इस भांति संख्या मानो तो इम भी आत्माओं की संख्या मानते हैं पर इस कथन से सब आत्माओं की संख्या नहीं आसक्ती, इस पकार आत्माओं के अनन्त होने से सब की मुक्ति का प्रसङ्ग भी ठीक नहीं।

और जो यह कहा है कि आत्मा भिन्न रहें और जो वस्तु भिन्न र होती है वह घटादिकों की भांति जड़ तथा नन्दर होती है, वह थी डीक नहीं, क्योंकि एक जाति का भेद उसको दूसरी जाति नहीं बनादेता, जैसाकि घटादिकों का भेद उनको कपड़ा नहीं बनाता, और जो यह कहा था कि भेद होने से वस्तुकृत परिच्छेद बना रहेगा और जिसका वस्तुकृत परिच्छेद होता है उसका देशकाल परिच्छेद थी अवस्यक होता है इसांखये ब्रह्म अनन्त न रहेगा ? इसका उत्तर बह है कि बस्तुकृत परिच्छेद वालें। में भी देशकाल परिच्छेद का न्यूनाधिकभाव नियम से नहीं देखाजाता, इसलिये देशकाल परिच्छित्रता का निर्णय प्रमाणान्तराधीन होने के कारण ब्रह्म वस्तुपरिच्छेद वाला होने से भी परिच्छित्र नहीं होता, यदि यह कहो कि वस्तुं के भेदमात्र से परिच्छित्र होजायगा इसिछिये अनन्त सिद्ध न होगा, यह दोष अविद्याविलक्षण बहा मानने से तुम्हारे मत में भी समान है, इस प्रकार अविद्याविलक्षण मानने से ब्रह्म में वस्तुकृत परिच्छेट वने रहने के कारण पूर्वोक्त दोप तुम्हारे मत में भी लगेंगे, यदि अविद्याविलक्षण न मानो तो ब्रह्म अविद्याद्दप होने से "सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"यह लक्षण वाक्य भी ब्रह्म में न घट सकेगा और बास्तव भेद न मानने से स्वपक्ष सिद्धि और परपक्ष दोष आदिकों के विवेक न होने से सब निष्फल होजायंगे,या यों कहो कि अनन्त की मसिद्धि देशकाल पारिच्छेद रहित होने से होती है न कि वस्तुकृत परिच्छेद के अभाव से, क्योंकि जिसका वस्तुकृत परिच्छेद न हो ऐसे शक्षश्रंग सहश पदार्थ की अनुपलाव्ध है, भेदनादी के मत में सब जड़ चेतन जहा का शरीरकप होने से जहा सब मकार का

है इसिछिये बस्तुकृत परिच्छेद नहीं बनता,इस प्रकार कारण से भिन्न कार्य के सत्य होने से ब्रह्म का कार्य यह सम्पूर्ण जगत उससे भिष्न है,इस पूर्वपक्ष के होने पर यह उत्तर दियाजाता है कि आरम्भणा-दि शब्दों के पाये जाने से कार्य और कारण दोनों एक हैं अर्थाद परब्रह्म जो जगद का कारण है उसका और जगद का अभेद पायाजाता है, क्योंकि एकत्व प्रतिपादन करने वाले आरम्भण शब्दादिकों से ऐसा ही ज्ञात होता है वा आदि कथन करने से आरम्भण शब्द से छेकर कार्यकारण के एकत्व मितपादक सब वाक्यों का ग्रहण है, विकार वाणी का आरम्भमात्र है मृतिका ही सत्य है, जैसाकि छान्दोग्य में उदालक ने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश किया है कि "हे सीम्य! यह सृष्टि से प्रथम एक अदितीय था उसने विचार किया कि में सृष्टि रूप से बहुत होजाऊं, प्रथम उसने स्थूल भूतों को रचा फिर उनमें जीवात्मा द्वारा प्रवेश किया, हे सौम्य! इस सब प्रजा का कारण सत्य है यह सब इस आत्मा का भाव है और हे खेतकेतो ! वह तू है " यह वाक्य जड़ चेतन मिश्रितसब जगत को ब्रह्म से अभिन्न बोधन करते हैं अर्थात् उदा-लक का पुत्र श्वेतकेतु जब चौबीस वर्ष के पश्चात सब वेदों को पढ़कर आया तब उदालक ने पूछा कि हे पुत्र ! तैने ऐसा उपदेश भी अपने गुरू से श्रवण किया जिससे बिना सुना हुआ सुना जाता और विना जाना हुआ जाना जाता है, और सारे जगत को कारण ब्रह्म से भिन्न जानते हुए कारण ब्रह्म के ज्ञान से कार्य इप जगत का ज्ञान होजाता है, इस मतिज्ञा को न

जानते हुए श्वेतकेतु शिष्य ने पूछा कि हैं भगवन् ! वह कौन उपदेश है जिससे विना सुना सुना जाता और विना देखा देखा जाता है,इस प्रकार पूछने पर उदालक जगत को ब्रह्म कारणता का उपदेश करने की इच्छा करता हुआ मथम लोक प्रासिद्ध कार्य्य कारण के अभेद का यों उपदेश करता है कि "हे सौम्य ! जैसे एक मिट्टी के जानने से उसके सब विकार जाने जाते हैं क्योंकि घटादि मिट्टी के विकार उससे भिन्न नहीं, इसिलिये मिट्टी के ज्ञान से सब मृदिकारों का ज्ञान होजाता है " इस विषय में काणादों के मतानुसार कारण से कार्य भिन्न है यह प्रश्न करके लोकसिद्ध जो कार्य्य कारण का अभेद उसको उपनिषत्कार कथन करते हैं कि ' विकार कथन मात्रहै मिट्टी ही सत्य है "और वाणी से आरम्भ किये जाने को "बाचारम्भण" कहते हैं,यहां कर्म में ल्युट् प्रसय है,जैसाकि "घट से जल लेआओ " इन बाणी से जो जल लाना रूप व्यवहार कथन कियागया है उस व्यवहार की सिद्धि के लिये घटादि रूप विकार आकारविशेष वाला नाममात्र है यह पायाजाता है, लाने के लिये मिट्टी द्रव्य ही आकार विशेष वाला हुआ घटादि नामवाला है, इसलिये घटादि भी मिट्टी ही हैं और वही सस हैं, यह ममाण से पाया जाता है, मिट्टी सुवर्ण आदि ही आकारविशेष को धारण करते हुए कारण रूप बुद्धि तथा कार्य्य रूप बुद्धि से भिन्न र मतीत होते हैं, अतएव कार्य तथा कारण यह भिन्न २ शब्द कहे जाते हैं, जैसाकि एक ही देवदत्त में अवस्थाविशेष के कारण बालक, युवा, बूढ़ा इस प्रकार भिन्न २ बुद्धि और भिन्न २ शब्दों

बेदान्सार्थभाष्य

208

का प्रयोग किया जाता है, और जो पूर्वपसी का यह कथन है कि यदि कार्थ्य कारण एक होते तो घट के नाशोत्तर काछ में भी स्तिका में घट का व्यवहार पायाजाता परन्तु ऐसा व्यवहार न होने से सिद्ध है कि कारण से कार्य भिन्न है एक नहीं, सो ठीक नहीं, क्यों कि कारणक्य मृत्तिका द्रव्य ही अवस्थाविशेष के धारण करने से भिन्न २ नाम तथा व्यवहार का हेतु बनजाता है और इसी अवस्थाविशेष की सिद्धि के लिये कारकव्यापार भी चरितार्थ हो जाता है, और जो पीछे प्रश्न किये गये थे उनका परिहार अवस्था विशेष मानने से होजाता है युक्तयन्तर की अपेक्षा नहीं और नाहीं सद की उत्पत्ति मानने से सत्कार्यवाद के विरोध की सम्भा-बना होसक्ती है, ननु-सद है और उत्पन्न होता है यह कथन परस्पर विरुद्ध है ? उत्तर-यह प्रश्न उत्पत्ति विनादा का तल न जानने बालों को विरुद्ध पतीत होता है क्योंकि आकारविशेष को प्राप्त होना उत्पत्ति तथा आकारविशेष मिटकर कारणक्ष्य होजाना विनार्श कहलाता है, इसलिये सब अवस्था वाले द्रव्य के सद होने के कारण संत्कार्य्यवाद का विरोध नहीं, यदि यह कही कि आकार विशेष तो असत् था उसकी उत्पत्ति होने में असत्कार्यवाद का प्रसङ्ग लगेगा? इसका उत्तर यहहै कि असत्कार्यवादी के मत में भी उत्पत्ति की उत्पत्ति न होने से सत्कार्यवाद का प्रसङ्ग आता है,यदि उत्पत्ति की उत्पत्ति मानें तो अनवस्था दोष लगेगा, और हमारे मत में उत्पत्यादि कार्य कारण से भिन्न न होने के कारण अवस्थाविशेष वालों में ही सब उत्पत्यादि व्यवहार किये जाते हैं,इसलिये कोई दोष नहीं, कपाल, चूर्ण, पिण्ड इन अवस्थाओं के नाश से जैसे घट की अवस्था हो जाती है इसीमकार एकल अवस्था के नाश से बहुल अवस्था होजाती है और उस बहुल अवस्था के नाश से फिर एकल अवस्था होजाती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

है, असएव कोई विरोध नहीं, वैसे ही " हे सीम्य ! वह प्रथम सत् ही था एक अदितीय और सत् ही अब है नाना रूप वाला जो यह नाना प्रकार का जगत्है यह रचना से पूर्व एक था, और सर्वशक्तिमान् होने के कारण ईश्वर को दूसरे की सहायता की आवश्यकता न होने से एक अदितीय परमेश्वर ही था " इस मकार एकल वर्णन किया गया है " उसने इच्छा की कि मैं बहुत होजाऊं" यह बहुत होजाना इस अभिप्राय से कथन किया है कि तेज आदि तलों द्वारा आत्मा के महल को बहुत किया, इस मकार कार्य इप जगद का परब्रह्म इप कारण से अभेद स्पष्ट है, सस शब्द का बाच्म जो ब्रह्म और जगत् उसकी सृष्टि से पूर्व रचना न होने के कारण एकल और अद्वितीयल कहा गया है बिना किसी दूसरे सहकारी कारण के जगत कैसे उत्पन्न होगया यह शंका उठाकर यह वर्णन किया है कि "जीव द्वारा प्रवेश करके नाना प्रकार की सृष्टि को उत्पन्न करूं, सब सम्पूर्ण जड़ चेतन को अपना विचार करके इस विचित्र नामरूप को करूं, वह बनाकर आपही प्रविष्ट होगया " इत्यादि श्रीतयों से पाया जाता है कि जीव और जड़ जगत के कारण वाला ब्रह्म बहुत होग्या, इस प्रकार कार्यावस्था बाला तथा कारणावस्था वाला जो जड़ चेतन है वह सब ब्रह्म का शरीर और परब्रह्म सब का आत्मा है, इस प्रकार अंतर्यामी ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक कथन

किया गया है कि जड़ वस्तु और जीव में परमात्मा के व्यापक होने से जड़ चेतन सब वस्तु शारीर वाला ब्रह्म जतत शब्द का वाच्य है, इसल्जिं एक ही प्रथम था इस अर्थ की सिद्धि में कोई बाधा नहीं ब्रह्म का शरीरभूत जो जीव और जड़ जगत का कारण उसमें सब विकार होते हैं पर सब कल्याण गुणों की खानि ब्रह्म निर्विकार है, यह बात " अधिकन्तुभेदानिदेशात् " इस सूत्र में आगे अधिकरण में कही जायगी, इसी मकार यह सब आत्मा का भाव है सम्पूर्ण जड़ चेतन जगत् को ब्रह्म भाव का श्रुति उपदेश करती है, उसीको " तत्त्वमिस " यह बाक्य निगमन रूप से कहता है और वैसे ही अन्य उपनिषद् वाक्यों में भी " यह सब बहा है " " आत्मा के ही जानने से यह सब जाना जाता है " " यह सब आत्मा है " "यह सब ब्रह्म है " अभेद पाया जाता है और भेद का निषेध किया गया है जैसाकि " उसकी सब निन्दा करते हैं जो आत्मा से भिन्न जानता है " "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त है जो ब्रह्म में नानापन देखता है " " जहां दूसरा होता है वहां दूसरा दूसरे को देखता है " जहां इसका सब अपना आप है वहां कौन किसको देखे " इस प्रकार अज्ञानी को द्वैतदर्शन और विद्वान को अद्वैतदर्शन मतिपादन करती हुई श्रुति अभेद् ही वास्तव है यह प्रतिपादन करती है, इस प्रकार आरम्भण शब्दादिकों से जगत का परम कारण ब्रह्म मे अभेद उपपादन किया गया है, तल यह है कि चिदचिद्वस्तु शरीर होने के कारण शरीरविशिष्ट ब्रह्म सर्व शब्द सें कहा गया है यही विशिष्टकप प्रख्यकाल में सूक्ष्मावस्था को प्राप्त हुआ विदिचिद्वस्तु शरीर कारणकप ब्रह्म कहा जाता है, और जब रचना होने से स्थूल अवस्था को प्राप्त होता है तब चिदचिद्वस्तु शरीर ब्रह्म कार्य कहलाता है, इस कारण ब्रह्म से कार्य कप जगत का अभेद है, शरीरकप चिदचिद्वस्तु का और शरीरी ब्रह्म स्वभावों का भिन्न २ होना और ब्रह्म कल्याण गुणों का आकर होना तथा जगत के उपादान कारण जड़ वस्तु और जीवात्मा का विकारी होना,इस प्रकार गुण दोषों की व्यवस्था न तु हुण्यान्ता-भावात् " इस सूत्र में की गई है।

जो छोग कार्य के मिध्या होने के कारण कार्यकारण का अभेद कथन करते हैं उनके मत में कार्य कारण का एकल सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि सब और मिध्या मिछ नहीं सक्ते, खि सत्य और मिध्या के एक होने से जगद तथा ब्रह्म एक हैं तो ब्रह्म मिध्या और जगद सत्य क्यों नहीं होजाता, जो छोग कार्य को सत्य मानकर जीव ब्रह्म का उपाधिकृत भेद तथा स्वाभाविक अभेद मानते हैं और जड़ चेतन का भेदाभद स्वाभाविक है ऐसा कथन करते हैं उनके मत में उपाधि से भिन्न और कोई एदार्थ न होने से अखण्ड ब्रह्म का ही उपाधिकृत दोष से यह निन्दित परिणाम होता है, यदि वह कहें कि ब्रह्म की शाक्ति का परिणाम होता है तो शक्ति और ब्रह्म तो उनके मत में एक हैं फिर ब्रह्म का धुद्ध होना, जीव का कार्याधीन फल भोगना इत्यादि व्यवस्था करने वाली श्रुतियें तथा जढ़ का परिणाम और ब्रह्म का अपरि-

काब क्ष्यन करने वास्री श्रुतियें विरुद्ध होजायंगी, और जो यह इस्में हैं कि समस्त उपद्रवों ते रहित सम्पूर्ण भोक्तवर्ग से भिन्न सर्व वाक्तियान चेतनपात्र ब्रह्म जो प्रलयकाल में सम्पूर्ण सुख दुःख से रहित होजाता है उस अवस्था में खुचुत आत्मा की भांति निरस्त सर्व होय कहा जाता है और सृष्टि समय में भिट्टी द्रव्य की तरह घटादि इपों से नानाकार होजाता है और समुद्र के फेन तरंगादि इपों से भोक्ता, भोग्य तथा नियन्ता इन तीन प्रकार का आपही होजाता है, इसिक्रये भोक्त ओग्यादिकों के निमित्त से गुण दोष होते हैं, एकल इस अभिमाय से कहा गया है कि जैसे घटादि सृत्तिकाइप सत्य हैं और एक हैं इसी प्रकार यह सब कार्य जगवं और ब्रह्म एक है, इस प्रकार जगद ब्रह्म की एकता है, जो ऐसा कहते हैं उनके मत में सब श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और न्याय का विरोध आता है, क्योंकि श्रुति आदि सब सम्पूर्ण दोषों से रहित निराकार ब्रह्म को ही मतिपादन करते हैं न कि पारेणामी बहा को, जैसाकि " हे सीम्य ! यह सदा एक अदितीय था " " उसने विचार किया कि में बहुत होजाऊं " "पहले एक आत्मा ही था और उसी ने इस सब सृष्टि को बनाया" एक ही नारायण था न उस समय ब्रह्मा था न ईशान था न चौ और पृथ्वी थी न नक्षत्र थे आग्न सोम सूर्य कोई न था उसने अपनी महिमा से यह सब बनाया " इससे पाया जाता है कि उस अपरिणामी ब्रह्म ने अचिद्रस्तु से इस सब संसार को जन्यस किया, जैसे कहा है कि "वह ईश्वरी का ईश्वर है, देवों का देव है, वह कारण है जीव का स्थामी है उसका न कोई उत्पन्न करने वाला और न कोई स्वामी है" इत्याह ममाण भी उक्त अर्थ की दृढता बोधन करते हैं, और मनुस्पृति भी इसी भाव को स्पष्ट करती है कि "उसने अपने शरीर से सब प्रजा की इचा" इतिहास पुराण भी इसी बात को कहते हैं, और जी अद्वेत-वादियों का कथन है कि ब्रह्म सत्तामात्र है यह ठीक नहीं,क्योंकि मह सविवाष है उसके विशेषण ज्ञान आनन्द अनन्त कल्याणादि गुण हैं, यह गुण कभी २ ब्रह्म के साथ रहते हैं सदा नहीं यह नहीं कहाजासकता,क्योंकि इनको स्वाभाविक कथन कियागया है,जैसाकि " उस ब्रह्म की शक्ति ज्ञान बल और किया यह सब स्वाभाविक हैं जो सर्वज्ञ है वह सबको जानता है " इत्यादि वाक्यों से ज्ञान आनन्दादि शक्ति ही उसके स्वामाविक गुण हैं, ऐसा यत कहो क्योंकि "शक्ति स्वामाविकी है " " ज्ञान बल और किया स्वाभाविक हैं "इस प्रकार भिन्न र ज्ञान बल तथा कियादिकों का कथन पाया जाता है, और बात यह है कि "वह ईश्वरों का ईश्वर है, न उसके कोई बराबर है और न उससे कोई अधिक है" इत्यादि बचनों का बाध होगा और सत्तामात्र मानने पर सबका आत्मा होना तथा अंकी होना व्यर्थ होजायगा, यदि कही कि घटादि रूप अपने सब अंशों में पूर्ण होने से अंशाशिभाव होने पर भी सत्तामात्र होना पाया जाता है, यह ठीक नहीं, क्योंकि घट में भी सत्तामात्र पूर्ण होने के कारण घटकप होने से घढ को भी उसके अंश होने का प्रसंग आता है और "घट है " "पट है " इस प्रकार वस्तु के धर्मकप से शात हुई सचा को द्रव्यक्ष्य तथा कारणक्ष्य भी कथन नहीं किया जासका, क्योंकि व्यवहार की योग्यता वाले को "सत्य " कहते हैं, यदि द्रव्यमात्र को सत्य मानाजाय तो क्रिया आदि सत्य न रहेंगे, यदि क्रिया आदिकों में कुशकाशावलम्बन न्याय से निर्वाह कर भी लें तो भी सब स्थान पर एकक्ष्य सत्ता का मानना युक्ति शून्य होने से आदरणीय नहीं, और सत्तामात्र से सब जगत का क्ष्य बहा हो तो इतर पदार्थों के दोष ब्रह्म को लगेंगे, क्योंकि अद्देतवादियों के मत में कार्यक्ष जगत भी ब्रह्म है, इसलिये विशिष्टाद्देत के अभिप्राय से ही स्त्रकार ने जगत ब्रह्म की एकता कथन की है अद्देतवाद के अभिप्राय से नहीं।

समिक्षा—"विलक्षण होने के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं " इस स्त्र से लेकर "यदि ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानें तो भोक्ता और योग्य एक होजायंगे " इस स्त्र तक विलक्षणलादि हेतुओं द्वारा जगत ब्रह्म का उपादानक्षप कार्य्यकारणभाव खण्डन कियाग्या है, जगत ब्रह्म से विलक्षण है क्योंकि ब्रह्म चेतन और जगत जड़ है, इसलिये यदि ब्रह्मक्ष्प उपादान कारण वाला जगत होता तो वह भी चेतन ही होना चाहिये था पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि इस पसङ्ग में अन्य हेतु दिखलाने के लिये कार्य कारण दोनों एक हैं यह कथन किया है, क्योंकि "कार्य्य वाणी का आरम्भमात्र है उसका उपादान कारण ही सत्य है " इस उपनिषद् वाक्य से यह सिद्ध किया है कि यदि जगद ब्रह्म का विकार होता तो दोनों एक होजाते परन्तु एक होने पर ब्रह्म आनन्दादि गुणों का आकर न रहता, इससे सिद्ध है कि दोंनो चेतन एक नहीं होसकते, अतएव ब्रह्म क्य उपादान कारण वाला जगद नहीं यह सूत्र का आशय है।

यहां यह शङ्का कीजाती है कि "ब्रह्म जगत का योनि है" इस सूत्र में ब्रह्म जगत् का उपादान कारण कथन किया गया है फिर विलक्षणलादि हेतुओं से किस मकार इस अर्थ का खण्डन किया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि यहां "योनि" शब्द उपादान का वाचक नहीं किन्तु निमित्तकारण का वाचक है, क्योंकि उपनिषद् वाक्य में निराकार ब्रह्म को जगत योनि कहागया है और "यथोर्णनाभि सृजते गृहते च" इस वाक्यशेष से भी निमित्तकारण ही पाया जाता है, क्योंकि मकड़ी का शरीर उपादान और आत्मा निमित्तकारण हैं, यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार भी तो विशिष्ट ही कारण हुआ, ठीक है इसी सन्देह की निष्टत्ति के छिये मकड़ी और पृथिवी के दृष्टान्त में प्रश्न का अवकाश देखकर पुरुष का दृष्टान्त दिया है कि "सतः पुरुषात् "=पुरुष से रोम होते हैं अर्थात् जीते पुरुष से ही रोम होते हैं अन्यथा नहीं, इसिंख्ये यहां उपादानकारण की शङ्का का अवकाश नहीं, क्योंकि मृतशरीर से रोम नहीं बढ़ते, इस प्रकार उपनिषत्कार ने यह दिख्छाया है कि केवल जड़ोपादान से संसार की रचना नहीं किन्तु जड़ और चेतन दोनों कारण हैं जड़ प्रकृति उपादानकारण तथा चेतन निमित्तकारण है और यही बात "अक्षरात् सम्भवतीह विश्वी" इस वाक्य में पाई जानी है, यद्यपि "अक्षरात प्रतः श्वरः श्वरः हम हुण्डक वाक्य में परिणामी निस के अभिशाय से शक्ति को श्री अक्षर कथन किया गया है तथापि यहां अक्षर से ताल्पर्थ्य शक्ति का नहीं, क्योंकि अक्षराधिकरण में अक्षर से ब्रह्म ही का ब्रह्म है, और "तस्य योनिं पारिपर्यान्ति धीरा" यज्ञ० ३१। १९ इस मन्त्र में भी योनि कब्द निमित्तकारण का वाची है उपादान का नहीं, क्योंकि इसमें ईश्वर को सब अवनों का आधार वर्णन किया है, और उपादान सर्वाधार नहीं होसकता, अधिक क्या महर्षि व्यास ने भी शास्त्र योनित्वात्" ब्र०स्च०१।१।३ में निमित्तकारण में ही योनि शब्द का प्रयोग किया है, "योनिश्चेहगीयते" ब्र०स्च०१।४। २० इस स्त्र से लेकर "सर्वध्वमोंपपत्तिश्च" ब० स्व० २।१।३० इस स्त्र तक की सङ्गति भाष्य में स्पष्ट है, इसल्ये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

नतु—जब उदालक का पुत्र श्वतकेतु चौबीसवर्ष ब्रह्मचर्यं पूर्वक पढ़कर आया तो पिता ने पूछा कि तुमने ऐसा उपदेश भी गुरू से श्रवण किया जिससे बिना छुना छुना जाय और बिना जाना जाय श्रेतकेतुने कहा है भगवन !कोन ऐसा उपदेश है! तब पिता ने कहा है सौम्य!वह जैसे एक मृत पिण्ड के जानने से सब मिट्टी के विकार जाने जाते हैं, क्योंकि विकार बाणी का आरम्भमात्र है मिट्टी ही सब है, इबादि दृष्टान्तों से कार्य्य कारण का एक होना पाया जाता है, कारण परब्रह्म है और कार्य जगत है इस प्रकार कार्य जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं, यदि कार्य कारण एक न होता तो एक के जानने से सब कैसे जाना जाता, क्योंकि हई के ज्ञान से

युत्कार्य नहीं जाने जाते, एक के जानने से सर्व का जानना तभी होसकता है जब उपादान कारण को जाने, और इसी मकार का एकल आरम्भण शब्दादिकों से उपदेश किया गया है, यह केवल जपनिषद् का ही अर्थ नहीं किन्तु नेद का भी यहां तात्पर्य है, जैसाकि "तत्र को मोहःकः शोक एकत्वमनुपश्यतः"मजु०४०।७= प्कलद्भी को कोई बोक मोह नहीं रहता, और एकलद्भीन तथी होसकता है जब विकार वाणी का आरम्भमात्र हो जैसे ससुद्र का तरङ्ग,यह बात केवल वाणी से आरम्भ की जाती है वास्तव में समुद्र ही है,इस प्रकार जगद में नानात्व केवल बाणी से आरम्भ किया जाता है वास्तव में चेतन ही रज्जु भुजङ्ग की भांति प्रतीत हो रहाहै, अल्ड्ब जगद ब्रह्म का अभेद कथन करने के लिये सूत्रकार ने यह सूत्र रचा है कि "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" उत्तर-"वात्रा-रम्भणविकारो नाम धेयम् " इस वाक्य में जगद ब्रह्म का एकल उपदेश नहीं किया गया किन्तु प्रकृति और उसके कार्य्य का एकल कथन किया है, और "हे सोम्य !यह पहले सत ही था" यह प्रकरण चलाकर पृथिवी जल अग्नि इनके विकारों का एकल कथन किये जाने से कार्यकारण का अभेद पाया जाता है, ननु-जिस प्रकार पृथिवी आदि तीनों तत्वों के विकार उनसे भिन्न नहीं इसी प्रकार यह तीनों भी ब्रह्म विकार होने के कारण ब्रह्म से भिष नहीं, यह प्रश्न उठाकर इसका यह उत्तर दिया है कि पृथिन्यादि ब्र के विकार नहीं, यदि ब्रह्म के विकार होते तो "विकार वाणी का आरम्भमात्र है " " ब्रह्म ही सरा है " ऐसा कहा जाता पर ऐसा नहीं कहा गया, इससे स्पष्ट है कि प्रथिवी आदि को जरू

का विकार मानकर अद्वैतसिद्धि की चेष्टा करना मायावादियों का साइसमात्र है, और जो यह कथन किया है कि हे सौरुय ! यह सब प्रजा सन्यूला है, यहां ब्रह्म प्रजा का आश्रय होने के अधिषाय से कहा गया है न कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होने के अभिमाय से, और यह बात " सत् ही प्रजा का आश्रय और सत् ही प्रतिष्ठा है " इस वाक्यशेष से पाई जाती है, यदि ब्रह्म जगद का उपादान कारण होता तो अधिष्ठानक्रप वर्णन न किया जाता, ननु-यदि ब्रह्म जगत् का उपा-दान कारण नहीं तो एक के जानने से सब का जानना कैसे हो सकता है? उत्तर-तुम्हारे मत में भी एक के जानने से सब का जानना मनोरथमात्र है,यदि आपके कथनानुसार एक के जानने से सब का जानना बनसक्ता है तो सबके झुख हु:ख का ज्ञान एक को होना चाहिये, यदि कही कि छुख दुःख का ज्ञान उपाधि से है तो तुम्हारे यत में भी तो सब का ज्ञान उपाधि से ही है, फिर भी उक्त दोष ज्यों का त्यों बना रहता है, वैदिक द्वैतपश्च में तो एक के ज्ञान से सबके ज्ञान की यह व्यवस्था है कि परा अपरा इन दो विद्याओं का उपदेश करने के अभिमाय से उदालक ने खेतकेतु से पूछा कि तुमने इसमकार का उपदेश गुरू से श्रवण किया कि जिस से बिना सुना सुना जाता और बिना देखा देखा जाता है, यह बात व्याप्तिक्प ज्ञान के आभिमाय से कहीगई है जैसे एक शरीर नावा के ज्ञान से सब शरीरों के नावा का ज्ञान होजाता है, सर्व शब्द का कथन बहुत के आभिनाय से है, क्योंकि असीम पदार्थी शब्द का ज्ञान जीव को नहीं होसकता, और जो यह कहा गया के "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः "=

जिस अवस्था में सबको एक देखता है उस अवस्था में ब्रह्मवेत्ता को शोक मोह नहीं रहता, यह मंत्र सबको आत्मा मानने से शोक मोह की निरुत्ति कथन करता है ! उत्तर-यह कथन ठीक नहीं, उक्त मंत्र अवस्थाविशेष में शोक मोह की निरात्त दिख्लाता है अर्थात जिस अवस्था में ऊंच नीच भाव नहीं रहता वस्तुमात्र में एक बुद्धि होजाती है उस अवस्था में कोई शोक मोह नहीं रहता, क्योंिक शोक मोइ का कारण राग है और वैराग्य उसकी निष्टत्ति का हेतु है, थिंद एकता का ज्ञान ही शोक मोह की निष्टत्ति का कारण होता तो जिसको मिट्टी के एकत्व का ज्ञान है उसको घट के टूट जाने से बोक न होना चाहिये और नाही मृत पुत्र का शोक होना चाहिय,क्योंकि कार्य कारण का एकल ज्ञात है,ननु-"आरम्भण शब्दादिभ्यः" यहां से लेकर "तत्त्वमसि" तक एक प्रकरण है और "तत्त्वमसि"वाक्य से जीव को ब्रह्मभाव बोधन कियागया है और यह ब्रह्मभाव स्वाभाविक होने से किसी अवस्थाविशेष के कारण नहीं होता और नोबार "तत्त्रमिश का उपदेश जीव के अध्यभाव को बोधन करता है, क्योंकि बार २ कहना उस अर्थ की हदता के लिये होसक्ता है न्यूनता के लिये नहीं, उत्तर-यह बात ठीक है कि सूत्रस्थ आदि शब्द छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक के अन्त तक का ग्रहण कराता है परन्तु "तत्त्वमसि" वाक्य जीव को ब्रह्मभाव बोधन नहीं करता किन्तु पुनर्जन्म के अभिपाय से जीवात्मा का सदा रहना बोधन करता है, यहां प्रष्ट्रच्य यह है कि "तत्त्वमिस" स्वाभाविक ब्रह्मात्मभाव का उपदेश करता है अथवा नैमित्तिक ब्रह्मात्मभाव का ? प्रथम पक्ष इसल्यि ठीक नहीं कि स्त्रभावसिद्ध का बोधन करना निष्फल होता है

और दूसरे पक्ष में यह दोष है कि ब्रह्मस्वरूप में कोई अतिषाय नहीं होसकता, इसिछिये उसको नौमित्तिक कथन करना उचित नहीं, यद्यपि अद्वेतवादियों के मत में सब असम्भव वस्तुओं के सिद्ध करने वाली एक अविद्या के स्वीकार से किसी न किसी प्रकार जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश हो भी सके तथापि "तत्त्वयिस " इस बाक्य में पुरुष का अस्तित्व स्पष्ट रीति से वर्णन किये जाने के कारण जीव को ब्रह्मबोधन करने रूप अर्थाभास का अवकाश ही नहीं होसक्ता, क्योंकि इस मकरण में जड़ से भिन्न जीवात्मा का होना स्पष्ट रूप से पायाजाता है. जैसाकि यह उपदेश कियागया है कि " हे सोम्य ! षोड्शकला वाला यह षुरुष है, पन्दरह दिन केवल पानी पी क्योंकि जलमय प्राण है नाश नहीं होंगे " श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया, तब पिता ने कहा कि अब पहेंद्रए वेद को सुना, खेतकेतु ने कहा कि भूछ गया,तब उदालक ने कहा कि "हे सीम्य! खद्योत मात्र यह पुरुष है" फिर सुषुप्ति के दृष्टान्त से श्वेतकेतु को बतलाया कि हे सौम्य! सुषुप्ति काल में यह जीव सत के साथ मिलजाता है और वहां स्वस्व इप सम्पन होजाता है, निद्रादोष से नहीं जानता कि मैं क्या हूं इसी बात को बाज के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है कि " हे सीम्य ! जैसे सूत्र के साथ बांधा हुआ बाज इधर उधर घूमकर भी अपने स्थान में आजाता है इसी प्रकार आत्मा सुषुप्ति स्थान में अपने स्वरूप को प्राप्त होता है " इस प्रकार जीवात्मा को जड़ से भिन्न निरूपण करके उसका शरीर से निकलना निकपण किया है कि "हे सौम्य ! जब

यह जीवात्मा शरीर को छोड़ता है तब बाणी मन में लय होजाती है, मन प्राण में लय होजाता है, प्राण तेज में लय होजाते हैं, तेज परादेवता में और जो यह अणुमात्र पुरुष रहता है वही सत्य है इसी का यह भाव है जो ज्ञानादि सब व्यवहार हैं " इस प्रकार जीवात्मा का निक्षण किया जाना उसके ब्रह्मल को बोधन नहीं करता किन्तु जीवात्मा के पुनर्जन्म को वर्णन करता है। ननु—"ऐतदात्म्यमिदंसर्व "=यह सब इस आत्मा का

भाव है, इस वाक्य में सबको आत्मभाव विधान किये जाने से जगत ब्रह्म का ऐक्य होना पाया जाता है, इसिछये "तत्त्वमिस "का यही अर्थ है कि "वह वहा तू हैं" उत्तर-आत्मा के भाव को "ऐतदातम्य" कहते हैं और जो आत्मा के भाव अन्नमय आदि कोषों से पृथक् करके बतलाये गये हैं वह सब जीवात्मा के गुण हैं, इसी अभिमाय से कहा है कि हे श्वेतकेतु! "ऐतदात्म्याभदंसर्व "=यह सब आत्मा का भाव है, वह सस है और वह आत्मा तू है, इस प्रकार आठ दृष्टान्तों से जीवात्मा का अविनाशी होना वर्णन किया गया है, यद्यपि प्रलयकाल में जीवात्मा के भिन्न रहने का विवेक नहीं रहता तथापि उसका अस्तित्व रहता है, अतएव यह कथन किया है कि "हे सौम्य! जैसे मधु में नाना वृक्षों का रस नहीं जाना जाता कि कौन किसका रस है इसी प्रकार प्रलयकाल में नहीं जाना जाता कि कौन किसका जीवात्मा है " फिर व्याघ्र कीट पतङ्गादि जन्मों में उसके भाव

शांत होते हैं "हे श्वेतकेतो ! जो अणुस्वरूप आत्मा है वह तू है " यदि"तत्त्वमिस" वाक्य का तात्पर्य "त् ब्रह्म है" इसी अर्थ में होता तो आत्मा को अणुरूप से वर्णन न किया जाता किन्तु विशुक्ष्पता से वर्णन किया जाता, दूसरी बात यह है कि यदि अणु कथन करने से ब्रह्म का ही ग्रहण होता तो कीटादि योनियों का निरूपण करके अणु कथन न किया जाता मत्युत ऐसा होता कि "यह सब तु ही है " पर ऐसा कथन नहीं किया गया, इससे सिद्ध है कि उक्त कथन ठीक नहीं, अणु के भाव को " अणिमा " कहते हैं, जैसाकि " अणीरणीयान् महतो महीयान् " इस श्रुति में सूक्ष्म होने के अभिमाय से ब्रह्म को अणु कथन किया गया है, इस मकार ग्रहां अणु से ब्रह्म का ग्रहण नहीं,क्योंकि उक्त उपनिषद् वाक्य में "अणोरणीयान् "= सूक्ष्म से सूक्ष्म कथन करके "महतोमहीयान्" = बड़े से बड़ा ब्रह्म है, यह कथन किया है परन्तु "तत्त्रमिस " वाक्य में ऐसा कथन नहीं किया "एषोणुरात्मातपसावेदितव्यः" इस उपनिषद् वाक्य में जीवात्मा का ही ग्रहण है, इसिछिये यहां "अणु" पद जीवात्मा का विशेषण मानना चाहिये ब्रह्म का नहीं, महर्षि व्यास ने भी जीवात्मा को अणु कथन किया है, और जो स्वा॰ शकुराचार्यजी ने महर्षि व्यास के कथन को पूर्वपक्ष माना है सो ठीक नहीं, क्योंकि आग्रेम सुत्रों में इसका खण्डन नहीं किया गया, इससे सिद्ध है कि यहां अणु से जीवात्मा का ग्रहण है और इसीको मधु के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है, यहां नदी समुद्रादिकों के दृष्टान्त की भांति एकता नहीं छीजासकती,यदि यह अर्थ इष्ट होता तो कीट

पत्तक्रादि इप से पुनर्जन्म का कथन न किया जाता, क्योंकि नदी समुद्रादिकों के दृष्टान्त से मायावादी ब्रह्म के साथ गिलकर फिर पुनराष्ट्रित नहीं मानते और यहां पुनराष्ट्रित होना स्पष्ट है, वैदिक द्वैतपक्ष में जगत और ब्रह्म का एकल इष्ट नहीं,इसलिये जीव ब्रह्म की एकता मानना ठीक नहीं जिससे फिर छौट आना असम्भव हो, यहां मायावादी यह नहीं कहसकते कि यह जीव ब्रह्म का िमलना प्रलयकाल का मिलाप है मुक्ति द्शा में नहीं, इसिखये लौट आना लिखा है, क्योंकि उनके मत में ब्रह्म के साथ मिलजाना सुक्ति के तुल्य है, बदि उपनिषत्कारों को यह अर्थ अभीष्ट होता कि पलय और मुर्च्छा कास्त्र में ब्रह्म के साथ मिलकर लौट आते हैं और मुक्ति काल में नहीं तो उपनिषत्कार स्पष्ट लिख देते कि सुक्ति से जीवात्मा छौटकर नहीं आता, प्रत्युत इससे विरुद्ध इन आठ दृष्टान्तों में यह लिखा है कि सत के साथ मिलकर भी फिर जीवात्मा लौट आता है और तीसरे दृष्टान्त में जीव का नाम लेकर कथन किया गया है कि "हे श्वेतकेतो ! जीव रहित होने से यह शरीर मरता है जीव नहीं मरता और वह अणुरूप जीव तू है" इस प्रकार इस वाक्य का जीव के वर्णन में तात्पर्य था जिमका"अद्वेतनादियों" ने"वह ब्रह्म त है"इस विषय में लगादिया है,चोथे दृष्टान्त में बट के बीज को तोड़कर पिता ने कहा कि देख इसमें कुछ दीखता है पुत्र ने कहा कुछ नहीं, पिता ने कहा यह जो सूक्ष्मता है "इसी प्रकार तू है" इस दृष्टान्त से जीवात्मा की सुक्ष्मता वर्णन की है, नमक के दृष्टान्त से सर्वदा जीवात्मा का रहना बोधन कियाहै कि परिणामी निस हाने के कारण नमकादि स्यूल पदार्थों का भी नाश नहीं होता तो कूटस्य निस जीबात्मा की तो कथा ही क्या, इस प्रकार नौ बार "तक्ष्यास "
कहा गया है, यहां अद्वैतवादी यह कथन करते हैं कि नौबार कहना
जीव को ब्रह्म होना बतलाया है यह ठीक नहीं, क्योंकि नौबार
कथनक्ष्य अभ्यास आत्मा के आस्तित्व का प्रतिपादन करता है,
दूसरी बात यह है कि अद्वैतवादियों के मत में न केवल जीव ब्रह्म
की एकता है किन्तु जगद ब्रह्म की भी एकता है और जगद ब्रह्म
की कार्य्यकारण क्ष्यता से एकता होने पर अभ्यास व्यर्थ होजायगा,
क्योंकि ह्रक्ष्मार्थ बोधन करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता
होती है, "यह सब जगद ब्रह्म है" इस मोटे अर्थ के वोधन करने के
लिये अभ्यास की क्या आवश्यकता ? हमारे द्वैतपक्ष में तो जीवात्मा
के ह्रक्ष्म होने के कारण अभ्यास=बार २ पढ़ने की आवश्यकता है,
इसिक्ये मायावादियों के मत में नौबार "तक्ष्वमिस" का अभ्यास
असङ्गत है वैदिक द्वेतपक्ष में नहीं।

इस मकार पूर्वोत्तर विचार करने से ब्रह्म सूत्रों में अद्वेतवाद का नामपात्र भी नहीं पाया जाता, ज्यों २ इस मायावाद की परीक्षा की जाय त्यों २ ही केले के स्तम्भ की भांति निस्तार प्रतीत होता है, मायावादियों के मत में जपाधिकृत भेद केवल जीव ईश्वर काही नहीं किन्तु ईश्वर ब्रह्म का भी है, इनके मत में माया जपाधि के बिना अह्म कुछ नहीं करसकता, इसिलये माया जपाधि वाला ईश्वर है वहीं सर्वज्ञ और वहीं जगत कत्ता है, शुद्ध ब्रह्म न सर्वज्ञ और न जगत कत्ता होसक्ता है, संसार की जत्यित, स्थित और प्रलय के लिये ईश्वर और मुक्ति में ब्रह्म के साथ जीव मिलजाता है इस तात्पर्य्य से सर्वभाव रहित ब्रह्म का स्वीकार है, इस प्रकार जनके मत में ईश्वर और ब्रह्म भी भिन्न २ हैं, पर यह बात ब्रह्म सूत्रों

भूषिका

से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र में ब्रह्म की जिज्ञासा करके उसी को दूसरे सूत्र में सृष्टि का कर्ता कथन किया गया है, यदि मायावादियों की भांति महर्षि ज्यास के वत में भी ब्रह्म और ईश्वर भिन्न २ होते तो वह ब्रह्म का लक्षण जगत कर्ता न करते किन्तु ऐसा करते कि " ब्रह्म सर्व क्रिया रहित है " पर उन्होंने इससे उलटा ब्रह्म का लक्षण यह किया है कि वह संसार की उत्पत्ति स्थित और मलय का कारण है, इससे स्पष्ट है कि महर्षि व्यास के मत में ब्रह्म और ईश्वर एकही पदार्थ के नाम हैं और वेद में भी सृष्टि का कर्चा ब्रह्म ही कथन किया गया है, जैसाकि "द्यावाभूमी जनयन्देव एकः" यजु०१७।१९=सर्वशक्तिमान् एक देव ही संसार को उत्पन करता है, मायावादियों के मत में माया का कार्य्य होने से जगद की भांति ईश्वर भी मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही परमार्थ सख है और वह जगत्कर्त्ता नहीं,पायोपाधि वाला ईश्वर जगत्कर्त्ता है,ऐसा मानने पर न केवल "जन्मादि" सूत्र के साथ विरोध आता है अपितु सम्पूण वेदान्तदर्शन के साथ विरोध है, जैसाकि " भेद के कथन किये जाने से ब्रह्म सर्वीपिर है " इस सूत्र से टेकर " वह सर्वशक्तिमान् है " इस मूत्र तक निरुपाधिक ब्रह्म का ही जगत कर्त्ता होना कहा गया है, यहां यह शङ्का होती है कि यदि जगत वास्तव में हो तो उसका कारण ब्रह्म कहाजाय किन्तु जगत तो चेतन का विवर्त्त है, इसिलिये निरुपाधिक ब्रह्म का कार्य्य नहीं कहाजासकता ? इसका उत्तर यह है कि जो वास्तव में पदार्थ का अन्यथाभाव न हो और अन्यथा प्रतीत हो उसको "विवर्त्त" कहते

हैं, ऐसा भ्रम के वश से होता है पर शुद्ध ब्रह्म में तो श्रम ही नहीं होसकता, इसिल्प्ये जगत ब्रह्म का विवर्त्त है यह कथन असङ्गत है, और "बिना कारणरूप सामग्री से भी दूध से दिधि भाव की भांति ईश्वर जगत् को बनाता है" इसादि सूत्रों में परिणामवाद के स्पष्ट पाये जाने से रज्जुसर्प की भांति अवास्तव अन्यथाभावरूप विवर्त्त सूत्रकार को इष्ट नहीं, इसिछिये जगत चेतन का विवर्त्त है, यह मायावादियों की विवर्त्त प्रक्रिया वेदान्त सूत्रों से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि परिणामवाद मायावाद से सर्वथा विरुद्ध है और ब्रह्म का विवर्त्त जगत है यह बात तर्क से भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि विवर्त्त तभी होता है जब कुछ रूप का साहदय मिलता हो, रज्जु में हस्ती की भ्रान्ति कभी नहीं होती सर्प की होती है, इस प्रकार ब्रह्म और जगत का आपस में साइच्य न पाये जाने से ब्रह्म का विवर्त्त जगत नहीं होसकता "प्रात्त्रय काल में कार्यजगत ब्रह्म में मिल जाने से ब्रह्म भी जगत् की भांति अशुद्ध होजायगा"यह सूत्र विवर्त्तवाद का खण्डन करता है,यदि जगत् ब्रह्म का विवर्त्त होता तो पलयकाल में जगत के ब्रह्म में लय होने से ब्रह्म भी दृषित होजाता परन्तु वह द्षित नहीं होता, क्योंकि दिवर्त्त का लय अधिष्ठान को द्षित नहीं करता, फिर अधिष्ठान को द्षित करने षाछा लय मानना इस बात को सिद्ध करता है कि महर्षि व्यास जगद को विवर्त्त नहीं मानते, यदि यह कहाजाय कि ज्ञान से निरुत होने के कारण रज्जु सर्प की निरुत्ति भी लय कही जासकती है और वह मतीति मात्र होने के कारण अपने अधिष्ठान

को दृषित नहीं करती,यह ठीक नहीं,क्योंकि कार्य के लय होने से उपादान को दृषित मानना विवर्त्तवाद का सर्वथा खण्डन करता है श्रीर विवर्त्तवाद के खण्डन होने से मायावाद का भी खण्डन होजाता है, ननु-" वास्तव में उसका स्वरूप न होने से सृष्टि मायामात्र है " इस मूत्र में सृष्टि के मायामात्र कथन करने से विवर्त्तवाद पाया जाना है फिर कैसे कहते हैं कि सूत्रकार को सृष्टि का विवर्त्त होना अभिषेत नहीं ? उत्तर-यह सूत्र स्वप्न की सृष्टि को मायामात्र कहता है न कि जाग्रद को, क्योंकि इस पाद के पथम मूत्र से स्वप्न की सृष्टि का पकरण चला आता है अर्थात जैसे जाग्रत की सृष्टि में जीव पुण्य पाप का भागी होता है इसीपकार स्वप्नमृष्टि में भी होता है वा नहीं, क्योंकि स्वप्रसृष्टि भी सृष्टि है और उपनिषत्कार वर्णन करते हैं कि "वहां न रथ होते हैं,न घोड़े होते हैं, न मार्ग होते हैं, जीव स्वयं सब कुछ रचलेता है" इस प्रकरण में सूत्रकार ने कहा है कि वह स्वप्न की सृष्टि मायामात्र=मनारथमात्र है, ऐसे स्पष्टार्थ वाले सूत्रों का मिथ्या अर्थ करना मायावादियों की माया नहीं तो क्या है, इन प्रकार ब्रह्मसूत्रों में कहीं भी संसार के मिथ्या होने का कथन नहीं पाया जाना पत्युद मिथ्या होने का खण्डन पाया जाता हैं, जेसाकि "इस जाग्रत् सृष्टि का अभाव नहीं कहा जासकता, क्योंकि इसकी उपलब्धि पाईजाती है"इससूत्र में मायावाद का खण्डन किया गया है, सूत्रकार ने जाग्रत् के अर्थ को मस माना है पर मायावादियों की माया की विचित्रता यह है कि वह इस मूत्रसे जगत को सस सिद्ध करते हैं और अन्यत्र संसार को मायामात्र वतलाते हैं, और जो इनका यह कथन है कि

"उपलाब्ध होने से सृष्टि का अभाव नहीं" यह सूत्र विज्ञानवादी बौद्ध जो वाह्य अर्थ का अभाव मानते हैं उनके छिये कहा गया है और यह कथन मायात्रादियों के पाण्डित्य की कलिक्कित करता है, जैता कोई कथन करे कि बौद्धों के लिय नीम कड़ना है मायाबादियों के लिये नहीं, इस मकार तर्क की शिथिलता और पूर्वीचर विरोध इनके भाष्यों में जगह २ पाया जाता है, जैसािक साकार और निराकार दोनों प्रकार के ब्रह्म मानने वालों का खण्डन ब्रह्म को कूटस्थ नित्य मानकर किया है फिर बाचारम्भण न्याय से सब दृश्यमात्र का ब्रह्म के साथ एकत्व मानकर यह कहा है कि प्रमार्थ के अभिपाय से सब जगत की ब्रह्म कहा गया है, यह कथन सगुणोपासन में उपयोग रखने के कारण परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि मधम दोनों मकार के ब्रह्म मानने वाले का खण्डन करना फिर आप दृश्यमात्र को ब्रह्म कथन करके उपासना में उष्योग वतलाना, इस अकार अदेतवादियों की गहन माया है वैदिक दैतपक्ष में तो " मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् "=माया को प्रकृति जानो,इस उपनिषद् वाक्य के अनुमार उपादान कारण को माया कहते हैं और इसका कथन महींष न्याम ने "प्रकृति जगत् का उपादान है " इस सूत्र में किया है और इससे पहले ईन्दर का निमित्तकारण होना कथन किया गया है, माया के साथ मिला हुआ ब्रह्म ही निमित्त और उपादान कारण है, इस मकार पायामात्राश्रित मायावाद का ब्रह्मसूत्रों में लेश भी नहीं। ननु-अवैदिक मायावाद सूत्रों के प्रतिकूल रहे पर श्रीभाष्य तो ब्रह्मसूत्रों के अनुकूल है फिर और भाष्य की क्या आवश्यकता ?

उत्तर-यद्यपि श्रीभाष्याचार्य्य का मत अन्य स्थानों में ब्रह्म

सूत्रों के अनुकूछ है तथापि एकही पदार्थ से सब जगत की

उत्पत्ति मानने के कारण मायावादियों से शिक्षा ग्रहण किय हुआ विशिष्टाद्वैतवाद है, जैसािक ब्र॰ सु॰ १। ४। २३ से ज्ञात होता है, इस सूत्र में मायावादी और विशिष्टाद्वैतवादियों का अधिक भेद नहीं प्रत्युद ईश्वर को जगद का अभिन्नानिमित्तो-पादन कारण मानने से विांशछाद्वेतवाद और मायावाद समान हैं, क्योंकि मायावादियों के मत में ब्रह्म ही जगत का उपादान तथा निमित्त है, और विशिष्ठाद्वैतवादियों के मत में जड़ चेतन वस्तुमात्र शारीर वाला ब्रह्म उपादान और निमित्त है, यद्याप विशिष्टाद्वैत-वाद में ब्रह्मस्थ जो प्रकृति वह जगत का उपादान कारण है और कारीरी परमात्मा निमित्तकारण है, इस प्रकार विशिष्टाद्वेत और मायावाद का बहुत भेद है तथापि एकही ब्रह्म को अभिन्निनिमत्तो-पादान कारण मानने में कुछ भेद नहीं, विशिष्टाद्वैतवाद का बीज " यथोणीनाभिः" यह उपनिषद् वाक्य है, विशिष्टाद्वैतवादियों का कथन है कि इस वाक्य में ईश्वर अभिन्निनिमत्तापादान कारण कथन किया गया है,यह उनकी भ्रान्ति है,क्योंकि इस वाक्य में ईश्वर को अक्षर वर्णन किया है, और अक्षर निमित्तकारण ही होसकता है जपादान नहीं, जैसाकि इस कारिका में कहा है कि:-

इच्छापूर्वककर्तृत्वं प्रभुत्वमस्वरूपता । निमित्तकारणेष्वेवनोपादानेषुकर्हिचित् ॥

अर्थ-इच्छापूर्वक कर्ता होना, प्रभु होना और कार्य्य के समान रूपवाला न होना, यह गुण निमित्तकारण में ही पाये जाते हैं उपादान में नहीं, इसलिय इच्छापूर्वक कर्तृत्वादि गुणों वाला अक्षर निमित्तकारण ही होता है,यहां विशिष्टाद्वेतवादियों का उपनिषद् तात्पर्य सेविरुद्ध ईश्वर को निमित्त और उपादान दोनों

प्रकार का कारण माननाठीक नहीं, जैसे कारणवाद में विशिष्ठा द्वैतवादियों का मत वैदिक नहीं इसी प्रकार इनके मत में मुक्ति को अनुष्ठान साध्य मानकर निस मानना भी अवैदिक है, क्यों कि मुक्ति का
निस मानना तर्क से सिद्ध नहीं होता, मंसारवर्ग से रिंदत होने तथा ब्रह्मभावों को प्राप्त होने का नाम अपवर्ग. मुक्ति, अमृत तथा ब्रह्मभाव है,
और वह जीव की अवस्था विशेष है स्वरूप नहीं. क्यों कि मुक्ति कमीं का
फल है और फल स्वरूप नहीं हो कता. याद स्वरूप मानाजाय तो मुक्ति
के साधन निष्फल होजायंगे. क्यों कि स्वरूप स्वयं सिद्ध होता है. इस
प्रकार साधनों से मिद्ध हुई मुक्ति मानकर फिर उनका निस मानना
मायावादियों का अनुकरण है और यह ठीक नहीं, इसलिये
विशिष्ठा द्वैतवाद कहीं २ मायावाद के समान होने से सर्वथा वैदिक
नहीं होसक्ता ।

मायावादियों के मत में तो अपत्रग त्रह्म का स्वरूप होने से स्वामाविक है साधनों से केवल आवरणिनिटिंच की जाती है, यह उनका मन्तव्य मुक्त जीवों की पुनराटिंच को दूर नहीं कर सकता, क्योंकि उनके मत में ब्रह्म माया का आश्रय होने से पुनराटिंच का मूल है. एक अदिनीय त्रह्म से संसार उत्पन्न होता है, जब मुक्त होकर सब जीव उसी वहा में जामिलेंगे फिर उस ब्रह्म से संसार न होगा इसमें क्या प्रमाण और मुक्ति का मुक्तिपन तो यही है कि फिर लीटकर न आना. यह वात अज्ञानियों के प्रसन्न करने के लिये केवल अर्थवाद है, इसमें कोई प्रमाण नहीं यदि मायावादी मुक्ति को निस्म कहें तो कुछ अनुपयुक्त नहीं क्योंकि उनके मत में अमम्भव अर्थों के टीक करने वाली माया विद्यमान है,आश्चर्य यह है कि विशिष्टादेतवादी भी मोक्ष को निस्म मानते हैं, उनके मत में जीव भिन्न २ होने के कारण संख्या वाले

भूमिका

है फिर एक २ करके सबके सब मुक्त होने पर संसार का मूछोच्छेद होजायगा, अधिक क्या सब वादियों के मत में मोक्ष का नित्य मानना " पाषाण तैरते हैं " इस वाक्य की भांति अर्थवाद है,क्यों कि मुक्ति में जीव का सामर्थ्य परमित होता है, निरवधिक ऐश्वर्ध्य तो केवल निस मुक्त परमेश्वर का ही है अन्य का नहीं, और आरम्भणाधिकरण में यह कहा गया है कि " मुक्त जीव भोगमात्र में ईश्वर के समान होता है और वह भोगतत्व सातिशय ऐश्वर्य है ब्रह्म की भांति निरतिशय ऐश्वर्य नहीं " इस मकार जीव ब्रह्म की भोगमात्र में समता कथन करना जीव को निसमुक्त सिद नहीं करता, यदि जीव की मुक्ति नित्य होती तो केवल भोगमात्र ही में सूत्रकार जीव ब्रह्म की समता न दिख्लाते किन्तु निसतामें भी कथना करते, यहां और प्रष्टव्य यह है कि मुक्ति में ईश्वर जीव का स्वामी होता है वा नहीं ? यदि होता है तो ईश्वर के अधीन होना ही पुनराष्ट्रीत का कारण है, यदि मुक्ति में जीव ईश्वर के अधीन नहीं रहता तो ईश्वर को सर्वस्वामी नहीं कहसकते, इस तर्क से भी मुक्त जीव ईश्वर के समान निसमुक्त नहीं होसकता।

नतु-" अनावृत्ति शब्दात्, अनावृत्ति शब्दात्"=

फिर लौटकर नहीं आता, फिर लौटकर नहीं आता, इम मूत्र में

पुनरावृत्ति का स्पष्ट खण्डन पायाजाता है फिर वेदान्तशास्त्र

विरुद्ध पुनरावृत्ति मानना ठीक नहीं? उत्तर-उक्त सूत्र भोगमात्र

की समता में हेतु है मुक्ति की निसता विधान करने में

नहीं, इस प्रकार इस अन्तिम सूत्र की पूर्वसूत्र से सङ्गति

है, जीव और ईश्वर की भोगमात्र में समता नहीं होसकती,

क्योंकि ईश्वर निस शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव होने से उसका शानमात्र

ही भोग है और जीव निसङ्गानस्बद्धप नहीं, इसिछिये उसका निदिध्यासनक्ष ब्रह्मध्यान ही भोग है 'आत्मावारे द्रष्ट्रव्यो मन्तव्यः श्रोतव्यः निद्ध्यासितव्यः "=हे मैत्रेयी आत्मा द्रष्ट्रच्य है, यन्तव्य है, श्रोतव्य है और निदिध्यासन करने योग्य है, इस प्रकार जीवात्मा का बार २ ईश्वरचिन्तन इप भोग वर्णन किया है, यह दोनों के भोग की विषमता है,इस प्रकार आशंका करके कहा है कि " अनावृत्ति शब्दात्, अनावृत्ति शब्दात्" अनाद्यति के अर्थ वार २ ब्रह्मध्यान के हैं, युक्ति अवस्था में ब्रह्मचिन्तनरूप थोग नहीं होता किन्तु अनार्शाचरूप भोग होता है "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं"यजु०३१।१८=मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं जिसका एकमात्र ज्ञान ही मुक्ति का साधन है "ब्रह्मवेदब्रह्मेवभवति"मुण्ड० ३।२।९ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म के समान हो जाता है,इसादि प्रमाणों से अनादित्तिक्य ज्ञानमात्र ही भोग वर्णन किया है अर्थात ज्ञानमात्र की समता से ही ब्रह्म होना कथन कियागया है स्वरूप से एक होने के अभिपाय से नहीं,यही भाव जैमिनि आचार्य का है कि "ब्राह्मेण जैमिनि: जहार के स्वभावमात्र से ही उसके समान होना कहा जाता है निक स्वरूप के एक होने र्स, इस प्रकार पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र का समन्वय है, और जो मायावादियों ने इस प्रकार इस सूत्र का न्यारूयान किया है कि भोगमात्र की समता विशेषता वाली होने के कारण मोक्ष कार्य होजाता है, यह शङ्का करके पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र की सङ्गति है, इसिलये सत्रकार ने कहा है कि "अनावृत्तिशब्द।त्"=मुक्त जीव का फिर जन्म नहीं होता, जैसाकि "नच पुनरावर्तते,न च पुनरावर्त्तते"छा ०८।१४।१=वइ लौटकर नहीं आता, वह लौटकर

नहीं आता, और "यदूत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं सम "गी० ६।१=जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं छौटता वह मेरा परमपद है, यह अद्वेतवाद का व्याख्यान मर्वधा सूत्रकार के आग्नय से विरुद्ध है, क्योंकि भोगमात्रसाम्य के साथ इनकी सङ्गति नहीं मिछती, भोगमात्र में "मात्र" शब्द अन्य समता की व्याद्यत्ति करता है अर्थाव जिनके मत में मोक्ष से पुनराद्यत्ति नहीं उनके मत में अजन्मा होने के कारण जन्माभाव में भी ईश्वर के त्ररावर जीव होजाता है, ऐसा नोना सर्वथा वेदविरुद्ध है, जैसाकि " युर्माञ्चलात इत्येषः "यजु०३२।३ इस मन्त्र में ईश्वर काही जन्माभाव निरूपण किया है, और जो जीव भी अजन्मा है इयादि कथन पाये जाते हैं वह जीव के स्वरूप को उत्पत्तिश्चन्य कथन करते हैं शारीर के साथ संयोगहूप जन्म के अभाव को बोधन नहीं करते, इससे सिद्ध है कि शारीर रहित होने से केवळ ईश्वर ही अजन्मा है।

और तर्क यह है कि जीव का भोग कार्य होने के कारण उसका अनिस होना आवश्यक है, यदि अनाष्टीत्त शब्द से व्यास का अभिपाय मुक्ति के निस बोधन में होता तो पूर्वोक्त तर्क के साथ विरोध आता,इससे सिद्ध है कि मुक्ति नित्य नहीं।

वैदिक द्वैतपक्ष में तो "आदित्त" शब्द प्रसादित रूपकान को बोधन करता है और उममे विरुद्ध मुक्ति में ईश्वर का तदाकार कान एकरस होता है, इमलिये प्रथम सूत्र के साथ विरोध नहीं पत्युद्ध उसके साथ मङ्गति अनुकूज प्रतीत होती है, क्योंकि ब्रह्म की भांति मुक्ति अवस्था में एकरस ज्ञान से ही जीव ब्रह्म के समान है, और जो यह कहा है कि वह "लौटकर नहीं आता, लौटकर नहीं आता" इस अभिपाय से यह सूत्र रचा है इसका

प्रथम ही खण्डन कर आये हैं. यदि इस सूत्र का यही छान्दोग्य विषयवाक्य हो तब भी मुक्ति की नित्यता सिद्ध नहीं होती,क्योंकि इस वाक्य में "यावदायुषं " कथन से आयुपर्यन्त मोक्ष को नित्यत्य विधान किया गया है, चैतन्य की आयु अवस्थाविशेष है और वह मुक्ति है, यदि ऐसा न होता तो विना आयु बाले जीवात्मा का आयु विधान करना व्यर्थ होजाता "जहां जाकर लौटना नहीं होता वह मेरा घाम है" यह गीता वाक्य हु निश्चय को बोधन करता है अन्यथा कृष्णजी यह कथन न करते कि ब्रह्मलोक के मुक्त पुरुष भी लौट आते हैं "आब्रह्मभुवना" के अर्थ हैं ब्रह्मलोक तक पुनराष्ट्रति=पुनर्जन्म वाले हैं, इस वाक्स से यावदायुषं ब्रह्मलाकमिसम्पद्यते " इस वाक्य का अभिमाय वर्णन किया है, मुझको प्राप्त होकर फिर जन्म नहीं होता, यह अपने आप में श्रद्धा की हड़ता कराने के अभिपाय से कहा है, इस मकार ब्रह्मलोकस्थ मुक्त पुरुषों की गीता में भी पनराष्टित्त कथन कीर्गई है, ननु-ब्रह्मलोकस्थां की पुनराष्ट्रित हो पर 'तत्त्वमस्यादि " वाक्यजन्य ज्ञान से जिनको ब्रह्मात्मभाव का ज्ञान होगया है उनकी पुनराष्ट्रित तो नहीं होसक्ती, यदि इस मकार सम्यक् ज्ञाियों की पुनराष्ट्रित निरोधक यह सूत्र मानाजाय तो फिर इसका त्रिपयवाक्य कोई नहीं रहता, क्योंकि वेद और उपनिषदों में कोई मन्त्र इस मकार का नहीं जिससे यह जानाजाय कि सम्यक् ज्ञान वालों की पुनरावृति नहीं होती, इसिंछये मुक्तों की पुनराष्ट्रित निषेध के छिये यह सूत्र है, यह व्याख्यान सर्वथा असङ्गत है, मायावादियों ने केवल सूत्रों काही अन्यथा व्याख्यान नहीं किया किन्तु गीता का भी किया है, जैसाकि "ईइवर सब माणियों के हृदय में रहता है"इस

श्लोक का व्याख्यान यह किया है कि यह श्लोक मायोगाहित ईश्वर को बोधन करता है, ऐसा अर्थ सर्वथा गीता के अभिप्राय से विरुद्ध है क्वोंकि अर्जुन को श्रीकृष्ण यह बोधन करते हैं कि यदि अहङ्कार के कारण तुम यह मानो कि मैं युद्ध न ककंगा तत्र भी तुम सर्वथा स्वतन्त्र नहीं,क्योंकि 'ईश्वरःसर्वभूतानांहदेशेऽर्जनतिष्ठति'= हे अर्जुन ईक्वर सब प्राणियों के हृदय में विराजमान है और तुम उसके अधीन हो, इस मकार सर्वथा व्यास के आशय से विरुद्ध व्याख्यान करना मायावादियों की माया है, हमने अपने "गीतायोगप्रदीपार्यभाष्य"में सद स्थलों को भले पकार स्पष्ट किया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, पायः विशिष्टांद्रतवादियों ने भी उक्त सूत्र का व्यास के अभिमाय से अन्यया व्याख्यान किया है, जैसाकि यदि मुक्ति में जीव ईक्वर के अधीन रहता है तो ईक्वर फिर भी उमकी पुनराष्ट्रित करदेगा,इनलिये व्याम ने कहा है कि "अनावृत्ति शब्दात,अनावृत्ति शब्दात्"यह व्याख्यान असङ्गत है,क्यों कि यह जो कहागयाहै कि लाटकर नहीं आता यह कथन ईक्वर के अधीन होने से नहीं बनसक्ता,क्योंकि इस पूर्वपक्ष की निटक्ति के लिये वैदिकवाक्य मे अनादृत्ति मिद्ध कीगई हैं।इनका उत्तर यह हैं कि जैसे अनादि होना ईश्वर की अनाधीनता को सिद्ध नहीं करता,इसी मकार अनाष्टीत्त वाले का ईक्वराधीन होना किसी से हटाया नहीं. जासकता, इसल्ये इनकी पूर्वमूत्र से सङ्गति ठीक नहीं,इस प्रकार युत्रों का व्याख्यांन मायावादियों के समान व्याख्यानाभास ह, यद्यपि जीव ईश्वर प्रकृति को भिन्न २ स्वीकार करने मे विशि-ष्टाद्वेत वैदिकद्वैतवाद से भिन्न नहीं तथापि इस प्रकारके सूत्रों का अन्यथा व्याख्यान करने तथा एक ही ब्रह्म को सब स्रष्टि का उपादान कारण मानने और परिच्छित्र जीवों के एक २ करके सब की मुक्ति

होने पर मुंसार का मूलोच्छेररूप दांच के कारण यहाँच वोधानय मत के प्रतिकूल होने से ग्राह्म नहीं, केवल वेदिकद्वैत पक्ष ही ग्राह्म है इसिल्ये वैदिकद्वैत दर्शन में विणित जो फलचतुष्ट्य में शिरोमणि मोक्ष उसके यथार्थबोधन के लिये "आहर्यभाष्ट्य" किया जाता है, क्योंकि:—

१-ब्रह्मसूत्रों पर वही भाष्य प्रामाणिक होसक्ता है जो दर्शनों के पूर्वोत्तर सिद्धान्तों से संगति रखता हो। २-सूत्रों में प्रन्थन किये गये विषयवाक्यों से

विरुद्ध न हो ॥

३- वेदाविरोधि वैदिक युक्तियों से युक्त हो। ४-त्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमाणित हो।

भाष्य के प्रामाणिक होने में यह चार भूल हैं जिनको आश्रय करके हमने किसी और आश्रय को आश्रित नहीं किया, उक्त आश्रय मे श्रेष्ठ और ननातन होने के कारण हमने इस भाष्य का नाम " आर्यभाष्य " रखा है किसी विशेष सम्प्रदाय के अभिप्राय से नहीं, इसिल्ये वैदिकों की सम्पूर्ण सन्तान इनका निम्न लिखिन श्लोक के आश्रय से आश्रयण करे :—

लब्धंन्यासपयोनिधेर्निमथनाद्रत्नंमयासुप्रभं । यस्यालोकविलोकनेनमनिस ब्रह्मप्रमाजायते ॥ यस्मात् पक्षपरिष्रहोनघटतेवेदैकवेद्येपथि । तद्दृहर्यस्रविवेचकैः सुमतिभिः स्वार्थेषुकोमत्सरः॥

आर्यमुनिः

वैदान्तार्यभाष्य की विषयसूची

प्रथमाध्याय

विषय	वृष्ट	पंक्ति
ब्रह्मजिज्ञासा		8
"अथ" शब्द के अर्थ में अन्य आचारयों का गतरे		8
स्वा० शङ्कराचार्य्य का अध्यासविषयक परिहा		१६
ब्रह्म का लक्षण	6	9
यायावादियों के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण		
का निरास	१२	१७
नाना देवताओं की उपासना का निरास		6
परमात्मा की निमित्तकारणता का वर्णन	9,9	१२
सूर्यादिकों की उपासना का खण्डन कर	के	
ब्रह्मोपासना का विधान	33	29
"इन्द्र" शब्द से परमात्मा का ग्रहण और पौरा		
णिकों का मतभेद	85	Ę
ब्रह्म और जगत की भिन्नता का वर्णन	४५	9
जड़ जगद में कर्तृत्वादि गुणों के अभाव क		
कथन	71	9,9
जीव तथा ब्रह्म के भेद का वर्णन	40	6
परमात्मा के अभोक्ता होने का कथन	6.9	28
परमात्मा के अन्तर्यामी होने का कथन		99
प्रकृत्यादिकों में अन्तर्यामिता का निषेध	1 1 1 to	2
15/4114411 4 41 11 11 11 11 11 11 11 11 11		

(2)		. ^
विषय	A8	
योगी के अन्तर्यामी न होने का कथन	90	१६
परमात्मा में अदृश्यत्वादि गुणों के होने का	৩१	૧્૭
पृथिच्यादिकों का परमात्मा के शरीरहर से		
वर्णन	9.8	18
वस्तात्मा का वैश्वानरहर से वर्णन	७६	9
प्रमात्मा का द्यु आदि लोकों का आश्रयहर		
सेवर्णन	८२	9,3
उक्त अर्थ का पूर्वपक्ष द्वारा समाधान	63	9,9
व्रह्म का भूमारूप से कथन	62	3.5
परमात्मा का अक्षरक्ष से वर्णन	९२	२३
ब्रह्म का दहराकाशक्य से कथन	९६	३ .इ
बादरायणाचार्य के मत से सब अवस्थाओं में		
कर्यों के अधिकार का वर्णन	११३	ş
वेद में विरोध होने का परिहार	११७	9
वेद के नित्य होने का वर्णन	१२०	8.8
ब्रह्मविद्या में शूद्र का अधिकार	१२४	85
संस्कारों द्वारा शृद्रत्वादि धर्मों का वर्णन	१२६	9,9
गुण कर्म स्वभाव से शुद्र को शास्त्र में अनिध-		
कार	१२८	9
ब्रह्म का आकाशक्य से वर्णन	१३२	9
	१३७	
प्रकृतिबादं का खण्डन	3.83	26
साष्ट्रिके स्वभावासिद्ध न होने का वर्णन		
"अजा" शब्द पर विचार	३,८६	१५

(3)

विषय	वृष्ठ	पंक्ति
" पञ्च जन " शब्द पर विचार	१५०	१३
हितीयाध्याय		
ब्रह्म के उपादानकारण होने का खण्डन	१८५	4
मायावाद् का खण्डन	360	5.8
धर्मनिर्णय में तर्क की अपितष्ठा का कथन	१९२	30
भोग्य भोक्ता का वर्णन	368	9,9
कार्य कारण की अभेदसिद्धि के लिये "आर		
म्भणाधिकरण का पारम्भ	१९६	9
"तत्त्वमिस " वाक्य से भागत्यागळक्षणा द्वारा		
जीव ब्रह्म की एकता का कथन	१९९	ş
स्वा॰रामानुज के मतानुतार " तत्त्रमि "		
वाक्य का अर्थ	२००	8
एकवस्रवाद का खण्डन	२०३	4
सामग्री से विना ब्रह्म के कर्ता होने का		
चपपादन	29.9	9
जगत् रचना में ब्रह्म का प्रयोजन	२२५	2.6
ब्रह्म में वैषम्य नैर्घृण्य दोष का परिहार	२२७	8
कर्मों के अनादि होने का वर्णन	२२८	9.
प्रकृति के निषितकारण होने का खण्डन	२३३	१५
चार्वाक मत का ग्लण्डन	८ इ.५	9,9
ब्रह्म के उपादान कारण होने का खण्डन	२४६	9
बोद्धों की प्रक्रिया का खण्डन	२५०	२०
शृन्यवादी याध्यभिक के मत का खण्डन	२ ह १	२

(8)

विषय	SE	पंक्ति
जैनमत का खण्डन	२६१	38
साकार ईश्वरवादी के यत का खण्डन	२६६	9
ईश्वर के अजन्मा होने का वर्णन	२६९	9
आकाशादिकों की उत्पत्ति विषयक विचार	२७३	१७
भूतों के लय का ऋम वर्णन	२८१	8.8
जीव के उत्पत्ति विनाशशाली होने की आशङ्का	२८४	80
जीवात्मा के ज्ञाता होने का वर्णन	२८८	80
जीवात्मा के अणु होने का वर्णन	२९०	85
विभुवादी के मत में दोष	२९८	3.0
जीवात्मा के कर्ता होने का विचार	308	
जीव के स्वतन्त्र परतन्त्र विषयक विचार	305	G
" अंशाधिकरण " का पारम्भ	\$ 8,0	१३
इन्द्रियों की उत्पत्ति विषयक आशक्का	356	ह
मुख्यभाण की श्रेष्डता का वर्णन	३२५	9
पञ्जीकरण का विवरण	४६६	9
तृतीयाध्याय		
जीद की परलेक यात्रा का वर्णनं	3\$6	6
मुक्त पुरुष की कर्मश्रोष से पुनराष्ट्रित का वर्णन	३४६	86
सात नरकों का कथन	३५३	Ę
मुक्ति से छोटकर आते हुए जीव के आगमन		
का प्रकार	३५३	3
सुषुप्ति अधिद अवस्थाओं के वर्णन में स्वप्नावस्था		
विषयक पूर्त्रपक्ष	३६२	६

(9)

विषय	वृष्ठ	पंक्ति
उक्त पूर्वपक्ष का समाधान	३६४	9
स्वप्न के शुभाश्यभ सूचक होने का कथन	३६६	5.8
जीव के बन्धमीक्ष विषयक वर्णन	३६८	55
जीव की सुषुप्ति अवस्था विषयक वर्णन	90	٩
जीव की जामन अनस्था का कथन	३७२	૪
जीव की मुर्च्छावस्था का कथन	se ş	6
ब्रह्म के निराकार होने का शंतिपादन	reș	39
परमात्मा की निराकारता में योगियों का		
अनुभव े	७३६	e,
परमात्ममाक्षात्कार में निविध्यासनहर कर्म की		
अवस्य कर्तव्यता	366	8.8
ब्रह्म के सर्वीपरि होने में पूर्वपक्षं	30,3	4
उक्त पूर्वपक्ष का समाधान	३९४	9
जीव के कर्मकल का विचार	30,9	9,6
मतीक तथा ब्रह्मोपासना ' विषयक विचार	eck	9,9
वहा के आनन्दादि गुणों का कथेन	855	२ १
ब्रह्म की सूक्ष्मता का वर्णन	४१४	Ę
भोजनकाल में आंचमन का विधान	४१७	9,9
मुक्ति की माति में किसी आश्रमविशेष का		
नियम न होने का कथन	831	6
मुक्ति की अविध का कथन	४३२	4
परमात्मा के सत्यकामादि गुणों के कल्पित		
होने की आशङ्का पूर्वक समाधान	880	6.5

विषय	वृष्ट	पंक्ति
उद्गीथोपासनाविषयक वाक्यों का विचार	४४२	6
शाण्डिल्य तथा दहरादि उपासना विषयक वि चा	र ४५८	9.
ज्ञान कर्म के समुचय द्वारा मोक्षप्राप्ति का वर्णन	४६३	9
मुक्तिक्प फल के लिये वेदाध्ययन का उपयोग	8.99	Q
नैष्टिक ब्रह्मचारी के लिये गृहस्य सम्बन्धी		
कर्मों का अकर्तव्य कथन	ECK	30
मुक्ति के लिये शमदमादि सायनों का अववय		
कर्तव्य	365	q
पाणनाश काल में योगी के लिये मन अन्नों		
के भक्षण की आज्ञा	४८५ .	É
मद्यमांसादि अभक्ष्य पदार्थों के खान पान का निपे	१४८७	Ę.
यज्ञादि कर्गों के अनुष्ठान का चित्रान	628.	२०
आश्रमकर्मों का दिधिवत् अतुष्ठान न कर्ने		
वाल पुरुष के लिये ब्रह्मविद्या में अनः		
धिकार	४८९	२०
संन्यास से पतित हुए पुरुष का प्रायश्चित		TER
द्वारा मुक्ति में अधिकार वर्णन	255	9
यहस्याश्रमी के लिये अनुष्टेय साधनों का	IR Park	No State of
वर्णन	४९९	ર ૧
मुक्ति में जन्म का अनियम कथन	७०१	80
The state of the s	gillion i	
चतुर्थाध्याय		
मसाद्यतिकप ध्यान के प्रकार का कथन	400	8

(e)		
विषय	पृष्ठ	पंकि
स्रातिं द्वारा ब्रह्मोपासना का निषेष	490	8
ब्रह्मोपासना में आसनादिकों का प्रकार	५१३	8
ब्रह्मोपासना में देशिवशेष का अनियम	५१५	१३
यावदायुष ब्रह्मोपासना करने का विधान उपासक के कियमाण तथा मंचित पापकर्मी	५१६	9
के विनाश का कथन	५१७	3
अग्निहोत्रादि निसनैभित्तिक कर्मों की अवश्य		
कर्त्तव्यता का विधान	486	36
वागादि इन्द्रियदात्त्रयों के लय का कथन ,	५२३	8.5
विद्वान तथा अविद्वान की उत्क्रान्ति का भेद		
निक्पण	ं ५२९	२०
देहत्यागकाल में जीव के मत्यक्ष न होने का		
वर्णन	५३१	9.3
जपासक की उत्क्रान्ति में विशेषना	५३६	२०
देवयान तथा पितृयाण मार्ग का वर्णन	५४२	Q
मुक्त पुरुष की तद्धर्मतापत्ति का कथन	446	9
जीव ब्रह्म के अभेद कथन का तात्पर्य	५६४	3
मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य वर्णन	५इ९	२०
मुक्त पुरुष के शरीगभाव का वर्णन	4.99	29
शरीर तथा इन्द्रियों के अभावकाल में मुक्त		
पुरुष के ऐइवर्य्यभोग का कथन	५७४	é
मुक्त घुरुप के ऐश्वर्य की मर्यादा का वर्णन	५७६	२०

विषय	र्वे व	पंक्ति
मुक्त पुरुष तथा ईश्वरीय ऐश्वर्य का स्पष्ट भेद	५७१	38
मुक्तपुरुष और ईश्वरीय ऐश्वर्य की आंशिक		
समता का वर्णन	५८२	8
मुक्ति में ब्रह्मध्यान की अनाद्यति का कथन	463	86
स्वामी शङ्कराचार्य्य की कैवल्यमुक्ति का खण्डन	463	१८



ओ३म्

अथ वेदान्तार्यमाष्यं प्रारम्यते

सङ्गति-महर्षिच्यास मोक्ष के हेतुभूत ब्रह्मज्ञान का विस्तार पूर्वक निरूपण करने के लिये ब्रह्ममीमांसाज्ञास्त्र का आरम्भ करते हुए प्रथम ब्रह्मजिज्ञासा कथन करते हैं:—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १॥

पद्०-अथ । अतः । ब्रह्मजिज्ञासा ।

पदा०-(अथ) वेदाध्ययनपूर्वक वैराग्यादि साधनों के अनन्तर (ब्रह्मजिज्ञासा) ब्रह्म के जानने की इच्छा कीजाती है (अतः) इसिछिये कि अन्य सब फट तुच्छ हैं।

विचार यह सब पर्यायशब्द हैं, स्वाभाविक ज्ञानिकयाशक्तिवाला निरतिशय असंख्येय कल्याणगुणाकर परमात्मा "ब्रह्म" पद का मुख्यार्थ है, क्योंकि महत् गुणों के साथ योग ही ब्रह्म शब्द की मद्यति का निभित्त है जो ईश्वर के विना अन्य किसी चिदचिद्वस्तु में मुख्यक्ष से नहीं पायाजाता, इसपकार " कर्त्तव्या " पद के अध्याहार करने से सूत्र का यह अर्थ निष्पन हुआ कि यथेष्ट ब्रह्मानन्दोपभोगक्ष ब्रह्मप्राप्ति की अपेक्षा ऐहिक तथा पारलोकिक कर्मफल तुच्छ तथा अल्पकाल-स्थायी होने के कारण कर्मकाण्ड के अनुष्ठानपूर्वक वैराग्यादि साधनों के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्य है, यद्यपि "जिज्ञासा" पद सन्परायानत होने से ज्ञानेच्छा का वाची है तथापि " कर्चव्या " पद के अध्याहार द्वारा लक्षणाद्यत्ति = उपचार से विचार का बोधक जानना चाहिये, और जो "विज्ञानिभिक्क" ने "अय " शब्द को आरम्भार्थक मानकर यह अर्थ किया है कि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र से लेकर मधा-नतया जिसमें ब्रह्म का विचार हो उस शास्त्र का आरम्भ किया जाता है, यहां विचारणीय यह है कि " जिज्ञासा " पद शक्तिष्टिच द्वारा क्षानेच्छा का वाची है अथवा ब्रह्मविचाररूप अर्थ का लक्षणाद्यत्ति से बोधक है ? यदि प्रथमपक्ष में " अथ " शब्द को आरम्भार्थक मानाजाय तो मुत्रार्थ यह होगा कि वसकान की इच्छा का आरम्भ कियाजाता है सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रसेक अधिकरण में ब्रह्मज्ञान की इच्छा नहीं पाई जाती मत्युत इच्छापूर्वक ब्रह्म का विचार पायाजाता है, यदि उक्त पद को ज्ञानेच्छा का वाची न मानकर विचार का बोधक

मार्ने अर्थात् " ब्रह्ममीमांसा का आरम्भ कियाजाता है " यह अर्थ करें तो " कर्त्तव्या " पद के अध्याहार से आरम्भार्थ की सिद्धि होने पर उक्त अर्थ के वोधनार्थ "अथ " शब्द का निवेश ही व्यर्थ होजायगा, इसिलये यथोचित साधनसम्पत्ति के अनन्तर अधिकारी को ब्रह्मविचार कर्त्तव्य है यही मानना ठीक है, स्तामी " रामानुज " ने " अथ " शब्द के अर्थ वेदाध्ययनानन्तर और स्त्रामी "शङ्कराचार्य" ने साधन चतुष्ट्य के अनन्तर के किये हैं, इन दोनों अर्थों में कोई विशेष भेद नहीं, क्योंकि पायः अधीतशास्त्र पुरुष ही साधनचतुष्ट्य सम्पन्न होता है परन्तु "श्रीभाष्याचार्यण का यह कथन कि उत्तरमीमांसा पूर्वमीमांसा का एकभाग है अर्थात १२ अध्याय पूर्वमीमांसा और चार अध्याय उत्तरमीमांसा यह दोनों मिछकर एकशास्त्र है सो ठीक नहीं, क्योंकि इसमकार षद्शास्त्र की प्रसिद्धि नहीं रहती, हां इतने अंश में " श्रीभाष्याचार्य " का कथन ठीक मतीत होता है कि भिन्न २ विषय पायेजाने से दोनों मीमांसाओं का परस्पर विरोध नहीं, क्योंकि कर्मकाण्ड का अनुष्ठान ही पुरुष को ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी बनाता है।

ननु—"प्रयोजनमनभिसन्धायमन्दोपि न प्रवर्तते"= प्रयोजन के विना मन्द पुरुष भी किसी कार्यमें प्रष्टत्त नहीं होता, इस न्याय के अनुपार ब्रह्मज्ञान का कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिये जिससे ब्रह्ममीमांसा के श्रवणार्थ पुरुष की प्रष्टित्त हो, यदि मुक्ति ही प्रयोजन मानाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि वह केवल कभीं के अनुष्ठान से भी होसक्ती ह, जसािक "अपाम

सोममस्ता अभूम " ऋ०८। ४८। ३=सोमपान करने से पुरुष अधृत होजाता है, इसादि वाक्यों से स्पष्ट है, फिर उसकी प्राप्ति के लिये ब्रह्मज्ञान प्रधान उत्तरमीमांसा का आरम्भ 🗠 करना निष्फल है ! उत्तर-अपहतपाष्मादि गुणों के धारणपूर्वक ब्रह्मानन्दोपभोगरूपमुक्ति ही इस शास्त्र का प्रयोजन है और वह एकपात्र ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होती है अन्यथा नहीं, जैमािक " य इत्तदिदुस्तेऽमृतत्वमानशुः "ऋ०२।३। १८। २३= ब्रा के सामात्कार से ही पुरुष अमृतपद को पाप्त होता है, " तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽ यनाय " यज् ०३१।१८=परमात्मां को जानकर ही पुरुष अभृत को मास होता है अन्य कोई मार्ग नहीं " तमेव विद्धान्य न विभाय मृत्योः" अथर्व० १। ५।४४= ब्रह्मवेत्ता पुरुष मृत्यु के भय से रहित होजाता है, इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है, और इसी भाव को मुण्ड० २। २। ५ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:-

यस्मिन् द्योः पृथिवी चान्तिरिक्षमोतं मनः सह प्रा-णैश्चसर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो वि-मुञ्चथामृतस्येष सेतुः ॥

अर्थ-जिस सर्वान्तर्यामी परमात्मा में द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्षादि सब लोक ओतप्रोत हैं और सब इन्द्रियों के साथ मन भी जिसमें ओत्मोत है उसी एक आत्मा को जान उससे भिक्ष अन्य सब अनात्मपरायण वाणियों को छोड़दे, क्योंकि
मृत्युरहित अमृत पद की माप्ति का वही एकमात्र उपाय है,
" ब्रह्मिविदाप्तोतिपरस् " तै० २ । १ = ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही
परमपद=मोक्ष को माप्त होता है,इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से सिद्ध है
कि एकमात्र ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति का साधन है।

और जो पूर्वपक्षी का कथन है कि "अपामसोमम-मृता०" इत्यादि मंत्रों में केवल कर्मी द्वारा मोक्ष की सिद्धि कथन की है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त मन्त्र में "अमृता" पद मों से के अभिपाय से नहीं आया किन्तु उपचार से केवल कर्मानुष्ठानियों की प्रशंसा बोधन करता है, यदि केवछ कर्मानुष्ठान ही मोक्ष का हेतु होता तो " तमेवविदित्वा०" इत्यादि मन्त्रों में ब्रह्मज्ञान को मोक्ष का हेतु कथन न किया जाता और नाही " नान्यः पत्था० "इस वाक्य में यह प्रतिपादन किया जाता कि ब्रह्मज्ञान से भिन्न अन्य कोई मुक्ति का साधन नहीं, और इसी भाव को महिष " कृषिल " ने इसमकार स्फुट किया है कि " ज्ञानान्मुक्तिः " सां० ३। २३=परमात्मज्ञान से ही मुक्ति और " बन्धोविपर्ययात् "सां० ३। २४=मि-ध्याज्ञान से बन्ध होता है, अतएव केवल कर्म ही मोस का साधन नहीं किन्तु ज्ञान और कर्मी का समुचय मुक्ति का साधन अभि-प्रेत है, अन्तरङ्ग होने से ज्ञान मुख्य और कर्म गौण हैं।

इस सूत्र के विषयवाक्यों की सङ्गति इस मकार है कि "याज्ञ-वल्क्य" के परिवालक होने समय "मैत्रेयी " ने पूछा कि

हे भगवन ! आप किसलिये इस संसारवर्ग को छोड़कर जाते हैं तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि "नवारे सर्वस्य कामाय सर्वे प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वे प्रियं भव-ति।आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-सितव्यः मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्व विदितम् " व्हदा० ४ । ६ = हे मैत्रेयी ! यह संसार आत्मा के लिये ही प्यारा है अन्य के लिये नहीं. इसलिये वही द्रष्ट्रच्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है अर्थाव द्रष्ट्रच्य=तत्वज्ञान द्वारा साक्षात् करेन योग्य,श्रोतच्य=श्रुतिवाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तव्य=वेदाविरोधि तर्कों से मनन करने योग्य और निदिध्यासितव्य=निदिध्यासन=चित्तवितिरोध द्वारा बारम्बार अभ्यास करने योग्य है, और वही आत्मशब्द वाच्य ब्रह्म सिचदानन्दस्वरूप है, उसी के श्रवण, मननादिकों से सब कुछ जाना जाता है, इसिलये उसी के जानने की जिज्ञासा करनी चाहिये॥

स्त्रामी शङ्कराचार्यजी अध्यास की भूभिका बांधकर इस सूत्र का इस प्रकार छापन करते हैं कि त्रैकाछानाध्य=तीनो काळों में एकरस सर्वगत अहंपतीतिसिद्ध आत्मा पदार्थमात्र का प्रकाशक होने से "विषयी" तथा आत्मा से अतिरिक्त अहङ्कारादि अनात्म पदार्थ "विषय" कहछाते हैं, यद्यपि तम तथा प्रकाश की भांति परस्परविरुद्धस्त्रभाव वाछे आत्मा और अनात्मा का इतरेतरभाव=एक द्सेर का रूप होजाना

9

मथवाध्याये-मथमःपादः

नहीं बनसक्ता तथापि अनादि अनिर्वचनीय ब्रह्माश्रित अविद्या द्वारा अनात्मा में आत्मा तथा आत्मा में अनात्मा और उनके चेतनता जड़तादि धर्मों का अन्योऽन्याध्यास पायाजाता है जिससे सम्पूर्ण अविद्यानिमित्तक अनांदि अनन्त प्रमाणप्रमेयक्रप व्यव-हार श्रीक्तरजतादिकों की भ्रममात्र मतीति होरही है और इसी का नाम " संसार " है, इसी कर्तृत्वभोक्तत्वरूप अनर्थ के हेतुभूत अविद्या के बाधपूर्वक ब्रह्मात्मैकलक्ष विद्या की प्राप्ति के छिये वेदान्तशास्त्र का आरम्भ किया गया है, यहां विचार-णीय यह है कि अविद्या किसका आश्रय छेकर संसारकप श्रान्ति को उत्पन्न करती है ? यदि जीवाश्रित होकर उत्पन्न करती है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जब अविद्या बने तो जीव की सिद्धि हो और जब जीव सिद्ध हो तब अविद्या बने, इसमकार अन्योऽन्याश्रय दोष पायेजाने से अविद्या को जीवाश्रित मानना सर्वथा भ्रान्तिमूलक है, यदि आविद्या को ब्रह्म के आश्रित मानकर संसारहर अनर्थ का हेतु मानाजाय तो उत्तर यह है कि जिसमकार मकाश अधकार का विरोधी होने से उसका आश्रय नहीं इसी प्रकार स्वयंप्रकाश ब्रह्म अविद्याका विरोधी होने के कारण उसका आश्रय नहीं होसक्ता, और जो इन्होंने इस सूत्र में अध्यासकी भूमिका बांधकर वेदवास्त्र को भी अविद्या की कोटी में रखा है अर्थाद वेदशास्त्र को भी स्वप्नज्ञान के समान आविद्यक मानकर कहा है कि उस अविद्या की निर्दात्त के लिये शास्त्र प्रवत्त हुआ है, भला अविद्या की निवृत्ति इस

d

वेदान्तार्घभाष्ये

आविद्यक शास्त्र से कैसे ? इत्यादि तर्क से तुछना भी न करें तब भी यह बात सूत्रकार के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, सूत्र के अक्षरों से यह बात नहीं पाई जाती कि यह प्रमाणप्रमेय सब अध्यास हैं, अस्तु इस विषय पर जो मायावादी भाष्यकार ने छिला है उस का खण्डन करना हमारा प्रयोजन नहीं, हमारा मुख्य प्रयोजन यह है कि सूत्रों का अभिपाय क्या है और आपस में सूत्रों की सङ्गति कैसे छगती है, इसी भाव को आगे स्फुट करते हैं।

सं ० – अब जिज्ञासितव्य ब्रह्म का लक्षण कथन करते हैं:-

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

पद०-जन्मादि । अस्य । यतः ।

पदा०-(यतः) जिससे (अस्य) इस संसार के (जन्मादि) उत्पत्ति आदि होते हैं वह ब्रह्म है।

भाष्य-जिसके आदि में जन्म हो उसको "जन्मादि"
कड़ते हैं, इस बहुब्रीहि समास से उत्पत्ति, स्थिति तथा छय इन
वीनों का ग्रहण होता है, "यस्मात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तिश्चरात्स्टिष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवक्तिन्ते तद्ब्बह्य"=अनेक मकार की
विचित्र रचना वाछे इस चराचर संसार के जिस सर्वज्ञ सर्वज्ञाक्तिमान्
से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं वह "ब्रह्म" है, इस सूत्र
का विषय बाक्य यह है कि:—

प्रथमाध्याये-प्रथमःपादः

यतो वाइमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्धि जिज्ञासस्य तद्ब्रह्म।।

अर्थ-जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते, जिसमें स्थिर रहते,
जिसकी सत्ता से जीने और अन्त में जिसमें छय होते हैं वह "ब्रह्म"
है उसीकी जिज्ञासा कर, इस मूत्र में ब्रह्म का छक्षण किया
गया है जिसका आशय यह है कि जो जगद का निमित्तकारण
है वही ब्रह्म है, क्योंकि इच्छापूर्वक कर्त्ता होना निमित्तकारण
में ही पाया जाता है उपादान में नहीं।

यह सूत्र शङ्करमत में इस हेतु मे नहीं घटता कि उनके मत में ईश्वर और ब्रह्म भिन्न २ हैं, जो शुद्ध है वह ब्रह्म, और जो माया-पहित अर्थात माया उपाधि वाला है वह ईश्वर है, यदि महींष ज्यास का भी यही अभिमाय होता कि ब्रह्म और ईश्वर दोनों भिन्न २ हैं तो वह ब्रह्मलक्षणविषयक प्रश्न उठाकर ईश्वर का लक्षण न करते, क्योंकि उक्त मत में जगज्जन्मादिकों का हेतु तो ईश्वर है न कि ब्रह्म,हमारे विचार में सुत्रकार के मत में ब्रह्म और ईश्वर एकही है, इसीलिये ब्रह्म को जगत्कर्त्ता माना है।

यह भेद तो मायावादियों के मत में है कि ब्रह्म और ईश्वर भिन्न २ हैं, इस विषय में वेद और आर्ष ग्रन्थों का कोई ममाण उनके अनुकूल नहीं और जो उन्होंने इम सूत्र में ब्रह्म का तटस्थ लक्षण मानकर खेंचतान मे अपना अभिशाय सिद्ध किया है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि इम मकार भी तो ईश्वर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

9

का ही लक्षण सिद्ध होता है, उनके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म में जगत्कर्तृत्व ही नहीं फिर उसका उक्त लक्षण कैसे ?।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(शास्त्रयोनिलात्) ब्रह्म ऋग्वेदादि शास्त्र का स्वायेता होने से जगत् का निमित्तकारण है।

भाष्य-पूर्वसूत्र में जो ब्रह्म का यह छक्षण कियागया है कि वह जगत का कारण है, ऐसा कथन करने पर पञ्चमी विश्वक्ति से यह सन्देह बना रहता है कि वह जगत का उपादान कारण है वा निमित्तकारण ? इस सन्देह की निवृत्ति के छिये इस अधिकरण का आरम्भ कियागया है, जिसमकार चेतन होने से ब्रह्म ऋग्वेदादिशास्त्र का कर्जा है इसीमकार जगत का निमित्त कारण है उपादान नहीं, यदि यह कहाजाय कि उपादान-कारण में ही पञ्चमी होती है, यह नियम नहीं, जैसाकि "पुत्रात्ममोदो जायते" = पुत्र से ममोद होता है, इत्यादि स्थळों में पञ्चमी निमित्तकारण में देखीजाती है, क्योंकि पुत्र ममोद का उपादानकारण नहीं, इस सूत्र के विषयत्राक्य यह हैं:—

"एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमे तैत ग्रहण्वेदो य-जुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं श्लोको न्याल्यानान्यज्ञमानानि प्रमाणभूतानि" बृहदा०२।४।१० " तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जिद्गरे " यज्ज०३१। ७.

अर्थ—ऋग्वेद, यजुवेंद, सामवेद, अथर्ववेद और इनके व्याख्यानभूत इतिहास पुराण तथा क्लोकादि यह सब उस ब्रह्म के क्वासक्ष्य हैं, उस यज्ञक्ष्य परमात्मा से ऋग्वेदादिशास्त्र उत्पन्न होते हैं, इसमकार सर्विच्या के भाण्डार वेदों का कर्त्ता होने से ब्रह्म चेतन जगत का निमित्तकारण है और इच्छापूर्वक कर्ता होना निमित्तकारण में ही पाया जाता है उपादान में नहीं, जैसाकिः—

इच्छापूर्वक कर्तृत्वं प्रभुत्वमस्वरूपता । निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित् ॥

अध-इच्छापूर्वक कर्ता होना, प्रभु होना, कार्य्य के समान इप वाला न होना, यह तीनों गुण निमित्तकारण में ही होते हैं उपादान में नहीं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट हैं कि ब्रह्म निमित्त कारण है उपादान नहीं।

इस सूत्र का दूमरा अर्थ इस मकार है कि "शास्त्रं योनिः प्रमाण यस्मिन् तच्छास्त्रयोानिस्तस्य भावस्तत्वम्"= योनि का अर्थ "प्रमाण" और शास्त्र जिसमें प्रमाण हो अर्थात जिस को शास्त्र निमित्तकारणक्ष्यसे कथन करे उसको "शास्त्रयोनि" कहते हैं, इस अर्थ में इस अधिकरण का विषयत्रास्य यह है कि:— "स पर्यगाच्छुक्रमकायमत्रणमस्नाविर्ण शुद्धम- पापविद्धं कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ-र्थान्व्यद्धाच्छा स्वतीभ्यः समाभ्यः" यज्ञ ४०। ८

अर्थ—वह परमात्मा पराक्रमयुक्त, शरीररहित, अणरहित, नाड़ियों से रहित और पाप के स्पर्श सें रहित होकर सर्वत्र व्याप्त है और वह अपनी सत्ता से स्थिर होकर सब पदार्थों को रचता है, इस मन्त्र में स्पष्टक्रप से परमात्मा की निमित्तकारणता विधान की है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व निमित्तकारण में ही पायाजाता है अन्यत्र नहीं, और इसी भाव को ऋग्०२। ३। १७ में इसप्रकार वर्णन किया है कि:—

दासुपर्णासयुजासखायासमानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्धत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

अर्थ-अनादि प्रकृतिकृप दक्ष का आश्रय किये हुए दो चेतन हैं जिनमें जीव कर्मफल का भोक्ता और दूसरा ईश्वर अभोक्ता होकर साक्षीकृप से वर्त्तमान हैं अर्थात जीव, ईश्वर और प्रकृति यह तीन पदार्थ अनादि हैं, जिनमें प्रकृति जगत का उपादान-कारण और ईश्वर निमिक्तकारण है।

और जो मायावादी ब्रह्म को अभिन्नानामित्तोपादानकारण मानकर उसकी सिद्धि में यह प्रमाण देते हैं कि:—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्या-मोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषः केशलोमा-नि जायन्ते तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" गुण्ड० ९ । ७ अर्थ-जिस प्रकार मकड़ी अपने आपसे तन्तुओं को उत्पन्न करके अपने में ही लय करलेती हैं अथवा जैसे पृथिवी से ओपिधयां, जीवित पुरुष से केश, लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से यह जगत उत्पन्न होता है, यहां मकड़ी आादे तन्तु आदि के स्वयं उपादान तथा निभित्तकारण पायेजाते हैं ? उनका यह कथन उक्त श्रुतिवाक्य से विरुद्ध है, क्योंकि मकड़ी चेतन-त्वेन निभित्तकारण तथा शरीर द्वारा उपादान कारण है, यादे मकड़ी तन्तु के प्रति आभन्ननिमित्तोपादानकारण होती तो उसके मृतशरीर से भी तन्तुओं का निकलना पायाजाता पर ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य में भिन्न २ कारणता इष्ट है और इसी भाव को मुण्ड० १ । ६ में इसमकार वर्णन किया है कि:—

यत्तद्देश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षःश्रोत्रंतद्पा-णिपादम् । नित्यं विश्वं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदन्ययं यद्भृतयोनि परिपश्यन्ति धीराः॥

अर्थ-जो बहा रूपादि रहित होने से ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं और जो किसी बंश में उत्पन्न न होने के कारण अगोत्र है वही सर्वव्यापक, अतिमृक्ष्म, उपादानादि विकाररहित भृतयोनि=जगत का निमित्तकारण है, जिसको विवेकी पुरुष ही सर्वत्र ज्ञानदृष्टि से देखते हैं अन्य नहीं, यदि ब्रह्म उपादानकारण होता तो उसको कल्याणगुणों का आकर कदापि कथन न कियाजाता और नाही उपनिषत्कार उसको अव्ययादि शब्दों से वर्णन करते, परन्तु किया है, इससे सिद्ध है कि ब्रह्म को जगज्जन्यादिकों का निमित्तकारण मानना ही ठीक है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषद्ग्रस्यभाष्य" में कियागया है इसिछिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०-नतु-शास्त्रों में नानादेवताओं की उपासना पाईजाती है, इसिछये निराकार ब्रह्म शास्त्र का विषय नहीं होसक्ता? उत्तर:-

तत्तुं समन्वयात् ॥ ४॥

पद् -तत्। तु। समन्त्रयात्।

पदा०-(समन्त्रयात्) समन्त्रय पायेजाने से (तत्) वह निराकार ब्रह्म ही शास्त्र का निषय है।

भाष्य-मूत्र में "तु" शब्द प्रविषक्ष की व्याद्यत्ति के लिये आया है, "सम्यग्नव्यः समन्वयः प्रतिपाद्यप्रतिपादक-भावः सम्बन्धः" = उपक्रम तथा उपसंहार की रीति से प्रति-पाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध का नाम "समन्वय" है, वेद तथा सम्पूर्ण आर्षग्रन्थों में एक निराकार ब्रह्म का ही समन्वय पाय जाने से वही शास्त्र का विषय है अर्थाद वेद और उपनिषद् मुख्यतया निराकार ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं नाना देवताओं का नहीं, जेसािक यज्ञु० ५०। १० में वर्णन किया है किः—

विश्वतश्रक्षरुत विश्वतोमुखोविश्वतोवाहुरुतविश्वतस्पात्। स वाहुभ्यांधमतिसंपतत्रैर्यावाभूमिं जनयन्देव एकः ॥

अर्थ-वह जगदीश्वर जगदुत्पत्ति प्रलय का कारण सर्वतः देखने की सामर्थ्य रखता है, सर्वतः वोलने का सामर्थ्य रखता है, इसी प्रकार मर्व ओर वाह और पाद का सामर्थ्य रखता है वह अपने वीर्य से संसार को उत्पन्न करत। हुआ एक देव है, इत्यादि अनेक मन्त्र वेद् में पायेजाते हैं जिनमें स्पष्ट लिखा है कि जगदु-त्पत्ति प्रलय का कारण एकमात्र परमात्मा ही है, और जो पूर्वपक्षी का यह कथन है कि अपि आदि जड़ देवता बेदान्तशास्त्र का विषय हैं, यह इसिलिये टीक नहीं कि समन्त्रयाध्याय में विस्तारपूर्वक निराकार ब्रह्म में शास्त्र का तात्पर्य दिखलाया है जड़देवताओं में नहीं, इसीलिये सूत्रकार ने कहा है कि "समन्वयात"= वेदान्तशास्त्र में त्रहा का ही समन्वय पायाजाता है और आग्न आदि ब्रह्म के नाम हैं, इस भाव को सूत्रकार स्वयं समन्वया-ध्याय मेंसिद्ध करेंगे "सहस्रशीर्षापुरुषः"यजु० ३१। १ इत्यादि मन्त्र व्रक्ष के मर्वव्यापक और मर्वाधारत्व के अभिपाय से हैं और "द्वेवाव ब्रह्मणोरूपेमूर्त्तेश्चेंवाऽमूर्त्तश्च" बृहदा॰ २। ३। १ इत्यादि वाक्य ब्रह्म को मूर्त्तामूर्त्त परस्परिकद्ध स्वरूप वाला वर्णन नहीं करते किन्तु यह वर्णन करने हैं कि ब्रह्म स्थूल और मूक्ष भूतों का स्वागी है और वह इन स्यूल तथा मूक्ष भूतों के क्यों से निष्पण किया जाता है, इसिछये उक्त मूर्तामूर्त भूनों को ब्रह्म का च्य कहा गया है, और वह मच्चिदानन्दस्व प्य स्वतत्ता से केवल निराकार है, इस विषय में उपनिषदों के सहस्रों प्रमाण हैं, जैमाकि:—

"अशब्दमस्पर्शमरूपमन्ययं तथारसं नित्यमगन्ध-वचयत् । अनाद्यनन्तं महतः परंध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्ममुच्यते" कड०३।१५

अर्थ-वह परमात्मा शब्दरहित होने के कारण श्रोत्रग्राह्य नहीं, त्वचा आदि इन्द्रियों का विषय नहीं और वह परम स्रूक्ष्म अनन्तादि विशेषणयुक्त है उसकी जानकर ही पुरुष सुक्ति की प्राप्त होता है अन्यथा नहीं।

दिन्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणोह्यमनः शुभ्रोह्यक्षरात्परतः परः॥

मुण्ड० २। १। २

अर्थ-वह परमात्मा दीप्तिवाला, मूर्त्तधर्म से रहित, सर्वत्र व्यापक और मत्येक पदार्थ के वाहिरमीतर हैं, उत्पत्ति तथा माण रहित है, मन से रहित है, अतएव प्रकाशस्त्रक्ष और प्रकृति से भी परमस्क्ष्म है, इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म की निराकारता सिद्ध है, इस प्रकार वेदान्तशास्त्र में निराकार ब्रह्म का समन्वय पायेनाने से स्रष्ट है कि वह जगत का निभित्तकारण है उपादान नहीं।

और जो इस मूत्र के भाष्य में शक्कर सम्तदायी टीकाकारों ने मीमांता का प्रकरण चल्लाकर समुच्चयवाद का खण्डन किया है वह सूत्र के आश्चय से मर्चथा विरुद्ध है और जो यह सिद्ध किया है कि वेदान्त में जीव ब्रह्म की एकता का वर्णन पाया जाता है, इस समन्वयमदर्शनार्थ यह सूत्र है, उक्त दोनो बातों का यहां गन्धनान भी नहीं पाया जाता, क्योंकि तीसरे सूत्र में यह निरूपण किया है कि जगत के कारण ब्रह्म में शास्त्र ममाण है, जिसमें यह पूर्वपक्ष था कि निर्गुणब्रह्म शास्त्र का विषय नहीं किंन्छ भिन्न २ देवता और साकारब्रह्म शास्त्र का विषय है ? जिसके उत्तर में यह चौथा सूत्र है, यहां जीव ब्रह्म की एकता का प्रकरण ही क्या, यदि मान भी लियाजाय कि इस सूत्र में सूत्र-कार ने यही वर्णन किया है कि जीव ब्रह्म की एकता का समन्वय वेदान्तशास्त्र में पाया जाता है तो इस समन्वयाध्याय में जीव ब्रह्म की एकता का वर्णन होना चाहिये था निक सब जड़ वस्तुओं का खण्डन करके एक निराकार ब्रह्म को कारण निरूपण किया जाता, इस अध्याय में स्पष्टक्ष से अग्नि, वायु, आकाशा-दिकों की कारणता का खण्डन करके निराकार ब्रह्म को कारण निरूपण किया गया है, जिसका विषय वाक्य यह है कि:—

"एकोदेवः सर्वभूतेषुग्रदः सर्वन्यापी सर्वभूता-न्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्ग्रणश्च" खेता० ६। ११

अर्थ-साचिदानन्दादि दिन्यगुणयुक्त होने से देव परमात्मा सब भूतों में छिपा हुआ है, वह सर्वन्यापक सब भूतों का अन्त-र्यामी, पुण्य पाप रूप फल देने का स्वामी, सब भूतों का अधिष्ठान, साक्षी चेतन और केवल निर्गुण है, इस मकार इस सूत्र क उक्त विषय वाक्य से प्रतिपादित ब्रह्म की जगत्कारणता बोधन की गंई है, इसलिये वह शास्त्र का विषय है, और जो कर्मापासन का खण्डन करके इस सूत्र को मुक्तिपरक लगाया है यह उनकी खेंच है, इसलिये निराकार ब्रह्म ही शास्त्र का विषय होसक्ता है अन्य नहीं।

सं ० – अब निराकार ब्रह्म में शास्त्र का समन्वय कथन करते हैं:—

ईक्षतेनीशब्दम् ॥ ५॥

पद०-ईक्षतेः। न। अज्ञब्दम्।

पदा०-(ईक्षतेः) इच्छा पायेजाने से (अशब्दं) ब्रह्म शब्दप्रमाण रहित (न) नहीं।

भाष्य-"न शब्दः प्रमाणं यस्मिस्तदशब्द्य्यं चित्रस्य के शब्दप्रमाण न हो उसकी "अशब्द" कहते हैं, शब्दप्रमाण से स्रष्टि रचने की इच्छा चेतन में पायेजाने के कारण ब्रह्म शब्दप्रमाण रहित नहीं, जैसाकि "तदेश्वत बहुस्यां प्रजायेय" छा० ६।२।३=उसने इच्छा की कि में बहुत संसार रचना बाछा होकर जगत में व्याप्त होऊं, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि उक्त ब्रह्म में ही शास्त्र का समन्वय है, इच्छा बाछा कथन करने से सूत्रकार का अभिपाय यह है कि नाना प्रयोजनवाला यह जगत किसी जड़ पदार्थ से स्वाभाविक ही नहीं बना किन्तु चेतन कर्जा की इच्छा से इस जगद के सूर्यादि छोकों में आकर्षण, प्रकाशन और औष्ण्य प्रदानादि प्रयोजन रक्ले गये हैं जिससे चेतन ही कर्जा सिद्ध होता है जड़ नहीं।

कई एक भाष्यकारों ने इस सूत्र के यह अर्थ किये हैं कि नहीं है

प्रथमाध्याये-प्रथमःपादः

शब्द ममाण जिसमें उसको "अशब्द"कहते हैं, सो ऐसा सांख्य-मत मकल्पित मधान जगद का कारण नहीं होसक्ता, यह अर्थ महिष् व्यास के अभिमायानुकूछ नहीं, क्यों कि उन्होंने कोई सूत्र सांख्य-मत की मकृति के तिमद नहीं कहा, और ब्रह्म को निर्विकार मानना भी तभी ठीक होसक्ता है जब जगद का उपादान कारण मकृति मानीजाय, और सूत्रकार ने भी मकृत्यधिकरण में मकृति को उपादान कारण माना है फिर उसका खण्डन कैसे करसकते थे, अत्र विस्त है कि यहां मकृति की निमित्तकारणता का खण्डन है उपादान कारणता का नहीं।

ं सं ० - तनु "तत्तेज ऐक्षत" इत्यादि वाक्यों द्वारा जड़ में इच्छा कथन की गई है, फिर कैसे कहाजाता है कि जड़ में

इच्छा नहीं ? उत्तरः—

गीणइचेन्नात्म शब्दात् ॥६॥

पद०-गोणः। चेत्। न। आत्मब्दात्।
पदा०-(चेत्) यदि (गोणः) जड़ पदार्था में गोण इच्छा
मानकर अपना पक्ष सिद्ध करो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि
(आत्मशब्दात्) उक्त प्रकरण में आत्मा शब्द पायाजाता है।

भाष्य-तत्तेज ऐक्षन्त, ता आप ऐक्षन्त" छान्दो॰ ६।२। ३=तेज ने इच्छा की, जल ने इच्छा की, इत्यादि वाक्यों में तेजोगत तथा जलगत गोण इच्छा की भांति प्रकृति में गौण इच्छा मानकर उसको स्वतन्त्रकारण मानना ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रकरण में "आत्मा" शब्द पाया जाता है, जैसािक अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'

छान्दी ० ६ । ३ । ३ = इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नामक्ष्य की करके, यह कथन तभी सक्षत होसक्ता है जब इसणकर्ता चेतन हो, क्योंकि जड़ पदार्थ के लिये "आत्मा" शब्द का प्रयोग नहीं होसका, अतएव सिद्ध है कि परमात्मा ही इम जगद का निमिन्सकारण है मक्कति नहीं।

सं ० - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं: -

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७॥

पद ० -तंत्रिष्ठस्य । मोक्षोपदेशाव ।

पदा०-(तिम्रष्टस्य) उस आत्मा में निष्ठावाले पुरुष के लिखे (मोक्षोपदेशाद) मोक्ष का उपदेश पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"तस्य ताबहेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति"छा० ६। १४। २=उस पुरुष के लिये तभी तक चिर है जबतक वह मुक्त नहीं होता अर्थात् जबतक उसके मार्क्ष कर्म क्षय नहीं होते तब तक ही उसकी मुक्ति में बिलम्ब है, इस बाक्य में पूर्वपकृत आत्मा के ज्ञान से मुक्ति का उपदेश कथन कियाग्या है और:—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यःपन्थाविद्यतेऽयनाय।।

यजु० ३१ । १८

अथे- वह महान् परमात्मा जो आदित्यवर्ण=स्वतः मकाश है उसको जानकर ही पुरुष अतिमृत्यु=मोक्ष को माप्त होता है

29

प्रथमाध्याये-प्रथमःपादः

अन्यथा नहीं, इससे यह भी पाया गया कि परमात्मकान से ही मोक्ष होती है जड़ परायण होने से नहीं, इससे सिद्ध है कि यह चेतन कर्चा का ही प्रकरण है जड़ का नहीं॥

सं ०-अव और हेतु कथन करते हैं:-

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८।

पद्-हेयत्वावचनात्। च।

पदा०-(च) और (हेयत्वावचनात्) हेयत्व वचन के न पाये'जाने से भी सिद्ध है कि यहां जड़ का मकरण नहीं।

भाष्य-यदि जड़ प्रकृति द्वारा मोक्ष होने का प्रकरण होता तो अरुन्धित न्याय से उसको "हेय " कथन किया जाता पर ऐसा कथन न करके "तस्य तावदेव चिरस्" इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को उपादेय कथन किया है, अतएव उसी का प्रकरण है जड़ का नहीं।

सं - अव निम्नालिखित तीन सूत्रों से उक्त अर्थ को स्पष्ट कहते हैं:—

स्वाप्ययात्।। ९।।

पद् ० – एकपद ० —

पदा ॰ —(स्वाप्ययाद) परमात्मा में लय सुने जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"सतासोम्य तदा सम्पन्नो भवति" छा॰

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

६।८।१ इत्यादि वाक्यों द्वारा उसी चेतन इप सद कारण में लय कथन किया गया है, क्यों कि जीवात्मा का जड़ प्रकृति में लय होना नहीं बनसक्ता, इससे भी चेतन ही जगद का कारण पाय जाता है जड़ नहीं।

गतिसामान्यात् ॥ १०॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(गतिसामान्यात्) उपनिषदों में सर्वत्र चेतन कर्ता की ही गति पायेजाने से प्रकृति निमित्तकारण नहीं।

भाष्य-उपनिषदों में सर्वत्र चेतन ही निमित्तकारण कथन कियागया है, जैसाकि "तस्माद्धा एतस्मादात्मन आ-काशः सम्भूतः" तैत्ति २। १= उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ "आत्मन एवेदं सर्वम्" छा० ७। २६। १= आत्मा से ही यह सब उत्पन्न हुआ "आत्मन एष प्राणी जायते" मन्न० ३। ३= आत्मा से ही प्राण् उत्पन्न हुए, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रकृति स्वतन्त्रकारण नहीं, इसी भाव को मुण्ड० १। ९ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥

अर्थ-जिस सर्वे का ज्ञानक्रप तप है उसी परब्रह्म परमात्मा से यह ब्रह्म नाम विराद्क्षप जगत उत्पन्न हुआ है, इत्यादि प्रमा-णों से सर्वत्र चेतनकर्त्ता की ही गति पाई जाती है,इसी अभिपाय से श्वेता ०६। ९ में भी वर्णन किया है कि:-

नतस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य ळिङ्गम् । सकारणं करणाधिपाधिपो नतस्य कश्चिजानिता न चाधिपः ॥

अर्थ-उसका जगत में कोई स्वामी नहीं, न कोई प्रेरक और न उसका साकार पदार्थों की भांति कोई चिह्न है, वह सब का कारण तथा करणाधिपाधिपः—जीवों का भी स्वामी है, उसका कोई उत्पन्न करने वाला नहीं, अतएव सिद्ध है कि ब्रह्म ही जगत का कत्ती है प्रकृति नहीं।

श्रुतत्वाच ॥ ११ ॥

पद्ं-श्रुतत्वाद । च ।

पदा०-(च) और (श्रुतत्वाद) वेद में सुने जाने से ब्रह्म ही जगद को कत्ती है।

भाष्य-वेद ब्रह्म को ही जगत का कर्ता प्रतिपादन करता है, जैसािक "ततो विराडजायत्" यज्ञ ३१। ५=डसी पर-मात्मा से यह सम्पूर्ण जगत उत्पन्न हुआ, इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध हैं कि परमिता परमात्मा ही जगत का निमित्तकारण है, स्वभा-ववादी चारवाक की मानी हुई जड़प्रकृति स्वतन्त्र कारण नहीं।

सं ० - अब ब्रह्म को जीव से भिन्न कथन करते हैं: -

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२॥

पद् -आनन्द्मयः । अभ्यासात् ।

वेदान्तार्यभाष्ये

पदा०-(अभ्यासात) अभ्यास षायेजाने से (आनन्दमयः) परमात्मा आनन्दमय है।

भाष्य-आनन्दमय केवल ईश्वर है जीव नहीं, क्योंकि उप-निषदों में पुनः २ ईश्वर को ही आनन्दमय कथन किया है, जैसाकि "तस्माद्धा एतस्माद्धिज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" तैत्ति व्यक्षा ० ५। ११=उस विज्ञा-नमय आत्मा से भिन्न परमात्मा आनन्दमय है, इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है।

ननु—इस अधिकरण के विषय वाक्यों में यह सन्देह होता
है कि "आनन्दमय" पद जीव का वाचक है किवा ब्रह्म का श्यहां
प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का
कथन है कि "तस्येष एव शारीर आत्मा" इस वाक्यशेष से
आनन्दमय के साथ शरीर सम्बन्ध पाये जाने के कारण
प्रकृत में उक्त पद शारीर जीवात्मा का वाचक है ?
इसका सिद्धान्ती यह समाधान करता है कि उक्त वाक्य
से छेकर "यतोवाचो निवत्तन्ते" — जहां मन बाणी की
गति नहीं, इस वाक्य पर्यन्त उत्तरोत्तर मनुष्य, देव तथा
गन्धवीदिकों के आनन्द की अपेक्षा सौगुणा अधिक कल्याण
गुणाकर ब्रह्म का आनन्द वर्णन किया गया है, इसिछये वही
आनन्दमय होसक्ता है जीव नहीं।

और तर्क यह है कि "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

28

छा० ६।२। ३= उसने सङ्गल्प किया कि मैं बहुत क्ष्प होजाऊं, इसी सङ्गल्प से "तत्तेजे[ऽसृजतं" छान्दो० ६।२।३= उसने तेज को उत्पन्न किया, इत्यादि वाक्यों में जो सङ्गल्पपूर्वक स्टिएचना पाईजाती है वह अल्पज्ञ जीव मे नहीं होसक्ती और मुक्त जीव का ऐश्वर्य सातिशय होने के कारण वह भी जगजजन्मादिकों का हेतु नहीं होसका, जैसाकि "जगद्व्यापार वर्ज प्रक्रिणा-द्सन्निहितत्वाच्य" व्र० स्०४।४। १७ इत्यादि सूत्रों में वर्णन कियागया है, जब स्टिए निर्माणादि का मुक्तों में अभाव कथन किया है तो फिर साधारण पुरुषों की तो कथा ही क्या, इसमे निद्ध है कि आनन्दमय केवल परमात्ना ही है जीव नहीं।

सं०-नतु-ब्रह्म भी आनन्द्रमय नहीं होसक्ता, क्योंकि "मयद्'' प्रत्यय विकार में होता है ? उत्तरः--

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३॥

पद्०-विकारशब्दात्। न। इति। चेत्। न। प्राचुर्यात्।
पदा०-(विकारशब्दात्) विकारवाची आनन्दमय शब्द
के पायेजांने से ब्रह्म निर्विकार (न) न रहेगा (चेत्) यदि
(इति) ऐसा कही तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (प्राचुर्यात्)
"मयद्" प्रचुर अर्थ म आया है।

भाष्य-ब्रह्म का विकारी होना इमिलिये ठीक नहीं कि प्रकृत में "आनन्दमय" पद विकारार्थक मयद् प्रत्ययान्त नहीं किन्तु "तत्प्रकृत वचने मयद्" अष्टा० ५।४।२१ इस सूत्र से प्रचुर अर्थ में मयद परयय किया है जिसके अर्थ निरित्तशय आनन्द के हैं, इससे सिद्ध है कि निरित्तशय आनन्दवः ले परमात्मा को ही आनन्दमय मानना सङ्गत है जीव को नहीं, प्रचुर, प्रभूत, निरित्तशय, अधिक, यह सब पर्याय शब्द हैं।

मं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :--

तदेतु व्यपदेशाच ॥ १४॥

पद्०-तद्धेतुव्यपदेशात् । च।

पदा०-(च) और (तद्धेतुच्यपदेशात्) परमात्मा को आनन्द का हेतु कथन कियेजाने से भी जीव आनन्द्रमय नहीं।

भाष्य-"रसंह्येवायं ळव्ध्वानन्दी भवति" तैर्ति० २। ७= च्रह्म को प्राप्त होकर ही जीव आनन्द होता है, इत्यादि वाक्यों में जीव को ब्रह्मपाप्तिद्वारा आनन्दलाभ कथन कियागया है, यदि जीव स्वयं आनन्दमय होता तो ब्रह्मपाप्तिद्वारा उसको आनन्दित कथन न कियाजाता, इससे मिद्ध है कि ब्रह्म ही आनन्दमय है जीव नहीं।

सं ० - अर्व वेद द्वारा ब्रह्म को आनन्द्रमय कथन करते हैं:-

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५॥

पदः -मान्त्रवर्णिकं । एव । च । गीयते ।

पद्गाण-(च) और (मान्त्रवर्णिकं) मन्त्र भतिपाद्य ब्रह्म (एव) शे (गीयते) गायाजाता है।

भाष्य-जिस ब्रह्म को बेद में आनन्दस्बद्धप कथन

कियागया है उसी को उपनिपदों में "आनन्दमय" वर्णन किया है,
जैसाकि "क्स्मैदेवाय हिविषा विधेम" यजु १३। ४=
उस आनन्दस्त्रक्ष ब्रह्म की उपासना करें, "नमः शम्भवाय
च्र मयोभवाय च" यजु ९६। ४०=उस मुख के देनेवाले
आनन्दस्त्रक्ष परमात्मा को नमस्कार है, इत्यादि मंत्रों, में परमात्मा
को आनन्दस्त्रक्ष वर्णन किया है और उसी को "तस्माद्धा
एतस्मा०" तैति ०५। ११=इत्यादि उपानिषद्दाक्यों में उपनिपत्कार आनन्दमय शब्द से प्रतिपादन करने हैं, बही अपने आनन्द
से सबको आनन्दित करता है, इसिल्ये जीव को आनन्दमय
मानना ठीक नहीं।

सं ०-अव जीव में आनन्द की अनुपपित कथन करते हैं:-

पद०- न । इतरः । अनुपपत्तेः । पदा०-(अनुपपत्तेः) कोई युक्ति न पायेजाने से (इतरः) जीव आनन्दस्वरूप (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य-जीव के आनन्दस्वरूप होने में कोई युक्ति नहीं पाई जाती, यदि वह आनन्दस्वरूप होता तो संसार में दुःल का अभाव पायाजाता पर संसार में नाना दुःलों की उपलेक्ष्य पाये जाने से स्पष्ट है कि ईश्वर के आनन्द से ही जीव आनान्दित होता है स्वतन्त्र सत्ता से आनन्दस्वरूप नहीं, जैसाकि स्वा०शङ्कराचार्य जी ने भी लिला है कि "इत्तर्चानन्दमयः पर एवात्मा नेतरः, इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः" शं० भा० १ । १ । १६ = ब्रह्म ही आनन्दमय है उससे भिन्न जो जीव है वह आनन्दमय नहीं, इस सूत्र के भाष्य में उक्त स्वामीजी ने जीव ब्रह्म के भेद को बिना किसी ननु नच के स्पष्ट माना है, स्वामी रामानुज इस सूत्र के यह अर्थ करते हैं कि मुक्त जीव भी ब्रह्म के समान आनन्दवाला नहीं होता, यद्यपि मुक्तजीव और संसारीजीव विषयक यहां दोनों भाष्यकारों के मत में कुछ अर्थभेद है तथापि जीव ईश्वर के भेद में दोनों आचार्यों के मत में यह सूत्र भेदवाद को सिद्ध करता है।

सं ० - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं: -

मेदव्यपदेशाच्च ॥ १७॥

पदः - भेदव्यपदेशात् । च ।

पदा॰-(च) और (भेद्रव्यपदेशात्) जीव ब्रह्म का भेद पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—स्वा॰ शङ्कराचार्यजी ने इस सूत्र के भाष्य में जीव ब्रह्म के भेद को इसमकार अविद्याकृत माना है कि जैसे घटोपा-पिवाले घटाकाश से महाकाश भिन्न होता है इसी मकार जीव ईक्वर का अविद्या उपाधिकृत भेद है वास्तव भेद नहीं, परन्तु ईक्वर का अविद्या उपाधि से भ्लकर जीव बनजाना ब्रह्मसूत्रों में कहीं भी नहीं पाया जाता, इससे सिद्ध है कि स्वा॰ शं॰ चा॰ जी ने अपनेमायाबाद की सिद्धि के लिये उक्त भाष्य किया है, जहां २ सूत्रकार जीव ईश्वर के भेद को कथन करते हैं वहां २ सर्वत्र अद्वेतवादी भाष्यकार की यही शैछी है कि वह अविद्या के आश्रय से जीव ब्रह्म की एकता का मण्डन करते हैं, पर स्मरण रहे कि इस आनन्दमयाधिकरण के आठो सूत्रों में माया, अविद्या का कहीं नाम तक नहीं पायाजाता, प्रत्युत इस अधिकरण में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्टतया वर्णन कियागय है, और श्रीभा-प्याचार्य रामानुज ने भी इस अधिकरण को भेदपरक ही लापन किया है।

सं०-अब जीव में आनन्द के अनुमान का निषेध करते हैं:-कामाच्चनानुमानापेक्षा ॥ १८॥

पद्०-कामात्। च। न। अनुमानापेक्षा।

पदा०-(च) और (कामात्) जीव में आनन्द की कामना पायेजाने से (अनुमानापेक्षा) अनुमान द्वारा कल्पना करने की आवश्यक्ता (न) नहीं।

भाष्य-"जीव आनन्दमयश्चित्तविश्वरवत् "= जो चेतनस्त्रक्षप होता है वह आनन्दस्त्रक्षप होता है, इस नियमा-सार जिसप्रकार चेतन होने से ब्रह्म आनन्दमय हैं इसी प्रकार चैतन्यधर्म के पाये जाने से जीव भी आनन्दस्त्रक्षप है, इस अनुमान से जीव का आनन्दस्त्रक्षण होना इसिछिये ठीक नहीं कि जीव में आनन्दछाभ करने की कामना पाईजाती है, यदि वह आनन्द-स्त्रक्षप होता तो सुखोपछिष्य के छिये कदापि यव न करता पर करता है, इसमे उक्त अनुमान बाधित होने के कारण स्पष्ट है कि जीव आनन्दमय नहीं।

सं ० - अव उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से कथन करते हैं: --

अस्मित्रस्य च तद्योणं शास्ति ॥ १९॥

पर्०-अस्मिन् । अस्य । च । तद्योगं । शास्ति ।

पदा०-(च) और (अस्मिन्) ब्रह्म में (अस्य) जीव का (तद्योगं) आनन्द के माथ योग (शास्ति)शास्त्र कथन करता है।

भाष्य-ब्रह्म में जीव का आनन्द के साथ योग शास्त्र कथन करता है, जैसाकि:—

"यदा ह्रोवेष एतास्मिन्नद्दर्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनि-लयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवाते, यदाह्रवेष एतास्मिन्नुद्रमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" तेति वह्या १ । १५

अर्थ-जब यह जीव अद्दय=इन्द्रियागोचर, अनातम्य=इन्द्रि-यादि अवयव राहित ब्रह्म में अभयरूप प्रतिष्ठा पाता है तब अभय को प्राप्त होता है और जब उससे थोड़ा भी भिन्न रहता है अर्थाद ख्यपनी चित्तद्यत्ति का भेद करता है तब उसको भय होता है, इत्यादि वाक्यों में परमात्मयोग से जीव के संसाररूप भय की निद्यत्ति तथा भिन्नता से भय निरूपण किया है, जिससे सिद्ध है कि जीवातमा आनन्दमय नहीं।

इस सूत्र के भाष्य में स्वा० रामानुज यों लिखते हैं कि "आनन्दीभवतीत्युच्यमाने यल्लाभाद्य आनन्दी भवति स स एवत्यनुन्मत्तःकोऽत्रवीति"=उस आनम्दस्वरूप ब्रह्म को लाभ करके जीवात्मा आनन्दवाला होता है
पर यह कथन किये जाने पर कि जिसके आनन्दलाभ से जो
आनन्दवाला होता है वह भी आनन्दस्वरूप होने मे
ब्रह्म है, इस प्रकार उन्मत्त पुरुष के विना अन्य कौन कह
सक्ता है अर्थात ब्रह्म के आनन्द से आनन्दित होने वाला
जीव ब्रह्म कदापि नहीं होमक्ता और जो उसको ब्रह्म कथन
करते हैं वह उन्मत्तमलापी हैं।

मं १ – त्रम को आनन्दमय सिद्ध करके अत्र पूर्वप्रकृत निरा-कार ब्रह्म में शास्त्र का भगन्वय द्शीने के लिये अन्तराधिकरण का आरम्भ करते हैं:—

अन्तस्तद्दमींपदेशात्॥२०॥

पद् ०-अन्तः । तद्धर्मोपदेशात् ।

पदा०-(तद्धमोपिक्शात्) परमात्ममन्त्रन्थी धर्मी का उपदेश पाये जाने मे (अन्तः) आदित्य में हिरण्मय पुरुष परमात्मा है।

भाष्य-परमात्मसम्बन्धी धर्म उसमे विना अन्य किसी में नहीं होमक्ते, इसलिये हिरण्यादि पद परमेश्वर की स्वयंशकाशता को बोधन करने हैं. जैनाकि:—

"अथ य एपोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुपो हश्यते हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेश आप्रणखात्सर्वएव सुवर्णः"

अर्थ-जो आदित्य में हिरण्मय पुरुष है वह सुत्रण की दाढ़ीबाला सुनइरी केशोंवाला और नख से लेकर सम्पूर्ण सुवर्णक्य है. इत्यादि वाक्य इस अधिकरण के विषय वाक्य हैं, यहां यह सन्देह होता है कि सूर्यमण्डल में वस्तुतः आकारवाला कोई देव-विशेष उपास्य है किंवा परमात्मा ? यहां प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपस सिद्धान्ती का है, पूर्वपशी का कथन है कि "अथाकारचिन्तनं देवानां पुरुष विधाःस्युः"=देवताओं के आकारचिन्तन का आरम्भ करते हैं, वह देवता पुरुषों के समान आकार वाले होते हैं, इतंगादि वाक्यों द्वारा अन्य वेद सम्बन्धी शास्त्रों में देवों का आकार पाया जाता है, इसिछये वेदसम्बन्धी उपनिषद् वाक्यों में भी उक्त आकार के पायेजान से सूर्यकोक का अधिष्ठाता माकार विशेष उपास्य है ईक्वर नहीं, क्योंकि निराकार होने से उत्तमें हिरण्यवस्था आदि पदों की सङ्गति नहीं होमक्ती अथवा उक्त हिर्ण्य केशादि पदों के पायेजाने से साकारबद्य ही वेदान्त का विषय है निराकार नहीं ! इसका उत्तर यह है कि "तस्य धर्माः तद्धर्माः ज्योतिर्म-यत्वादयस्तदुपदेशादादित्यमण्डले परमात्मैवोपास्यो नान्यः कश्चिदेवविशेषो नापि स्वमतिपरिकल्पितं साकारंब्रह्म"=आदित्य पुरुष के भीतर परमात्मसम्बन्धी ज्यातिर्मयत्वादि धर्मों के पायेजाने से निराकार ब्रह्म ही जपास्य देव है उससे आतिरिक्त कोई देवविशेष वा पाराणिक साकारब्रह्म

नहीं अर्थात हिरण्ययादि विशेषण केवल अलङ्कारक्ष से ईश्वर की स्वयंपकाशता वोधन करने के लिये दिये गये हैं साकारता के अभिपाय से नहीं, जैसाकि स्वा० शङ्कराचार्ध्य ने इसी सूत्र के भाष्य में वर्णन किया है कि "नच प्रमेश्वरस्यक्ष्य-वत्त्वं युक्तमशब्दास्परीमक्ष्पमव्ययमितिश्रुतेः"= प्रमेश्वर क्ष्पवाला नहीं होसक्ता, क्योंकि उसको श्रुतिवाक्यों में शब्द, स्पर्श, क्ष्पादिकों से रहित अव्यय प्रतिपादन किया है, इसलिये आदित्यमण्डल में निराकार ब्रह्म का मानना ही समीचीन है।

.. सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:---

भेदव्यपदेशाञ्चान्यः ॥ २१ ॥

पद् ०-भेदव्यपदेशात् । च । अन्यः ।

पदा॰-(च) और (भेदन्यपदेशात्) आदित्य से ब्रह्म का भेद पायेजाने के कारण (अन्यः) आदित्यभिन्न ब्रह्म ही उपास्य है।

भाष्य-अन्तर्यामी ब्राह्मण में ऑदित्यमण्डल तथा उसके नियन्ता का भेद बर्णन कियागया है, जैसाकि:—

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽऽदित्यः शरीरं। य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ गृहदा० ३। ७। ९

अर्थ-जो आदित्य में रहता है जिसको आदित्य नहीं जानता जिसका आदित्य कारीर है और जो आदित्य के अन्तर व्यापक होकर उसको नियम में रखता है वही तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा असृत है,इसी प्रकार जो सूर्य्य में रहता है और जिनको सूर्य जड़ होने के कारण नहीं जानता, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट सिद्ध है कि आदित्यपुरुष से सूर्य्य की उपासना नहीं पाईजाती किन्तु ज्योतिर्मय ब्रक्ष की ही पाईजाती है।

सं०-अब छान्दोग्य पठित "आकाश" शब्द से ब्रह्म का ब्रह्ण कथन करते हैं:—

आकाशस्ति द्विद्वात् ॥ २२॥

पदा०-आकाशः। ताल्लेङ्गात्।

पदा०-(तिल्छङ्गात्) जगदुत्पित्त आदि ब्रह्म के लिङ्ग पाये जाने से (आकाशः) आकाश ब्रह्म का नाम है।

भाष्य-जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलंघ आदि ब्रह्म के लिक्क पाये जाने से यहां आकाश ब्रह्म का नाम है, जैसाकि "आसमन्तात्काशते प्रकाशते स्पृथ्यिदिन्यः स आ-काशः"=जो सर्यादि लोकों का प्रकाशक हो उसको "आकाश" कहते हैं, सो सर्यादि लोकों का प्रकाशक ब्रह्म आकाश बाब्द वाच्य है, इसी भाव को छान्दो० १।९।१ में इस प्रदार वर्णन किया है कि:—

आकाश इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशदेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं य-न्त्याकाशो होवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥

मथमाध्याये-प्रथमःपादः

अर्थ-आकाश से ही सब भून उत्पन्न होते, आकाश में ही लग होते, आकाश में ही लग होते, आकाश ही इन मब में बड़ा और मब का यही आधिकरण है, इत्यादि वाक्यों में जगज्जन्मादि ब्रह्म के लिङ्ग पाये जाने से "आकाश" शब्द ब्रह्म का वाची है, क्योंिक सब लोकों का प्रकाशक=उत्पत्तिकर्ता परमात्मा ही है अन्य नहीं, इसलिये आकाश में ब्रह्म का ग्रहण करना ही समीचीन है।

सं - अव प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण कथन करते हैं:-

अतएव प्राणः ॥ २३ ॥

पद् ० – अतएव । प्राणः ।

.. पदा ०-(अतएव) पूर्वोक्त हेतुओं के पायेजान से (प्राणः)
प्राण ब्रह्म का वाचक है।

भाष्य-"आकाश" शब्द की न्यांई "प्राण" शब्द भी ब्रह्म का वाचक हैं, क्योंकि इसमें भी पूर्वोक्त हेतु पायेजाते हैं, जैसाकि:—

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युजिहते॥ छान्दो०१।२१।५

अर्थ-यह सम्पूर्ण प्राणी प्राण से ही प्रकट होते और उसी
में छय होते हैं, इत्यादि वाक्यों में प्राण शब्द से ब्रह्म का प्रहण
है, क्योंकि उत्पत्ति आदि छिङ्ग ब्रह्म से भिन्न प्राण, अपानादिकों
में नहीं होसक्ते, इसी अभिपाय से बृहदा० ४।४।९८ में ब्रह्म
को "प्राणस्यप्राणम्"=प्राण का भी प्राण कथन कियागया है,

अतएव सिद्ध है कि पाण नाम ब्रह्म का है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "छान्दोरयार्र्यभाष्य" के इसी स्थल में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

पं ०-अव परमातमा को "ज्योतिः" शब्द से कथन करते हैं:-ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४॥

पद०-ज्योतिः । चरणाभिधानात् ।

पदा॰-(चरणाभिधानात) चार पाद कथन कियेजाने से (ज्योतिः) ज्योति शब्द ब्रह्म का वाचक है। अलेक पर हिर्मात के पर

भाष्य-"अथ यदतः परोदिवा ज्योतिहीं प्यते ?"
छान्दो० ३।१३। ७=गायत्री वर्णन के अनन्तर स्वर्गछों के से जपर जो मकाशमान ज्योति है वही ज्योति पुरुष के अन्तर है, इस वाक्य में यह सन्देह है कि "ज्योतिः" शब्द स्वर्यादि ज्योति का वाचक है किंवा परमात्मा का वाचक है ? इस सन्देह की निष्टति के छिये इस अधिकरण का मारम्भ किया गया है कि चारपाद कथन किये जाने से प्रकृत में ज्योतिः नाम ब्रह्म का है जैसाकिः—

एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि॥

यजु०३१।३

अर्थ-यह सब संसार उस पुरुष का महत्व है, वह इससे बड़ा है. विश्व के सब भूत इसके एकपाद स्थानीय और तीन पाद अस्तरूप हैं, इस प्रकार चार पाद कथन किये जाने से ज्योति शब्द यहां ब्रह्म का बोधक है, यही मंत्र छान्दो॰ ३। १२। ६ में उद्धृत कियागया है जिन्नकी विशेष व्याख्या वहीं, "छान्दों-उयार्घभाष्य" में देखलें।

सं ० - ननु, गायत्री छन्द के भी चारपाद कथन कियेगये हैं फिर ज्योतिः शब्द से गायत्री का ग्रहण क्यों नहीं ? उत्तरः—

छन्दे। भिधानान्नेति चेन्नतथा चेतोऽपंणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५॥

पंदं ० - छन्दोभिधानात्। न। इति। चेत्। न। तथा। चेतोऽर्प-णनिगदात्। तथा। हि। दर्शनम्।

पदा०—(छन्दोभिधानाव) छन्द के कथन कियेजाने से
प्रकृत में ज्योतिः शब्द ब्रह्म का वाचक (न) नहीं (चेव) यदि
(इति) ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (तथा, चेतोऽपणीनगदाव) गायत्री द्वारा ब्रह्म में चित्त का अर्पण करना
कथन किया है, और (हि) निश्चय करके (तथा) ऐसा ही
(दर्शनं) शास्त्र विधान करते हैं।

भाष्य-"गायत्री वा इंद सर्विमिति" छान्दो॰ ३।१२।१=
यह सब कुछ गायत्री है, इस पूर्व वाक्य से गायत्री छन्द का
उपक्रम करके उपसंहार में "सैषा चतुष्पदा गायत्री"=
यह चतुष्पाद गायत्री है, इस मकार गायत्री के चारपाद कथन

किये हैं, अतएव यहां ब्रह्म का प्रकर ण न होने से "क्योति" शब्द ब्रह्म का व च क नहीं हो मका ? यह कथन इमिल्लिये ठीक नहीं कि इस प्रकरण में गायत्री द्वारा ब्रह्म में चित्त का स्थिर करना पायाजाता है और ब्रह्म ही व्यापक होने से सर्वात्मक हे। सक्ता है अक्षरस्थ गायत्री नहीं, इस्लिये यह ब्रह्म का प्रकरण होने के कारण प्रकृत में ज्योतिः शब्द ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य पदार्थ का वाचक नहीं।

सं ० - अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं: -

भृतादिपादव्यपदेशोपपत्तेइचैवम् ॥ २६॥

पद०-भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः । च। एवम् ।

पदा०-(च) और (भूतादि पादच्यपदेशो पपत्तेः) भूत आदि चार पादों का च्यपदेश पाये जाने से भी (एवं) उक्त अर्थ की ही सिद्धि होती है।

भाष्य-पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि"=पृथिवी आदि भूत ईश्वर के एकपादस्थानीय और तीन पाद अमृतक्ष हैं, इस मंत्र में जो पृथिवी आदि भूतों के। ईश्वर का एकपादस्थानीय कथन किया है वह ब्रह्मपक्ष में ही घटसक्ता है अन्यत्र नहीं, क्योंकि अक्षरक्ष्य गायत्री जगत का आधार नहीं होसक्ती, इमिलये ज्योतिः शब्द को छन्द अर्थ में ग्रहण करना सर्वथा असङ्गत है।

सं ० - अब २४ वें सूत्र के भाष्य में वर्णित "यद्तः परी-

दिवो॰" और "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इन दोनों विषय-वाक्यों के परस्पातिरोध का पारिहार करते हैं:—

उपदेशभेदान्नेति चन्नोभयस्मिन्नप्य-विरोधात् ॥ २७॥

पद०-उंपदेशभेदात् । न । इति । चेत् । न । उभयस्मिन् । अपि । अविरोधात् ।

पदा०-(उपदेशभेदात) उपदेशभेद से ब्रह्म का ग्रहण (त) नहीं कियाजासक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐमा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (उभयास्मिन्) उक्त दोनों वाक्यों में (अपि) ही (अविरोधात) विरोध नहीं।

भाष्य—"यदतः परो दिवो ज्योतिर्दाण्यते"= ग्रुङोक
से परे दिव्यस्वरूप ज्योति विराजमान है, इस वाक्य में "दिव" शब्द
का पञ्चमी विभक्ति द्वारा ज्योति का ग्रुङोक से परे होना कथन
किया है और "त्रिपादस्यामृतं दिवि"= ग्रुङोक में तीन
पाद अमृत हैं, इस वाक्य द्वारा ग्रुङोक को ज्योति का आधार
कथन किया है, इस मकार दोनो वाक्यों में विरोध होने के कारण
मक्रुत में "ज्योति" शब्द से ब्रह्म का ग्रहण नहीं होसक्ता ? यह
कथन इसिं उति विका विरोध आभासमात्र है अर्थात
जिसमकार छोक में द्वस के अग्रभाग सम्बन्धी पक्षी का पंचमी
तथा सप्तमी दोनों विभक्तियों द्वारा कथन पाया जाता है, जैसाकि
"वृक्षामे पक्षी" = द्वस के अग्रभाग में पक्षी है अथवा वृक्षागात्

परतः पक्षी"= इक्ष के अग्रभाग से परे पक्षी है, जिसपकार यह विरोध विरोधाभास है इसी अकार एक ही "ज्योति" शब्द का उक्त दोनों प्रकार से कथन पायेजाने पर भी ब्रह्म के परामर्शक होने में कोई बाधा नहीं।

सं ० – अव प्राणाधिकरण द्वारा इन्द्रमतर्दन संवादगत "प्राण" शब्द से ब्रह्म का ग्रहण कथन करते हैं:—

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८॥

पद्द०-प्राणः। तथा। अनुगमात्। पदा०-(प्राणः) प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है, क्योंकि (तथा, अनुगमात्) पूर्वापर प्रकरण से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य — कौषीतकी ब्राह्मण में जो इन्द्र पतर्दन का संवाद आया है वहां "प्राण" शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है भौतिक प्राण बाय्वादि पदार्थों का नहीं, क्योंकि विचारपूर्वक देखने से पूर्वे त्तर प्रकरण ब्रह्मविषयक अर्थ में ही सक्तत होता है अर्थाद इन्द्र ने राजा पतर्दन को कहा कि "प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा तं मामा-युरमृतामित्युपास्व" कौषी० ३। २=मैं प्राणक्षप प्रज्ञात्मा हूं, तुम मेरी उपासना करो, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, यहां यह सन्देह होता है कि "प्राण" शब्द से ब्रह्म का प्रहण है किंवा प्राणवायु का ? इसका उत्तर यह है कि "तुममेरी उपासना करो" इस वाक्यशेष से ईश्वर की ही उपासना का विषान किया है प्राणवायु की नहीं, यदि यहां प्राणवायु का ब्रहण होता तो पूर्वोत्तर प्रकरण से ब्रह्म की उपासना न पाई-जाती, इससे सिद्ध है कि यहां प्राण शब्द ब्रह्म के अभिपाय से आया है प्राणवायु के अभिपाय से नहीं।

सं०-ननु, "इन्द्र" शब्द से पौराणिक देवताविशेष की उपासना क्यों न मानीजाय ? उत्तरः—

न वक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्मसम्ब-न्ध भूमाह्यस्मिन् ॥ २९॥

पद ० - न । वक्तुः । आत्मोपदेशात् । इति । चेत् । अध्या-त्मसम्बन्धः । भूगा । हि । अस्मिन् ।

पदा०-(वक्तुः) वक्ता इन्द्र का (आत्मोपदेशात्) अपने आत्मा को छक्ष्य रखकर उपदेश किये जाने से ब्रह्म का प्रहण (न) नहीं होसक्ता (इति, चेत्) यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि (हि) निश्चयकरके (आस्मिन्) इस मकरण में (अध्यान्समस्बन्धः, भूगा) परमात्मा के साथ विशेष सम्बन्धमानकर उपान्सना का विधान कियागया है।

शाष्य-बक्ता इन्द्र ने अपने आत्मा का उपदेश नहीं किया किन्तु परमात्मा के साथ विशेषसम्बन्ध प्राप्त करके उसी की उपासना कथन की है अर्थाद परमापिता परमात्मा की ओर से उपासना करने की आज्ञा दी है, इसिलिये "इन्द्र" सन्द से पौराणिक देवताविशेष की उपासना मानना ठीक नहीं, इसी अभिषाय से स्वा० शङ्कराचार्यजी ने अपने भाष्य में कथन किया

है कि "ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः"= इस प्रकरण में ब्रह्म का उपदेश किया गया है किसी देवता विशेष का नहीं।

सं०-अव उक्त अर्थ को दृष्टान्त से उपपादन करते हैं:—
शास्त्रहण्ह्यातूपदेशो वामदेववत् ॥ ३०॥

पद०-बास्तरष्ट्या। तु। उपदेशः। वामदेववत्। पदा०-(वामदेववत्) वामदेव की भांति (बास्तरप्ट्या) बास्तरिष्टे द्वारा (उपदेशः) परमात्मा की ओर से उपदेश है।

भाष्य-सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यति के लिये आया है, शास्त्रद्वारा होने वाल निर्मान्त ब्रह्म साक्षात्कार का नाम"द्वास्त्रहष्टि"है, जिसमकार शास्त्रहष्टि से वामदेव ने परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके यह कथन किया है कि "अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति" बृहदा १ । ४ । १०=भैं मनु हं, मैं ही सूर्य हं, इत्यादि, इसीमकार अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके इन्द्र ने उपचार से अपने आपको ब्रह्म समझकर परमात्मा की ओर से उपदेश किया है कि मैं ही प्राण हं, मैं ही मज्ञात्मा हं, तू मेरी उपासना कर, इमलिय प्रकरणस्थ "प्राण" शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण करना समीचीन है किसी देवताविशेष का नहीं।

सं ० – अत्र बाङ्कापूर्वक उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हुए पाद को समाप्त करते हैं:—

जीवमुख्यप्राणिङ्कान्नेति चेन्नोपासात्रै-विध्यादाश्रितत्वादिहतद्योगात् ॥ ३१॥

पद् ० – जीवमुख्यमाणिलङ्कात् । न । इति । चेत् । न । उपासात्रीविध्यात् । आश्रितत्वात् । इह । तद्योगात् ।

पदा०-(जीवमुक्यप्राणिलङ्गात्) जीव और प्राणवायु का लिङ्ग पायेजाने से (न) त्रझ का ग्रहण नहीं होसक्ता (चेव) यदि (इति)ऐसा कहो तो (न)ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने में (ज्यासात्रैविध्यात्) त्रिविध उपासना के प्रसङ्ग की आपत्ति होगी, इसलिये (आश्रिनन्तात्, इह, तयोगात्) अन्य स्थलों की भांति यहां भी प्राण शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण है।

भाष्य-जीव तथा प्राण का लिङ्ग पायेजाने पर भी यहां ब्रह्म का ही प्रहण करना ठीक है, क्योंकि इस प्रकरण में एकमात्र ब्रह्म की ही उपामना का विधान किया गया है. यदि ऐसा न मानाजाय तो जीव. प्राण तथा ब्रह्म तीनों की पृथक्र उपासना माननी पड़ेगी आरे ऐसा मानने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होंगे. इसिल्ये "प्राणस्य प्राण:" केन० १। र= जीवनदाता होने से पर्यात्मा प्राण का भी प्राण और वही उपामनीय है अन्य नहीं।

स्परण रहे कि इसी वाक्य के अनुसार आजकल के माया-वादी जो माया में फमकर अपने आपको ब्रह्म समझ वैठते हैं यह जमकी भूछ है, उक्त वाक्य का यह तात्पर्य हाईं जो वह समझे हैं, और इस अधिकरण से यह भी सिद्ध होगया कि जो श्रीकृष्णजी ने गीता में कहा है कि "में ब्रह्म हूँ" मुझे जानो, यह कथन भी इसी रीति पर किया गया है जैसाकि उपर इन्द्र और वामदेव ने कहा है, इसका विशेषक्ष से समाधान "गीलायोगप्रदीपार्यभाष्य" में कियागया है, विशेषा- भिछाषी यहां देखलें॥

इति प्रथमःपादः समाप्तः

अथ दितीयःपादः प्रार्भ्यते

सं०-प्रथम पाद में आकाश, प्राण, ज्योति तथा सूर्यादि जड़ पदार्थें से ब्रह्म को भिन्न वर्णन करके, अव शपविधि के अभिपाय से समानाधिकरण वाक्यों का निराकार ब्रह्म में समन्वय दिखलाने के लिये इस पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम जगद का ब्रह्म से भेद कथन करते हैं:—

सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

पद्०-मर्वत्र । प्रसिद्धोपदेशात् ।

पदा०-(सर्वत्र) वेद और उपनिषदों में सर्वत्र (प्रसिद्धों-पदेशाद) यह उपदेश पाया जाता है कि ब्रह्म जगत से भिन्न है।

भाष्य-वेदादि शास्त्रों में जड़ जगत और ब्रह्म का स्पष्टतया भेद पायेजाने से दोनों एक नहीं होमक्ते,ननु-सर्व खिल्वदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्" छान्दो० ३।
१४। १=यह सब जगत ब्रह्म से ही उत्पन्न होता और ब्रह्म में
ही स्थिर होकर उसी में छय होता है, इसिछये यह सब प्रपञ्च
ब्रह्मक्प ही है, इसप्रकार शमविधिपूर्वक सबको ब्रह्म समझकर
उपासना करे ? इस पूर्वपक्ष की निष्टाचि के छिये इस अधिकरण
का आरम्भ कियागया है कि वेद और उपनिषदों में जगत ब्रह्म
का भेद पायाजाता है. जैसाकि:—

ईशावास्यमिद "सर्व यात्कश्च जगत्यां जगत्।

वेदान्तार्यभाष्ये

38

तेन त्यक्तेन अंजीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ यज्ञ ४०। १

अर्थ-जो कुछ चराचर जगत है मो यह सब परमात्मा से च्याप्त है, इसको बेराग्यभाव मे भोग, किसी के भी धन की इच्छा मतकर, इस मंत्र में स्पष्ट प्रकार से व्याप्य व्यापक का मेद वर्णन कियागया है अर्थात व्याप्य व्यापकभाव भेद होने पर ही होसक्ता है अन्यथा नहीं, और बृहदा व ३।८।९ में यह भेद इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि-सूर्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ॥

अर्थ-हे-गार्गि! इस अक्षर=अविनाशी परमात्मा के नियम में यह मत्र सूर्य्य चन्द्रमादि स्थिर हैं. इत्यादि वाक्यों में सूर्वज्ञ जड़ चेतन का भेद पायाजाता है।

और जो कई एक भाष्यकारों ने जीवोपासना का पूर्वपक्ष करके इस सूत्र का ब्रह्मोपासनापरक व्याख्यान किया है वह सर्वथा अमङ्गत है. क्योंकि जीवोपासना का गन्ध किसी विषय वाक्य में नहीं पायाजाता. और जे। समानाधि-करण वाक्यों में सर्वात्मवाद्=यह सब संसार ब्रह्मक्ष्प है. यह सन्देह था. जिसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया, और जो यह शङ्का थी कि "सर्विग्वस्विदं ब्रह्म तज्जलान्०"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

इस विषयवाक्य में चराचर जगत को ब्रह्म कथन किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि यह त्रिपयत्राक्य जड़ चेतन सबको ब्रह्म नहीं कथन करता किन्तु यह कथन करता है कि शमिविध= शान्ति के छिये सब पटार्थों को ब्रह्माश्रित समझकर ब्रह्मोपासना करे, उक्त औपनिषद वाक्य का वाक्यार्थ यह है कि "तस्माजायताति तजं तस्मिन्लीयते इति तछं तस्मिन् अनितिचेष्टत इति तदनम् एतेषांसमाहार इति तज्जलान्"=उसी ब्रह्म से सब पदार्थ उत्पन्न होते, उसी में लय होते. और उसी में सब प्राणी प्राणादि चेष्टा करते हैं, इस अंश में ब्रह्माश्रित होने से सत्र पदार्थ ब्रह्म कहे जाते हैं, यदि जड़ चेतन सब ब्रह्म ही इस वाक्य का आशय होता तो "उपासीत" कथन करने से यह उपासना किसको विधान की जाती ? हमारे मत में यह दोप नहीं आता, क्यों कि हम तो इस उपदेश को साम्यभाव का उपदेश मानते हैं, और समता प्रकट करने के छिये यह रीति अन्य ग्रन्थकारों ने भी छिली है, जैसाकि:-

विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाकेच पण्डिताः समदार्शिनः ॥
गीवादा १८

अर्थ-विद्या से नम्नता पाये हुए ब्राह्मण में, गी, हाथी, क्कर और चाण्डाल, इन सब में जो समद्शीं है वह पाण्डत है, मायाबादी इम श्लोक के यह अर्थ करने हैं कि यह सब पदार्थ ब्रह्म का विवर्त * होने के कारण सब ब्रह्म रूप हैं, पर यह इस श्लोक का भाव कदापि नहीं, क्योंकि ग्रन्थकार इस श्लोक में स्वयं स्पष्ट लिखते हैं कि:—

इहैव तैर्जितःसर्गों येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समंब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिता।।

अर्थ-डम-छोगों ने यहां ही संसार को जीत छिया है जिनका सन समता में स्थिर है, क्योंकि निर्दोष समक्ष्य ब्रह्म है, इसिछिये वह छोग ब्रह्म में स्थिर हैं, इस आश्रय वाछे वाक्यों को अर्था- आस से विगाड़कर "सब ब्रह्म है" इस मिध्यावाद का क्यार स्वा० शङ्कराचार्य और उनके शिष्य करते हैं, जैसाकि "सूर्वेख्वित्वदं ब्रह्म" इस वाक्य में किया गया हैं, इसी अर्थाभास के निरासार्थ उक्त सूत्र की सङ्गति जान-नी चाहिये।

सं - अब जड़ जगत में कर्तृत्वादि गुणों का अभाव कथन करते हैं:--

विवक्षितगुणोपपत्तं इच ॥ २॥

पद०-विविधतगुणोपपत्तेः। च ।

पदा०-(च) और (विवक्षितगुणोपपत्तेः) ब्रह्म में कथन करने योग्य गुण इस जगत् में न होने के कारण जगत् और ब्रह्म एक नहीं होसक्ते।

क जो वास्तव में प्रन्थवा न हो ग्रीर प्रन्थवा होकर प्रतीत हो डसकी "विवर्त्त" कहते हैं, जैसे रब्जु में सर्प, सीप में चांदी ॥

भाष्य-यदि जगव और ब्रह्म एक होते तो ब्रह्म की बांति जगव में भी कर्तृत्वादि तथा आनन्दादि गुण पाये जाते परन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि जगव ब्रह्म एक नहीं।

सं - नतु, जगत् ब्रह्म का भेद रही पर आनन्दादि गुणों वाछे जीत्र का ब्रह्म से अभेद क्यों न मानाजाय ? उत्तरः—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३॥

पद०-अनुपपत्तेः। तु। न। शारीरः।
पदा०-(अनुपपत्तेः) जीव में आनन्दादि गुणों की उपपत्ति
न पायेजाने से (शारीरः) जीव (न) ब्रह्म नहीं होसक्ता।

भाष्य—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की ब्याद्यत्ति के लिये आया है,
जीव के आनन्दादि गुणों वाला होने में कोई जपपत्ति=युक्ति
नहीं पाई जाती परयुत "आहं दुःखी"—मैं दुखी हुं, इत्यादि
पतीतियों से जीव में दुःखानुभव स्पष्ट पाया जाता है, इसिल्ये
आनन्दादि गुणों से रहित होने के कारण जीव ब्रह्म नहीं होसक्ता।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं:--

कर्मकर्तृव्यपदेशाच ॥ ४॥

पद ०-कर्मकर्तृ व्यपदेशात । च।

पदा०-(च) और (कर्मकर्तृव्यपदेशात्) कर्म तथा कत्ती रूप से जीव ब्रह्म का भेद कथन किये जाने से दोनों एक नहीं।

भाष्य-उपासना प्रकरण में जीव को उपासना किया का कर्चा और ब्रह्म की कर्मक्ष्य से वर्णन कियागया है, जैसाकि:— एकोवशी निष्केयाणां बहुनामेकं बीजंबहुधा यःकरोति।

तमात्मस्यं येऽतुपश्यान्तिधीरास्तेषां खुलंशाश्वतं नेतरेषास्॥ श्वेताश्व०६॥ १२

अर्थ-सबका नियन्ता परमात्मा जो एक प्रकृतिक्ष वीज को अपनी रचना से अनेक प्रकार का करदेता है, जो पुरुष उसकी अन्तरात्मा समझकर ध्यान करते हैं उन्हीं को निरन्तर छुख होता है अन्धों को नहीं, यदि जीव ब्रह्म एक होते तो उक्त वाक्य में एक को कर्म और दूसरे को ध्यान क्रिया का कर्चा कदापि वर्णन न कियाजाता पर कर्चा कर्म का स्पष्टतया भिन्न व्यपदेश होने से सिद्ध है कि उक्त दोनों एक नहीं, और न वह किसी अवस्था में एक होसक्ते हैं।

सं ० – अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं: —

शब्दविशेषात् ॥५॥

पद् -एकपद ।

पदा०-(शब्दविशेषात्) शब्दविशेष के पायेजाने से श्री जीव ब्रह्म का भेद हैं।

भाष्य-शब्द ममाण भी विशेषक्षप से जीव ब्रह्म के भेद ही को मतिपादन करता है, जैसाकिः—

> "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" छान्दो० ६।३।२

अर्थ-इस जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप को करूं, यहां "जीवेनात्मना" इस पद से जीव ईक्वर का भेद मितपादन किया है।

कई एक लोग यहां यह आशक्का करते हैं कि क्या ब्रह्म जीवरूप होकर अपने आप शरीर में प्रतिष्ट हुआ ! इसका उत्तर यह है कि जीव को आत्मा यहां इस अभिषाय से कहागया है कि जीव ब्रह्म का स्वत्व=अपना है, इसलिये आत्मा शब्द से कथन कियागया है।

और स्वा० राङ्कराचार्यजी ने जहां जीव को अनादि मानकर पुण्यपाप की व्यवस्था की है वहां उन्होंने भी जीव को
अनादि काल से भिन्न माना है, अस्तु प्रकृत यह है कि उक्क
विषयवाक्य में कर्चा, भोक्ता संसारी आत्मा के लिये विशेष=
असाधारण जीव शब्द पायाजाता है और परमात्मा के ब्रह्म,
ईश्वर तथा सर्वज्ञादि नाम हैं, जैमाकि:—

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतहः स्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

मुण्ड० २।४

अर्थ-प्रणवक्ष्प धनुष को लेकर मंस्कृत मनद्वारा विषयक्ष प्रमाद से रहित एकाग्राचित्त होकर ब्रह्मक्ष्प लक्ष्य को वेधन करे, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म शब्द से ईश्वर का ग्रहण करके ब्रह्म कृष लक्ष्य वेधन करने वाले जीव को ब्रह्म से पृथक् प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

सं०-अब जीव ईश्वर के भेद में स्पृति प्रमाण क्यन करते हैं:-

स्मृतेश्र ॥ ६॥

पद०-स्मृतेः। च।

पदा॰-(च) और (स्मृतेः) स्मृति से भी जीव ईश्वर का भेद पायाजाता है। भाष्य-स्मृति में जीव ईश्वर का भेद स्पष्ट वर्णन किया युगा है, जैसाकि:—

त्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरिप । रुक्मामं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परस् ॥ मनु०१२।१२२

अर्थ-प्रकृत्यादि सुक्ष्म पदार्थों की अपेक्षा से अतिस्रक्ष्म, सब के नियन्ता निर्विकार ब्रह्म को शुद्ध मन से चिन्तन करे, यहां ध्यान करने वाले जीन तथा ध्येय परमेक्नर का रुपष्ट भेद कथन किया है, यदि मनोमय नाक्य के निर्णयार्थ यह अधिकरण होता तो स्मृति से भेद बोधन न कियाजाता, दूसरी बात यह है कि जीन ईक्नर के स्मार्च भेद में स्त्रा० शङ्कराचार्यजी ने भी निक्निलिखित श्लोक प्रमाण दिया है कि:—

ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ गी० १८। ६१

अर्थ-हे अर्ज्जन! ईश्वर सब जीवों के हृदय में विराजमान है और अपनी माया से सबको स्विनयम में भ्रम्मता है, इसमकार भेद का स्पष्ट वर्णन करके उक्त स्वामीजी लिखते हैं कि यह भेद काल्पत हे अर्थाद वह ब्रह्मसूत्र और गीता में किल्पत भेद मानते हैं, पर जब उनमे यह कहाजाता है कि जहां उपनिषदों में अभेदोपासना कथन कीगई है वह शान्ति के लिये है वस्तुतः उन वाक्यों में अभेद विधान नहीं कियागया तो फिर उनको वह मत्युत्तर क्यों बुरा लगता है। सं० - ननु, "अणोरणीयान्" कठ० १ । २० = इत्यादि वाक्यों में सब प्राणियों के हृदय में अणुक्ष्य होकर स्थित ब्रह्म को जीव भाव से वर्णन किया है फिर जीव ईश्वर का भेद कैसे ? उत्तरः —

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्यामवच्च ॥ ७॥

पद०-अर्भकौकस्त्वात्। तत्व्यपदेशात्। च। न।इति।चेत्। न। निचाय्यत्वात्। एवं। व्योगवत्। च।

यदा०—(अर्भकौकस्त्वात) अल्प स्थानवाला होने (च)
और (तत्व्यपदेशात) अणीय शब्द द्वारा कथन कियेजाने से
जीव ईश्वर का भेद (न) नहीं होसक्ता (चेत) यदि (इति)
ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (निचाय्यत्वात) ध्यान
करने के लिये ब्रह्म को (एवं) उक्त प्रकार से हृदय देश में
कथन किया है (च) और यह बात (व्योमवत) आकाश की
भांति बन सक्ती है।

भाष्य—"एष म आत्मान्तहृद्ये" छान्दो॰ १।१४।३=
यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर है, और "अणोरणियान्"=
यह अणु से भी अणु है, इत्यादि वाक्यों में जो परमात्मा को जीवक्ष्प मानकर दोनों का अभेद कथन किया है वह इसिछये
ठीक नहीं कि हृदयद्भप अल्पदेश में ध्यान करने के छिये ब्रह्म को
"अभिकोक"=अल्पस्थान वाला कहागया है, वही जीवभाव
को प्राप्त होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ इस अभिमाय से उसको

अर्थकौक नहीं कहा किन्तु उसी परमात्मा को जीवात्मा के अन्तः करणक्षी ग्रहा में अल्पस्थान वाला कथन किया गया है, वस्तुतः "अर्थकौक" इसिल्ये नहीं कथन किया गया कि वह सर्वन्यापक है, इसी मकार परमस्कृत्म होने के अभिनाय से ब्रह्म के लिये "अणीयः" बान्द का प्रयोग किया है, परमात्मा जीवकृष होकर अल्पदेशी वा अणुपरिमाण वाला होगया, यह भाव उपनिषद् का कदापि नहीं, क्यों कि "अन्नश्रश्लन्ये। ऽभिचाक शीति" ऋग० २। ३। १७=ईश्वर कर्मफल के भोग से रहित होकर साक्षीमात्रा है, इसिल्ये कर्मफल भोका जीव तथा अभोक्ता प्रतिपादन किया गया है, इसिल्ये कर्मफल भोका जीव तथा अभोक्ता ईश्वर का भेद पानना ही स्मीचीन है।

सं ० - ननु, यदि परमात्मा हृदयदेश में है तो उसको सुख्दुःख की माप्ति भी होनी चाहिये ? उत्तरः--

संमोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

पद०-सम्भोगमाप्तिः। इति । चेत् । न । वैशेष्यात् ।

पदा०-(संभोगमाप्तिः) जीव देश में स्थित होने से परमा-त्मा को सुखादि भोग की आपत्ति होगी (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (वैशेष्यात्) परमात्मा की जीव से विशेषता पाईजाती है।

भाष्य-जीव के हृदयदेश में व्याप्त होने पर भी परमात्मा

भथमाध्याये-द्वितीयःपादः

96

को जीव के सुख दुःख की आपत्ति इसिछिये नहीं होसक्ती कि उन दोनों का परस्पर अत्यन्त वेलक्षण्य=भेद है अर्थाव जीव मुख दुःख का भोक्ता और ब्रह्म साक्षीरूप से स्थिर है, इस सूत्र के भाष्य में स्वा॰ शङ्कराचार्यजीने "वैशेष्यात्" पद के यही अर्थ किये हैं जो ऊपर वर्णित हैं पर जो उन्होंने इस प्रकार की आशङ्का उठाकर कि "एकात्मवाद में जीव ब्रह्म का भेद कहां से आया"भेदवादियों को "देवानां प्रिय प्रष्टव्यः" इत्यादि शब्दों से मूर्ख दुराग्रही कथन किया है, सो यह केवल अद्रैताचार्य के सिद्धान्त की शिथिलता को पकट करता है अर्थाव भेदवादी के प्रश्न करने पर स्वामी का यह प्रश्न कि "तुमने एका-त्मा कैसे समझा" ? यदि कही कि तत्त्वमस्यादि महावन्यों से एकात्मभाव जानागया तो फिर यह "अर्धजरतीय न्याय"क्यों करते हो, स्वामीजी की यह पदनोत्तर पारेपाटी उन्हीं को उक्त न्याय का छक्ष्य बनाता है, क्योंकि पारमार्थिक भेदवादी कभी भेद कभी अभेद का आश्रयण नहीं करता, यह तो मायावादियों की ही छीछा है जो स्पष्ट भेद बोंधक वाक्यों में व्यावहारिक भेद तथा शमविधि विधा-यक वाक्यों में पारमाधिक अभेद मानते हैं, इसिलये आधी बात को मानना और आधी बात को छोड़देना, यह "अधिजर तीय-न्याय" भेदवादी के मत में कथन करना केवल साइसमात्र है।

तात्पर्य यह है कि स्वा॰ शङ्कराचार्य्य का यह उत्तर सूत्र के अक्षरों से सर्वथा विरुद्ध ही नहीं किन्तु अत्यन्त शिथिछ है, क्योंकि भेदबादी अर्धजरतीय नहीं करता, अर्धजरतीय ते। अद्रैतवादियों के मत में है जो उसी ब्रह्म को जीव मान छेते हैं और उसी को अभोक्ता मानते हैं "स्त्रामी रामानुज"ने सङ्गति के अनुसार यथावस्थित अर्थ किये हैं कि पुण्यपापरूप कमीं के वशीभूत न होने से ईश्वर भोक्ता नहीं।

सं०-यदि ब्रह्म भोक्ता नहीं तो उसको कठ में अत्ता क्यों कथन कियागया है ? उत्तरः—

अत्ता चराचरग्रहणात्।। ९॥

पद् ०-अत्ता । चराचरप्रहणात् ।

पदा०-(चराचरग्रहणाद) चराचर का ग्रहण करने वाछ। होने से परमात्मा को (अत्ता) अत्ता कथन किया है। भाष्य-चराचर का ग्रहण करने वाला होने से परमात्मा

का नाम अत्ता है, जैसाकि:-

यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनं।
मृत्युर्यस्यापसेचनं क इत्था वेद यत्रसः॥
कठ० १।२।२५

अर्थ-जिस ब्रह्म के ब्राह्मण क्षत्रियादि मनुष्यमात्र ओदन स्थानीय हैं और सबको मक्षण करने वाला मृत्यु जिसका शाका-दिक्षप है उस ब्रह्म को दुराचारी पुरुष नहीं जानसक्ता, वह दुर्विक्केय है, इस वाक्य में जो ब्रह्म को "अत्ता" कथन किया है वह भोका होने के अभिमाय से नहीं कहागया किन्तु परमात्मा सबका संहार करने वाले हैं इस भाव से कथन किया है, क्योंकि कठो-पनिषद् में इस वाक्य से पूर्व इसी बात का प्रकरण है कि खसको बुराचारी पुरुष नहीं जानसक्ता अर्थात आचारम्ब्रष्ट होने से दुराचारी का मन और दृष्टि ऐसी नहीं होती जिससे वह सदाचारियों की भांति उसको जानसके, इसी अभिमाय से यजु० ४०। ५ में वर्णन किया है कि "तदेजित तन्नेजिति तद्देहरे तद्धित के"=वह ईश्वरक्ष्प आत्मतत्त्व चलता है और नहीं चलता वह दुराचारियों से दूर और सदाचारियों के समीप है, इस मकार यह निराकार ब्रह्म का मकरण है जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहां भक्षण से तात्पर्य चराचर के ग्रहण का है, जीव की भांति भोका होने के आभिमाय से नहीं।

..सं०-अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:--

प्रकरणाच ॥ १०॥

पद्-प्रकरणात्। च।

पदा॰-(च) और (मकरणाद) मकरण मे भी उक्क अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचिति"=विवेकी पुरुष ब्रह्म को सर्वान्तरात्मा जानकर शोक मोह से रहित होजाता है, इत्यादि वाक्यों में परमात्मसम्बन्धी प्रकरण पाये जाने के कारण "अत्ता" शब्द का अर्थ चराचर का ग्रहणकर्त्ता है भोक्ता नहीं।

सं ० – अब गुहाधिकरण में स्पष्ट कृप से जीव ब्रह्म का भेद मतिपादन करते हैं:—

ग्रहां प्रविष्टावात्मानौ हि तहर्शनात् ॥ १ १॥

पद्द - गुहां। प्रविष्टी। आत्मानी। हि। तहर्शनात्। पदा - (गुहां, प्रविष्टी) अन्तः करण रूप गुहा में (आत्मानी) दो आत्मा हैं (हि) क्योंकि (तहर्शनात्) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-अन्तैः करणकृषी गुड़ा में जीव और ईश्वर दोनों को विराजमान कथन करके भिन्न वर्णन किया है, जैसाकिः—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे-पराद्धें । छायातपौ ब्रह्मविदो वदान्त पश्चामयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ कठ० २ । १ कि : कुला क्राच्यिकतः "अति अध-हृदयद्गी आकाश तथा बुद्धि में प्रविष्ट शरीरह्म

अथ-हृद्यक्षी आकाश तथा बुद्धि में पविष्ट शरीरक्ष लोक में अपने किये हुए शुभकमों के फल को भोगत हुए छाया और आतप के समान जीव, ईश्वर दोनों भिन्न २ रहते हैं ब्रह्मवेत्ता और जिन्होंने तीन वार नाचिकेताशि का चयन किया है वह पंचयज्ञों के करने वाले कीमकाण्डी लोग भी ऐसा ही कथन करते हैं, इत्यादि वाक्यों में छाया और आतप के दृष्टान्त से दोनों के अभेद का स्पष्टतया अभाव कथन किया है।

सं०-अव उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:-

विशेषणाच ॥ १२॥

पद् - विशेषणात् । च ।

पदा०(च) और (त्रिशेषणात्) जीत ईश्वर दोनों के विशेषण भी भिन्न र होने से दोनों का भेद हैं।

माध्य-जीव ईश्वर दोनों के विशेषण भिन्न २ पाये जाने

से दोनों का भेद स्पष्ट है, जैसाकि "आत्मानं रथिनं विद्धि शारीरं रथमेव तु" कठ० ३। ३=इत्यादि वाक्यों में जीव को शारीरक्ष्प रथवाला कथन कियेजाने से जीवात्मा का शारी विशेषण है और "अशब्दमस्पर्शमरूपमञ्ययम्"कठ० ३।१५ इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को अशरीरी अव्यय कथन किया गया है, इसी प्रकार उक्त वाक्यों में परमात्मा का "गन्तव्य" और जीव का गन्तृ=पाप्त होने वाला विशेषण होने से दोनों का भेद है।

विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरःसोऽव्वनः । पारमाप्राति तद्धिष्णोःपरमं पदम् ॥ कउ०३ । ९

अर्थ-जो बुद्धिमान विज्ञानी पुरुष शुद्ध बुद्धिक्षी सारिथ रखता हुआ शुद्ध मनक्षी रामों को अपने अवीन रखता है अर्थात जो निवेक को अपना सारिथ बनाकर मनक्षी रामों को हृदता से पकड़े हुए है वह पुरुष इस संसार मार्ग से पार होकर परमात्मा के परमपद को प्राप्त होता है. इस वाक्य में स्वाधीन मन वाला जीवात्मा का निवेषण और परमात्मा को परमपदक्ष संसार मार्ग का पार कथन किया गया है, इस मकार विशेषणों के भेद से जीव ईश्वर का भेद है, इसी भाव को कठ २। १२ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

तन्दुर्दर्श गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्नरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमनदेवंमत्वाधीरोहर्षशोकौजहाति॥ अर्ध-जो परमात्मा अनादि, अनन्त, प्रकाशस्य रूप तथा अतिखुष्ट्रम होने के कारण दुविक्षेय और हृदयाकाश में मह्हेरलु इ्छुल क्ष्म विराजमान है उसको धीर=विवेकी पुरुष अध्यात्मयाग हारा जानकर हर्ष शोक से रहित होजाते हैं, यदि जीव ईश्वर का अभेद होता तो इस वाक्य में एक को ज्ञाता और दूसरे को ज्ञेय वर्णन न कियाजाता, इससे सिद्ध है कि उपनिषत्कार को जीव ईश्वर दोनों भिन्न २ अभिनेत हैं एक नहीं, अधिक क्या इसी भाव को ऋग्वेद में इस मकार स्पष्ट किया है कि:—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं पश्चिस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्धत्यनश्ननन्नन्योभिचाकशीति ॥ ऋ०२।३।१७

अर्थ-जिस प्रकार फलार्थी पक्षी दक्ष का आश्रय करता है इसी प्रकार जीव, ईश्वर रूपी पक्षियों ने प्रकृतिरूप दक्ष का आश्रय किया हुआ है, यहां यह शङ्का होती है कि क्या जीव की भांति ईश्वर भी फल भोक्ता है? इसका उत्तर पन्त्र के उत्तरार्द्ध में यह दिया गया है कि दोनों में से जीव कर्मफल का भोक्ता आर ईश्वर साझीरूप से स्थिर रहता है, उक्त वेद पन्त्र में जीव का भोक्ता होना विशेषण और ईश्वर का साझीरूपण नियम्ता होना विशेषण है, इस कथन से "ऋतं पिवन्ती" इस वाक्य का भी उत्तर आगया कि यहां दिवचन से यह भाव नहीं कि दोनों फल के भोक्ता हैं किन्तु "छित्रिणोयान्ति"=छाते वाले जाते हैं, इस प्रकार जीव फलभोक्ता होने के कारण ईश्वर में भी उपचार से भोक्तृस्त्र कथन कियागया है बास्तव में नहीं।

कई एक लोग इस मन्त्र में बुद्धि और जीव के अर्थ करते हैं
कि बुद्धि अन्तः करण भोक्ता और जीव चेतन साक्षी है, पर ऐसा
अर्थ करने से "सयुजी, सखायी" यह दोनों विशेषण व्यर्थ
होजाते हैं, क्यों कि "सयुजी" के अर्थ दोनों अनादि और "सखायी"
के अर्थ खपास्य खपासक रूप से दोनों मित्र हैं, बुद्धि सादि होने
के कारण सदा नहीं रहती तथा जड़ होने से खपास्य खपासक
रूप मित्रता वाली भी नहीं होसक्ती, कैसा ही कोई अर्थाभास
क्यों न करे उक्त वेद मंत्र के अर्थ यही होते हैं कि एक
प्रकृतिरूप दक्ष में जीव ईश्वर रूप दो पक्षी अनादि काल से
निवास करते हैं जिनमें जीव भोक्ता और ईश्वर साक्षीरूप है,
यहां यहं प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुण्डकोपनिषद् के कम से उत्तर
क्ष्रोक में यह वर्णन किया गया है कि अविद्या के कारण जीव
में भोक्तृत्व है वास्तव में नहीं? जैसाकि:—

समाने वृक्षे पुरुषो निमभोऽनीशया शोचित मुह्य-मानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानिमिति वीतशोकः ॥ मुण्ड० ३। १। २

अर्थ-प्रकृति रूप दक्ष में स्थिर जीवात्मा अज्ञान से मोह को प्राप्त हुआ बोक करता है, जब अपने से भिन्न ईश्वर और उसकी महिया को जानलेता है तब बोक से रहित होजाता है।

मायावादियों का कथन है कि "अनीश्राया" पद जीव ई घर के औपाधिक भेद को कथन करता है अर्थाद दोनों चेकन जो मंत्र में भिन्न रूप से वर्णन किये गये हैं वह उपाधिवशाद

भिन्नर हैं वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं, उनका यह अर्थ उपनिषद् के आवाय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि इस श्लोक के "यदा पर्य-त्यन्यमीश्रम्" इम उत्तरार्द्ध में "जव अपने से भिन्न ईश्वर को देखता है तंत्र वीतशाक होता है" इस प्रकार भेद ज्ञान ही शोक मोहादि को निष्टात्त का कारण वर्णन कियागया है, फिर यह कैसे मानाजाय कि मधमावस्था में ईश्वर आविद्या से मुह्ममान था, और श्लोक के उत्तरार्द्ध में ज्ञानावस्था वर्णन कीगई है, क्योंकि उनके यत में भेदज्ञान आविद्यक है, इसमे विपरीत "तत्र कोमोहः कः श्रोकः" यजु०४०। अइत्यादि मन्त्रीं के भाष्य में मायावादी भाष्यकार आत्मत्वेन ईश्वर ज्ञान मानते हैं अर्थात "में ब्रह्म हुं" इस ब्रान को शोक मोह की निष्टांच का कारण बतलाते हैं, इस प्रकार यह उपनिषद्ध उनके अनुकूल नहीं पड़ता, यदि यह राङ्का कीजाय कि "यदापर्यः" मुण्ड० ३। ३ इत्यादि श्लोकों में अभेद ज्ञान से जीव का ब्रह्मक्ष होना कथन कियागया है, और दूसरे श्लोक में केवल बोक की निष्टत्ति मात्र कथन की है जो भैद्जान से ही बन सक्ती है अन्यथा नहीं, और "तदाविद्धान् पुण्यपाप विधू-य निरञ्जनः परमसाम्युमुपैति"=जन सन जगत के ब्रह्मयोनि अभिन्ननिमित्तोपाद्निकारण ब्रह्मको सर्वात्मक्ष्पेण कार्य्यकारणक्ष समझ लेता है तब निरञ्जन=निष्कलङ्क होकर ब्रह्मरूप होजाता है, इस प्रकार अभेद ही वास्तव कथन किया है ? इसका उत्तर यह है कि इस तृतीय श्लोक में जो "कत्तीरमी दां पुरुषं

ब्रह्मयो निम् "यह वाक्य पढ़ा है जिसका अर्थ यह है कि जगत्कर्जा ईश्वर को जानकर ब्रह्म की समता को प्राप्त होता है, पायावादिय के मत में जगत्कर्तृत्व ब्रह्म में नहीं, इसिलेये यह श्लोक उनके अद्वैतवाद के सर्वथा विरुद्ध है।

भाव यह है कि मुण्ड० ३। ३ में तत्त्ववेत्ता की तद्धर्मतापित का वर्णन आया है, इससे इसमें ब्रह्म के साथ मिलकर एक होजाने का भाव नहीं पायाजाता, जैसाकिः—

यदा पश्यःपश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् तदाविद्धान्युण्यपापेविध्ययनिरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

अर्थ-जन मुमुक्ष पुरुष जगत के निमित्तकारण ब्रह्म की बानदृष्टि में अनुभन कर लेता हैं तन तत्त्वेत्ता होने के कारण पुण्य पाप से रहित होकर ब्रह्म के स्नामानिक आनन्दादि गुणों को उपलब्ध करके ब्रह्मवत्त होनाता है, इसका निस्तारपूर्वक वर्णन "उपिनिषद्। धर्मभाष्य" में कियेजाने से यहां निशेष व्याख्यान की आवश्यका नहीं, इसी अमिनाय से श्रीभाष्याचार्य स्नामी रामानुज ने भी इस सहशभान को "तद्धर्मतापत्ति" शब्द से कथन किया है, कई एक नादी देह के निलय को, कोई ज्ञाना भान को. मायानादी उपाधिनिमित्तक जीनपन के लय को, मुक्ति कथन करते हैं. पूर्वोक्त धन नादियों के मत की मुक्ति का खण्डन करते हैं ते अनन्त कल्याण गुणों की राशि ब्रह्म के तत्त्रज्ञान से जो जीन में ब्रह्ममहश्च भान आते हैं जिनमे जीन के अज्ञानादि मल

नाका हो जाते हैं उन भावों से संयुक्त हो कर अग्रस्य होने का नात्त्र व ही मुक्ति है, यही मुक्ति "मुम्साध्यम्यमाग्राता" इस गीता वाद व से भी पाई जाती है, यदि कोई यह आश्रङ्का करे कि गीता में त्रेंगे श्रीकृष्णजी ने अपने भाव को पाप्त होने वाले पुरुष को मुक्ति की माप्ति कही है और वह स्वयं अवतार रूप होने से साकार ये तो साधम्य से भी साकारोपासक की ही मुक्ति सिद्ध होती है? इसका उत्तर यह है कि कृष्णजी का "मम" शब्द से अपना ताल्पर्य नहीं किन्तु ईन्चर का है, जैसाकि पीछे इन्द्र मर्तद्दनाधिकरण में "न वक्तुरात्मी पदेशात्" अवस् १।१।२९ इत्यादि सुत्रों से स्पष्ट कर आये हैं अर्थात् अस्मच्छव्द के अर्थ यहां ईन्चर के हैं, और इसी भाव से गीता में कृष्णजी ने अपने आपको ईन्चर कथन किया है, जिसका पलेमकार विचार "गीतायोग्न-प्रदीपार्थभाष्य" में कियागया है, विशेषाभिछाषी वहां देखलें॥

सं०-नमु, जब ईश्वर और जीव का साधर्म्य वैधर्म्य से साळक्षण्य वैछक्षण्य मानाजाता है तो शङ्का यह होती है कि सविशेष ईश्वर सर्वगत न रहेगा, यदि सर्वगत है तो उसका जीव से भेद नहीं होसका ? उत्तरः—

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

पद ०-अन्तरं । उपपत्तेः ।

पदा ०-(जपपत्तेः) युक्ति पायेजाने से (अन्तरे) ईश्वर सब के अन्तर्गत है। थाध्य-षरमात्मा सब पदार्थों के अन्तर्गत है, इसमें ख्राक्ति बह है कि दो मूर्च पदार्थ एक स्थान में नहीं समासक्ते परन्तु परमात्मा अमूर्च होने के कारण उसमें उक्त दोष नहीं आता अर्थात परमात्मा के सर्वगत होने पर भी उसका जीव के साथ अभेद नहीं होता।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं:-

स्थानादिन्यपदेशाच ॥ १४॥

पद०-स्थानादिन्यपदेशात्। च।

पहा०-(च) और (स्थानादिन्यपदेशात्) स्थानादि का न्यपदेश पायेजाने मे उक्त अर्थ की सिद्धि होती हैं।

भाष्य-बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथिवी आदि स्थानों में परमात्मा का न्यपदेश=सर्वन्यापक होना वर्णन कियागया है, जैसाकि:—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्" वृहदाः ३। ७। ३

अर्थ-जो पृथिवी में रहता है तथा जो पृथिवी के अन्तर्गत होकर नियमन करता है, जिसको पृथिवी नहीं जानती और जिसके बशीभृत होने से पृथिवी आदि उसके शरीर हैं वह आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इत्यादि अनेक वाक्यों द्वारा ज्याप्य ज्यापकभाव पूर्वक ईश्वर का पृथिज्यादि पदार्थों से भेद पायेजाने के कारण जीव ईश्वर का परस्पर भेद मानना ही युक्तियुक्त है, और जो स्वामी शङ्कराचार्यजी ने इस सूत्र से मूर्तिपूजा

सिद्ध की है कि जिसमकार पृथिवी में पर्मात्मा व्यापक है इसी मकार शालिग्रामादि मतिमाओं में भी व्यापक है, इसिल्ये शालिग्रामादि मूर्तियों में ईश्वर बुद्धि से पूजन करना उचित है ? यह कथन इसिल्ये ठीक नहीं कि सर्वव्यापक होना जड़बस्तुओं के साथ ईश्वर के तादातम्य का प्रयोजक नहीं होसक्ता, क्योंकि यह अधिकरण ईश्वर की व्यापकतापरक है जड़पूजन के अभि-माय से नहीं।

सं २ - अब दो सूत्रों में उक्त अर्थ का समर्थन करते हैं: -सुखिविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५॥
पद २ - सुखिविशिष्टाभिधानाद । एव । च ।

पदा०-(च) और (सुखिनिशिष्टाभिधानात, एव) सुखिन-शिष्ट कथन किये जाने से भी ईश्वर का जड़ पदार्थों के साथ तादात्म्य नहीं होसकता।

भाष्य-यदि ईश्वर का जड़ पदार्थों के साथ तादात्म्य माना जाय तो पर्यात्मा आनन्दादि गुणविशिष्ट न रहेगा और यह बात बादी को भी इष्ट न होने से सिद्ध है कि सर्वव्यापक होने पर भी परमात्मा असङ्ग है।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच ॥ १६॥

पद् ०-श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात् । च।

पदा०-(च) और (श्रुते।पनिषत्कगत्यभिधानात्) परमात्मा उपनिषद् सुनने बाले पुरुषों की गति होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है। भाष्य-उपनिषद् श्रोता का नाम "श्रुतोपनिषत्क" है,
श्रुतोपनिषत्क पुरुष की गांत परमात्मा में विधान कीगई है,
इससे भी अन्तर्यामी "सर्वान्तर्गत पुरुष का तादात्म्य सब पदावाँ
के साथ नहीं पायाजाता. इससे यह बात भी स्पष्ट होगई कि
"स्थानादि उपगदेशाच्च" सत्र में शालिग्रामादि मतीकों में
ईश्वर पूजा करने का अभिनाय नहीं, यदि मूर्तिपृजा का अभिभाय होता तो इस मूत्र में यह कथन न कियाजाता कि श्रुतोपनिषद् पुरुषों की गति परमात्मा है।

भाव यह है कि यदि मूर्तिपूजा से तात्पर्ध्य ईश्वरपूजा होता तो खूर्ब से खूर्ब की भी गित परमात्मा में पाईजाती पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि उपनिषद् श्रोताओं की गित का विधान करना इस बात को सिद्ध करता है कि परमात्मा की विश्वता ख्यापन करने के लिये ही इस अधिकरण का प्रारम्भ कियागया है किसी मतीकविशेष में ईश्वर पूजा करने के अभिमाय से नहीं। सं०-ननु, निराकार चेतन होने से जीव भी सर्वगत क्यों

नहीं ? उत्तरः-

अनवस्थितरसम्भवाच नेतरः॥ १७॥

पदः -अनवस्थितेः। असम्भवात्। च।न।इतरः।
पदा०-(अनवस्थितेः) सब स्थानों में न होने (च) और
(असम्भवात्) असम्भव होने से (इतरः) जीवात्मा सर्वगत (न)नहीं होसका। भर्ष्य अणु होने के कारण जीवात्मा की सर्वण स्थिति
नहीं पाई जाती और नाईं उसके ज्यापक होने में कोई युक्ति
उपक्रम्य होती है, इसिछये वह चेतन होने पर भी ज्यापक नहीं
होसक्ता अर्थाद जो चेतन है वह ज्यापक होता है, यह ज्याप्ति
सोपाधिक होने के कारण जीवात्मा में नहीं घट सक्ती, क्योंकि
जो चेतन होकर ज्यापक हो वह सर्वज्ञ होता है, जैसािक विश्व
चेतन सर्वज्ञ ईव्यर है परन्तु जीवात्मा चेतन होने पर भी सर्वज्ञ
नहीं, अतएव जीवटित्त चेतनता उसके सर्वगत होने का प्रयोजक
नहीं होसक्ती, इसका विस्तारपूर्वक निक्षण "वैशिषिकार्ययश्वाह्य" में किया गया है और आग द्वितीयाध्याय के तृतीय
पाद में सूत्रकार स्वयं स्फुट करेंगे, इसिछये यहां विस्तार की
आवश्यक्ता नहीं।

सं - अब पृथिन्यादि स्थानों में ई वर को अन्तर्यामी सिद्ध करने के लिये अन्तर्याम्यधिकरण का आरम्भ करते हैं:— अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धमिन्यपदेशात्।१८।

पदः - अन्तर्यामी । अधिदैवादिषु । तद्धमं व्यपदेशात ।
पदाः - (अधिदैवादिषु) अधिदैवादिकों में (तद्धमं व्यपदेशात) परमात्मा सम्बन्धी धर्मों का व्यपदेश पायेजाने से (अन्तर्यामी) परमात्मा अन्तर्यामी हैं।

भाष्य-"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरम्"=जो पृथिवी में स्थिर होकर पृथिवी का अन्तरात्मा है, जिसको पृथिवी नहीं जानती पृथिबी जिसका शरीर है,इत्यादि अधिदैव वाक्य इस अधिकरण का विषय है, यहां यह सन्देह होता है कि अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथि-व्यादिकों का अभिमानी देवताविशेष अन्तर्यामी है किया उक्त वाक्यमतिवाद्य परमात्मा अन्तर्यामी है ? इसमें मथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपश्च सिद्धान्ती का है, पूर्वपश्ची का कथन है कि ''पृथिवयेव यस्यायतनस्'=पृथिवी जिसका स्थान है, इस वाक्यशेष से नियमनकर्ची पृथिन्यभिमानी देवता है परमात्मा नहीं, क्योंकि जो तक्षा=बद्ई आदि कुठारादि के नियमन कर्चा देखे जाते हैं वह शरीर धारी होते हैं और परमात्मा शरीर शारी नहीं, इसिलये शरीरथारी अभिपानी देखता ही अन्तर्यामी पानना ठीक है ? इसका उत्तर यह है कि उक्त ब्राह्मण में जो सर्वज्ञत्व, नियम-नक्तर्तृत्व आदि धर्म वर्णन किये गये हैं वह परमात्मभिन्न किसी देवविशेष के नहीं होसक्ते, क्योंकि शरीरी देवताओं के होने में कोई प्रमाण नहीं और जो वाक्य "मृद्ब्रवीत्"=मिटी बोली, इत्यादि वाक्य अभिमानी देवताओं के बोधक माने गये हैं उनका आशय तद्भिमानी परमात्मा से है पौराणिक देवताओं के मातिपादनार्थ उक्त वाक्यों की सङ्गति नहीं, इस भाव को सूत्रकार ब्र सु० २।१। ५ में स्वयं स्फ्रट करेंगे, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यक्ता नहीं, इस प्रकार प्रकरणगत तात्पर्य्य से परमात्मा ही अन्तर्यामी सिद्ध होता है शरीरधारी पृथिव्यादि अभिमानी देवता नहीं।

सं०-ननु, कारणकृषेण सत्र विकारों का नियंपन करने से मकृति को अन्तर्यामी क्यों न मानाजाय ? उत्तरः—

नच स्मार्त्तमतद्रमीभिलापात्।। १९॥

पद् ०-न । च । स्मार्त्त । अतद्धमीभिलापात् । पद्दा०-(अतद्धमीभिलापात्)माक्तवर्धों का कथन न किये जाने से (स्मार्त्त) स्मृतिमितपाय मधान (न,च) अन्तर्थामी शब्द का बाच्य नहीं होसक्ता।

भाष्य-"अप्रतर्क्यमिविज्ञेयं प्रसुप्तिमिव सर्वतः" मनु०
१ । ५ इत्यादि स्मृति निक्षित अन्यक्त अन्तर्यामी ब्राह्मण का
विषय नहीं, क्योंकि अन्यक्त के परिणामित्वादि धर्म अन्तर्यामी
ब्राह्मण में कथन नहीं कियेगये किन्तु "आत्मा" शब्द से उस
अन्तर्यामी पुरुष का वर्णन कियागया है जो अपनी अपारशक्ति
से विद्विद्रस्तुओं का नियमन करने वाला है, इसलिये यहां
"आत्मा" शब्द परमात्मा का बोधक है जड़ प्रधान=
प्रकृति का नहीं।

सं ० - नतु, जड़ प्रधान नियन्ता न हो पर योगी पुरुष के जीवात्मा को अन्तर्यामी मानने में क्या हानि ? उत्तरः --

शारीरश्चामयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते॥२०॥

पद्र ० - शारीरः। च । उभये । अपि । हि । भेदेन एनं । अधीयते ।
पदा० - (च) और (शारीरः) जीवात्मा (अपि)भी अन्तर्यामी नहीं होसक्ता (हि) क्यों कि (उभये) दोनों शाखाओं
वाले (एनं) इसको (भेदेन) अन्तर्यामी से भिन्न (अधीयने)
पहते हैं।

भाष्य-दोनों शाखाओं में जीव और परमात्मा का भेद वर्णन कियेजाने से योगी पुरुष का आत्मा भी अन्तर्गामी नहीं होसक्ता, जैनाकि:—

"य आत्मिन तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मान वेद यस्यात्मा शरीरम् " वृंद्दाः ३।७। २२

अर्थ- जो आत्मा में रहता है, जिसको जीवात्मा नहीं जानता, जिसका जीवात्मा शरीर है और जो जीवात्मा को अन्तः=आश्यन्तर से मेरणा करके नियमन कराता है वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अग्नुत=मृत्यु से रहित है, यह माध्यन्दिनी शाखा वाले मानते हैं और काण्य शाखा वाले ''यो विज्ञाने तिष्ठन्" यह पढ़कर जीव ईश्वर का भेद कथन करते हैं, इस मकार उभय शाखाओं में जीव तथा ब्रह्म का भेद मितपादन कियागया है अभेद नहीं, इसिलिये योगी पुरुष परमात्मा नहीं होसक्ता किन्तु जो अन्त-र्यामी ब्राह्मण में निरूपण कियागया है वही परमात्मा है।

सं ० - अब समन्वयाधिकरणस्थ निराकार ब्रह्म की प्रतिक्रा समर्थन करने के लिये अहब्यत्वाधिकरण का प्रारम्भ करते हैं:-

अदृश्यत्वादिग्रणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

पद्-अदृदयत्वादिगुणकः । धर्मोक्तेः ।
पदा - (धर्मोक्तेः) निराकारादि धर्मो के कथन किये जाने
से परमात्मा (अदृदयत्वादिगुणकः) अदृदयत्वादि गुणों वास्रा है।
भाष्य-निराकारादि धर्मों के कथन कियेजाने ने परमात्मा

को अदृश्य,अगोत्रादि गुणों वाला कथन कियागया है,जैसाकि:— यत्तद्देश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचश्चः श्रोत्रं तद्-पाणिपादम् । नित्यं विशुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद्व्ययं-यद्भृतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ मुण्ड० १।१।६

अर्थ-वह परमात्मा चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय न होने के कारण इस्तपादादि कर्मेन्ट्रियों से ग्रहण नहीं कियाजासक्ता. अवर्ण=ह्रपादिकों से रहित है, चक्षुः श्रोत्रादि झानेन्द्रियों से शहित है, एवं हस्त पादादि कर्मीन्द्रयों से रहित है, नित्य, सर्ब-व्यापक, सर्वगत और अतिसूक्ष्म है, वह अव्यय=विकार से रहित सब भूतों की योनि=कारण है,जिसको ज्ञानी पुरुष दिन्य-दृष्टि से देखते हैं, इत्यादि इस अधिकरण के विषयवाक्य हैं, यहां यह शङ्का होती है कि इससे पूर्व अन्तर्यामी अधिकरण में पृथिव्यादिकों को परमात्मा का शरीर कथन कियागया है, और "तत्तुसमन्वयात्" व्रव्स १।१।४ इस अधि-करण द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का निराकार ब्रह्म में समन्वय सिद्ध किया है, फिर पूर्वे। चर विरोधी उक्त विषयत्राक्य में परमात्मा अष्टरयत्वादि धर्मी वाला नहीं होसक्ता, इसलिये अष्टरयत्वादि धर्म प्रकृति के मानने चाहियें ब्रह्म के नहीं ? इसका समाधान यह है कि परमात्मा अदृश्यत्त्रादि धर्मी वाला होने के कारण साकार नहीं और नाही उक्त धर्म प्रकृति के होसक्ते हैं, क्योंकि प्रकृति विकारी होने से कार्य्यावस्था में दृष्टिगत भी होती है.और जो अन्तर्याम्यधिकरण में पृथिव्यादिकों को ईश्वर का शरीर निक्षण कियागया है उसका तात्पर्य यह है कि पृथिबी आदि उस पुरुष के साधन हैं, जैसे कर्म करने के लिये जीव का अरीर साधन है, वास्तव में ब्रह्म अशरीरी है, जैसाकि कठ० ३। १२ में बर्णन किया है कि:—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचाति ॥

अर्थ-अनन्त देहधारी जीवों के बारीर में अबारीरी, अस्थिर पदार्थों में स्थिर है, जो इस प्रकार विश्व आत्मा को जानता हैं वह बोक नहीं करता, इत्यादि वाक्य ईश्वर के निराकार होने में प्रमाण हैं, श्रीभाष्याचार्य्य स्वा० रामानुज ने भी अपने भाष्य में बारीर शब्द के यही अर्थ किये हैं कि पृथिवी आदि परमात्मा के अधीन चेष्ठा करने के कारण बारीर कह जाते हैं वास्तव में ब्रह्म अबारीरी है, इस प्रकार पूर्वोत्तर अधिकरणों का विरोध न पायेजाने के कारण समन्वयाधिकरणस्थ निराकार ब्रह्म की प्रतिज्ञा ज्यों की त्यों बनी रहती है और परमात्मा के माकार होने का दोष भी मिटजाता है, इसिल्ये अष्टइयत्वादि धर्मों को ब्रह्मदित्त मानने में कोई बाधा नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:-

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥२२॥

पद्-विशेषणभेद्व्यपदेशाभ्यां। च।न।इतरौ।
पदाः-(च)और (विशेषणभेद्व्यपदेशाभ्यां) विशेषण
तथा भेद का व्यपदेश पायेजान से (इतरौ) जीव और प्रकृति
परमात्मा (न) नहीं।

भाष्य-विशेषण तथा भेद का व्यपदेश पायेजाते से जीव और प्रकृति परमात्मा नहीं होसक्ते, जैसाकिः— दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरोह्यजः । अप्राणोह्यमना शुभ्रोह्यक्षरात्परतः पुरः ॥ मण्डर्वे १।२

अर्थ- वह दीप्ति वाला, मूर्त्तधर्म से रहित और सर्वत्र व्यापक है वह प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है, उत्पत्ति रहित होने के कारण पाण तथा मन से रहित है, प्रकाशस्त्रक्ष्प और अव्याकृतक्ष्प प्रकृति से भी परम मूक्ष्म है, इत्यादि बाक्यों में "अमूर्त्त" आदि परमात्मा के विशेषण होने और अक्षर शब्द बाच्य प्रकृति का ब्रह्म से निरालापन कथत कियेजाने से वास्तव में परमात्मा ही यहां अशरीरी कथन किया गया है जीब तथा प्रकृति नहीं।

सं ० - यादि पृथिवी आदिक वास्तत्र में ब्रह्म के शरीर नहीं तो जनको शरीर रूप से क्यों वर्णन कियागया है ? उत्तरः -

रूपोपन्यासाञ्च ॥ २३॥

पद०-ह्रपोपन्यासात्। च।

पदा॰-(च) और (क्योपन्यासात्) क्यकालङ्कार द्वारा पृथिवी आदिकों को शरीरक्ष्य से वर्णन कियागया है।

भाष्य – रूपकालङ्कार से पृथिती आदि परमात्मा के शरीर कथन किये गये हैं वास्तव में नहीं, जैसाकिः—

अमिर्मूर्द्धाचश्चषीचन्द्रसूर्योदिशः श्रोत्रेवाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येषसर्वभूतान्तरात्मा॥ मण्ड० रे । ४

अर्थ-अप्नि जिस परमात्मा का मुखदूप है, चन्द्रमा और

खुर्य नेत्र हैं, पूर्वीत्तरादि दिशायें श्रोत्र हैं, वेदक्ष वाणी खुला हुआ मुल है, वायु पाण स्थानी हैं, यह सम्पूर्ण विश्व उसका हृद्य स्थानी है और पादक्ष पृथिवी है, वह परमात्मा सब भूतों का अन्तरात्मा है, इत्यादि विषय वाक्यों में क्षकालङ्कार=उपचार से आग्न आदि प्रमात्मा के मुखादि अवयव वर्णन किये गये हैं वास्तव में वह निराकार है।

सं ० - यदि परमात्मा निराकार हैं तो फिर उसकी वैक्वानर क्ष्य से क्यों वर्णन कियागया है ? उत्तरः —

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४॥

पदः -विश्वानरः । माधारणशब्दविशेषात् । विश्वाकृत् ४ अन्

पदा०-(माधारणशब्दविशेषात्) माधारण वैश्वानर शब्द जाह्यरा मे विशेषता पायेजाने के कारण (वैश्वानरः) परमात्मा का सहस्रद् नाम वैश्वानर है।

भाष्य-वैद्यानर परमात्मा का नाम है, क्यों कि जाठरा भि
में साधारण जी वैद्यानर शब्द उससे विषयवाक्य में उसकी
विशेषता पाई जाती है, यहां पमङ्ग यह है कि वृद्यानरोपासना
का मर्म ममझने के लिये पांच ऋषि मिलकर उदालक के पास
गये. तब उदालक ने कहा कि हम मब मिलकर कैकेय नाम
राजा के पास चलें वह वृद्यानरोपामना का तत्व समझना है,
राजा में वायु आदि जड़ देवताओं की उपामना का खण्डन करके
वैद्यानरोपासना का इम मकार वर्णन किया कि:—

यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते । स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वा-त्मस्वन्नमित्ते ॥ छा॰ ५।१८।१ अर्थ-जो उपासक पादेशमात्र स्नूस्म स्यूछ सब भूतों सें
व्यापक परमात्मा की उपासना करता है वही अन्नादिकों का
भोक्ता होता है अर्थाद उसी का जीना सफल है उससे भिन्न और
मत्र निष्फल ही अन्नादिकों का भक्षण करते हैं, इससे आगे
स्वर्ग को वैश्वानरका सिर और सूर्य को चक्षः इप से वर्णन किया
गया है, इस प्रकार उक्त विशेषना पाये जाने के कारण वैश्वानर
शब्द से यहां परमात्मा का ग्रहण है जड़ जाठराशि का नहीं।

सं २ - अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

स्मर्यमाणमनुमानं स्यात् ॥२५॥

पद् ०-म्पर्यमाणं । अनुमानं । स्यात् ।

पदा०-(स्मर्यमाणं) स्मृतिमितपाद्य (अनुमानं) सिङ्ग भी (स्याव) उक्त अर्थ के साधक हैं।

भाष्य-स्पृति में कथन किया है कि द्यु आदि लोक जिसके मुर्द्धास्थानीय हैं वही परमात्मा है, जैमाकि:—

द्यां मृद्धीनं यस्य विप्राबदिनत खं वै नाभि चन्द्र-सूर्यों च नेत्रे, दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिश्व सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूत प्रणेता ॥

अर्थ-ब्राह्मण लोग युलोक को परमात्मा का मुख, आकाश को नाभि, चन्द्र सूर्य्य को नेत्र, दिशाओं को श्रोत्र और पृथित्रीको पाद वर्णन करते हैं, वह परमात्मा मन भूतों का नियमन करने वाला है, इत्यादि स्पृतियों मे सिद्ध है कि जिमके प्रकाशमय युलोकादि मुर्दा है वह परमात्मा है, इसलिये प्रकाशिम को उन पुरुष का अन्नयन वर्णन कियेजाने से वह उपास्य नहीं होसकती।

भार का आति का साम का से का आता के प्रमान के प्रमाण के प

सं०-अर उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त कथन करते हैं।— शब्दाद्धिभयोऽन्तःप्रतिष्ठानाचनेति चेन्नतथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्प्ररुषमपि चेनम-धीयते॥ २६॥

पद०-शब्दादिभ्यः। अन्तः। प्रतिष्ठानातः। च। न। इति। चेत्। न। दृष्टचुपदेशात्। असम्भनातः। पुरुषं। अपि। च। एनं। अधीयते।

पदा०-(शब्दादिभ्यः) अप्रि आदि शब्दों से (च) और (अन्तः, प्रतिष्ठानात्) अन्दर स्थिति कथन करने से वैश्वानर शब्द जाउराप्ति का बोधक है (चेत्) यदि (इति)ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (तथा, हष्ट्यपुदेशातः) परमात्मा की सर्वान्तर हिंछ का उपदेश कियागया है और (असम्भवातः) जाउराप्ति में उक्त अर्थ का सम्भव नहीं होमक्ता (अपि, च) दृसरी श्रात यह है कि (एनं) इसी वैश्वानर को कई एक शान्वावाले (पुरुषं) पुरुषक्ष से (अधीयते) पहते हैं।

भाष्य-"एषे। दिनिवेदिवानरः"=यह वैक्वानर आग्न है,इस भकार आग्न का वैश्वानर शब्द में सामानाधिकरण्य कथन करके "पुरुषे अन्तः प्रतिष्ठितं वेद"=जो पुरुष के भीतर स्थिर राज्यानि है उस वैश्वानर को जानता है यह कथन किया है, इससे स्पष्ट है जिल्ला कि आग्न आदि शब्दों तथा अन्तः पतिष्ठितं कथन करने से वैद्यानर शब्द जाठराभि का बोधक है ? इसका उत्तर यह है कि "दिव्योह्यसूर्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्याजः" इत्यादि वाक्यों में परमात्मा की सर्वान्तर दृष्टि का प्रतिपादन किया है, इसिलये वही वैक्वानर होसका है अन्य जाठराग्नि नहीं, क्यों कि वह जठर में रहने के कारण परिच्छित्र है सर्वान्तर नहीं, और बात यह है कि क्पकालङ्कार से स्टर्यादिकों को चश्चरादि स्थानीय कथन करना जाठराग्नि पक्ष में नहीं घटसका और आचार्य लोग भी वैक्वानर को पुरुष शब्द से ही कथन करते हैं इससे परमात्मा को ही वैक्वानर मानना समीचीन है।

सं०-अब वैश्वानर के भूत तथा देवता होने का खण्डन करते हैं:—

अतएव न देवताभृतञ्च॥ २७॥

पद् ०-अतएव । न । देवता । भूतं। च ।

पदा०-(च) भौर (अतएव) उक्त युक्तियों मे वेश्वानर् (देवता,भूतं) किमी देवता तथा भृत विशेष का वाचक (न) नहीं॥ मं०-अब उक्त अर्थ में जामिनि आचार्य्य का मत कथन करते हैं:-

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः॥ २८॥

पद्०-साक्षात्। आपि। अविरोधं। जीमिनि:।

पदा - (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य (माक्षात, अपि)
माक्षात ही (अतिरोधं) वैञ्वानर पद के ईञ्वरार्थक होने में
विरोधाभाव कथन करते हैं।

भाष्य—जीमिनि ऋषि यह मानते हैं कि साक्षात्=पकरण और इतर हेतुओं पर यदि ध्यान न भी दियाजाय तो भी वैक्ता-नर शब्द ईक्वर का बोधक है, विक्व शब्द के अर्थ ब्रह्माण्ड के हैं, ब्रह्माण्ड का जो नर=स्वामी हो उनको "विश्वानर" कहते हैं.

पथमाध्याये-द्वितीयःपादः

98

विश्वानर एव वैश्वानरः=विश्वानर ही "विश्वानर" कहाता है,इस मकार साक्षात भी यह शब्द ईश्वर का वाचक है। सं०-अव एक अर्थ में आश्मरध्य आचार्य्य का मत कथन करते हैं:-

अभिव्यक्तेरित्यारमरथ्यः ॥ २९॥

पद् ०-अभिन्यक्तेः । इति । आइमर्थ्यः ।

पदा०-(आइमरध्यः) आइन्द्रध्याचार्य्य का कथन है कि (अभिन्यक्तेः) परमात्मा की अभिन्यक्ति के लिये (इति) वैक्वान्रोपासना का विधान है।

भाष्य-अदमरथी के पुत्र आदमरध्याचार्य यह मानते हैं कि वैश्वानरोपासना परमात्मा की अभिन्यक्ति अकारा के लिये है अर्थात जैसे अग्नि मकाद्यम्यत्वेन अभिन्यक्त है इसी मकार परमात्मा अपनी स्वयंभकाद्याता से सर्वत्र अभिन्यक्त है, इसी अभिनाय से छान्दोग्य में वैद्यानरोपासना का मकरण आया है, जिसका विस्तार "छान्दोग्यभाष्य" में किया गया है।

सं ० - अब वाद्रि आचार्य का मत कथन करते हैं:-

अनुस्मृतेवादरिः ॥ ३०॥

पदः-अनुस्मृतेः । वादरिः ।

पदा ०-(अनुस्मृतेः) निदिध्यासन के लिये वैश्वानरको मादेशमात्र कथन किया गया है यह (वार्दारः) वादिर आचार्य्य मानते हैं।

भाष्य-त्रादि आचार्य का कथन है कि अपिरिच्छित्र वैक्तानर परमारमा को पादेशमात्र हृद्य के अभिषाय से कथन किया गया है और वह निदिध्यामन रूप भक्ति के लिये है। सं०-अब उक्त अर्थ में जैमिनि आचार्य की सम्मति कथन करते हैं:—

सम्पत्तरितिजैमिनिस्तथाहिदशयति।३१।

पद्-प्रम्पत्तः। इति। जैमिनिः। तथाहि। दर्शयति।

पदा०-(सम्पत्तेः) सम्पत्ति के लिये परमात्मा को प्रादेश-पात्र कथन कियागया है (तथाहि) वैसा ही (दर्शयति) शास्त्र में दिखलाया है (इति) यह मत (जैमिनिः) जैमिनि आ-चार्य्य का है।

भाष्य-जैमिन आचार्य का कथन है कि वैश्वानर शब्द सच्य अपरिच्छित्र कथन करना सम्पितनिमित्तक हैं, जैसाकि याजसनेथि ब्राह्मण में कथन किया है कि "प्रादेशमात्रिमिव ह विवा सिविदिता अभिसम्पन्नाः"—अपरिच्छित्र परमात्मा को देवताओं ने ध्यानार्थ सम्पत्ति द्वारा प्रादेशमात्र अनुभव किया अर्थाद हृदयदेश में प्राप्ति होने के कारण उसको प्रादेशमात्र कथन किया है,इसी अभिप्ताय से कैकेय राजा ने उदालक आदि ऋषियों को कहा कि अब में वैश्वानर के सिर आदि अङ्गों का वर्णन करता हुआ प्रादेशमात्र ही सम्पादन करंगा, इत्यादि इस प्रकार देशादि परिच्छेद रहित वैश्वानर परमात्मा के सम्पत्ति रित्तक प्रादेशमात्र ज्याद से कोई बाधा नहीं,सम्पत्ति तथा सम्पत्त वर्ष होनों पर्याय शब्द हैं।

सं ०-अत् वक्त अर्थ में सर्वसम्मत सिद्धान्त कथन करते हैं :-आमनन्तिचैनमस्मिन् ॥ ३२॥

पद ० - आमनित । च । एनं । अस्मिन् ।

पदा०-(च) और अन्य आचार्य्य (अस्मिन्) दोनों भुवों के मध्य (एनं) इस वैश्वानर का (आमनन्ति) ध्यान करना कथन करते हैं।

भाष्य-अन्य आचार्य भी इस वैश्वानर पुरुष का दोनों भुवों के मध्यभाग में ध्यान किया जाना कथन करते हैं, इसील्यिं सर्वच्यापक वैश्वानर को प्रादेशमात्र कथन किया गया है।

कईएक आचार्य इन सूत्रों से मूर्तिपूजा का भाव निकालते हैं कि जिसमकार भू पदेशमें वैश्वानर का ध्यान विधान किया है इसी मकार सूर्ति पदेश में भी ईश्वर का ध्यान कियाजाता है, इसी अभिपाय से प्रादेशमात्र की उक्ति है! सो ठीक नहीं, क्योंकि सर्वव्यापकत्वेन परमात्मा के सभी प्रदेश कहे जासक्ते हैं, इस से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होसक्ती और भू प्रदेश तो केवल चित्त हित्ते विरोध करके ईश्वरोपासना सिद्ध करता है निक इतर वस्तुओं को ईश्वर समझकर ईश्वरोपासना सिद्ध करता है निक इतर वस्तुओं को ईश्वर समझकर ईश्वरोपासन का विधायक है, और जो सुर्ध्य चन्द्रमा उसके नेत्र वर्णन किये हैं इस सभी परमेश्वर एकदेशी सिद्ध नहीं होता किन्तु इपकालङ्कार से सूर्य्यादिकों को जिसके नेत्र स्थानी वर्णन किया गया है वह सर्वगत है, यादे यह तर्क मान भी छिया जाय कि एकदेशी मूर्ति आदिकों में भी उसकी उपासना होसक्ती है तब भी उपसंहार में इस उक्त सूत्र ने यह स्पष्ट करदिया कि औप-

निषद्ध छोग उस पुरुष को सर्वच्यापक मानते हैं इसीलिये पाषाणादि किसी मूर्ति में उसकी उपासना उपनिषदों में विधान नहीं कीगई, इस विषय को महर्षि सूत्रकार फलाध्याय के मतीकाधिकरण में "न प्रतिके न हि सः" विश्व सुरुष्टि सुत्रों में विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे, यहां मुन्थगौरवभय से विस्तार की आवश्यकता नहीं।

इति द्वितीयःपादः समाप्तः

अथ तृतीयःपादः प्रारम्यते

सं०-द्वितीय पाद में बैश्वानरादि शब्दों का निराकार ब्रह्म में समन्वय प्रतिपादन किया, अब इस पाद में ब्रह्म को ग्री आदि छोकों का आश्रद मितपादन करने के लिये प्रथम "द्युभ्वा-प्रशिकरण"का आरम्भ करते हैं:—

युम्वाद्यायतनंस्वशब्दात् ।१।

पद्०-चुभ्वाद्यायतनं । स्वशब्दात् ।

पदा०-(स्वशब्दात) स्वशब्द पाये जाने से ब्रह्म (द्युभ्वाद्या-यतनं) घौ, पृथिवी आदि लोकों का अधिकरण है।

भाष्य-मक्कत में "स्व" शब्द श्रुतिस्थ परमात्मवाची आत्मा शब्द के अभिमाय से आया है " आत्मा" शब्द के पाये जाने से तिराकार ब्रह्म ही द्युकोक पृथिवीकोक आदि सब छोक छाकान्तरें। का आयतन=अधिकरण है, जैसाकि सुं १। २। ५ में वर्णन किया है कि:—

यस्मिन् द्यौः पृथिवीचान्तरिक्षमीतं मनः सह प्रा-णैश्चसर्वैः तमेवैकंजानथ । आत्मानमन्यावाची विसुश्रथामृतस्यैव सेतुः॥

अर्थ-जिसमें ग्रु=सुख प्रधान छोक, पृथिवी छोक, अन्तिरिक्ष छोक और सब प्राणों के साथ जिसमें यन ओतप्रोत है उसी एकपात्र ब्रह्म को जानो और उससे भिन्न अन्य देवताओं के उपासना विधायक वाक्यों को छोड़तो, इस विषय वाक्य में "आत्मानं " पद से ब्रह्म ही सब का आश्रय बोधन कियागया है, इसिछिये उसी की उपासना कर्षच्य है अन्य किसी देवताविशेष की नहीं, इसादि अनेक वाक्य इस अधिकरण के विषय जानने चाहियें।

सं० - ननु, "प्राणशरीरनेता" मुण्ड० २।२। ७ = प्राण और वारीर का स्वामी है, इस कथन से यह प्रकरण जीव का पाया जाता है ईश्वर का नहीं ? उत्तर :—

मुक्तोपसृष्यव्यपदेशाच ॥ २ ॥

पदः -मुकोपसृष्यव्यपदेशात । च।
पदाः -(च) और (मुक्तोपसृष्यव्यपदेशात) मुक
पुरुषों का प्राप्य स्थान कथन किये जाने से ब्रह्म है। सब
का आयतन है।

भाष्य-युक्त पुरुषों का माप्य स्थान परमात्मा कथन किया है, जैसाकि:—

भियतेहृदयप्रनिथिरिछयन्तेसर्वसंशयाः । श्रीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्हष्टेपरावरे ॥

मुण्ड०२।२।८

अर्थ-उस परमात्मा के ज्ञान से हृदयग्रन्थि=दुर्वासना क्ष्य अन्थि मेद को प्राप्त होकर सब संज्ञाय दूर होजाते और उस पुरुष के कुसंस्कार रूपी अशुभकम्म सय होजाते हैं, इस प्रकार ब्रह्म सुक्क पुरुषों के ज्ञान का विषय कथन किया गया है, इसिक्ष्ये मुं०२।२।७ श्लोक के प्रकरण का विषय ब्रह्म है जीव नहीं, यदि जीव होता तो इस प्रकरण में उसी के ज्ञान से दुर्वासनाओं का स्थ कथन किया जाता पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि जो सब लोकों का आधार है वही मुक्त पुरुषों की प्राप्ति का स्थान और ज्ञरीर प्राणादिकों का नियन्ता निराकार ब्रह्म उक्त प्रकरण का विषय है।

सं ० - नतु, परस्पर आकर्षण शक्ति द्वारा सूर्य्यादि पदार्थों को ही खु आदि लोकों का आधार क्यों न मानाजाय ? उत्तर :---

नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच ॥ ३॥

पद०-न । अनुमानं । अतच्छब्दात् । माणभृत् । च ।

पदा०-(अतच्छब्दाव) सूर्यादि पदार्थों के आयतन होने में कोई शब्द प्रमाण न पाये जाने से (अनुमानं) अनुमानसिद्ध सूर्यादि सुभ्वादि लोकों के (न) आधार नहीं होसक्ते (च) और (प्राणशृद्) जीव के आधार होने में भी कोई शब्द प्रमाण नहीं पाया जाता।

भाष्य-यदि अनुमानसिद्ध परस्पर आकर्षण शक्ति द्वारा
सूर्यादि लोक ही एक दूसरे का आधार होते तो अवश्य इस
प्रकरण में उक्त अर्थ का बोधक कोई शब्द प्रमाण पायाजाता
और जीव को भी सबका आधार वर्णन किया जाता पर
सूर्यादि के आधार होने में कोई शब्द प्रमाण उपलब्ध न होने से
सिद्ध है कि ब्रह्म ही गुभ्यादि लोकों का आयतन है सूर्यादि
जङ् प्रदार्थ नहीं।

सं ० ननु, जब जीव मुक्त होकर ब्रह्म में मिछजाता है तब धुभ्वादिकों का आयतन होसकेगा ? उत्तर :---

भेदव्यपदेशात्॥ ४॥

पद०-एकपद०।

पदा ०-(भेद व्यपदेशाव) भेद का कथन पाय जाने से मुक्त जीव और ब्रह्म का अभेद नहीं होसक्ता।

भाष्य-मुक्ति अवस्था में जीव ब्रह्म नहीं होसक्ता, वहां पर भी भेद रहता है, जैसाकि :-

- (१) " समानेवृक्षेपुरुषोनिममोऽनीशया शोचित सुद्यमानः " मुण्ड० ३।१।२
 - (२) "ज्ञाज्ञौद्धावजावीशानीशौ" श्वेता० १। ९
 - (३) " प्राज्ञेनात्मना अन्वारूढः" वृ० ४। ३। ३५

(४) 'नित्योनित्यानांचेतनश्चेतनानां" कठ०५। १३

अर्थ-(२) मकृतिरूप दक्ष में पुरुष निमंग्न है जो अविद्या से मीह को प्राप्त हुआ शोक करता है।

- (२) एक ज्ञानी और एक अज्ञानी ईश्वर और जीव दो हैं।
- (३) यह जीवात्मा पाज=परमात्मा के आश्रित है।
- (४) मक्तत्यादि नित्य पदार्थी में नित्य और जीव इत्य चेतन पदार्थों में चेतन है, इत्यादि वाक्यों से जीव ब्रह्म का भेद उपनिषदों में स्पष्ट पाया जाता है, इसिलये मुक्ति अवस्था में भी जीव ब्रह्म नहीं होसक्ता और ब्रह्म न होने से चुभ्वादिकों का आधार भी नहीं होसका।

सं०-अब उक्त अर्थ को दो सूत्रों से स्पष्ट करते हैं:--प्रकरणाच्च ॥ ५॥

पद०-प्रकरणात् । च ।

पदा॰-(च) और (प्रकरणात्) प्रकरण भी ब्रह्म का होने से वही ग्रुभ्वाद्यायतन होसक्ता है जीव नहीं।

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ६ ॥

पद ०-स्थित्यद्नाभ्यां। च।

पदा॰-(च) और (स्थित्यदनाभ्यां) स्थिति तथा अदन क्रिया के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-साक्षी र हो कर असङ्ग रहने का नाम "स्थित" और कर्मफल के भोग का नाम "अदन "है, स्थिति तथा

अदन किया का पृथक् २ वर्णन पाये जाने से जीव ईश्वर दोनों भिन्न २ हैं, जैसाकि मुण्ड० ३।१।१ में वर्णन किया है कि:—

द्धा स्वर्णा सर्यजा सलाया समानदृंशं परिषस्वजाते । तयोरन्यःपिप्पलंस्वाद्धत्त्यनश्रन्नन्योऽभिचाकसीति ॥

अर्थ-अनादिकाल से एक साथ रहने वाले, परस्पर मैत्री वाले ईश्वर और जीवरूप दो पश्ची प्रकृतिरूप दक्ष को आश्रय किये हुए हैं, उनमें से जीव कर्मफल का भोक्ता और परमात्मा कर्मफल न भोगता हुआ साक्षीरूप से स्थित है, अतएव सिद्ध है कि अल्प-शक्ति वाला जीव द्युभ्वाद्यायतन नहीं होसक्ता ।

सं ० – अब ब्रह्म को भूमा कथन करने के छिये "भूमाधिक-रण" का आरम्भ करते हैं:—

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्॥ ७॥

पद ० - भूमा । सम्प्रसादाद । अध्युपदेशाद ।

पदा०-(सम्प्रसादात्) प्राण से (अध्युपदेशात्) अधिक होने के कारण (भूमा) भूमा पद से ब्रह्म का ग्रहण है।

भाष्य-छान्दोग्य के सप्तम प्रपाठक में यह कथा है कि नारद ने सनत्कुमार को कहा कि है भगवन ! अध्ययन कराओ, सनत्कुमार ने कहा कि जो तुम जानते हो सो कहो उससे आगे हम कहेंगे, नारद ने कहा कि भगवन ! मैं केवल ऋग्वेदादि विद्या जानता हूं, इसलिये मंत्रवेचा हूं, और मैंने सुना है कि "तरित्शोक्मात्मवित्" = आत्मवेचा पुरुष शोक को तरता है, मैं शोक को माप्त हूं सो सुसको आप शोक से पार करें, सनत्कुमार ने कहा यह जो ऋग्वेदादि विद्या तुमने अध्ययन की है यह नाम है और नाम ही ब्रह्म है, तुम इसीकी उपासना करो, नारद ने कहा नाम से भी कोई उत्तम है ? सनत्कुमार बोले कि नाम से बाणी बड़ी है, इस मकार वाणी से मन, मन से संकल्प, संकल्प से चित्त, चित्त से ध्यान, ध्यान से विज्ञान, विज्ञान से बल, दल से अन्न और अन्न से जल, जल से तेज, तेज से आकाश, आकाश से समर=स्पृति, उससे आशा=कामना, आशा से आगे माण को ब्रह्मकूप से उपास्य विधान किया, जैसाकि:—

"प्राणो वाव आज्ञाया भ्याच् यथा वाव अरानाभै।सम-पिता एतस्मिच् सर्वसमर्पितमिति" छा० ७। १५ । १

अर्थ-प्राण आज्ञा से बड़ा है, जिस प्रकार रथ की नाभि में आरे छगे हुए होते हैं इसी प्रकार सब इन्द्रियें प्राण के आश्रित हैं, इसके अनन्तर सनत्कुमार ने नारद को मत्य का उपदेश किया, सत्य से आगे विज्ञान का, विज्ञान से मित का, मित से श्रद्धा का श्रद्धा से आगे निष्ठा का, उससे कृति=यत्न का, कृति से आगे सुख का, सुख के अनन्तर यह उपदेश किया कि:—

"योवै भूमा तत्सुलं नाल्पे सुलमस्ति भूमैव सुलं भूमात्वैव विजिज्ञासितव्य इति" छा० ७। २३।१

अर्थ-जो भूमा है वही सुल है अर्थात जो सब से बड़ा है वही सुलक्ष्य है अल्प में सुल नहीं, इसिलिये भूमा की ही जिज्ञासा करनी चाहिये, तब नारद ने सनत्कुमार से कहा कि आप सुझको भूमा का उपदेश करें, सनत्कुमार ने यह उपदेश किया कि:-

"यत्र न अन्यत्पश्यति न अन्यच्छृणोतिनान्यत् विजानाति स भूमा" छा० ७। २३। २४

अर्थ-सर्वोपरि=सबसे वड़े पदार्थ का नाम "सूमा" है, क्यों कि बहुत के भाव को "भूमा" कहते हैं, इस विषय वाक्य में यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि "भूमा" पद से पाण का ग्रहण है किंवा परमात्मा का ? उक्त सन्देह की निवृत्ति के छिये सूत्रकार ने कथन किया है कि पाण से अधिक उपदेश पाये जाने के कारण "भूमा" नाम परमात्मा का है पाण का नहीं अर्थात जिस अवस्था में जीव सर्वथा सुखी होजाता है उस सुषुप्ति अवस्था को "सम्प्रसाद" कहते हैं, और सुष्ति में पाणों की चेष्टा ज्यों की त्यों बनी रहने के कारण प्रकृत में पाण भी "सम्प्रसाद" कहळाता है, जिसनकार "नाम" आदि से उत्तरोत्तर "वाक्य" आदि को अधिक वर्णन करते हुए सनत्कुमार ने "प्राण" को बड़ा कथन किया है इसीमकार पाण की अपेक्षा से भी "भूमा" को जानने योग्य कथन करके उसके उत्तर किसी अन्य पदार्थ को बड़ा कथन नहीं किया मत्युव "नाल्पेसुखं"=अल्प में सुख नहीं, इस वाक्यशेष से ब्रह्म की अपेक्षा अत्यन्त अल्प प्राण आदि में मुल का निषेध किया है, इसिलये जो महान मुलराशि जिसके साक्षात्कार से रागद्वेषादि के हेतु अविद्या की निष्टात्तिद्वारा जिज्ञासु वीतशोक होकर ब्रह्मानन्द का उपभाग करता है वही ब्रह्म"भूमा"पद का वाच्यार्थ है पाण नहीं, क्योंकि माण के उपदेश से शोक का निष्टत्त होना सर्वथा असम्भव है

और इस अकरण में "तरतिशोकमात्मिवित्"=आत्मवे त्ता शोक से पार होजाता है, इस वाक्य द्वारा ''भूमा" परमात्मा के शान से शोकनिष्टित्त का प्रतिपादन किया है, इसिछ्ये ''भूमा" नाम परमात्मा का जानना चाहिये।

सं ०-अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

धर्मोपपत्तेश्च॥८॥

पद्-धर्मोपपत्तेः। च।

पदा०-(च) और (धर्मीपपत्तेः) धर्मी के पाये जाने से "भूमा" नाम परमात्मा का है।

भाष्य-परमात्मा में कथन किये गये जो धर्म, उनकी उप-पित्र=सिद्धि पाए जाने से यहां "भूमा" परमात्मा का नाम है अर्थाद विशुत्व, सर्वज्ञल, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वान्तर्यामिल, और सर्वाधारत्वादि धर्म जो अरुप पदार्थ में नहीं होसक्ते वह उसमें पाये जाने के कारण भूमा नाम परमात्मा का है परमात्मा की अपेक्षा अत्यन्त अरुप प्रकृति के विकारभूत प्राण का वाची नहीं॥

एक समय गागि ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि स्वर्ग, पृथिवी आदि सब पदार्थ किसमें ओत मोत हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि आकाश में,गागि ने कहा आकाश किसमें ओत मोत है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि:—

"सहोवाचैतदैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाभिवदिनत, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम- तमोऽवायु अनाकाशं असङ्गमरसमगन्धमचस्रुष्कमः श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कं अप्राणिमुखममात्रं अनन्तरम्ब्राह्मं न तद्शाति किंचन न तद्शाति कश्चन ॥ एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि चावा पृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः" बृहदाः ३।८।८-९

"यो वा एतदक्षरं गार्गि अविदित्वा अस्मात् लोकांत् प्रैति स कृपणोऽथ वा एतदक्षरं गार्गि विदि-त्वा अस्मात् लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः । तद्धा एत-दक्षरं गार्गि अदृष्टं दृष्ट् अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ नान्यत् अतोऽस्ति दृष्ट् नान्यत् अतोऽस्ति श्रोतृ नान्यत् अतोऽस्ति मन्तृ नान्यत् अतोऽस्ति विज्ञातृ एतिस्मन्त्र खलु अक्षरे गार्गि आ-काश ओतश्र प्रोतश्र इतिं" बृहदाः ३।८।२३

अर्थ-हे गार्गि! जो तुम ने पूछा कि आकाश किसमें ओत मोत है सो वह "अक्षर" है जिसको ब्रह्मवेता छोग इस मकार वर्णन करते हैं कि वह न स्यूछ, न अणु, न इस्ब, न दीर्घ है अर्थाद जो उक्त परिमाण वाला जड़ द्रव्य है उससे वह भिन्न है, और वह लोहित=लाल, लोह=चिकना, छाया. तम, वायु और आकाशक्प भी नहीं, वह असङ है, रस, गंध, नेम, श्रोम, वाक, मन, तेज, माण, युख और इन्द्रियों वासा नहीं अयांव किसी मान से मापा नहीं जासक्ता, वह केवल अन्दर वा बाहर ही नहीं किन्तु सर्वत्र एकरस न्यापक है, वह किसी को ख़ाता नहीं और न उसको कोई खासक्ता है, उस असर की मशासना=आज्ञा में सूर्य्य चन्द्रमादि तथा स्वर्ग पृथिंन्यादि स्थित हैं, वह असर अदृष्ट=देखा नहीं जासका पर वह सबको देखता है, और वह स्वयं अश्रुत है पर आप सब सुनता है, वह अमन्ता=मन का विषय नहीं, अविज्ञात=बुद्धि का विषय नहीं, आप सबका ज्ञाता है, उस असर में आकाशादि सब ओत मोत हैं, यहां जो यह कहा गया है कि वह मन आदिकों का विषय नहीं, इसका यह अभिमाय है कि वह असंस्कारी मन, बुद्धि आदिकों का विषय नहीं।।

अद्वैतवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि वह एक ही चेतन है जीव उससे भिन्न नहीं, इसिल्ये उसका ज्ञाता कोई नहीं और नाही उसका कोई श्रोता होसक्ता है? पर यह भाव उक्त विषय वाक्य से नहीं पाया जाता, क्योंकि विषय वाक्य में उसको आकाशादिकों का अधिकरण कहा गया है और आका-शादिकों का अधिकरण जीव नहीं होसक्ता, इस प्रकार जिसमें आंकाशादिकों की धारणा पाई जाती है वही "अक्षर" पद वाच्य ब्रह्म है।

> सं०-अव परमात्मा को अक्षर पद वाच्यं कथन करते हैं:— अक्षरमम्बरान्तधृते: ॥ ९ ॥

मथमाध्याये-तृतीयःपादः

९३

पद ०-अक्षरं । अम्बरान्तघृतेः ।

पदा०-(अम्बरान्तधृतेः) आकाशादिकों की धारणा पाये जाने से (अक्षरं) अक्षर नाम परमात्मा का है।

सं०-ननु, "नक्षरतीत्यक्षरं"=जिसका नाश नही उसको
"अक्षरं"कहते हैं, इस अर्थ से अक्षर नाम मकृति का भी है, क्योंकि
वह भी नाश नहीं होती, केवल रूपान्तरों में बदल जाती है फिर
यहां अक्षर से मकृति का ग्रहण क्यों न किया जाय ? उत्तरः—

सा च प्रशासनात्॥ १०॥

पद्०-सा। च। मशासनाद।

पदा०-(च) और (सा) आकाशादिकों की धृति (मशासनात) मशासन करने वाले चेतन परमेश्वर में ही पाई जाती है।

भाष्य-"एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्या-चन्द्रमसी विधृती तिष्ठतः" बृहदा० ३। ८। ९ = हे गार्गि ! इस अक्षर=अविनाशी परमात्मा के मशासन में सूर्य, चन्द्रमा अपनी मर्यादा में स्थिर हैं, इस वाक्य से सूर्यादि लोकों का मशा-सनपूर्वक धारण करना चेतन में पायाजाता है, इसलिये जड़ प्रकृति आकाशादिकों का धारण करने वाली न होसकने के कारण अक्षर पद का वाच्य नहीं होसक्ती ।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि स्वक्ष से सर्वथा मच्युत न होने और आकाशादि कार्य्यमात्र का उपादानकारण होने से प्रकृति भी स्वकार्यभूत आकाशादिकों का धारण करने वाली होसक्ती है

परन्तु प्रशासन=नियन्ता होकर धारण करना प्रकृति का ध्में नहीं, क्योंकि नियन्तृत्व धर्म जड़ में नहीं होसक्ता, इसिंछिये उक्त विषय वाक्य में "अक्षर" पद परमेश्वर का ही वाचक जानना चाहिये प्रकृति का नहीं।

सं ० - यद्यपि अक्षर से यहां ब्रह्म ही वाच्य समझा गया है तथापि यहां उसके वाचक ओङ्कारादि वणों का ग्रहण क्यों न किया जाय ! उत्तर:-

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ ११ ॥

पद०-अन्यभावव्यावृत्तेः। च ।

पदा०-(च) और (अन्यभावन्यावृत्तेः) दूसरे पदार्थों से च्याद्यति पायेजाने के कारण अक्षर पद से यहां ब्रह्म का ही ब्रह्मण है।

भाष्य-अन्यभाव=ओंकारादि वर्णों का जो भाव अथवा उसकी बोधक प्रतीकों का जो भाव उनकी व्याद्याचिन्निनिषेध पाये जाने से अक्षर यहां ब्रह्म का ही नाम है किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, वह व्याद्यति "नमस्यप्रतिमाऽस्ति" यजु०३२।३= उसकी कोई प्रतिमा नहीं, इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट है।।

भाव यह है कि "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽ स्माल्लोकात्मेति स कृपणः" बृहदा०३।८।११=हे गार्गि! जो इस अक्षर को न जानकर पाणों का त्याग करता है वह कृपण है, "अथ एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्मालोका-रेप्रेति स ब्राह्मणः" बृहदा० ३।८।१२=और जो अक्षर

प्रथमाध्याये-तृतीयःपादः

Digitized by Arya Samaj Foundation Chernal and eGangotri अध्य को जानकर इस छोक से पयान करता है वह जासण=अस वेसा होने के कारण ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इत्यादि विषय बाक्यों में अक्षर शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण है प्रकृति तथा ओक्कारादि वर्णों का नहीं।

सं० - अब ईक्षत्यधिकरण का आरम्भ करते हुए जीव ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करते हैं:--

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः । १२।

पदः -ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्। सः।

पदा०-(ईक्षतिकर्मच्यपदेशात्) ईक्षति का कर्म कथन किये जाने से (स:) वह जीव ब्रह्म नहीं होसक्ता।

.. भाष्य-प्रशोपनिषद् के पञ्चमं प्रश्नमें पिप्पलाद गुरु से सस काम ने पूछा कि मरणपर्य्यन्त जो ओंकार का ध्यान करता है उसको किस लोक की पाप्ति होती है ? इसके उत्तर में पिप्पलाद ने कहा कि:-

"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुष-मिभध्यायीत्, स तेजिस सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादो दुरस्तवचा विनिर्मुच्यत एवं हवे स पापना विनि-र्मुक्तः स सामभिरुनीयते बह्मलोकं स एतस्मात जीव घनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषं ईक्षताति" मक्ष० ५।५

अर्थ-जो पुरुष त्रिमात्रिक औंकार अक्षर द्वारा उस परम पुरुष परमात्माका ध्यान करता है वह तेजोमय प्रकाशस्त्रहर प्रस्त हो नाता है, जैसे सर्पं अपनी कें जुली को छोड़कर प्रस्क हो जाता है इसी मकार ओक्कार का ध्यान करने वाह्य संसार के बन्धनों से छटकर ब्रह्म छोक को मान्न होता है अर्थाद जीव से परे जो मक्कात उससे परे जो स्रह्म पुरुष परमात्मा है उसका सामात्कार करता है, इस विषय वाक्य में यह सन्देह हुआ कि वह जीवात्मा उस ब्रह्म छोक को मान्न होकर ब्रह्म बनजाता है वा उससे भिन्न रहता है ? इसका उत्तर स्वन्नकार ने यह दिया है कि ब्रह्म इसति हिया का कर्म कथन किये जाने से जीव ब्रह्म कहीं बनसक्ता, यदि ब्रह्म छोक को मान्न होकर जीव ब्रह्म बन्ध बन ब्रह्म तो "प्रात्परं जुरिश्य पुरुषं हुन्नते" जीव समुद्वाय से परे जो मक्कति उससे परे पुरुष को देखता है, ऐसा न कहा जाता प्रकृत उक्त श्रुति वाक्य में ईस्रति क्रिया तथा उसके कर्मभूत इंकर का प्रयक् निर्देश पाये जाने से जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है, इस्रस्थिय मायावादियों का उक्त कथन ठीक नहीं ॥

सं० अब ब्रह्म को "दहराकाश" पद का वाच्यार्थ कथन करते हैं:—

दहर उतरेभ्यः। १३।

पह०-दहरः । उत्तरेभ्यः ।

पदा०-(उत्तरेश्यः) बाक्यज्ञोषगत उत्तर हेतुओं से (दहरः) हहर नाम ब्रक्ष का है।

भाष्य-छान्दोग्य में वर्णन किया है कि:-

"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरिकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यामिति (१) तं चेद्रब्रुयु यदि-

उद्भणस्ति य माजिल तीस क्राइशः। पासिर पद्धते हृद्यमास्त्रां या दहरम्। भागः १०१२ विक समस्त नारंगं के निकलत के स्थान हृद्यं में आपने पर्स सम्मस्त्रस्य दृहर क्रम की उपासना करते हैं। CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. दमस्मिन ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽ स्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टब्यं यदाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्र्यात् (२) यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हदय आकाश उभे अस्मिन द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते इति"

छा०८।१।१-२-३

अर्थ-यह जो ब्रह्मपुर नाम शरीर इसमें दहर नामक कमल स्थान है जसके भीतर जो स्वस्माकाश वह जानने मोग्य है, यदि गुरुको शिष्य यह कहे कि यह जो ब्रह्मपुर है उसमें दहर नाम कमल स्थान और उसके भीतर दहर नाम अन्तराकाश है, सो यहां क्या जिज्ञासा करने योग्य है ! इसके उत्तर में गुरु यह कहे कि जैने यह आकाश है वैसाही दृदय के भीतर आकाश है और उसके भीतर स्वर्ग तथा पृथिवी दोनों स्थित हैं, इस वाक्य में दृदय के अन्दर जो स्वस्माकाश कथन किया है वह भूताकाश है किवा ब्रह्म है ! इस सन्देह की निष्टित के लिये दहराधिकरण का इस मकार आरम्भ किया गया है कि दहराकाश ब्रह्म का नाम है ! क्योंकि वाक्यशेषगत हें तुओं से ऐसा ही पाया जाता है ! जैसाकि:—

"एष आत्मा अपहतपापाविजरोविमृत्युर्विशोकोऽ विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प इति" छा॰ ८। १। ५ अर्थ-यह आत्मा=ब्रह्म अपहतपाद्माध्याप से रहित, विद्याल क्ष्म क्ष्म क्ष्म क्ष्म क्ष्म क्ष्म स्थाल क्ष्म हित, विद्याल क्ष्म स्थाल क्ष्म क्ष्म वाक्य क्षेम क्ष्म क्ष्

सं ० - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं: — गतिश्ब्दाभ्यांतथाहि दृष्टंखिङ्गं च ॥१४॥

यद०-गतिवाब्दाभ्यां। तथाहि। दृष्टे। लिङ्गं। चीं

पदा०-(गतिशब्दाभ्यां) गति तथा शब्द द्वारा उक्त अर्थ की सिद्धि होती है (च) और (तथाहि) वैसा ही (दष्टं, खिड्मस्) इक्त अर्थ का साधक लिझ भी पाया जाता है।

भाष्य-ब्रह्म में जीवों की प्रतिदिन गति पाये जाने और इसी प्रकार ब्रह्म में छय होने का छिड़ पाये जाने से यहां "दहराकाश" पद ब्रह्म का बोधक है, जैसाकि ब्रह्म में गति विधायक विषयवाक्य में वर्णन किया है कि:—

"तथापि हिरण्यरूपिनिधिनिहितं अक्षेत्रज्ञा । उप-रि उपरि संचरन्तो न विन्देयु एवमेव इषाःसर्वाः प्रजाः अहर अहर गच्छन्त्यहृताः एतं ब्रह्मलोकं न वि-न्दिन्ति अनृतेन हि प्रत्युदाः इति" छा० ८ । ३ । २ अर्थ-जिस मकार खेत में गढ़े हुए सुवर्णक्प धन को म

ज्यानकर खेत के स्वामी ऊपर २ घूमते हैं और उस धन को नहीं
पासक्ते इसी मकार यह सब मजा मितिदन ब्रह्मछोक को माप्त
होती हुई उसको नहीं पासक्ती, क्योंकि यह अनृत= अज्ञान
से ढकी हुई है, इस वाक्य द्वारा ब्रह्म में जीवों की गित
मितपादन करने और "ब्रह्मछोक" शब्द के पाये जाने से सिद्ध
है कि यहां दहराकाश का मकरण ब्रह्म के अभिमाय से आया है
मूताकाश के अभिमाय से नहीं, उक्त अर्थ का साधक छिड़
मूताकाश के अभिमाय से नहीं, उक्त अर्थ का साधक छिड़
मुताकाश के अभिमाय से नहीं, उक्त अर्थ का साधक छिड़
मित्र सम्पन्नो भविति" छां० ६। ८। १=हे सोम्य! सुनुसि अवस्था में जीव ब्रह्म के साथ मिलजाता है, यहां ब्रह्म के अभिनेत्र
साथ मिलनाइप छिड़ "दहराकाश" के ब्रह्मार्थक होने में ममक

श्वामि बाङ्कराचार्यजी के अनुवायी "ब्रह्मलोक" बब्द को यह अर्थ करते हैं कि "ब्रह्मवलोकः ब्रह्मलोकः"=ब्रह्म ही लोक है, "ब्रह्मलोकः ब्रह्मणो लोकः"=ब्रह्म का जो लोक नाम दर्शन उसको "ब्रह्मलोक" कहते हैं, यह अर्थ अर्ह्म करते, इस अर्थ के न करने का कारण यह है कि उन्होंने जीव को ब्रह्म क्लाना है, और यह आश्रय ब्रह्म के लोक अर्थ करने से नहीं निकल सक्ता, हम यहां और क्या कहें, "स्वामी बाङ्कराचार्य" का यह अर्थ सम्पूर्ण पौराणिक मर्थादा मे

जानना चाहिये।

विरुद्ध है, क्यों कि पौराणिक सम्मदाय में ब्रह्म का छोकविश्वेष भाना गया है, और "एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गाणि सूर्य्याचन्द्रमसी विघती तिष्ठतः" बृहदः १।८९=है गाणि! इस अक्षर, की भशासना में सूर्य चन्द्रमा उहरे हुए हैं, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म में ही संसार की धृति पाये जाने से दहराकाश ब्रह्म का नाम है।

सं॰-अब उक्त अर्थ को दो सूत्रों से स्पष्ट करते हैं:— खूतेश्चमहिस्नोऽस्यास्मिन्तुपलब्धेः॥ १.५॥

पदः - धृतेः । च । महिद्राः । अस्य । अस्मिन् । उपलब्धेः ।

पदा०-(घृतेः) संसार का धारण पाये जाने (च) और (अस्य) संसार की (महिझः) महिमा (अस्मिन्) ब्रह्म में (उप- क्रब्धेः) उपछन्ध होने से दहराकाश ब्रह्म का नाम है।

भाष्य—"अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय" छां० ८ । ४ । १= ब्रह्म ही सब छोकों की
बर्यादा तथा उनकी यथाधिकार स्थिति के छिथे विधृति=धारण
करने वाला है, इस मकार आत्मा का मकरण चलाकर उसको
संसार मात्र का धारण करने वाला कथन करना दहराकाञ्च के
ब्रह्मार्थक होने में ममाण है, यदि प्रकृत में भृताकाञ्च ही "दहर"
पद का वाच्यार्थ होता तो उसको विधृतिहप कथन न किया
जाता, क्योंकि भूताकाञ्च में छोकमात्र के धारण करने का सामर्थ्य
ममाण वाधित तथा युक्ति रहित है और संसारहप महिमा की

भथपाध्याये-तृतीयःपादः

908

विष्किष्य भी ब्रह्म में पाई जाती है, जैसाकि "एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पूरुषः"=यह संसारकप महिमा उसके एकदेश में है और पुरुष उससे अधिक है, इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट है, इसिलये सम्पूर्ण महिमा का आधारभृत ब्रह्म ही "दहराकाक" पद का वाच्यार्थ जातना चाहिये।

प्रसिद्धेश्व ॥ १६॥

्षद०-प्रसिद्धेः। च।

पदा ०-(च) और (शिसदेः) शिसदि से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

शाष्य-दहराकाश इसिख्ये भी ब्रह्म का नाम है कि आकाश शब्द परमेश्वर में मिसद है, जैसािक "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निरविहिता" छा०८।१४।१=आकाश ही नाम का भारण करने वाछा है "सर्वाणि ह वा इमानि-भूतािन आकाशादेवसमुत्पद्यन्ते" छा०१।९। १=सर्व भृत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, इत्यादि मयोग देखे जाने से आकाश नाम की ब्रह्म में मिसदि पाई जाती है।

सं ० - अव जीवविषयक पूर्वपक्ष करके उसका समाधान करते हैं:-

इतरपरामशीत्सइतिचेन्नासम्भवात् ॥१७॥ पद०-इतरपरामर्शात्। सः। इति। चेत्। न। असम्भवात्।

वेद्यान्तार्था आच्ये

पदा०—(इतरपरायर्जात) जीव क्य परामर्ज पाये जाने से (सः) वही "दहर" पद का वाच्यार्थ है (चेत्) यदि (इति) देसा कहाजाय सो (न) टीक नहीं, क्योंकि (असम्भवात्) दसमें इक्त अर्थ सम्भव नहीं।

भाष्य-यदि वाक्यशेष के बल से "दहर" पद द्वारा परमेश्वर का ग्रहण किया जाय तो जीव विषयक परामर्का=वाक्यवेषद्वारा सम्बन्ध पायेजाने के कारण उक्त पद का अर्थ जीव ही क्यों न मानाजाय अर्थात् "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरी-रात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनि-क्पचते एष आत्मेति होवाच" छा० ८।३। ४=यह जीव इस क्षरीय को छोड़कर परंज्योति को प्राप्त हो स्वरूप में स्थिर शोजाता है, वह आत्मा अमृत है, इस बाक्य में जीव का परामर्भ षामेजाने से उसी का नाम "दहराकाश" है ब्रह्म का नहीं? वह कथन इसिल्ये ठीक नहीं कि उपनिषद् में कथन किये दुए अपहतपाप्नादि गुणों का जीव में असम्भव है, अल्पज्ञ अल्प शक्ति वाला पाप पुण्य के अनुसार सुख दुःख का भोक्ता जीव परमेश्वर की भांति अपहतपाष्मादि गुणों वाला नहीं होसक्ता, इसिंखये दहराकाश पद परमेश्वर का ही वाचक जानना चाहिये, और जो उक्त उपनिषद् में जीव को अमृत, अभय तथा ब्रह्म कहा गयां है यह भाष जीव में तब आते हैं जब बह उस परंज्योति की मास होता है, उससे सिद्ध है कि जीव ब्रह्म नहीं।

१०३

सं ० न ततु, मजापति बाक्य से जीव में अपहतपाप्पादि गुण कथन किये गये हैं फिर दहराकाश पद से जीव का ही ग्रहण कथों न किया जाय ? उत्तरः—

उत्तराचेदाविर्भृतस्वरूपस्तु॥ १८॥

पद् ०- उत्तरात् । चेत् । आविर्भृतस्वरूपः । तु ।

पदा०-(चेत्) यदि (उत्तरात्) उत्तर वाक्य से जीव का
ग्रहण मानकर उसको दहराकाश पद का अर्थ मानें तो ठीक
नहीं, क्योंकि (आविर्भृतस्वरूपः) उस वाक्य में प्रकट स्वरूप वाळे
जीव का ग्रहण है।

भाष्य—सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के लिये आया है, और "उत्तर" पद से प्रजापात वाक्य अभिनेत है, प्रजा-पतिवाक्यगत अपहत पाप्पत्वादि गुणों से जीव का प्रहण मानकर उसको दहराकाश पद का वाच्यार्थ मानना इसिलिये ठीक नहीं कि उक्त वाक्य से जीव का निर्मलक्ष्य क्या मानी से प्राप्त होने वाली अवस्था मानी गई है परमेश्वर की भांति सर्वया पाप्पादि दोषों से रहित होना अभिनेत नहीं।

इसका विषयवाक्य छां० ८।७। १ में इस प्रकार है

कि "यु आत्मा अपहतपाप्मा०"=जो आत्मा पाप्मादि
दोषों से रहित, विजर=जरावस्था रहित, अमृत=शोकराहित, और
खाने की इच्छा तथा प्यास से रहित है, सत्य काम है, सत्य सङ्ग्रह्म
है, वही ढूंढ़ने योग्य है, जो उक्त गुणों वाळे परमात्मा को जानता
है वह सब छोकों को प्राप्त होता और सब कामनाओं को पाता
है वह सब छोकों को प्राप्त होता और सब कामनाओं को पाता

है, इस वाक्य को छनकर इन्द्र और विरोचन प्रजाणात के पास गये और उन्होंने वहां ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य किया तब प्रजाणित ने कहा तम किस इच्छा से आये हो, वह बोछे कि आत्मज्ञान की इच्छा से आये हैं, तब प्रजापति ने उनको यह उपदेश किया कि:— "य एषीऽक्षिणि पुरुषो हृश्यते एष आत्मा होवाच एतत् असृतमभयं एतत् ब्रह्म इति" छा०८। ७। ४

धर्य-जो यह पुरुष अक्षि में दीखता है वह आत्मा है और वही अमृत, अभय तथा ब्रह्मक्ष्प है, इस वाक्यको हुनकर वह छाया को आत्मा निश्चयकर चले गये, विरोचन फिर लोटकर नहीं आया और इन्द्र उक्त आत्मा में "द्वीष्" समझकर फिर मजापति के पास गया, मजापति ने कहा ३२ वर्ष पर्यन्त और तप कर जब तप करचुका तब यह उपदेश किया कि:—

"य एषः स्वेप्न महीयमानश्चरति एष आत्मा इति हो वाच एतदमृतमभयं एतद् ब्रह्म इति" छा०८।१०।१

अर्थ-जो स्वप्नावस्था में अनेक मकार के स्वाप्न पदार्थों को देखता हुआ विचरता है वही आत्मा अग्रत, अभय तथा ब्रह्मकप है, इसमें भी इन्द्र ने दोष कहे, तब मजापति ने यह कथन किया कि:- "तद्यत्र एतत् स्रप्तः समस्तः सम्प्रपन्नः स्वप्नं न विजानाति एष आत्मा इति होवाच एतदमृतमभयं एतत् ब्रह्म इति" छा॰ ८। ११।

प्रथमाध्याये-तृतीयःपादः

906

अर्थ-जिस अवस्था में सोया हुया पुरुष आनन्द में मम होकर स्वप्न को नहीं देखता अर्थाव जो सुषुप्ति अवस्था का सासी आत्मा है वही असुतादि विशेषणों वाला ब्रह्म है, इसमें भी इन्द्र ने दोष कहे तब मजापति ने यह उपदेश किया कि:—

"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः, अश-रीरो वायुः अभ्रं विद्युतस्तनियत्तुः अशरीराणि एतानि तद्यथाएतानिअमुष्मादाकाशात् समु-त्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्य-न्ते, एवमेव एष सम्प्रसादोऽस्मात् शरीरात् समु त्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुष इति" छा० ८। १२। १–२

अर्थ-अशरीरी को छुल दुःल स्पर्श नहीं करते, वायु अशरीर है, मेघ अशरीर है, विजुला अशरीर है और विजुली की चमक अशरीर है, जिस प्रकार यह सब इस आकाश से उठकर उस परं ज्योति को प्राप्त होके अपने २ रूप में स्थित होजाते हैं इसी प्रकार यह सम्प्रसाद नाम जीव इस शरीर से उठकर उस परंज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में स्थित होजाता है, इस अवस्था को प्राप्त हुआ जीव उत्तम पुरुष कहलाता है, यहां यह शङ्का होती है कि जब "सम्प्रसाद" शब्द से जीव का प्रहण पाया जाता है तो फिर जीव के दहराकाश होने मे क्या बाधा ! इसका उत्तर सूत्र के "आविर्भूतस्वरूपस्तु" इस पाद द्वारा इस प्रकार दिया गया है कि ज्ञानावस्था से पथम जीव का स्वरूप अविद्यादिद्वोषों से ढ़का हुआ होता है जो ज्ञान होने पर निर्मल होजाता है,
इसी अभिपाय से जीव को ब्रह्म के समान अपहतपाप्मादि गुणों
वाला कथन किया है परन्तु परमेश्वर का स्वरूप कदापि अविद्यादि दोषों से आच्छादित न होने के कारण वही
"दहराकाश" पद द्वारा व्यवहार करने योग्य है जीव नहीं,
इसिल्ये ब्रह्म को ही दहराकाश मानना समीचीन है।

यहां भी स्वामी बङ्कराचार्यजी ने "अहंब्रह्मास्मि" तथा "तत्त्वमसि" लगाकर जीव को ब्रह्म बना दिया है, जैसाकि:-

"यावदेव हि स्थाणाविवपुरुषबुद्धिंदैतलक्षणाम-विद्यां निवर्त्तपन् कूटस्थनित्यहक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जविस्य जीवत्वस्" बं०भा० ब० स०१।३।९

अर्थ-स्थाणु में पुरुष बुद्धि की भांति इस द्वेत लक्षण वाली अविद्या को जबतक पुरुष निष्टत्त नहीं करता तब तक इस जीव का जीवपन बना रहता है, फिर आगे लिखा है कि जब श्रांत से यह बोध होजाता है कि तु संसारी नहीं किन्तु कूटस्थ नित्य ब्रह्म है तब कूटस्थ नित्य ब्रह्म ही यह जीव होजाता है।

स्वामी "रामानुज" छिखते हैं कि सर्व छोक छोकान्तरों की मर्थादा स्थिर करने के गुण जीव में कदापि नहीं आसक्ते, और "जगद्व्यापारवर्जीमित्यत्रोपपादयिष्यामः" श्री०भा०

बिश्त १ । ३ । १८ = पुक्त जीव का ऐश्वर्य भी ईश्वर के सपान
नहीं होसका, यह हम "जगद्व्य[पारवर्जि" इस सूत्र
में कहेंगे, इस कथन से विशिष्ठाद्वैतवादी भाष्यकार ने यह स्पष्ट
कर दिया कि इस सूत्र में जीव के ब्रह्म बनने का गन्धमात्र भी नहीं।

सं०-यदि जीव के ब्रह्म होने का इस मकरण में कथन नहीं तो जीव का वर्णन क्यों कियागर्या है ? उत्तरः—

अन्यार्थश्चपरामर्शः ॥ १९॥

् पद्०-अन्यार्थः। च। परामर्शः।

पदा०-(च) और (अन्यार्थः) मुक्त जीव के अभिभाय से (परामर्शः) यह पकरण है।

भाष्य-अन्य=मुक्त जीव का कथन करने के लिये यह परामर्श है कि उस परमात्मा की दहर विद्या को जानकर जीव निष्पाप होजाता है, इस अभिनाय से यहां जीव का कथन है।

सं० - ननु, "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" = इस ब्रह्मपुर में जो आकाश वह दहराकाश है, इस मकार उसको अल्प कथन किया गया है फिर वह अल्पदेशी परिच्छित परार्थ ब्रह्म कैसे होसक्ता है ? उत्तरः—

अल्पश्रुतेरितिचेत्तदुक्तम् ॥२०॥

पद०-अल्पश्रुतेः । इति । चेत् । तत् । उक्तम् ।

पदा०-(अल्पश्चतेः) अल्पदेशी का श्रवण होने से ब्रह्म का ब्रह्म नहीं होसक्ता(चेद)यदि(इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं (तद, उक्तम्) इसका उत्तर पूर्व कथन कर आये हैं।

भाष्य-यदि यह कहाजाय कि अल्पकथन किये जाने से दहः
राकाश ब्रह्म का नाम नहीं तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उसको ज्योध
के सम होने से अल्प कथन किया गया है अर्थाद सब पदार्थों के
भीतर होने से आकाश के सम अल्प है, इसका उत्तर ब्र० ह्यू० १ निर्वार कार्या के
२ १७ में दिया गया है, इसिल्ये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०-ननु, "निरञ्जनः परभं साम्यसुपैति" सं० २। १=सक्त जीव ब्रह्म के समान होजाता है, इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्म के भाव जीव में पायेजाने से जीव ब्रह्म क्यों नहीं ? उत्तरः—

अनुकृतस्तस्यच ॥ २१॥

पद०-अनुकृतेः। तस्य। च।

पदा॰-(च) और (तस्य) ब्रह्म का (अनुकृतेः) अनु-करण करने से मुक्त जीव ब्रह्म के समान होता है ब्रह्म नहीं।

भाष्य-उस ब्रह्म की अनुकृति=अनुकरण करने से वह

मुक्त पुरुष "अपहत्यपाप्मा"=निष्पाप होजाता है अर्थात् उस

परमात्मा के सद्गुणों को अपने में धारण करने से वह ब्रह्म के
समान कहा गया है सर्वधा ब्रह्मक्य होजाने के अभिमाय से
नहीं, इसिछिये उस असीम परमात्मा के गुणों को अनुकरण
करनेवाला तुच्छ जीव ब्रह्म कदापि नहीं होसक्ता, इसी अभिमाय
से गुं० ३।३ में वर्णन किया है कि:—

यदा पश्यःपश्यते रुक्मवर्ण कर्तारमीशंपुरुषं ब्रह्मयोनिम्-तदा विद्यान्पुण्यपापे विध्य निरंजनःपरमं साम्यमुपैति।

अर्थ-जब द्रष्टा जीव स्वयंप्रकाश जगत्कर्ता परमात्मा को जानलेता है तब वह तत्ववेत्ता पुण्यपाप से रहित होकर निरंजन= सर्व लेकों से मुक्त हुआ २ परमेश्वर की समता को प्राप्त होता है, इस प्रकार यहां केवल तद्धर्मतापत्ति को स्पष्ट किया है जीव ब्रह्म बनजाता है इस भाव को नहीं।

सं ० - अब जक्त अर्थ को प्रमाणान्तर से स्पष्ट करते हैं:-

अपिचस्मर्यते ॥ २२॥

पद्-अपि। च। स्मर्यते।

पदा०-(च) और (स्मर्थित, अपि) स्मरण भी कियाजाताहै।

भाष्य-"तमेवभान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्व
श्मिदं विभाति" मुण्ड०२।२।१०= उसी परब्रह्म के मकाश्च

से सब मकाशित होते हैं अर्थात् उस स्वमकाश के मकाश

का अनुकरण करते हैं, और गी० १४। २ में भी वर्णन

किया है कि:—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मुम साधर्म्यमागता । े सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलये न व्ययन्ति च ॥

अर्थ-इस ब्रह्मज्ञान को पाकर मेरे समान धर्म को मान होते हैं अर्थाद जैसे में ब्रह्मज्ञानी हूं वैसे वह भी ब्रह्मज्ञानी होजाते हैं, फिर न सृष्टि की उत्पत्ति में उत्पन्न होते और न मुख्य में स्वय होते हैं, यह कथन ज्ञान के पहत्व की हहता के लिये है, इस श्लोक से भी यही सिद्ध हुआ कि मुक्त पुरुष निष्पाप होने से ब्रह्म के धम्मों को प्राप्त होता है ब्रह्म कदापि नहीं बनसक्ता।

सं ० – अब कठोपनिषद् के "अंग्रुष्ठमात्र" इत्यादि बाक्यों का ब्रह्म में समन्वय दिखलाने के लिये मामताधिकरण का आरम्भ करते हैं:—

शब्दादेवप्रामितः ॥ २३ ॥

पद ० – ज्ञाब्दात्। एव । प्रामितः।

पदा॰-(शब्दात्) शब्द ममाण पायेजाने के कारण (प्रमितः, एव) अंग्रष्टमात्र पद से परमात्मा का ही ग्रहण है।

भाष्य-"अंगुष्ठमात्र" कथन से परमात्मा का ही ग्रहण है जीवात्मा का नहीं, क्योंकि "ईशान" इत्यादि शब्द प्रमाणों से ऐसा ही पाय/ जाता है, जैसाकि:—

अंगुष्टमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनितिष्ठति । ईशानो भूतभन्यस्य न ततो विज्रगुप्सते ॥ अंग्रष्टमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभन्यस्य स एवाच स उक्वः॥

कठ० ४।१२-१३

अर्थ-अंग्रुष्टमात्र पुरुष मत्येक जीवात्मा के भीतर व्यापक है, वही सब भूत भविष्यत पदार्थों का ईश्वर है, जो जिह्नासु उस पुरुष को स्वयं जानलेता है उससे फिर वह अपने आपको नहीं छिपाता, अंग्रष्ठमात्र पुरूष जो विना धूमवाछी ज्योति के समान है वह काछकुतपरिच्छेद से रहित है, वही आज है, वही कछ होगा उसी को सदा एकरस कूटस्थ नित्य जानना चाहिये, इस मकार भूत भविष्यत में सब पदार्थों पर ईशन करने वाछा ब्रग्न ही अंग्रष्ठमात्र पद से ग्रहण करने योग्य है, ईशनयोग्यता न पायेजाने के कारण जीव नहीं, इसी आभमाय से विशिष्टाहित भाष्यकार स्वा० "रामानुज" का कथन है कि:—

"नच भूतभव्यस्य सर्वस्योशितृत्वं कर्मपरवशस्य जीवस्योपपद्यते" श्री० भा० व्र० म्० १ । ३ । २४

अर्थ-अपने कमों के अधीन जीव मूत भविष्यत पदार्थी का ईश्वर कदापि नहीं होसक्ता, और जो यह शक्का रह जाती है कि ज्यापक ब्रह्म को अंग्रष्ठमात्र क्यों कहा है ? इसका उत्तर यह है कि अंग्रष्ठ परिमाण वाला जो मनुष्य का हृदय उसमें जीवात्मा का निवास होने और परमात्मा को भी उसमें ज्यापक होने से अंग्रष्ठमात्र कहा गया है, यह बात सर्वसम्मत है कि यहां परमात्मा का मकरण है, इसलिये परमात्मा को ही यहां अंग्रष्ठमात्र मानना चाहिये, स्वामी शक्कराचार्यजी भी यहां यही मानते हैं कि ब्रह्म विषयक मक्ष होने से यहां ब्रह्म का ही ग्रहण है, जैसािक:-

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भृताच भन्याचं यत्तत्पश्यिस तद्धद् ॥

कड०२।१४

अर्थ-हे यम! जो आप धर्माधर्म के फल से अतिरिक्त जानते हैं उसका कथन करो, इस प्रकार यहां निचकेता ने ब्रह्म विषयक प्रश्न किया है, इसलिये "अंगुष्ठमात्र" पद द्वारा ब्रह्म का ब्रह्मण करने में कोई बाधा नहीं।

यदि कोई साकारवादी यह पश्च करे कि जब हृदय की जपाधि से अंगुष्ठमात्र कहलासक्ता है तो सूर्तिक्वप उप धि से सूर्तमात्र कंयों नहीं कहलासका ? इसका उत्तर सूत्रकार ने "स्थानादि उपपदेशा श्च" शब्द ११२।१४ में इस प्रकार दिया है कि ब्रह्म का स्थानादि कथन ज्याच्यज्यापकभाव से है तादा-रम्यभाव * के अभिपाय से नहीं।

सं ० - तनु, पशु पक्षी, मनुष्यादि सब का हृदय एक परिमाण वाली न होने से ब्रह्म को अंगुष्ठमात्र कथन करना ठीक नहीं ? उन्हरः—

ह्यपेक्षयातुमनुष्याधिकारत्वात् ॥२४॥

पद० - हृदि। अपेक्षया। तु। मनुष्याधिकारत्वात्।

पदा०-(मनुष्याधिकारत्वात्) आत्मविद्या में मनुष्यों का अधिकार पायेजाने के कारण (हृदि) हृदयदेश में अंगुष्ठमात्र कथन (अपेक्षया) अपेक्षा से है वस्तुतः नहीं।

भाष्य-ब्रह्मविद्या में भनुष्यों का अधिकार होने के कारण मनुष्य के हृदय की अपेक्षा परमात्मा को अंगुष्ठमात्र कथन किया है, इसिलेय उक्त कथन में पशु, पक्षी के हृदय की अपेक्षा नहीं॥

[#] तादारस्यभाव = जैसे क्ई में कपड़ा भीर मिही में घड़ा।

सं ० - अब देवभाव का माप्त हुए पुरुषों का कर्व में अधिकार कथन करने के खिये "देवताधिकरण" का भारम्भ करते हैं।-तदुर्पयपिवादरायणः सम्भवात् ॥ २५॥

पद०-तहपारे । अपि । बादरायणः । सम्भवात् । पदा०-(सम्भवाद) योग्यता पायेजाने के कारण (त्यु-पारे) मनुष्य पदवी से ऊपर (अपि) भी कर्म का अविकार बना रहता है (वादरायणः) ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं।

आव्य-बादरायण आचार्य यह मानते हैं कि मनुष्य पदकी से उत्पर देव, ऋषि, धुनि, पदिवयों में भी कर्म का अधिकार वना रहता है, जैसाकि यजु० ४० । २ में वर्णन किया है कि:-

कुव्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत् समाः। ण्वंत्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अध-वैदिक यागादि कमों का अनुष्ठान करता हुआ ही सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करे, ऐसा करने पर ही पाप से छिपायमान नहीं होता अन्यथा कोई उपाय नहीं, इत्यादि मन्त्रों द्वारा सब अवस्थाओं में कर्मानुष्टान का विधान पायेजाने के कारण देवादि पद प्राप्त होने पर भी कर्माधिकार बना रहता है।

स्मरण रहे कि देवता, ऋषि तथा मनुष्य कोई मिष जाति नहीं किन्तु एक ही मनुष्यजाति के अवान्तर मेद हैं अर्थाद विद्यादि गुर्णों की अधिकता से मनुष्यजाति की अवस्था विश्वेष हैं, इसी अभिपाय से बृहदा० १ । ४ । १ में वर्णन किया
है कि "ऋषित्रीमदेवः प्रतिपेदे ऽहंम तुरभवं सूर्य श्रोति" =

प्रक्षभाव की उपलब्ध होने पर वापदेव ने कहा कि मैं ही मतु

तथा मैं ही सूर्य हूं, जब यहां मतुष्यजाति में से ही तत्व
श्वान के आधिक्य होने से वामदेव को ऋषि कथन

किया गया है तो फिर ब्रह्मविद्यादि दिन्य गुणों की अधिकता
के कारण देवता भी मनुष्य जाति में से ही क्यों न मानेजायें,
हमारे विचार में तो यह पौराणिक भाव की झलक है जो देवताओं
को अल्लोकिक माना जाता है, और गीता भी देवताओं को

प्रमुख्यवर्ग से पृथक वर्णन नहीं करती, जैसाकिः—

म्हिन्सिम्त्सर्गे लोके स्मिन् देव आसुर एव च'गी०१६।६०
में धर्णन किया है कि मनुष्यों में दो श्रेणी हैं एक देव और दूसरे
असुर, और जो स्नामी "शङ्कराचार्य"तथा स्नामी "रामानुज" ने
देवताओं को यहां पौराणिकभाव से अलोकिक माना है,इसका उत्तर
यह है कि उक्त आचार्यों के हृदय में पौराणिकभाव की झलक
पड़ चुकी थी, यह उनका आत्मिकवल है जो पौराणिकभाव
के पड़ने पर भी सहस्रों स्थानों पर उक्त भाव को मर्दन करके
आगे बढ़ जाते हैं, यह उनका न केवल आत्मिकवल है मत्युत
औपनिषद झान का भी यह बल है जो उक्त आचार्य्य पौराणिक
सीमा को तोड़कर निराकार "एकमेवाद्वितीयं" मानने
में शङ्कराचार्य और "निरविधकातिश्य" कल्याणगुणाकर
मानने में "स्वाबी रामानुज आगे बढ़ते हैं॥

और जो कहीं २ पौराणिक भावों के भक्त बनने के झाब उक्त आचाय्यों में हैं, इस विषय को सतर्क इमने इसी मान्य की भूमिका में छिखा है सो उसी मिक्त के भाव से उक्त आचाय्यों ने इस देवताधिकरण में देवताओं को अछोकिक माना है।

ख्रत्रकार का आज्ञय इस अधिकरण में यह है कि देहधारी मनुष्य, देव, ऋषि आदि किसी पदवी में क्यों न हों उनको सन अवस्थाओं में कर्म का अधिकार रहता है ॥

सं ० - ननु, कर्मों के अनुष्ठान तथा निषेध का परस्पर विरोध होने से देवताओं को कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं ? उत्तरः --

विरोधः कर्मणीतिचेन्नानेक-प्रतिपत्तेर्द्शनात् ॥ २६॥

पद०-विरोधः। कर्माण । इति । चेत् । न । अनेक्रमति-पत्तेः। दर्भनात्।

पदा०-(कर्मणि) तस्ववेता के कर्मानुष्ठान में (विरोधः) विरोध है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अनेकप्रतिपत्तेः, दर्शनात्) अनेक प्रकार की प्रतिपत्ति पाईजाती है।

भाष्य - कहीं २ शास्त्र में कर्मफल को अनित्य कथन करते हुए कर्मानुष्ठानियों की निन्दा की है और तत्त्वज्ञान से सब कर्मी का क्षय भी मतिपादन किया है, जैसाकिः -

भिद्यते हृदयम्रिव्यिशिख्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दष्टे परावरे ॥

मुण्ड० २। २१८

प्वाधिते अहटा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरंयेचुकर्मः प्रतच्छ्रेयोयेऽभिनन्दन्ति मृद्धा जरामृत्युं ते पुनरेवा-प्रियन्ति मुण्ड० १।२।७

अर्थ-उस परावर ब्रख के साक्षात्कार द्वारा जब अविधारूपी हृदय की ब्रन्थि खुछ जाती है तब सब संशय नष्ट होकर उसके सब कर्ष सब होजाते हैं, यह यज्ञरूप नौकार्ये अहड़ हैं जिनमें अटारए मकार के कर्म कहे गये हैं, जो मूह उक्त यहादि कर्मी की श्रेष्ट्रता वर्णन करते हैं वह पुनः २ जन्म मरण को पास होते हैं, इत्यादि बाक्यों में की का खण्डन और " ख़ ख़ल्वेवं वत्त्रंयच् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" छान्दो ॰ ८।१५।१=इन्द्रिय संयमादि कर्मी का अनुष्ठान करता हुआ पुरुष इफ्छोक को माप्त होता है,इस्यादि वाक्यों में कमीं का मण्डन पाया-जाता है, इस मकास्परस्पर विधि निषेध का विरोध होने के कारण देवताओं के छिये कर्मानुष्ठान की आवदयक्ता नहीं,क्योंकि वह तस्य झान के बढ़ द्वारा मनुष्यभाव को छोड़कर देवभावको प्राप्त होचुके हैं? इसका उत्तर यह है कि अनेक श्रकार की प्रतिपत्ति=व्यवस्था पाये-जाने से उक्त विरोध नहीं होसक्ता अर्थाव "भिद्यतेहृदयग्रन्थः" इस्वादि वाक्यों का अभिमाय ब्रह्मदर्शी पुरुष सम्बन्धी पापादि कर्मों की निष्टांच में और "प्लवाह्येते अहदा" का आशय केवल बद्वादि कर्मी को प्रधान मानने वालों की मूद्ता बोधन में है, क्योंकि वेद कर्म्भ ज्ञान का समुचय विधान है, जैसाकि उक्त छान्दोग्य बाक्य से स्पष्ट है कि

हान राष्ट्रि से इन्द्रिय संयमादि कर्म करता हुआ चित्रदियों को परमात्मा में लग करके मोक्ष को माप्त होता है।।

सं० - ननु, उक्त रीति से कर्मसम्बन्धी विधि निषेध वाक्यों में विरोध न हो पर अग्न्यादि अनित्य पदार्थों को वर्णन करनेवाले वेद में तो अवश्य विरोध है, क्योंकि वह अनित्य पदार्थों के वर्णन करने से स्वतः प्रमाण नहीं होसका ? उत्तरः —

शब्द इतिचेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानु-मानाभ्याम् ॥२७॥

पद्द ० – बार्ट्स । इति । चेत्र । न । अतः । प्रभवात् । प्रत्यक्षा-बुवानाभ्याम् ।

पहार (शब्दे) वेद में विशेष आता है (चेद) यदि (हित) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अतः, भ-भवाद) वेद से अग्न्यादि पदार्थों की उत्पत्ति मानी गई है, और (प्रत्यक्षानुमानाभ्यां) श्रुति स्पृति से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेनसम्बन्धः ०"
पूर्मा ०१।१।५= शब्द= वेद का अर्थ के साथ स्वामाविक
सम्बन्ध होने से इतर प्रमाणों की अपेक्षा विना ही यागादि
कर्मों का प्रतिपादक वेद स्वतः प्रमाण है, इस प्रकार समानतन्त्र=
पूर्वमीमांसा में जो वेद को स्वतः प्रमाण सिद्ध किया है वह ठीक
नहीं, क्यों कि यागादि अनित्य कर्म तथा उनके साधनभूत अग्न्या-

वि छोकिक पदार्थ आनित्य हैं और अनित्य पदार्थ को शितपादन करने बाखा बेद भी भारतादि की आंति पौरुषेय होने से स्वतः प्रमाण नहीं होसका, और नाही उसमें भ्रम, प्रमादादि दोषों का अभाव होसक्ता है जिससे वह प्रयाण यानाजाय, इस-प्रकार श्रौत अर्थ को निद्भाण करने के छिये दोनों मीमांसाओं के स्वतः प्रामाण्य रूप सिद्धान्त में विरोध से कमीविधि में मनुष्य देवताओं का आश्वास न रहने के कारण वैदिकमार्ग का छोप होजायगा ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि जिन सूर्यादि जगदन्तर्वर्ती पदार्थी तथा यागादि कर्मों का वेद में वर्णन पाया-जाता है उनकी उत्पत्ति वेद से होती है अर्थात् वेद में सूर्यादि का नाम आने से भारतादि की भांति आनित्यता तथा परतः प्रामा-ण्यापिकप दोष नहीं आता, क्योंकि उक्त पदार्थी की उत्पत्ति प्रथम कईवार होचुकी है जिसके प्रवाह का कोई आरम्भ नहीं।

तात्पर्य यह है कि वेद में जिन पदार्थों का वर्णन आया
है उनकी व्यक्ति अभिमेत नहीं किन्तु सत्तामात्र अभिप्रेत है, इस मकार सूर्यादि पदार्थ और यागादिकर्म
उस २ आकृतिमात्र के बोधक हैं, यदि शब्दों से किसी
एक व्यक्ति का अभिमाय होता तो उस व्यक्ति की उत्पत्ति
के अनन्तर ही वेद उस पदार्थ के स्वरूप को बोधन करता,
जैसाकि पिता अपने पुत्रोत्पत्ति के उत्तरकाल में नाम
करणादि विधान द्वारा उसका बोधन करता कराता है

परन्तु बेद में ऐसा न होने से अनित्यता द्वारा परतः शामाण्यक्षप आपित्त का दोष नहीं आसक्ता, इससे सिद्ध है कि
वैदिक पद पदार्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है पिता पुत्रादि के
नामकरणादि की भांति सांकेतिक नहीं, क्योंकि सिद्धान्त में
वैदिक शब्दों को आकृति=पदार्थ की सत्ताविशेष के साथ सम्बनध माना है व्यक्तिविशेष के साथ नहीं।

सार यह निकला कि जिसप्रकार कोई बिल्पी अपने इष्ट पदार्थ के वनाने से मथम उसके वाचक शब्द का स्मरण करके पीछे उसको वैसा ही बनाता है जैसाकि प्रथम चिन्तन करलेता है इसी प्रकार जगत्स्रष्टा परयात्या भी जगदुत्पत्ति से पूर्व प्रथम स्टष्टि की भांति उन् र पदार्थों को अपने कानकप वेद से चिन्तन करके सुर्घादि पदार्थी को बनाता तथा यागादि कमिविधि का उपदेश करता है, इसी अभिनाय से तै वा २।२।४।२ में वर्णन किया है कि "स भूरिति व्याहरद्विमसृजत"=उसने "भू०"इस मकार् उचारण करके पृथिवी को उत्पन्न किया, इत्यादि, यहां शब्द का उचारण करना औपचारिक है मुख्य नहीं, एवं वैदिक शन्दों द्वारा सूर्ट्यादि पदार्थों के उत्पन्न होने से उक्त दोष नहीं पायाजाता, यह बात मत्यक्ष=श्रुति तथा अनुमान=स्मृति ममाण से इस मकार सिद है कि "समनसा वाचं मिथुनं समभवत" बहदा॰ २ । २ । ४=मजापति ने मन बाणी के जोड़े को बनाबा अर्थात वदे से मकाशित सृष्टि का आक्षोधन किया।

वेदान्तार्थभाष्ये

220

सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादी पृथक्संस्थारच निर्ममे ॥ मन् १। १३

अर्थ-सृष्टि के आदि में मजापति=परमेश्वर ने नेद शब्दों द्वारा सब के नाम, कर्म तथा लोकपर्यादा को नियमपूर्वक रचा इसी अर्थ को ऋ०८।८।४९।४८ में यों स्पष्ट किया है कि "सूर्याचिन्द्रमसीधातायथापूर्वमकल्पयत्"=परमात्मा ने पूर्व कल्प की न्याई सूर्यादि लोकों को निर्माण किया, इससे सिद्ध है कि इस अपूर्व उपदेश का कर्चा सर्वन्न, सर्वशांक्तमार परमात्मा होने से वेद पौरुषेय नहीं, अत्रप्व जनका स्वतःप्रमाणत्व यना रहने के कारण यागादि विधियों में कोई विरोध नहीं होसक्ता, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाक भिणः" वै०२।१।१९ में किया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

शा १ । १९ माकया ६, विश्वशासकाया यहा ५ सकता सं०-अत्र वेद की नित्यता स्पष्टतया कथन करते हैं:—

अतएवचानित्यत्वम् ॥ २८॥

पद्०-अतः। एव । च । नित्यत्वम् ।

पदा ०-(च) और (अतः, एव) प्राकृत पुरुष कर्ता न होने के कारण (नित्यत्वं) वेद नित्यं हैं।

भाष्य-जिसमकार भारतादि के कर्ता व्यासादि अपने ग्रन्थों की रचना में स्वतन्त्र हैं इस मकार वेद का कर्ता कोई पुरुष नहीं, उसका उपदेष्टा परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वज्ञाक्तिमान है और वह पूर्वकरप के अनुसार ही वेद का उपदेश करता है अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि वैदिक शब्दार्थ सम्बन्ध का कपविशेष जैक्षा पूर्व करूप में था वैसा ही अब है वैसा ही भविष्य करूप में ज्यों का त्यों बना रहेगा, उसमें किसी प्रकार की विषमता नहीं होसक्ती पर भारतादि ग्रन्थों की रचना में यह नियम नहीं पाया जाता, यही वेद में अपौरुषेयत्व है, और अपौरुषेय होने से ही वह नित्य है, जैसाकि ऋग्० १०। ७१। ३ में वर्णन किया है कि:—

यह्नेन वाचःपदवीमायन्तामन्वविन्दन्नाषेषु प्राविष्टास्

अर्थ-पूर्वजन्मोपाजित पुण्यविशेष से बेद की योग्यता को श्राह्म होने बाले यामिक लोगों ने ऋषियों में माप्त हुई वाणी=बेद को उपलब्ध किया अर्थात यामिक लोग ऋषियों द्वारा बेद लपलब्ध करके यंद्वादि कर्मों का अनुष्ठान करते थे।

सं ० - अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से कथन करते हैं: -

समाननामरूपत्वाचा वत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ २९॥

पद् - समाननामक्रपत्वात् । च । आहत्तौ । अपि । अवि-रोघः । द्र्भानात् । स्मृतेः । च ।

पदा॰ – (च) और (समाननामक्पत्वाद) नाम क्प के समान होने से (आहत्ती) आहत्ति में (अपि) भी (अवि-रोभः) विरोध नहीं (च) क्योंकि (दर्शनाद, स्पृतेः) श्रुति स्पृति से ऐसा ही पाया जाता है।

वेदान्तार्यभाष्ये

१२२

भाष्य-प्रत्येक करूप में वेदों का नाम, रूप समान होने और उसी प्रकार की रचना पायेजाने से उनके नित्यत्व में कोई विरोध नहीं, जैसाकि:—

"सूर्याचन्द्रमसी धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" ऋ०८।४८।२

अर्थ-सूर्य और चन्द्रमा को धाता=परमात्मा ने पूर्वसृष्टि के समान ही बनाया, यह प्रमाण वेदों का उपलक्षण है अर्थाद वेदों का भी पूर्व कल्प के समान ही प्रकाश किया, इत्यादि नाम इप की समान आदित्त देखे जाने से वेदों के नित्यत्व में कोई दोष नहीं, और "अनादित्विधनानित्यावागुत्सृष्टास्वयं-भुवा" मनु० १। २१ इत्यादि स्मृतियों से भी पाया जाता है कि वेद अनादि अनन्त होने से नित्य हैं, इसीलिये अपौरुषेय= किसी पुरुष प्रणीत न होने के कारण परमात्मा का शान मानना ही समीचीन है।

सं ० – अब पूर्वमकृत देवताओं के अधिकार में पुनः आशक्का करते हैं:—

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारंजैमिनिः।३०।

पद् - मध्वादिषु । असम्भवाद । अनिधकारं । जैमिनिः ।

पदां ० - (मध्वादिषु) मधु आदिकों में (असम्भवाद) सम्मव न होने से (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य् (अनिषकार्ष) देवताओं का अधिकार नहीं मानते। भाष्य छान्दोग्य में जहां यह निरूपण किया है कि यह आदित्य देवताओं का मधु है, इसकी मधुरूप से उपासना करे, इस स्थल में जब आदित्य स्वयं देवता है तो किर वह अपने आपकी आप उपासना कैसे करेगा, इसलिये देवताओं का उपासना में अधिकार मानना ठीक नहीं॥

सं०-गर उक्त अर्थ में और आशक्का करते हैं:---ज्योतिषिभावाद्य ॥ ३१॥

पद०-ज्योतिषि । भावात् । च ।

पदा०-(च) और (ज्योतिषि) ज्योति वाले पदार्थी में (भावात) देवता शब्द के पाये जाने से उपासना में देवताओं का अधिकार नहीं।

भाष्य-"सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रकाशक पदार्थों में देवता शब्द के पाये जाने से सिद्ध है कि सूर्यादि देवों का जपासना में अधिकार नहीं होसक्ता, क्योंकि एक तो मधुविद्या में वह स्वयं जपासक नहीं होसक्ते और दूसरे जड़ होने से जपासना नहीं करसक्ते, इसलिये जनका अधिकार मानना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वप्रप्त का समाधान करते हैं:—
भावं तु बादरायणाऽस्ति हि ॥ ३२॥

पद०-भावं। तु। बादरायणः। आस्त । हि।
पदा०-(बादरायणः) बादरायण आचार्य्य (भावं) देवों
का उपासना में अधिकार मानते हैं (हि) क्योंकि (अस्ति)
देव शब्द का प्रयोग मनुष्यों में होता है।।

भाष्य-सूत्र में "तु" बान्द पूर्वपक्ष की ज्याद्याचि के खिये आया है "तद्योगोदेवानां प्रत्यखुष्यत, स एव तद् अवत् त्यर्थीणां तथा प्रजुष्याणां स्" = जो २ देव, यनुष्य तथा ऋषियों में जागा वह २ ब्रह्म के भागों को प्राप्त हुआ, इससे सिद्ध है कि देव केवळ खूर्यादिकों का ही नाम नहीं किन्तु दिन्यशक्ति बाले पनुष्यों का नाम देव है, और ऐसे पनुष्यों का जपसना तथा ब्रह्मविद्या में अधिकार होसक्का है इसमें कोई दोष नहीं।

सं०-अव प्रसङ्ग्रहति से ब्रह्मविद्या विषयक शह के अधिकारानधिकार पर विचार करने के लिये "अपशृद्धाधिकरण" का आरम्ध करते हैं:—

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदा-द्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३३॥

पद०-शुक्। अस्य । तदनादरश्रवणाद । तदा । द्रवणाद । सुच्यते । हि ।

पदा०-(तदनादरश्रवणाद) उसका अनादर युक्त वाक्य श्रवण करने से (अस्य) जानश्रुति को (युक्) द्योक हुआ (तदा) तब वह (द्रवणाद) ब्रह्माविद्या के छिये रैक्ष के पास गया (हि) निश्चयकरके (सूच्यते) प्रकरण से ऐसा ही पाये जाने के कारण श्रूद्र को अधिकार है।

भाष्य-छान्दोग्यं के चतुर्थ प्रपाठक में यह गाथा है कि एक जानश्राति राजा था वह ब्रह्माविद्या के छिये ब्रह्मवेचा रैक के पास गया और बहुत से गौ रथादिक भेट करके जनसे कहा कि आप इनको ग्रहण कर मुझको त्रधाविधा का उपदेशकरो, रैक ने यह सुनकर कहा कि "अहहारेत्वा-शूद्रतवैवसहगोभिरस्तु" छा० ४।२। ३=३ शूद्र ! यह हारयुक्त जो स्थ और गौ हैं यह तुम्हारे ही लिये हों. ऐसा प्रत्युत्तर छुन राजा घर को चला गया और पुनः बहुतसी धेट छेकर ऋषि के समीप आने पर उसकी ब्रह्मविद्या का अध्ययन कराया, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उप्निष्दा-र्ध्यभाष्य" में किया गया है, यहां यह सन्देह होता है कि शुद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार है वा नहीं ? इस बात को सूत्रकार ने इस सूत्र में प्रतिपादन किया है कि उस जानश्रुति को जो रैक ने अनादर मुचक शब्द कहा उसकी श्रवण कर पुनः आजाने से यह पाया जाता है कि श्रूद से यहां अध्ययनाहि सामध्यराहेत असंस्कारी पुरुष का प्रदण है, इसिक्ये शुद्ध के अधिकार में कोई बाधा नहीं।

सं ० - अद्य सामर्थ्य से वर्ण होने में और युक्ति कथन करते हैं:-

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्रचैत्ररथेनालेङ्गात्।३४।

पद् ०-क्षत्रियत्वगतेः । च । उत्तरत्र । चैत्ररथेन । छिङ्गाद ।

पद्रा०-(च) और (उत्तर्ज) आगे (चैत्ररथेन) चैत्ररथ नामा स्नाज्ञय के साथ (छिज्ञाद) समन्यवहार पायेजाने से (क्षात्रियत्वगतेः) क्षात्रियत्व का निश्चय रैक ने किया।

भाष्य-जानश्रांत को श्रुद्र कथन करने के अनन्तर रैक्व ने उसका व्यवहार चैत्ररथ के साथ समझकर यह निक्चय किया कि यह क्षात्रिय के गुण कर्म स्वभाव वाला है, क्योंकि परस्पर स्वभाव मिलने वालों की ही मैत्री होती है, इससे सिद्ध है कि यह श्रुद्र नहीं।

सं ० – अव संस्कारों द्वारा श्रुद्रत्वादि धर्मों का कथन करते हैं: —

संस्कारपरामशीत्तदभावाभिलाषाच ।३५॥

पद०-संस्कारपरामर्जात् । तदभावाभिलापात् । च ।
पदा०-(च) और (संस्कारपरामर्जात्) संस्कारों के
परामर्जाद्वारा (तदभावाभिलापात्) सामर्थ्य का अभाव पाये जाने
े पे अधिकार का निषेध है।

भाष्य-गुरु उपनयन काल में यह निश्चय करलेता
है कि इसको पठन पाठन का अधिकार है वा नहीं, यदि
उसमें योग्यता नहीं देखता तो उसका उपनयन नहीं कराता,
इससे भी स्पष्ट पायाजाता है कि शुद्रत्वादि औपाधिक धर्म
हैं जाति नहीं।

सं ० - अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं: --

तहमावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः॥ ३६॥

पद्-तद्भावनिर्धारणे। च। पर्तः।

पदा०-(तदभावनिर्धारणे) उसके ब्राह्मण होने के अभाव का निक्चय होने पर (च) भी (प्रवृत्तेः) प्रवृत्ति पायेजाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

आध्य-छान्दोग्य के चतुर्थ प्रपाठक में यह आख्यायिका है
कि सत्यकाम नामक एक बालक ने अपने पिताकी मृत्यु के अनन्तर
अपनी माता से पूछा कि मैं ब्रह्मचर्य करना चाहता हूं मेरा गोत्र
क्या है ! उसकी माता ने कहा मुझको कुछ पता नहीं, मेरा नाम
जवाला है और तेरा नाम सत्यकाम है, सत्यकाम ने गौतम
ऋषि के पास जाकर कहा कि हे भगवन ! मैं आपके समीप आया हूं
मुझको ब्रह्मचारी बनाओ, गौतम ने कहा तुम्हारा क्या गोत्र है !
सत्यकाम ने उत्तर दिया कि मैंने अपनी माता से पूछा था उसने
कहा कि युवावस्था में मैं वहुत भ्रमण करती रही इसालिये तुम्हारे
पिता का गोत्र मुझे याद नहीं, सत्यकाम तुम्हारा नाम है, सो
मैं सत्यकाम जावाल हूं, गौतम ने यह विचारा कि:—

"नैतदब्राह्मणोविवक्तुमईतिसमिधंसोम्याऽऽहरोप-त्वानेष्ये न सत्यादगाः" छा० ४।४।५।

अर्थ-इस बात को अब्राह्मण अर्थात ब्राह्मण से भिन्न अन्य नहीं कहसक्ता, हे सोम्य ! तू समिधा ला मैं तुम्हारा उपनयन कराऊं, क्योंकि तुमने सत्य नहीं छोड़ा, सार यह निकला कि जब गौतम ने उसको सत्यभाषण से झाछाण निश्चय किया और गौत्र की कुछ अपेक्षा नहीं की इससे पायाजाता है कि स्वभाव से ही शूद्रत्व और बाह्मणत्व का निश्चय कियाजाता है अर्थाद उसके गोत्र के निश्चय न होने पर भी जब ऋषि ने बाह्मण मानकर उसका उपनयन करादिया तो इससे स्पष्ट सिद्ध है कि बाह्मणत्वादि धर्म हैं जाति नहीं।

सं ० - अब एक अर्थ का उपसंहार करते हुए गुण कर्म स्वयाव से शुद्र को बास्च का अनिधकार कथन करते हैं: --

अवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३७॥

पद्०-श्रवणाध्ययनार्थमतिषेघात्। स्प्रतेः। च।

पद्दाः (च) और (स्पृतेः) स्मृति से भी (श्रवणा-ध्ययनार्धपतिषेघाद) श्रवण तथा अध्ययन का प्रतिषेघ पायाजाता है।

भाष्य—स्मृतियों में जो दूद के श्रवण तथा अध्ययन का निषेध कथन किया गया है वह "शोचतीति शूद्रः"=जो श्रोक करे उसका नाम "शूद्र" है, इस निकक्ति के अनुसार जो तमोग्रुणाद्यतम्मः करण पुरुष है वही शूद्र है, शूद्र कोई जाति विशेष नहीं, इस भाव से शूद्र का शास्त्र में अनिधकार कथन कियागया है, यदि पौराणिकभाव के अनुसार शूद्र कोई जाती विशेष व्यभिनेत होता तो गौतम तथा रैक आदि ऋषि जावा-

लादिकों को बाह्मण पदवी कदापि न देते, इससे स्वा है कि गुण कर्म स्वभाव सिद्ध शुद्र को शास्त्र का अधिकार नहीं।

भाव यह है कि स्वभाव माप्त श्रुद्रत्वधर्म वास्ते को श्रवण कथा अध्ययन का निषेध है और स्मृति से भी यही पाया जाता है कि गुण कर्म स्वभाव से ही ब्राह्मण शामियादि भेद हैं, जैसाकि गी० ४। १६ में वर्णन किया है कि "वातुर्वण्यं मयासृष्टं गुणकर्मविभागदाः"=ब्राह्मणादि चारो वर्ण मैंने गुणकर्मानुसार बनाये हैं, अस्मच्छ्यद् के यहां वही अर्थ हैं जो हम पीछे "माणाधिकरण" में निक्षण कर आये हैं।

सं ० - प्रसङ्गसङ्गति से ब्रह्मविद्या के पठनपाठन का विचार समाप्त करके अब पूर्वपक्त वेदान्तों के ब्रह्मविषयक समन्वय का पुनः वर्णन करते हैं:—

कम्पनात् ॥ ३८॥

पद०-कम्पनात्।

पदा॰ – (कम्पनात्) कम्पन के पाये जाने से पाण शब्द ब्रह्मवाची है।

भाष्य-यदिदं किञ्च जगत् सर्वे प्राण एजति निः
मृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्भिदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
कठ० ६। २

अर्थ-यह सम्पूर्ण जगत उत्पन्न होकर माण में चेष्टा करता है, और वह माण उठाये हुए वज्र के समान महज्रयहर है अर्थात बहे से बहे पदार्थों को भी भयपद है, उक्त विषय वाक्य में यह सन्देह है कि यहां प्राण शब्द से प्राणतायु का ग्रहण है अथवा "प्रकर्षण अनित चेष्टते स प्राणः"=जिसकी सत्ता से यह सब जगद चेष्टा करता है वह प्राण है ? उक्त सन्देह की निर्दात्त के छिये सूत्रकार यहां यह निर्णय करते हैं कि "एजु-कम्पने" कम्पनार्थक एज्नु धातु का अर्थ परमात्मा में पाये जाने से यहां "प्राण" नाम परमात्मा का है, क्योंकि सबको कम्पाने वाला परबात्मा ही होसक्ता है अन्य नहीं, वही परमात्मा दुराचारी पुरुषों के छिये शान्तदायक है, जो पुरुष अस्त कहा को जानते हैं वह मृत्यु से रहित होजाते हैं।

म प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति क्रचन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नतावुपाश्रितौ ॥

कठ० ५।५

अर्थ-न कोई प्राणवायु से जीता और न कोई अपान वायु से जीता है जिस परमात्मा के सहारे उक्त वायु हैं उसीसे सब कोई जीता है, और इसी उपनिषद् के अन्य स्थलों में भी कथन किया है कि:—

भयादस्यामिस्तपति भयात्तपतिसूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युधीवति पञ्चमः॥ कवः ६।३ अर्थ-उसी ब्रह्म के भय से अग्नि तपती, उसी के भय से
सूर्य गितं करता और उसी के भय से वायु, इन्द्र, विद्युत
और मृत्यु चेष्टा करते हैं, इससे सिद्ध है कि प्राणादि वायुओं
का नियन्ता परमात्मा ही है इसिछिये यहां प्राण से उसी
का ग्रहण है अन्य का नहीं ॥

सं०-अव ज्योतिः शब्द का ब्रह्म में समन्वय कथन करते हैं:-

ज्योतिर्दर्शनात् ॥३९॥

पद०-ज्योतिः। दर्शनात्।

पदा०-(दर्शनात) ब्रह्म में पाये जाने से (ज्योतिः) ज्योति शब्द भी ब्रह्म का वाचक है।।

भाष्य-"एषः संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायपरं-ज्योतिरुपसम्पद्यस्वनरूपेणाभिनिष्पद्यते" छा०८। १२।३

अर्थ-यह सम्प्रसाद=जीव इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त होकर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त होजाता है, इस विषय वाक्य में परंज्योति ब्रह्म का नाम है और इसी वाक्य में आगे "स उत्तमः पुरुषः" उस परंज्योति का उत्तम पुरुष का विशेषण दिया गया है, यदि यहां ज्योति सन्द भौतिक ज्योतिवाचक होता तो उसको उत्तम विशेषण सदापि न दियाजाता, इससे सिद्ध है कि ज्योतिः नाम परमात्मा का है।

सं०-अब छा० ८। १४। १ का ब्रह्म में समन्वय दिस-छाने के छिये "अर्थान्तरत्वाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । ४०।

पद०-आकाशः। अर्थान्तरत्वादिच्यपदेशात्। पदा०-(अर्थान्तरत्वादिच्यपदेशात्) नाम रूप से भिज का च्यपदेश पायेजाने के कारण (आकाशः) आकाश नाम प्रस्न का है॥

भाष्य-"आकाशो वैनाम रूपयोनिर्वाहिता ते यह-न्तरा तद्ब्रह्म तदम्हतं स आत्मा" छा० ८।१४।१= आकाश ही नाम और रूप को धारण करने वाला है वे दोनों नाम और रूप जिसके आश्रित हैं वह ब्रह्म है,वही अमृत और वहीं आत्मा है, यह वाक्य इस अधिकरण का विषय है, इससे पूर्व सुक्त पुरुष का वर्णन आचुका है, जैसाकि:—

"अश्व इव रोमाणि विध्य पापं चन्द्र इव राहोर्सुखा-त्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभि-सम्भवामीत्याभसम्भवामीति" छा० ८। १३। १

अर्थ-जिसमकार घोड़ा अपने शरीर को कम्पाकर शरीरगत घूछि आदि सब वस्तुओं को गिरा देता है, और जिसमकार चन्द्रमा ग्रहणक्ष्पं कलक्क से छूटकर निर्मल होजाता है इसी मकार यह जीवात्मा शरीर को त्यागकर कृत-कृत्य हो ब्रह्मलोक का अनुभव करता है, अशरीरी और सूक्ष्म होने के कारण इसको आकाश नाम से कथन किया गया है, इस पूर्वपन्न की निष्टाचि के लिये सूत्रकार ने कथन किया है कि "आकाश" यहां ब्रह्म का नाम है, क्योंकि नामक्ष्य का निर्वाहता= माप्त करानेवाला ब्रह्म ही है नामक्ष्य का कर्तृत्व जीव में कदािय नहीं होसका, बद्धावस्था में इसिलये नहीं होसका कि वह बन्धनयुक्त होने में स्वयं नाम क्ष्य को धारण कररहा है और मुक्तावस्था में जीव इसिलिये नामक्ष्य का निर्वाहक नहीं होसका कि मुक्त का पेक्वर्थ्य जगदक्ष्य न्यापार के बिना होता है अर्थाद मुक्त पुरुष को जगद रचनादि सामर्थ्य मुक्ति अवस्था में भी नहीं होसका, एवं मुक्त पुरुष नाम क्ष्य का कर्चा नहीं, इसिलिये नाम क्ष्य का निर्वहिताक्ष्य अर्थान्तर के होने से उक्त विषयवाक्य में आकाश ब्रह्म का नाम है मुक्त जीव का नहीं। रूप का निर्वहिताक्ष्य अर्थान्तर के होने से

संग्निन, "अनेन जीवनात्मनानुप्रविश्यं नाम क्यां करिया करिया

मुषुप्तयुत्कान्त्योभेंदेन॥ ४१॥

पद०-मुषुप्त्युत्क्रान्त्योः । भेदेन ।
पदा०-(मुषुप्त्युत्क्रान्त्योः) मुषुप्ति तथा उत्क्रान्ति अवस्था
में (भेदेन) भेद पायेजाने के कारण जीव ब्रह्म नहीं ।
भाष्य-मुषुप्ति अवस्था और उत्क्रान्तिः—मरणावस्था इनमें

जीव और ब्रह्म का भेद वर्णन कियागया है, इसलिये एक नहीं होसक्ते, जैसाकि:—

प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् " बृहदा० ४ । ३ । २ १

"प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जनयातीति"वृ०४।३।३५

अर्थ-सुषुप्ति अवस्था में पाक्य=परमात्मा के साथ सम्बन्ध
पाकर बाहर और भीतर की किसी वस्तु को जीव नहीं जानता
और परमात्मा के अन्वारूढ=आश्रित होकर जीव इस बारीर को
छोड़ता है, इस मकार उक्त दोनों अवस्थाओं में जीव ब्रह्मं का
भेद कथन किया गया है, इसिछिये जीव ब्रह्म से भिन्न होने
के कारण नाम रूप का कर्चा जो आकाश शब्द से कहा गया

है वह ब्रह्म है जीव नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४२॥

पद०-एकपद ।

पदा०-(पत्यादिशब्देभ्यः) पति आदि शब्दों के पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-पति आदि शब्द भी परमात्मा में पायेजाते हैं जीव में नहीं, इससे जीव ब्रह्म का भेद है, जैसाकि बृहदा०४।४। २२ में वर्णन किया है कि "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्या- िश्वपृतिः"=नह परमात्मा सब का अधिपति=स्वामी, सबका नियन्ता और सबका ईश्वर है, न वह अच्छे कमों से बड़ा बनता और न छोटे कमों से छोटा होता है, वह सबका ईश्वर तथा सब छोक मर्यादा का सेतु है, उसी को वेद द्वारा ब्राह्मण छोग जानने की इच्छा करते हैं और उसी को जानकर मुनि होता है, इस प्रकार जीवात्मा से भिन्न पत्यादि नामों वाछा परमात्मा है, इस प्रकार मेद पाये जाने से नाम रूप का कर्चा ब्रह्म है जीव नहीं, इस "अर्थान्तराधिकरण" में सूत्रकार ने जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट वर्णन कर दिया है, फिर भी श्रीशङ्करमतान्तुयायी "वाचस्पतिमिश्रादि" इसी सूत्र की व्याख्या में छिखते हैं कि जीवात्मा का अनुवाद यहां अभेद बोधन के अभिपाय से किया गया है, जैसाकिः—

"तस्माजीवात्मानं मानान्तरसिद्धमन् वतस्य ब्रह्म भावप्रतिपादनपरोयोयं विज्ञानमय इत्यादि वाक्यसंदर्भः"

अर्थ-जीवात्मा का अनुवाद करके उसको ब्रह्मभाव बोधन करने के लिये "योयंविज्ञानमयः" इत्यादि वाक्य रचना है, इस अधिकरण में रामानुज आचार्घ्य का यह मत है किः— "ऐक्योपदेशस्तुसर्वस्यचिदचिदात्मकस्य ब्रह्मकार्घ्य त्वेनतदात्मकत्वायत्त इतिसर्वेखित्वदंब्रह्म तज्जलानि-त्यादिभिवीक्यैः प्रतिपाचत इति पूर्वमेवोक्तं देतप्रति-षेधाश्चंततएवेत्यनवद्यम् "श्री०भा० ब्र० स् ० १ । ३ । ४३ अर्थ-यह सब हरयमान पपश्च ब्रह्म है, इत्यदि वाक्यों में जो एकता का उपदेश है वह इस अभिमाय से है कि सब जड़ चेतन पपश्च ब्रह्म का कार्य है अर्थाद ब्रह्म से ही उत्पन्न होता, ब्रह्म में ही लंग होता और ब्रह्म में ही स्थिति पाता है, इस प्रकार श्वमविधि के भाव से एकता का उपदेश किया गया है वास्तव में एकता नहीं।

यहां उक्त आचार्य का अभिप्राय यह है कि जगदुत्पित्त काल में प्रकृति तथा जीवक्ष्य शरीराविशिष्ठ ब्रह्म जगद का कारण और स्थूल जगदाकारशरीराविशिष्ठ कार्य्य कहलाता है अर्थाद जीव और प्रकृति के साथ मिलं हुए ब्रह्म का जो एकत्व वही "विशिष्ठाद्धित" है, इस प्रकार विशिष्ठाद्धित कथन करने से तीन पदार्थ अनादि पाये जाते हैं, माथा में परिणामित्व, जीव में दुःखित्व और ब्रह्म में कल्याणगुणाकरत्व धर्म है, इस प्रकार उक्त गुणों से तीनों पदार्थ भिन्न २ हैं, इसलिये अद्वैत-वाद के समान तीनों के मिल जाने से सङ्कर होने का दोष विशिष्ठाद्वित में नहीं आता, यह अर्थ स्वामी रामानुज ने ब्र० स्र० २ । १ । २३ के भाष्य में प्रतिपादन किया है।।

इति तृतीयःपादः समाप्तः

अथ चतुर्थःपादः प्रारम्यते

सं०-प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद में श्रुतिबाक्यों का निर्विदेश ब्रह्म में विस्नारपूर्वक समन्वय मितपादन किया, अड़ इस पाद में केवल मकृतिवाद के निरासार्थ तथा जीव, मकृति को ब्रह्म से भिन्न बोधन करने के लिये "आनुमानिक अधिकरण" का आरम्भ करते हुए प्रथम प्रकृतिवाद का खण्डन करते हैं:—

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्नशारीररू-पकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च॥१॥

पद०-आनुमानिकं। अपि। एकेषां। इति। चेद। न। शरीरकपकविन्यस्तगृहीतेः। द्शयति। च।

पदा०-(एके वां) कई एक आचाय्यों के मत में (आतु-मानिकं) अनुमानसिद्ध मकृति का स्वभाव ही जगत का कारण है (चेत.) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (दारीरक्ष किवन्यस्त गृहीतेः) द्यारिक्ष रथ का अल्झार वर्णन किया गया है (च) और (दर्शयित) श्रुतिवाक्य से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-कई एक वादी ऐसा मानते हैं कि आनुमानिक=अनुमान सिद्ध जो मकृति का स्वभाव उसी से यह जगद वन जाता है और जीवात्मा भी मकृति का परिणाम है ? यह इनिक्रिये ठीक नहीं कि आपीर को रथकप अबक्कार से वर्णन किया गया है अर्थाद जिसमकार रथ सार्थि के विना नहीं चल सक्ता इसी मकार जड़ प्रकृति का नियमन करने वाले सर्वञ्च, सर्वशक्ति- मान्य चेतन की आवश्यकता पाई जाती है अर्थाद नियन्ता के किना स्वाभाविक छाष्टे नहीं होसक्ती और नाही शारीरक्ष रथ के नियन्ता विना यह शारीर चेष्टा कर सक्ता है, जैसाकि कट॰ ३।३ में वर्णन किया है कि:—

आत्मानं रिथनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारिथं विद्धि मनः प्रश्रहमेव च ॥

अर्थ-आत्मा को रथ बाला और बरीर को रथ इप जानों,
बुद्धि को सारथी=रथ के चलाने वाला और मन को घोड़ों के
नियमन इप रज्जु जानना चाहिये, इस विषयवाक्य में जीवात्मा
को बारीरादि इन्द्रिय संघात का नियन्ता मतिपादन करके
आगे यह कहा है कि:—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यक्च परं मनः । मनसक्च पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महाच् परः ॥

कठ० ३ । १०

अर्थ-इन्द्रियों से उनके अर्थ, शब्द, स्पर्श, रूपादिक सूक्ष्म है उनसे मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्व और महत्व से अञ्चल परे है, अव्यक्त को इसिंडिये सूक्ष्म कहांगया है कि वह मकृति अवस्था में सर्वथा अक्क्षण रहता है, जैसाकि "आसी दिदंतमो भूतमप्रज्ञातमलक्षणम्" मनु० १ । ६ में वर्णन किया है कि सृष्टि से पूर्व यह कार्यकारण रूप संघात अमज्ञात=मत्यस न था और नाही यह अलक्षण=अनुमान का विषय था, और इससे आगे यह वर्णन किया है कि:—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते । दृश्यतेत्वप्रचया वुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

कढ० ३।१२

अर्थ-वह परमात्मा सब भूतों में छिपा हुआ है, इसिछ्यें अक्षानियों को उपलब्ध नहीं होता, और सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्म-दार्शियों को दीखता है, इस प्रकार रूपकालक्कार द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता शास्त्र ने कथन की है, अतएव यह जगद आनुमानिक=स्त्रभाव सिद्ध नहीं, और नाही जीवात्मा आजुमानिक है, क्योंकि उक्त विषय वाक्यों में शरीररूपी रथ का स्वामी जीवात्मा कथन किया गया है, इसिछ्ये भौतिक जीवात्मवादी चार्वाक के मत का खण्डन उक्त सूत्र में जानना चाहिये।

ति के जातन्य विशेष पापि जे नतु-"अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" विश्व सु १।२। विश्व किया भाग के पहिल्ले के सिम सिद्ध किया गया है फिर उनको यहां पुनः भिन्न वर्णन करने से पुनरुक्ति दोष आता है? उत्तर-यहां जीव तथा प्रकृति का अस्तित्व विस्तार पूर्वक वर्णन

करने के सिये यह पाद मारम्भ किया गया है, (सिव्धिये उक्त दोष नहीं।

स्वाधी "शक्कराचार्य" तथा "स्वाधी रामानुज" ने इस पाद को मक्कति के खण्डन में लगाया है सो ठीक नहीं, क्यों कि उनके मत से "ईस्रतेनी शब्द्यू " ब्र॰ स्र॰ १। १। ५ में मक्कति का खण्डन किया गया है और पुनः खण्डन किये जाने से पुनरुक्ति दोष आता है, पर हमारे सिद्धान्त में यहां तीनों पदार्थों का विस्तारपूर्वक समर्थन करने से उक्त दोष नहीं, यही अपूर्वता है॥

सं०-वतु, जब वारीरक्ष्पी रथ का जीवात्मा रथी है तो सबको शारीर से भिन्न आत्मज्ञान क्यों नहीं ? उत्तर:—

सूक्ष्मं तु तदहित्वात् ॥ २॥

पद०-सूक्ष्मं। तु। तद्हत्वात्।

पदा॰ – (तु) शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के लिये आया है (तद्देत्वाद) योग्यता पायेजाने से (सूक्ष्मं) जीवात्मा सूक्ष्म है।

सं ० - जब जीवात्मा सूक्ष्म है, नित्य है, कभी उसके स्वक्ष्प का उत्पत्ति विनाश नहीं होता तो फिर वह धर्म, अर्थ, काम, मोस, इस फलचतुष्ट्य का अर्थी कैसे होसक्ता है ? उत्तर:-

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३॥

पद०-तद्धीनत्वात् । अर्थवत् ।

पदा०-(तदधीनत्वाद) परमात्मा के अधीन होने से (अर्थवद) जीव अर्थवाछा है। भाष्य-उप्त परमात्मा के अधीन होने से वह आविनाझी जीव अर्थ वाला है, अतएव उसमें फलचतुष्ट्य की कामना होने पर कोई बाधा नहीं।

सं ० - ननु, जब वह स्वरूप से नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है तो फिर उसमें और ईश्वर में क्या भेद है ? उत्तर:-

ज्ञेयत्वावचनाच ॥ ४॥

पद०-क्षेयत्वावचनात्। च।

पदा०-(च) और (क्षेयत्वावचनात्) परमात्मा के समान क्षेय न-कथन किये जाने के कारण जीव ईववर का भेद है।

भाष्य-जीव को परमात्मा के समान क्षेय कथन नहीं किया गया अर्थाव जिन प्रकार परमात्मा के विषय में वर्णन किया गया है कि "तिद्धिष्णोः प्रमंपदं सदा-प्रयन्ति सूर्यः" अथर्न० ७। ३ । ७=उस विशु पर-मात्मा के स्वरूप को ज्ञानी छोग सदा देखते हैं, इस प्रकार जीव को ज्ञानियों का विषय कहीं नहीं कथन किया गया, इसिछये नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होनेपर भी जीव ईश्वर नहीं होसक्ता॥

सं० न न न ज ''आत्मावारेद एव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' बृहदा० ४।५।६ इस वाक्य में यह दर्णन किया गया है कि आत्मा क्षेय है फिर कैसे कहा जाता है कि जीवात्मा को क्षेय नहीं कहा गया ? उत्तरः—

वदतीतिचेन्नप्राज्ञी हि प्रकरणात् ॥ ५॥

पद्-वदात । इति । चेत् । न । प्राझः । हि । प्रकरणात् ।
पदाः -(वदाते) श्रुति में जीव को क्षेय कथन किया है
(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं
(हि) क्यों कि यहां (प्रकरणात्) प्रकरण से (प्राझः) ईक्वर
का ग्रहण है ॥

भाष्य-यदि यह कहाजाय कि "आत्माविर द्रष्टुट्यः" इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा को क्षेय कथन किया गया है तो ठीक नहीं, क्योंकि यहां प्रकरण से परमात्मा पाया जाता है जीवात्मा नहीं, जैसाकि इसी प्रकरण के उपसंहार में कहा है कि "येनेंद सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्" बृहदा० ६। ४। ३=जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने अर्थाद सर्वन्न परमात्मा का ज्ञाता कौन होसक्ता है, इससे परमात्मा को दुर्विन्नेय कथन किया गया है जीवात्मा को नहीं॥

सं०-अव स्टिष्ट के स्वाभाविक न होने में और हेतु कथन करते हैं:—

त्रयाणामेवचैवमुपन्यासःप्रश्नश्च ॥ ६॥

पद०-त्रयाणां। एव। च। एवं। उपन्यासः। प्रश्नः। च।
पदा०-(च) और (त्रयाणां) तीनों का (एव) ही
(एवं) इसमकार (उपन्यासः) लेख (च) और (प्रश्नः) प्रश्न
भी पाया जाता है।

भाष्य-जीव, ईश्वर, प्रकृति इन तीनों का उपन्यास=लेख वेदान्त में पाया जाता है इससे सिद्ध है कि स्टाष्ट्र की रचना स्वभावसिद्ध नहीं और इसी भाव को मुण्ड० ३।१।२ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचित सुह्य-मानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यंमीशमस्य महिमान-मिति वीतशोकः ॥

अर्थ-प्रकृतिक्प दक्ष में भोक्ता जीवात्मा निवास करता है
जो अज्ञान से निमन्न है, प्रकृति की आवरणात्मक शक्ति से
मोह को प्राप्त हुआ शोक करता है और जब व्याप्यव्यापक
भाव से अपने माथ मिले हुए ईक्वर को साक्षात कर उसके
महत्व को जान लेता है तब शोकरहित होजाता है, यहां प्रकरण
यह है कि "अन्यत्रधर्माद्व्यत्राधर्मात्" कठ० २। १४
इस श्लोक में निवकेता यम से यह प्रश्न करता है कि जो
धर्माधर्म से भिन्न पदार्थ मेरे उपदेश योग्य समझते हो सो कहो
अर्थात धर्माधर्म तो गुण हैं इनका आधारभूत जो आप पदार्थ
जानते हो सो कहो ? इस प्रश्न के उत्तर में यम ने जीव ईक्वर
के स्वक्ष्प को भली भांति वर्णन किया है कि:—

एकोवशी सर्वभृतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ कठ० ५ । १२ 888

बेद्यान्तार्थभाष्ये

अर्थ-एक ही प्रमात्मा सब भूतों का अन्तरात्मा=
नियन्ता है और नहीं कारणक्प मकृतिको बहुत मकार से कार्य्य
क्ष्म बनाता है, जो धीर पुरुष उसको अपने में व्यापक देखते
हैं उनको निरन्तर सुख की माप्ति होती है अन्यों को नहीं।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हिद श्रिताः।
अथ मत्योंऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समरुनुते।।

क्र व । १४

अर्थ-जब जीव के सब पारब्ध कमें क्षय होजाते हैं, फिर वह अग्रुत होकर उस अवस्था में ब्रह्म के आनन्दादि धम्मों को भोगता है, इस प्रकार जीव, ईक्वर और प्रकृति इन तीनों पदार्थों को प्रश्लोत्तर से स्पष्ट किया गया है इसाछिये केवल प्रकृति-वादियों का सृष्टि को स्वाभाविक कथन करना साहसमात्र जानना चाहिये।

सं ० - ननु, प्रकृति का उपनिषदों में कहीं स्पष्ट नाम नहीं पाया जाता, फिर कैसे समझाजाय कि तीनों अनादि हैं ? उत्तरः --

महद्य ॥७॥

पद्०-महदूत्। च।

पदा॰-(च) और (महदूत) महत् शब्द की भांति उपनिषदों में प्रकृति का निश्चय होसक्ता है।

भाष्य-जिस मकार मकरण द्वारा निश्चय किया जाता है कि अमुक अर्थ में यहां "महत्" शब्द आया है, इसी मकार उपनिषदों में अजादि शब्दों द्वारा निश्चय किया जाता है कि यहां प्रकृति का ग्रहण है जैसाकि:— "बुद्धेरात्मामहान्परः" कठ० ३। १० = बुद्धि से परे महचत्व है, यहां मकृति की मथम कार्यावस्था को जिसका नाम
सांख्यशास्त्र की परिभाषा में महत्त्व है उसके विषय में "महत्त"
शब्द आया है और "महान्तं विश्वमात्मानं" कठ० २।
२२ = महान, विश्व आत्मा को जानकर शोक से रहित होजाता है,
"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" भे० ३। ८ इत्यादि स्थलों में
परमात्मा के लिये "महत्" शब्द का मयोग किया गया है, औरः—

अजामकांलोहितशुक्ककृष्णांबह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजोह्यकोज्जषमाणोऽनुशेतेजहात्येनांसु-क्तभोगामजोऽन्यः ॥ २०४।५

अर्थ-एक अजा=मकृति है जो रक्त, शुक्र, कृष्ण इन तीन वर्ण वाली है और नाना प्रकार की प्रजा को अपने समान रूप वाली बनाती है, उस प्रकृतिरूप अजा को अज्ञानी पुरुष प्रीति वाला होकर सेवन करता तथा विवेकी पुरुष छोड़ देता है, अतएव यहां "अजा" शब्द से उपनिषद् पूलक ही प्रधान=प्रकृति की कल्पना की गई है अन्यार्थ की नहीं, क्योंकि लोहित से खोगुण, शुक्र से सत्वगुण और कृष्ण से तमोगुण का ग्रहण है अर्थाद उक्त तीनो गुणों की साम्यावस्था वाली जो सांख्य शास्त्र ने प्रकृति मानी है उसका वर्णन यहां "अजा" शब्द से कियागया है।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:-

चमसवदविशेषात् ॥ ८॥

पद०-चमसवत् । अविशेषात् ।

पदा०-(चमसवत्) चमस की भांति (अविद्योषात्) कोई विद्योषता न पायेजाने से "अजा" दाब्द को प्रकृत्यर्थक मानना ठीक नहीं।

भाष्य-जिसमकार "यथा अर्वाण्विलश्चमसऊर्ध्व बुध्नः"
बृहदाः २।२।३=नीचे जिसका मुख हो, ऊपर से मोटा
हो वह "चमसपात्र" है, यहां उक्त लक्षण करने पर "चमस"
पद से पात्र ही का ग्रहण नहीं किन्तु प्रकरण से तत्सदश मूर्ज़ा
का ग्रहण है इसी प्रकार "नजायते इत्यजा"=जो उत्पन्न
नहों उसको "अजा" कहते हैं, इस अर्थ से केवल प्रकृति का ही
ग्रहण नहीं किन्तु जो २ उत्पत्तिशून्य हो उसको अजा
कहसक्ते हैं, इसलिये "अजामेकां ०" इत्यादि वाक्य प्रधानार्थ
के ही प्रतिपादक हैं इसमें कोई नियामक नहीं।

सं ० - अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:--

ज्योतिरुपक्रमा तुतथा ह्यधीयत एके ॥ ९॥

पद०-ज्योतिरुपक्रमा। तु। तथा। हि। अधीयते। एके।
पदा०-(ज्योतिरुपक्रमा) अजा शब्द से तेजादि जगत के जपादानकारण का ग्रहण है (हि) निश्चय करके (तथा) ऐसा ही (एके) कई एक शाखावाले (अधीयते) पढ़ते हैं। भाष्य—सूत्र में "तु" बाब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यति के लिये आया है, तेज का प्रकरण चलाकर छान्दोग्य शासा बाले प्रकृति का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि "यदग्रने रोहितं रूपं तेजसस्तद्र्पं, यच्छुक्लं, तद्पां, यत्कृष्णं तदन्नस्य" छान्दो० ६।४। १=जो छाल रूप है वह अग्नि का, जो श्रुक्त है वह जल का और जो काला है वह अन्न=पृथिवी का रूप है,इस प्रकार यहां प्रकरण से लोहित, श्रुक्त, कृष्ण रूप बाली प्रकृति का वर्णन है, इसिलये जो उत्पन्न न हो उसको अजा कहते हैं, इस यौगिक अर्थ से केवल उत्पत्तिश्चन्य पदार्थ का ही अजा"शब्द से, ग्रहण नहीं किन्तु जगत के उपादान कारण प्रकृति का ग्रहण है।

और जो मायावादी "अजा" शब्द के अर्थ "माया" करते हैं कि
"मायान्तु प्रकृति विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्"
छा० ४। १०। ११ इस वाक्य में "माया" नाम मकृति का है
अर्थात यहां प्रकृति शब्द माया के ही अर्थ देता है कि
"प्रक्रियते अन्या इति प्रकृतिः" = जिससे यह कार्य्य
रूप प्रश्च कियाजाय वह "प्रकृति" = माया ही ब्रह्म में
जगत को अद्भावन कराती है, इसिल्ये माया का नाम ही
यहां प्रकृति है ! इसका उत्तर यह है कि "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विध्यनादि उभाविप" गी० १३। १९ इस स्लोक में
व्यासजी ने सांख्यशास्त्र की मानी हुई प्रकृति का स्पष्ट वर्णन
किया है, फिर उसको "माया" कैसे कहसक्ते हैं।

वेद्यान्तार्थ्यषाज्ये

दूसरी बात यह है कि इनके पत में माया, अज्ञान एक ही बस्त के नाम हैं पर यहां उक्त गीता श्लोक में मकृति शब्द का अर्थ अज्ञान नहीं, क्योंकि इसी पकरण के श्लो० २१ में जीव इप पुरुष को प्रकृति के गुणों का भोक्ता कथन किया गया है, और "य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च ग्रणेः सह" १३।२३=जो इस प्रकार सच्चादि गुणों के साथ प्रकृति को जानता है, इसमें पाकृतिक गुणों के तत्वज्ञान से मुक्ति का निक्पण किया है जिससे पाया जाता है कि प्रकृति से माया का ग्रहण नहीं, क्योंकि मायावादियों के मत में मायिक युजों के जानने से मुक्ति कहीं विधान नहीं की पत्युत याया की निष्टि से मुक्ति कथन की है, फिर यहां प्रकृति से बाया का प्रहण कैसे होसक्ता है, और ऐसा मानने से मायावाद के साथ गीता का भी विरोध आता है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "गीतायोगप्रदीपार्ध्यआह्य"में कियागया है विश्वेषाभिलावी बहां देखरें।

सं ॰ नितु, प्रकृतिभूत "अजा" छोहित, शुक्र, कृष्ण रूप बास्री क्यों वर्णन कीगई है ? उत्तर:—

कल्पनोपदेशाचमध्वादिवदविरोधः॥१०॥

पद् -कल्पनोपदेशात्। च। मध्वादिवत्। अविरोधः।

पदा॰-(च) और (मध्वा।देवत) मध्वादि दृष्टि की भाति (कस्पनोपदेशात) कल्पना का उपदेश पायेजाने से (अविरोधः) कोई विरोध नहीं।

भाष्य-मक्कतिको क्पकाछक्कारद्वारा यहां अजा कल्पना कियागया
है, जिसमकार मध्विद्या में "असी वा आदित्यो देवमधु"=
निश्चय करके यह आदित्य देवताओं के छिये मधु है, और
"वाचं धेनुमुपासीत" बृ॰ ५।८।१=बाणी को गौ क्प
से चिन्तन करे, यहां आदित्य की मधुक्प से और बाणी की
गौक्प से कल्पना की है, इसीमकार मक्कत में मक्कति को अजा के
अछक्कार से वर्णन कियागया है, इसिछये कोई दोष नहीं।

सं०-अव अवान्तर सङ्गित से "युस्मिन्पञ्च०" बृ० ४ । ४ । १७ इत्यादि वाक्य का निर्णय करने के छिये "संख्योपसंग्र-हाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

न संख्योपसंग्रहादपिनानाभावादतिरेकाच ॥११॥

पदं ० - न । संख्योपसंग्रहात । अपि । नानाभावात । अति-रेकात । च।

पदा॰ – (संख्योपसंग्रहाद) संख्या का ग्रहण होने पर (अपि) भी सांख्यशास्त्र का श्रुति से विरोध (न) नहीं, क्यों कि (नानाभावाद) अनेक पदार्थी का वर्णन (च) तथा (अतिरेकाद) आकाश का पृथक ग्रहण पाया जाता है।

भाष्य-नतु, "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशस्य प्रति-ष्ठितः" बृहदा० ४ । ६ । ३=जिसमें पांच पञ्चजन तथा आकाश भी मातेष्ठित है, इस वाक्य में पांचवार गुणन रूप अर्थवाले "पश्चान" शब्द द्वारा सांख्यशास्त्र के माने हुए पचीस तत्त्वों का वर्णन पाया जाता है फिर उनसे भिन्न "आकाश" का पृथक् निहेंश करने से सांख्यशास्त्र तथा उपनिषद् का परस्पर विरोध आता है ! यह कथन इमिल्ये ठीक नहीं कि प्रकृत में "पश्चान" शब्द नानापदार्थों के अभिप्राय से आया है पांच के साथ पांच गुणन के अभिप्राय से नहीं, इसिल्ये उक्त विरोध का उद्घावन करना श्वममात्र है अर्थात "पश्चान" पद से पृथक् आकाश तथा आत्मा का कथन करना ही सांख्यशास्त्रोक्त पश्चीस तक्ष्वों के विरोधाभाव को बोधन करता है।

सं०-ननु, प्रकृत में पञ्चजन शब्द से किसका ग्रहण है ? उत्तर:—

प्राणादयोवाक्यशेषात्॥ १२॥

पद०-प्राणादयः । वाक्यशेषात ।

पदा०-(वाक्यशेषात्) वाक्यशेष से (प्राणाद्यः) प्रा-णादि पांच पदार्थों का ग्रहण है।

भाष्य-"प्राणस्यप्राणसृतचसुषश्चश्चः श्रोत्रस्य श्रोत्रमत्रस्यात्रंमनसोमनो ये विदुः" बृहदा० ४। ४। १८

अर्थ-जो प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अस्र का अस्र और पन का पन है उसको जानने वाछे ब्रह्म को जानते हैं, इस वाक्यशेष से पाया जाता है कि ब्रह्म के आश्रय जो प्राणादिक हैं उन्हीं को पश्च २ जना शब्द से कहा नथा है अर्थाद माण, चश्चः, श्रोत्र, अन्न और मन यह पांच पदार्थ ही पञ्चजन शब्द से अभिमेत हैं, सांख्योक्क प्रवीस तक्त नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में शाखान्तर का मत कथन करते हैं:-

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३॥

पद०-ज्योतिषा। एकेषां। असित। अने।
पदा०-(एकेषां) कई एक शाखावाळे (अने, असित)
अन्न का पाठ न होने पर (ज्योतिषा) तेज से पांचवीं संख्या
पूर्ण करते हैं।

भाष्य-काण्वशाखा वालों के मत में अन्न का पाठ न होने से ज्योति अग्नि से वहां पश्च संख्या पूर्ण करते हैं और वह विषयों के मकाशक इन्द्रिय लिये गये हैं, माण शब्द से स्पर्शेन्द्रिय का ग्रहण है, क्योंकि वह वायु सम्बन्धि है, और ज्योतिः शब्द से चक्षु, श्रोत्र से श्रोत्र इन्द्रिय तथा अन्न शब्द से घाणोन्द्रिय और मन, यह उक्त पश्चजना चांच इन्द्रिय तथा आकाश जिसमें है उसको आत्मा जानोः।

सं०-अब पकारान्तर से ब्रह्मकारणवाद में आक्षेपपूर्वक समाधान करने के छिये"कारणत्वाधिकरण"का आरम्भ करते हैं:—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा-व्यपदिष्टोक्तेः॥ १४॥

पद०-कारणत्वेन । च।आकाशादिषु । यथाव्यपदिष्टोक्तेः।

प्रा॰-(च) और (आकाशादिषु) आकाशादिकों में (कारणस्थेन) कारणभाव से (यथाव्यपदिष्टोक्तेः) एकरस कथन किये जाने के कारण ब्रह्मकारणवाद में कोई दोष नहीं।

भाष्य-सब वेदान्त वाक्य ब्रह्म को ही जगत का कारण निक्पण करते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि सहेवसोइयेदम्भ आसीत्"छा०६।७।१=इसोम्य ! सृष्टि से प्रथम यह सत ही था, इस बाक्य में सत्पूर्वक सिष्ठ सुनी गई है, और "असद्वाइदम्म आसीत" तै० २। ७= सृष्टि के पूर्व यह असत ही था, इसमें असत्पूर्वक साष्ट्र कथन कीगई है, इस प्रकार कहीं सदः और कहीं असद कथन करने से ब्रह्म जगद का कारण नहीं होसका? यह आक्षेप इसिछिये ठीक नहीं कि कारणत्वेन=सर्वज्ञत्वादि धर्मीवाळा ब्रह्म ही जगद का कारण है, और इसी मकार वेदान्त में सर्वज्ञ ब्रह्म आकाशादिकों का कारण कथन किया गया है, जैसाकि "तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" तै० २ । १=उस ब्रह्म से जो सबका अन्तरात्मा है आकाश हुआ "तत्तेजोऽसृजत्"=उसी ने तेज को उत्पन्न किया, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म को ही कारण वर्णन किया गया है, और सदसद् का विरोध इसिछये नहीं कि सद का कथन सवकारणवाद के अभिनाय से हैं और कार्यावस्था के अभि-माय से असद कथन किया गया है अर्थाद कारणक्य से यह जगद सद था और कार्यक्प से असद था, इसिंख कोई विरोध नहीं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "वैशोषिकार्यभाष्य" तथा "त्यायार्यभाष्य" में किये जाने से यहां पुनरुक्केल की आवश्यकता नहीं।

सं ० - अब उक्त विरोध का हेत्वन्तर से परिहार करते हैं:-

समाकर्षात् ॥ १५॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(समाकर्षात्) समाकर्ष=सम्बन्ध होने के कारण कोई विरोध नहीं।

भाष्य-"असद्धा इदमग्र आसीत्" तैति॰ २।० इस वाक्य में सदूप ब्रह्म का सम्बन्ध करिल्या जाता है जिसका वर्णन तैचि॰ २।५ में इसमकार किया गया है कि "तस्माद्धा एतस्मादिद्धा-नमयादन्योऽन्तरात्मा आनन्दमयः" "सोऽकामयत वहुस्यां प्रजायेय"= उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न दूसरा अन्तरात्मा आनन्दमय है, उसने संकल्प किया कि में अनेक प्रकार का होजाऊं, इत्यादि वाक्यों से आनन्दमय पदवाच्य ब्रह्म की अनुद्दत्ति "असद्धा॰" इत्यादि वाक्यों में किये जाने से विरोध की सम्भावना न होने के कारण औपनिषद ब्रह्मकारणवाद निर्श्चान्त जानना चाहिये।

सं ० - अब कौवीतिक ब्राह्मण का ब्रह्म में समन्वय दिस्तलाने के लिये "बालाक्यधिकरण" का आरम्भ करते हैं:-

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

पद०-एकपद०।

पदा॰-(जगद्वाचित्वात्) कर्म शब्द जगद्राचि होने से ब्रह्म के कर्त्ता होने को वोधन करता है।

भाष्य-"सहोवाच यो वै बालाके एतेषां पुरुपाणा कर्ता यस्य वै तत् कर्म स वेदितव्यः" को॰ बा॰ ४। १९=अजातशञ्च ने कहा कि हे बालाके ! जो इन पुरुपों का कर्ता है और जिसका यह कर्म है उसको जानना चाहिये, यहां पर जो कर्चा कथन किया गया है वह प्राण है किंवा जीव अथवा ब्रह्म है ? इस सन्देह में प्रथम दोनों पक्ष पूर्वपक्षा और तीसरा पस सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का अभिनाय यह है कि "अथा-स्मिन्प्राण एवेक्धा भवाति"=सुपुप्ति अवस्था में एक प्राण ही वाष रहजाता है, इस वाक्यशेष द्वारा माण का मकरण पायेजाने तथा कर्म=कियामात्र प्राण के अधीन होने से आदित्यादिकों में पश्च पुरुषों का कत्तां प्राण बनसक्ता है अथवा अपूर्व=अदृष्ट्ररूप कर्मफल का भोक्ता होने के कारण भोगसम्पादक आदित्यादि पांचों का कर्ता जीव है ? यह कथन इसिलये ठीक नहीं कि कर्म शब्द जगद्वाची होने से ईश्वर को कर्चा बोधन करता है अर्थाव "िक्रयत इति कर्म" = जो कियाजाय उसको "कर्म" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से कर्म का अर्थ जगद है और उसका कर्ता ईश्वर के विना और कोई नहीं होसक्ता, इस

लिये ब्रह्म ही जिज्ञासतव्य है जीव तथा प्राण नहीं, इस प्रकार बालाकि ब्राह्मण का समन्वय ब्रह्म में जानना चाहिये।

सं ० - ननु, उक्त वाक्य में जीव तथा मुख्यमाण का छिङ्ग पायेजाने मे उन्हीं का वर्णन पाया जाता है ब्रह्म का नहीं ? उत्तर:-

जीवमुख्यप्राणिखङ्गान्नेति-चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

पद०-जीवमुख्यप्राणिङ्कात् । न । इति । चेत् । तत् । व्याख्यातम् ।

· पदा०-(जीवमुख्यपाणिलङ्गात) जीव तथा मुख्यपाण का लिङ्ग होने से वही जिज्ञासतव्य हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (तत्) इसका उत्तर (व्याख्यातम्) पीछे कथन कर आये हैं।

भाष्य-जो यह कहा गया है कि जीव के और मुख्य प्राण के लिक्न पाये जाने से यहां ब्रह्म का वर्णन नहीं ? यह ठीक नहीं, क्योंकि इसका उत्तर "उपासात्रीविध्यादाश्रितत्वा-दिहतद्योगात्" ब्र॰ स्र॰ १ । १ । ३१ में कथन किया गया है, और यहां भी अजातशञ्ज के उपक्रम में यह वर्णन किया है कि "ब्रह्म ते ब्रवाणि" अब तुमको मैं ब्रह्म का उपदेश करता हं, इस पकार ब्रह्म का पकरण चलाकर फिर यह कहा है कि "यस्य च एतत् कमिति" जिसका यह कम है. इसमे पाया गया कि यहां जीव का वर्णन नहीं किन्तु निख्तिल जगत के कत्ती ब्रह्म का वर्णन है।

सं ॰ — अब उक्त अर्थ में जैमिनि ऋषि का मत कथन करते हैं:—

अन्यार्थतु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

पद०-अन्यार्थ । तु । जैमिनिः। प्रश्नव्याख्यानाभ्यां। आपि । च । एवं । एके ।

पदा०-(तु) और (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य का कथन है कि (पश्चन्याख्यानाभ्यां) ब्रह्मांविषयक प्रश्नोत्तर पाये जाने से (अन्यार्थ) जीव तथा प्राण विषयक वर्णन (अपि) भी जसी को बोधन करता है (च) क्योंकि (एके) कई एक शाखाबाले (एवं) ऐमा ही पढ़ते हैं।

भाष्य-जैमिन आचार्य के मतानुसार इस वाक्य में जीव तथा माण का वर्णन ब्रह्मवोधन के लिये है, यह बात प्रश्न और व्याख्यान से स्पष्ट पाई जाती है, जैसाकि वालाकी के मित अजातवाञ्च का यह प्रश्न कि:—

"क एष एतत बालाके पुरुषोवा ऽशियष्ट, क्व वा एतद सूत् कुत एतदागात"को व्वाव्य । १९=हे वालाके यह पुरुष कहां सोया हुआ था अथवा कहां था और कहां से आया ? जब अजातशञ्ज के इन प्रश्नों का उत्तर वालाकी ने कुछ न दिया तो अजातशञ्ज ने स्वयं कहा कि:—

"अस्मिन्प्राण एव एकधा भवाति तदेनं वाक्सर्वैर्नामिभः सहाप्येति चक्षः सर्वे रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं

सर्वैः शब्दैः सहाप्याति मनः सर्वैध्यनिः सहाप्येति, स यदा प्रतिबुध्यते यथामेर्ज्वलतः सर्वादिशो विस्फु-लिङ्गा विप्रतिष्ठेरम् एवमेव एतस्मादात्मनः प्राणा यथा आयतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" कौ॰ बा॰ ४।२०

अर्थ-इस प्राणक्ष्य परमात्मा में जब सब लय होकर एक होजाते हैं तब सब नामों के साथ वागेन्द्रिय, सब क्यों के माथ चक्षु, सब शब्दों के माथ श्रोत्र और सब ध्यानों के साथ मन का भी लय होजाता है, जब यह पुरुष जागता है तो जैसे जलती हुई अग्नि से चिनगारे निकल कर सब दिशाओं में फैलते हैं इसी प्रकार इस आत्मा से सब पाण, प्राणों से इन्द्रिय तथा इन्द्रियों से लोक निकलकर अपने स्थानों में स्थिर होते हैं, इस प्रकार जीमिनि के मत में सोये हुए पुरुष को जगाकर जो वालाकी के प्रति कहा कि यह कहां सोया हुआ था १ यह कथन जीव को ब्रह्म से भिन्न बोधन करने के लिये हैं।

सं०-अत मैत्रेयी ब्राह्मण का ब्रह्म में समन्त्रय कथन करने के लिये "वाक्यान्त्रयाधिकरण्" का आरम्भ करते हैं:—

वाक्यान्वयात्॥१९॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(वाक्यान्वयात्) पूर्वोत्तर मम्बन्य पाये जाने मे मैत्रेयी ब्राह्मण में ब्रह्म का वर्णन है जीव का नहीं।

वेदान्तार्यभाष्ये

9,46

भाष्य-न वारे पत्युःकामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न वारे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति, आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रे-य्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञाने-नेदं सर्व विदितम्" बृहदा० ४।५।६

अर्थ-हे मैत्रेयि ! पति की कामना के लिये पति मिष नहीं किन्तु अपने लिये ही पति प्यारा है, यह कथन करके फिर कहा कि वस्तुमात्र किसी दूसरे के लिये पिय नहीं आपितु आत्मा के लिये ही प्यारे हैं, आत्मा ही द्रष्ट्रच्य, श्रोतच्य, मन्तच्य तथा निदिध्यामितव्य है, उसी एक के जानने से सब कुछ जाना जाता है, इत्यादि वाक्यों में तो स्पष्टतया जीवात्मा का वर्णन पाया जाता है और उसी के जानने में सब का जानना कथन किया गया है, फिर कैसे कहा जाता है कि वेदान्त वाक्यों में ब्रह्म का ही समन्त्रय है जीत्र का नहीं ? इमका उत्तर यह है कि "वाक्यान्वय"=पृत्रीत्तर सम्बन्ध मे यहां ब्रह्म का ही वर्णन है जीव का नहीं अर्थाव याज्ञत्रस्य के परिवाजक होने समय मैत्रेयी ने पृछा कि हे भगवन ! आप कहां जाते हैं? इमका उत्तर याज्ञवल्क्य ने यह दिया कि मैं मंन्याम लेकर वन में जाता हूं, और तेरा कात्यायनी से विभाग कर देता हूं तव मैत्रेयी ने कहा कि क्या इसमे अमृतलाभ होगा ? तव याध्ववल्क्य वे उत्तर दिया कि "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन"
बृहदा० ४ । ५ । ५=अमृत=मुक्ति की आशा धन से
नहीं होसक्ती, तब मैत्रेयी ने कहा कि "येनाहुंनामृतास्यां किमहन्तेन कुर्याम् यदेव भगवात् वेद तदेव
मे ब्रूहि" बृह०४। ५। ६=जिससे मैं अमृत नहीं होती उसको मैं
क्या करूं, अमृत का कारणजो आप जानते हैं वही मेरे प्रति वर्णन
करें, तब याज्ञवल्वय ने कहा कि "आत्मवारे द्रष्टुठ्यः"=हे मैत्रेयी
आत्मा दर्शन करने योग्य है, इत्यादि, इससे पाया गया कि
मुक्ति का कारण परमात्मदर्शन ही है जीवात्मा नहीं, और
दूसरी युक्ति यह है कि इस प्रकरण में उस एक के ज्ञान से ही
सब कुछ जाना जाता है, इम कथन से एकमात्र परमात्म ज्ञान
को ही मोक्ष का हेतु वर्णन किया है इससे भी यहां परमात्मा का
ही वर्णन पायाजाता है जीव का नहीं।

इन्हीं प्रतिकों को लिखकर मायावाद के आचार्य्य यह सिद्ध करते हैं कि यह जो कुछ नानापन दी खता है यह सब आविधिक = अविद्या का विलास है, वास्तव में एक ब्रह्म ही है वही अविद्यावश से नानाक्ष्य होजाता है, जैसाकि:—

यत्र हि दैतिमिव भवति तदितर इतरं पश्यति । यत्र त्वस्य सर्वमारमेवाऽभूत् तत्केन कं पश्येत् ॥ बृहदाः ४।५।१५

अर्थ-जहां द्वेत होता है वहां दूसरा दूसरे को देखता है और जहां इसका अपना आप ही हो वहां कौन किसको देखें ?

बेब्द्यार्थ्य प्रवाद्ये

860

इस्थादि बाक्यों से सिद्ध है कि यह सब कुछ ब्रह्म ही है ? इसका दक्षर यह है कि इस वाक्य में परमात्मा के सजातीय आदि भेड़ों का दिलेश कियागया है, जहां परमात्मा से भिक्न कोई उस जैसा बात्म हो वह उसको जानसके जहां कोई उस जैसा बाता ही नहीं बहां कीन किसको जाने, इन वाक्यों में परमात्मा को एक सिद्ध किया गया है जीन ब्रह्म की एकता नहीं।

स्वामी शङ्कराचार्यजी उक्त वाक्यों का आशय यह छेते हैं कि यहां दूसरे चेनन का निषेध किया गया है अधीत वह एक ही चेतन है अन्य सब उपाधिक लिपत हैं, यह इस डिये ठीक नहीं कि "अस्यमहतो भूतस्यानिश्वसितमित-चहुरवेद्दायजुर्वेदः" बृहदा० ४।५।१५=इस महाभूत= सबसे बड़े परम सत्तारूप ब्रह्म से ऋग्वेदादि वेदचतुष्ट्य उत्पन्न हुए, और देदचतुष्टय की योनि स्वामी बाङ्कराचार्य्य भी ब्रह्म को ही "शास्त्रयोनित्वात" ब्र॰ स्०१।१।३ में मान आये हैं, फिर कैसे कहा जाता है कि यहां जीव का प्रकरण है, यदि यह कहाजाय कि अस्तु यहां ईक्तर का प्रकरण रही पर फिर भी अहैतवाद इस प्रकार सिद्ध होतका है कि यहां उससे भिन्न जीव का निषेध किया है ? इसका उत्तर यह है कि इस मकरण में जीव का निषेध नहीं, यहां परमात्मा को अद्वितीय कथंत किया गया है, और जो यह कहा है कि "दुन्दुभेईन्यमानस्य न वाह्याञ्छन्दान् शक्नुयाद् त्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा

ञ्चाब्दी मृहीतः" वृ० ४। ४। ८ इन्दुभी वाले के द्रश्य से दुन्दुभिगत नाना प्रकार के प्रवर्षों का प्रहण होजाता है, एवं सर्वाधिष्ठानक्ष्य परमात्मा के प्रहण से तदाश्रित सब पदार्थी का प्रहण होजाता है, इससे परमात्मा को सर्वाधिष्ठान सिद्ध किया है न कि इतर पदार्थों का निषेध किया है, इसमकार उक्क विषयवाक्यों की सङ्गति अद्वैतवाद में नहीं खगसक्ती, यही आनना ठीक है।

सं ० - अव उक्त अर्थ में "आक्रमरध्य" आ**चार्य का** अत क्थन करते हैं:--

प्रतिज्ञासिडेर्लिङ्गमाञ्मरथ्यः ॥२०॥

पद्-मतिज्ञासिद्धेः । छिङ्गम् । आदमरध्यः ।

पदा०-(प्रतिशासिद्धः, छिङ्गं) दुन्दुभि का दृष्टान्त प्रतिशा-सिद्धि का छिङ्ग है (आक्मरथ्यः) यह आक्मरथ्य का मत है ।

भाष्य-आइमरध्याचार्य यह मानते हैं कि "क्सिन्जु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवाति" मुण्ड० १।
१। ७=िकसके जानने से यह सब जाना जाता है, इस मितज्ञा
की सिद्धि के लिये दुन्दुमि का दृष्टान्त दिया गया है
अर्थाद एक परमात्मा के जानने से ही सब कुछ जाना जाता है
यह भाव उक्त दृष्टान्त का है।।

सं०-अब उक्त अर्थ में "औडुकोमि" आचार्य का मत

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः॥२१॥

पद् ०- उत्क्रमिष्यतः । एवंभावात् । इति । औडुलोमिः।

पदा०-(उत्क्रिमिष्यतः) पूर्व अवस्था को छोड़कर निक-लने बाछे जीवं को (एवंभावात) परमात्मभाव की प्राप्ति होने से एकता का कथन है (इति) ऐसा (औडुलोमिः) ओडुलोमि आजार्थ मानते हैं।

भाष्य-औडुलोमि आचार्य यह मानते हैं कि परमात्मभातों के धारण करने से यह जीवात्मा अपनी पूर्व अवस्था को त्यानकर ब्रह्म को माप्त होजाता है, जैसाकि:—

"एष-सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायपरंज्योति-हृपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" छा० ८। १२।३ "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुदेऽस्तं गच्छन्ति नाम-रूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपात् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिञ्यम्" मुण्ड०३।२।८

अर्थ-यह सम्प्रसाद नाम वाला जीव इस शरीर को छोड़कर सर्वोपरि पुरुष जो ब्रह्म है उसको प्राप्त होता है, जैसे नदियें बहती हुई समुद्र को प्राप्त होजाती हैं एवं नाम और रूप को छोड़कर मुक्तपुरुष उस पूर्वोक्त दिन्यगुणयुक्त परमात्मा को प्राप्त होजाता है, इन प्रकार मुक्ति अवस्था के आभिपाय से कहागया है कि वहां कौन किसको देखे और कौन किसको सुने, एकता के अभिपाय से नहीं॥ सं०-अद उक्त अर्थ में "काशकुत्स्न" आचार्य का मत कथन करते हैं:—

अवस्थितेरितिकाशकृत्सनः ॥२२॥

पद्-अवस्थितेः । इति । काशा क्रत्सनः ।

पदा०-(अवस्थितेः) सर्वत्र व रापकता पायेजाने के कारण आत्मा को द्रष्ट्रव्य कथन किया है (इति) ऐसा (काशकुत्स्तः) काशकुत्स्न आचार्य्य मानते हैं।

भाष्य-काशकृत्स्नाचार्यं यह मानते हैं कि "अतती-त्यात्मा"=जो सब स्थानों में न्यापक हो उसको "आत्मा" कहते हैं, ब्रह्मक्ष आत्मा सबका अन्तरात्मा माना गया है इसिछये "आत्मावारे द्रष्ट्वयः" इत्यादि वाक्यों में आत्मा को द्रष्ट्वय कहा है, एवं तीनों आचार्यों के मत में इस मकरण में ब्रह्म का वर्णन है अर्थाद ब्रह्म का ही श्रतण, मनन, निदि-ध्यासन छिला है जीव का नहीं।

स्तामी "शङ्कराचार्य" जी उक्त सूत्रों का अद्वैतवाद के भाव से भाष्य करते हैं जिसमें नाना प्रकार के अर्थाभासों से जीव को ब्रह्म बनाने का यत्र किया है वह इस प्रकार कि परमात्मा जीवक्षप बनकर सबमें स्थित है, जैसाकि इसी सूत्र के भाष्य में लिखने हैं कि "अभेदाभिधानमितिका-श्रकुस्त्राचार्यों मृत्यते" = यह सूत्र जीव ब्रह्म के अभेद को कथन करता है, यह काशकुत्सनाचार्य मानते हैं, क्यों किः "बच्च हि द्वैसागिवभवति तादितर इतरंपश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मेवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" वरदा० ४।५।१५

अर्थ-जहां द्वेत होता है वहां अन्य अन्य को देखता है और जिस अवस्था में इसका सब अपना आप है वहां कीन किसको देखे, इत्यादि बाक्यों में उसी एक ब्रह्म का वर्णन करके यह कथन किया है कि काशकुत्स्नाचार्थ्य का मत ही श्रुतिसम्मत है, और:—

"विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्यपस्थापितनामरू-पर्याचितदेहाद्यपाधिनिमित्तोभेदो न पारमाधिक इत्ये-षेऽधेः सर्वेवेदान्तवादिभिरम्यपगन्तव्यः" गं॰ भा॰

अर्थ-अविद्याक्तत जो देहादि उपाधि उसी से जीव ब्रह्म का यह है वास्तव में नहीं, यह अर्थ सब वेदान्तियों को स्वीद्यार करने योग्य है, और:—

"सदेवसोम्येदमश्र आसीत् एकमेवादितीयस्"
छा॰ ६१२।१= हे सोम्य! स्ति से पूर्व एक अदितीय
बस्न ही थां, "आत्मेवेदंसर्व" छा॰ १।२५।२=यह सब
आत्मा है, "ब्रह्मेवेदंसर्व" सुण्ड०२।२।११=यह सब बस्न है,
"इदंसर्वयद्यमात्मा" बृहदा॰२।४।६=यह सब कुछ
थात्मा है, "नान्योतोस्ति द्रष्टा" बृहदा०३।१।५३=उससे
भिष कोईद्रष्टान्हीं, "वासुदेवः सर्वमिति"गी०९।१९=यह

सब बाह्यरेव है, "क्षेत्रज्ञंचापिमांविद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" गी०१३। २=सब शरीरों में मुझको क्षेत्रज्ञ जानो, "सम सर्वेषु भ्रेत्तषु तिष्ठन्तं परमेश्वरस्"गी० १३। २७=सब भूतों में पर-मेक्वर एक है, "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीतिन स वेद यथा पश्रुरवर । देवानां" ब॰ १।४।१०=वह और है मैं और हु जो ऐसा जानता है वह देवताओं का पश्च है, "मृत्योः स मृत्यु-माप्नोति य इह नानेव पश्यति"वृ० ४।४।१९=वइ मरण से मरण को पाप्त होता है जो नानापन देखता है,"तत्र को मोहः कः आकि एकत्वमनुपर्यतः" यज्ञ ४०। ७= उस अवस्था में एकत्व जानने वाले का शोक मोर नहीं रहता, इत्यादि श्रुति स्पृतियों से जीव ब्रह्म की एकतापूर्वक भेद का स्पष्ट निवेध किया गया है, इस प्रकार अनेक प्रतीकों से स्वा॰ शङ्कराचाय्येजी ने एक ब्रह्म ही सिद्ध किया है, यहां पर सब प्रतीकों की समालोचना करने से ग्रन्थ बढ़ता है और भूमिका में कई एक वाक्यों की समीक्षा कर आये हैं केवल अद्भैतवादियों के अर्थाभाम दिखलाने के लिये दोचार मतीकों के अर्थ किये जाते हैं जिनके अर्थ स्वामी "शङ्कराचार्य" ने यह किये हैं कि जो अपने से भिन्न ब्रह्म की मानता है वह पशु है, यह आशय उस वाक्य का नहीं, वाक्य का आश्रय यह है कि "योऽन्यांदेवतासुपास्ते"=जो परमात्मा से भिन देवता की जपासना करता है वह पश्च है, क्योंकि इससे पूर्व

परमात्मा का मकरण है, दूसरे वाक्य का यह अर्थ है कि "अन्योऽसी, अन्योऽहमस्मीति न स वेद यथापशु रेवं स देवानाम्"=जो यह नहीं जानता कि मैं अल्पजादि गुणों वाला जीव और हूं और ईव्वर सर्वज्ञादि गुणों वाला अन्य है, वह भी देवानां=विद्वानों के मध्य पशु है, "मृत्याः स मृत्युमामोति 0" इनके यह अर्थ हैं कि जो ईश्वर एक है उसमें नानापन नहीं, क्योंकि इससे पूर्व श्लोक का यह अर्थ है कि जहां से सूर्योदय होता है और जहां अस्त होता है वहां तक एक ही परमात्मा सर्वव्यापक है, फिर कहा है कि "यदेवेह त-द्युत्र यद्युत्र तदान्वह" = जो परमःत्या यहां है वही परलोक में है, जो परलोक में है वही यहां है, इस प्रकार ईइवर विषयक जो भेद अर्थात ईश्वर के समातीय आदि भेदों का निषेधक उक्त वाक्य था उनको जीव ईव्वर के भेदनिषेध में लगा दिया, और "वासुदेवः सर्वमिति" इत स्रोक की अभिनाय गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध कथन किया है, वहां प्रकरण यह है कि आर्च, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, यह मेरे चार मकार के भक्त होते हैं, यद्यपि यह सब श्रेष्ठ हैं पर ज्ञानी मेरा आत्मा ही है और वह मुझे बहुत जन्मों के अनन्तर माप्त होता है, और वह अपनी ज्ञानावस्था में "यह देखता है कि परमात्मा ही परमात्मा है और कुछ नहीं" इसका नाम "शमविधि" है, इससे जीव ब्रह्म का अमेद सिद्ध नहीं होता किन्तु शान्ति के लिये एक अभेदोपासना है।

कहां तक लिखें अद्वैतिविद्याचार्य ने तो केवल प्रमाण देकर जीव ईश्वर का अभेद तिद्ध करना अपना मुख्य कर्तन्य समझा है, जैसाकि "समं सर्वेषुसूतेषु तिष्ठन्तं प्रसिश्वरस्" भला इससे जीव ब्रह्म की एकता कैसे सिद्ध हुई, सारा स्त्रोक इस प्रकार है कि:—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्व विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

गी० १३। २७

अर्थ-जो परमात्मा की सर्वव्यापक जानता है और विनाश होने वाछे पदार्थों में आवेनाशी समझना है वही ठीक समझता है, इन अर्थों को छोड़कर जीव ब्रह्म की एकता में यह श्लोक लगा दिया है, इसी प्रकार अन्य सब प्रतीकें हैं जिनका कोई सम्बन्ध जीव ब्रह्म की एकता से नहीं, उन्हों ने केवल अपने पत की टढ़ता दिखलाने के लिये इकड़ी करदी हैं, उक्त स्वामी ने यहां यह भी लिखा है कि यह काशकुत्स्नाचार्य का मत ही श्रुति अनुसारी है, इस लिखने का आश्रय यह है कि पूर्व के दो आचार्यों के मत स्पष्टतया भेद को सिद्ध करते हैं और इस सूत्र में अर्थाभास करने से भेदवादी जिज्ञास को सन्देह उत्पन्न होसका है, इसलिये इसी पर अधिक बल दिया है कि ब्रह्म ही जीवरूप से सब शरीरों में स्थिर है, और प्रमाण इसके लिये यह दिया है कि "अनेन जीवेनात्मनाञ्जप्रविश्य नामक्ष्ये व्याक्ररवाणि" छा० ६। ३। २=ब्रह्म ही जीवक्ष्य से प्रविष्ट हुआ, और इसी वाक्य के अर्थ "प्रयोजनवत्वाधिकरण" में इन्हों ने यह किये हैं कि जीवात्मा अनादि है, क्योंकि वहां अनादि मानने से विना पुण्य पाप की व्यवस्था नहीं वन-सक्ती थी. हमारे विचार में काशकृत्सनाचार्य्य का आश्रय यहां यह है कि ब्रह्म सर्वान्तरात्मा इस अभिमाय से कहा जाता है कि वह सबके भीतर व्यापक होने से सबका आत्मा है, इसिलये "आत्मावारे द्रष्ट्वयो मन्तव्यो" इस वाक्य में ब्रह्मक्ष्प आत्मा का ग्रहण है जीवात्मा का नहीं।

स्त्रामी "रामानुज" ने इस सूत्र के भाष्य में बृहदारण्यक के अं वा की प्रतीक का आश्रय इस प्रकार स्फुट किया है कि:—

"य आत्मनितिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरोयमयति स ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः"।।

अर्थ- जो जीवात्मा में रहता है, जीवात्मा जिसको पूर्ण रिति मे नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है और जो जीवात्मा को नियम में रखने वाला है वह तुम्हारा अन्तर्यामी परमात्मा है, इससे जीव ईश्वर का भेद स्पष्ट सिद्ध है, और यह भी कहा है कि अपने शरीर रूप जीवात्मा में स्थिर होने

के कारण काशक स्वाचार्य ने बद्ध की जीवक्य है स्थिति सानी है निक मायाबादियों के समान अविद्यावश जीव बन जाने से, और जा स्वामी शं० चा० ने यह माना है कि नित्य शुद्ध बुद्ध एकस्वभाव परमात्मा ही अविद्याद्भप उपाधि हारा दक जाने से जीव बन रता है. इनका खण्डन इस सूत्र के भाष्य में स्वामी रामानुज ने बड़े वल से किया है और कहा है कि जो तुम तिरोधान=परमात्मा के स्वरूप का ढक जाना मानते हो वह मकाशस्त्रक्ष परमात्मा की पकाशानिष्टांत्त ही हुआ, और मकाश ही उनका स्त्रकृप था, तो इसमकार अर्थ करने से ब्रक्ष के स्वक्प नाशका पसङ्ग आता है,सार यह निकला कि इम त्रिमूत्री में स्त्रामी शङ्कराचार्य ने अविद्या का सहारा लेकर इन तीनों सूत्रों का भाष्य किया है जो सूत्रों के आज्ञय से सर्वथा विरुद्ध है।

सं ० - यहां तक जीव और ईश्वर के भेद का वर्णन करके अब जगद के उपादान कारण प्रकृति का वर्णन करते हैं:-प्रकृतिश्रप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥२३॥

षद०-भक्ततिः । च । मातं बाह्यान्तानुपरीधात् । पदा०-(च) और (मितज्ञाहष्टान्तानुपरोधात्) मातेज्ञा तथा दृष्टान्त की बाधा न पाये जाने से (मक्कतिः) मक्कति भी जमत् का कारण है।

भाष्य-ब्रह्म से भिन्न जगत का कोई उपादान कारण मानने पर ही मतिज्ञा तथा दृष्टान्त ठीक रहसके हैं इसिछिये प्रकृति भी जगत्र का कारण है,मितिज्ञा-यह है कि "अस्थूलमनण्वइस्व-मदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायं" बृहदा० ३। ७। ५

वेदान्तार्यभाष्ये

290

"दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" मुण्ड० १।३।२

अर्थ-वह न स्यूल, न अणु, न दीर्घ, न इस्व, न लाल, न चिकना और न उसकी कोई छाया है,वह दिन्य=पकाशस्वरूप तथा अमूर्त्त है,वह सब के बाहर भीतर और अज है,इस पकार ब्रह्म में स्यूलादि गुणों का अभाव कथन करके उसको निराकार सिद्ध किया है यही निराकार की प्रतिज्ञा है और दृष्टान्त यह है कि:—

"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षर्नालिप्यते चाक्षेषेर्वाह्य-दोषेः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" कठ०४। ११

अर्थ-जिस पकार सूर्य प्रकाशक होने से सब लोकों का चक्क है पर वाह्य दोगों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, इसी प्रकार सब भूतों का अन्तरात्मा वाह्य दुःखों से दुःखी नहीं होता, क्योंकि वह निल्ठेंप है,इस प्रकार प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से परमात्मा को निरवयव सिद्ध किया गया है, यह प्रतिज्ञा और दृष्टान्त तभी ठीक रहसक्ते हैं जब ब्रझ से भिन्न उपादान कारण कोई अन्य मानाजाय जिसका परिणाम यह जगत हो, और "जन्माद्यस्ययतः" ब्र॰ सू॰ १।१।२ में ब्रह्म को निभिन्तकारण तथा प्रकृति को उपादान कारण कथन किया है, और जो स्वा०शं०चा०जी ने यह लिखा है कि पश्चमी विभक्ति उपादान में ही होती है,यह ठीक नहीं, क्योंकि "आदित्याज्ञायतेवृष्टिः" मनु० ३।७६ यहां निमित्तकारण में पश्चमी है और "तस्मात्

यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जिज्ञिरे" यज् ११। ७= उसी यज्ञ परमात्मा से सब ऋगादि वेद उत्पन्न होते हैं, यहां भी निमित्तकारण में ही पश्चमी है, इसिलये उनका यह कथन कि जिन धातु के प्रयोग में उपादान में ही पश्चमी होती है ठीक नहीं।

सं ० - नतु, यह कैसे समझाजाय कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण ही है उपादान नहीं ? उत्तर:--

अभिध्योपदेशाच ॥२४॥

पद् - अभिध्योपदेशात् । च ।

पदा०-(च) और (अभिध्योपदेशात्) इच्छापूर्वक स्रिष्ट रचना पायेजाने से ब्रह्म निमित्तकारण है।

भाष्य-उम ब्रह्म से ईक्षणपूर्वक स्रष्टिकी रचना पाई जाती है अर्थात् उसने ध्यानपूर्वक समझ सोचकर इस संसार को बनाया है, इससे सिद्ध है कि परमात्मा निमित्तकारण है उपादान नहीं।

सं ० - अव उक्त अर्थ को तीन मुत्रों से स्फुट करते हैं:--

साक्षाचोभयाम्नानात् ॥२५॥

पद् - साक्षात् । च । उभयाम्नानात् ।

पदा॰ -(चं) और (साक्षात्) साक्षात् ही (उभयाम्ना-नात्) दोनों का वर्णन होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-वेद तथा उपनिपदों में साक्षात दोनों का वर्णन पाया जाता है अर्थात ब्रह्म निमित्तकारण और प्रकृति उपादान कारण मानी गई हैं, जैसाकि पीछे "जन्माद्यधिकरण" आदि

वेदान्तार्थभाष्ये

कई अधिकरणों में स्पष्ट कर आये हैं, इसिलिये दोनों को प्रथक र कारण मानना ही ठीक है।

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६॥

पद्-आत्मकृतेः। परिणामात्।

१७३

पदा०-(आत्मकृतेः) परमात्मा के यज्ञ तथा (परिणा-मात्) जगत्रक्षप परिणाम के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

आष्य-परपात्मा के यह और प्रकृति के परिणाम से यह जगद उत्पंत्र होता है, इस प्रकार प्रकृति को परिणामी उपादानकारण और ब्रह्म को कूटस्थ नित्य होने से केवल निम्चिकारण वर्णन किया गया है।

योंनिश्च हि गीयते ॥ २७॥

पद् ०-योनिः । च । हि । गीयते ।

पदा०-(च) और (हि) निश्चय करके (योनिः) परमात्मा ही निमित्तकारण (गीयते) कथन किया गया है।

भाष्य-और युक्ति यह है कि उस ब्रह्म को भूतयोनि कहा गया है अर्थात सब भूतों का उसी को कारण कथन किया गया है,इससे भी वह केवल निमित्तकारण ही पाया जाता है,योनि शब्द के अर्थ यहां निमित्तकारण के हैं, जैसाकि निम्नलिखित विषयवाक्य से स्पष्ट है कि:—

"यत्तददेश्यमग्राह्यमगोत्रमर्वणमचक्षःश्रोत्रं तदपा-णिपादम् । नित्यं विशुं सर्वगतं सुस्धं तदव्ययं यद्भू

प्रथमाध्याये-चतुर्थःपादः

500

तयोनिं परिपरयन्ति धीराः " मुण्ड० १।१।६

अर्थ-जो यह अदृष्य=ह्पादि रहित, अग्राह्य=िन्ययव होने से पकड़ा नहीं जाता, उत्पत्ति शून्य होने से अगीत्र है, नीह्रप होने से अवर्ण है, अत्यन्त सुक्ष्म होने से रूप और छाब्द के सम चक्षु श्रोत्र का विषय नहीं, वह हस्त पादादि अत्रथ्यों से रहित नित्य एकरस है, और वहीं सर्वव्यापक अतिस्कष्म विकार रहित है, जिसकी भूतयोगि कथन किया है, इस प्रकार का ब्रह्म उपादान कारण नहीं होसक्ता, इसिछ्ये यहां श्रुतयोगि के अर्थ निमित्तकारण के हैं उपादानकारण के नहीं।

सं०-अव उक्त अर्थ का अतिदेश कथन करते हैं:— एतेन सर्वे ठ्याख्याताज्याख्याताः ॥२८॥

पद०-एतेन । सर्वे । व्याख्याताः । व्याख्याताः । पदा०-(एतेन) इससे (सर्वे) सब सिद्धान्त (व्याख्याताः) व्याख्यान किये गये हैं ।

भाष्य- "तत्तुसमन्वयात्" विश्व स् १ । १ । ४ से लेकर इस सूत्र तक सब औपनिपद सिद्धान्त कथन किये गये अर्थाद "भेदव्यपदेशाच्चान्यः" विश्व स् १ । १ । २१ इत्यादि सूत्रों में जीव ब्रह्म का भेद और "आकाशादि सब ब्रह्म के नाम हैं और जड़ आकाशादि औपनिषद लोगों के उपास्य नहीं, इत्यादि सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान

वेदान्तार्यभाष्ये

808

जानलेना चाहिये, "व्याख्याताः" पद दोवार अध्याय की समाप्ति के लिये आया है।

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्ताऽनुपरोधात्" विश्व सूर्वः १।४।२३ इस सूत्र से लेकर इन सब सूत्रों में स्वामी शङ्कराचार्यने ब्रह्मको अभिक्षनिमित्तोपादानकारण वर्णन किया है और प्रतिज्ञा यह रखी है कि:—

"एकस्मिन् विज्ञाते इदं संवे विज्ञातं भवति" अर्थ-एक के जानने से यह सब कुछ जाना जाता है,पर एक के जानने से तभी सब कुछ जाना जाता है जब ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तो-पादान कारण मानाजाय,इस तर्क से वह इस प्रकार ब्रह्म की अभिन-निमित्तोपादानकारणना का मण्डन करते हैं कि "यथा पृथिट्यां ओषधयः सम्भवन्ति " मुण्ड० १ । १ । ७= जिस पकार पृथिवी से ओपिथमां निकलती हैं और जैसे पुरुप से केशादि रोम उत्पन्न होते हैं इसी पकार ब्रह्म से यह विश्व निकला है,हम तर्क से इस मत की इस मकार निर्वलता दिखलाते हैं कि राङ्करमत में भी ब्रह्म उपाद्।न कारण नहीं होसक्ता, क्योंकि वह निरवयव है, इसीिलये स्वामी बाङ्कराचार्य्य ने उसको व्र० स्व० २ । १ । २७ में विवर्ति उपादान कारण माना है, और परिणामी उपादान कारण राङ्करमत में अविद्या वा माया है, फिर यहां ब्रह्म को उपादान कारण कैमे कहा जाता है "विवर्ति" के अर्थ यह हैं कि जो अपने स्वरूप को न त्यांगे और अन्यथा प्रतीत हो. जैसे रज्जू में मर्प. शक्ति में रजत, और "परिणाम" उसको

कहते हैं जो अपने स्त्रकृप को छोड़कर अन्य कृप पारण करले,जैसे द्ध से द्धि,पर बहा में ऐसा होना स्वामी शङ्कराचार्य को इष्ट नहीं, क्योंकि शास्त्र इसका निषेध करता है, फिर "आत्मकृतेः परिणामात "विक्षान् राष्ट्रान्द में जगद को बहा का परिणाम कैमे मानाजाता है, यदि इसका यह आशय छिया जाय कि यत परमात्ना में पाया जाना है और परिणाम किमी अन्य पदार्थ में, तो अर्थ वही हमारे आजाते हैं कि परिणाम वाली कोई भिन्न वस्तु सूत्रकार ने मानी है जिसका नाम यहां मुत्रों में होता चाहिये था, हमारे मत में वह मकृति है और उसका वर्णन व्र मु १ । ४ । २२ में है, इस प्रकार यहां शङ्करमत उक्त मूत्रों के आज्ञय मे विरुद्ध है, यद्यपि स्वामी "रामानुज" भी यहां प्रकृत्यिभकरण में इन्हीं के ढंग पर चलते हैं तथापि वह इतना भेद अवस्य करते हैं कि त्रस का शरीर = मक्तिक्प विशेषणअंश उपादान कारण और चैतन्यक्ष विशेष्य अंश निमित्त कारण है, जैसाक "अचिद्रम्तुशरीरस्य ब्रह्मणोकारणत्वात्" व्रवस्था विश्व के भाष्य में उन्होंने अनादि की व्यवस्था अचिद्रस्तु=पकृति धोर चिद्रस्तु=जीव इन दोनों को ब्रह्म का शरीर माना है. एवं शरीर शरीरीभाव से उक्त दोनों वस्तुयें मदेव ब्रह्म के माथ रहती हैं अर्थाव अचिद्वस्तु जो ब्रह्म का शरीरम्प प्रकृति है उसके परि-णाम मे यह मंसार बना है, इसमें उन्होंने मनु का यह श्लोक दिया है कि "सोऽभिध्यायशारीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः

प्रजाः" मनु॰ १। ८= उस परमात्मा ने ध्यान करके अपने शरीर से बहुत प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने का विचार किया, शारीर से यहां आशय प्रकृति का है, क्योंकि इस वात को उपनिषद्कार ने स्पष्ट कर दिया है कि "य: पृथिटयाँ तिष्ठस पृथिव्याअन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी **ञारीरम् "-बृहदा० ३। ७। १. जो पृथिवी में रहता है जिसको** पृथिवी नहीं जानती और पृथिवी जिसका शरीर है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि पृथिच्यादि परमात्मा के शरीर हैं, यद्यपि उक्त अर्थ से यहां स्वामी रामानुज का मत"द्वासुपणी स-युजा सखाया" इत्यादि चैदिक मत से विरुद्ध नहीं तथापि ब्रह्म की दोनों प्रकार का कारण कथन करने और "योाने" शब्द को उपादान का वाचक मानने से यह मत भी वेद विरुद्ध है, क्योंकि:-

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोष-धयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्" मुण्ड० १।१।७

अर्थ-जिस मकार ऊर्णनाभि=पकड़ी अपने जाल को आप ही रचती और आप ही ग्रहण कर छेती है, और जैसे एथिनी से श्रीषिध्यां होती हैं तथा जिसमकार जीते हुए पुरुष से केशादि होते हैं इसी मकार अक्षर ब्रह्म से यह संसार उत्पन्न होता है, इस खक्येषाय से योनि कान्द उपादान कारण को इसिंख्ये नहीं कहता कि यहां अक्षर ब्रह्म को निमित्तकारण माना गया है, जीर जी खक्त बाक्य से दोनों आचाय्यों ने उपादानकारण का आध्य खिया है सो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त बाक्य उपादान कारण को सिद्ध नहीं करते किन्तु यह सिद्ध करते हैं कि जिस मकार मकड़ी से जाखा और पृथिवी से औषध्यां होती हैं इसी मकार परमात्मा भी अपने में स्थिर जो मकृति है उसी से सब कुछ बनाता है और इस बात को 'स्वामी बाङ्कराचार्य''भी अन्य स्थलों में इसी मकार मानते हैं कि पारिणामको विधान करने बाली श्रुति का परिणामके मितपादन में तात्पर्य नहीं किन्तु ब्रह्मकी एकता मितपादन में तात्पर्य है, जैसाकिः—

"नचेयं परिणामश्चातिः परिणाम प्रतिपादनार्था तत्प्रतिपत्ती फलानवगमात्" व स॰ २।१।२० शं॰ भा॰

अर्थ-परिणाम को वर्णन करने वाली श्रांत परिणाम के मितपादनार्थ नहीं, क्यों कि परिणाम के वर्णन में कुछ फल नहीं, और इससे आगे यह भी लिखा है कि ब्रह्म निरवयव है इसल्ये भी उसका वर्णन नहीं होसक्ता "नेति नेति" इसादि वाक्यों से ब्रह्म में साकार का निषेध पायाजाता है इसी प्रकार हमारे मत में भी " यथोणनाभिः सृजते" यह वाक्य पर्मात्मा की स्वाधीनता मितपादन करता है परिणाम नहीं,

और " एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः " इस सूत्र में स्वामी शङ्कराचार्य ने परमाणुओं का खण्डन किया है कि सांख्यमत की प्रकृति के खण्डन किये जाने से परमाणुओं का भी खण्डन जानना चाहिये।

इससे अधिक और क्या खींच होसक्ती है जो "व्याख्याता" बाब्द को भी यहां खण्डन में लगादिया, है जिन का स्पष्ट अर्थ यह था कि इस अध्याय से पूर्वोक्त सब सिद्धान्त व्याख्यान किये गये, स्त्रामी रामानुज ने यहां इस अर्थ को यथाविस्थत रखा है अर्थात ठीक २ वही अर्थ किये हैं जो सूत्र के अक्षरों से स्पष्ट मतीत होते हैं, जैसाकि:—

एतेन पाद चतुष्टयोक्तार्थकलापेन सर्ववेदान्तेषु जगत्कारणप्रतिपादनपरः सर्वे वाक्यशेषाश्चेतनाऽ-चेतन विलक्षणसर्वज्ञसर्वशाक्ति ब्रह्मप्रतिपादन परा व्याख्याता व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरि-समाप्तिद्योतनार्थः " श्री० भा० व० स्० १। ४। २८

अर्थ—इस अध्याय के पादचतुष्ट्य में जो युक्तियों का समूह कथन किया गया है उससे स्पष्ट है कि शेष वाक्य भी जड़ चेतन से विलक्षण सर्वज्ञ, सर्विक्तमान ब्रह्म के मितपादक हैं, यद्यपि कई एक स्थलों में "स्वामी रामानुज"भी परमाणुवाद का खण्डन करते हैं तथापि यहां उनका न्याय अत्यन्त श्लाघनीय है कि उन्होंने अर्थाभास नहीं किया, और जो एक विज्ञान से

प्रथमाध्याये-चतुर्थः पादः

१७९

सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा छान्दोग्यादि उपनिषदों में पाई जाती है वह ब्रह्म की अभिकानिमिचोपादानकारणता को सिद्ध नहीं करती, इसका विस्तारपूर्वक निकपण आरम्भणाधिकरण में किया जायगा॥

इति श्रीमदार्यमुनिनोपानिबद्धे वेदान्तार्य-भाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः

ओश्य अथ दितीयाध्यायः प्रारम्यते

सै०-मर्थमध्याय में सिचिदानन्दादि छक्षणयुक्त ब्रह्म को जगद का मिर्मिक्तकारण तथा मकृति को उपादानकारण कथन किया, अब इस अध्याय में सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का निराकार ब्रह्म भी भिरोध कथन करते हुए प्रथम स्पृतिवाक्यों का विरोध परिहार करने के छिये प्रथम पाद का प्रारम्भ करते हैं:—

स्पृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्यृ-त्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

पदः - स्युत्यनवकाशदोषमसङ्गः । इति । चेत् । न । अन्य-स्युत्यनवकाशदोषमसङ्गात् ।

पदा०—(स्मृत्यनवकाशदोषपसङ्गः) जगत्कारणवाद में स्मृत्यनवकाश दोष का प्रसङ्ग आता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अन्यस्मृत्यनवकाश-दोषपसङ्गात) एक स्मृति के मानने पर दूसरी स्मृति का अनवकाशक्य दोष ज्यों का त्यों बना रहता है।

भाष्य-एक स्पृति के मानने पर उसी प्रकरण में दूसरी स्याति के अर्थ की असङ्गति का नाम "स्मृत्यनवकाशदोष" तथा उसकी आपत्ति को "स्मृत्यनवकाशदोष प्रसङ्ग"कहते हैं,

द्वितीयाध्याये-प्रमथः पादः

363

जगरकारणवाद में "स्पृत्यनवकाशदोष" की आपित इसिख्ये ठीक नहीं कि जो वादी एक स्पृति को मानकर दोष देता है उसके मत में भी वह दोष वैसा ही बना रहता है अर्थाद एक स्पृति में ब्रह्म को उपादानकारण और दूसरी में निमित्तकारण वर्णन किया है, जैसाकि:—

सोऽभिध्यायशरीरात्स्वात्सिसृश्चर्विविधाः प्रजाः । अप एव स सर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ मनु॰ ८। १८

अर्थ-परमात्मा ने विचारशक्तिं द्वारा अपने शरीर से जळादि -कों को उत्पन्न किया, यहां ब्रह्म को उपादानकारण माना है, और गी० ८। १८ में वर्णन किया है कि:—

"अव्यक्ताद्वयक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे"

अर्थ-ब्राह्मदिन के आरम्भ में अन्यक्त=मकृति से सब न्यक्तियें अत्पन्न होती हैं, यहां प्रकृति को कार्यवर्ग का उपादान कारण वर्णन किया है, और इसके आगे गी० ८। २० में उपादान कारण से पृथक् परमपुरुष परमात्मा को निमित्तकारण माना है, जैसाकि:—

"परस्तरमात्तुभावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः"

अर्थ-उस अन्यक्तरूप प्रकृति से सूक्ष्म प्रमात्मा परे है, इस मकार एक ही विषय में स्मृतियों का प्रस्पर विरोध पाया-जाता है, या यों कहो कि जो स्मृति ब्रह्म को उपादान कारण कहती है उसमें निमित्तकारण कथन करने वासी स्मृति को अनकाश्च नहीं, और जो निमित्तकारण को कहती है उसमें उपादान कारण कथन करने वाली स्पृति को अवकाश नहीं, इसका उत्तर यह है कि स्पृतिका अनवकाशक्य दोष उभयपक्षमें समानहे अर्थाद स्पृति-यों में विरोध होने पर वेदानुकूल स्पृति माननीय और वेद विरुद्ध त्याज्य है, इसी अभिषाय से सूत्रकार ने अन्यस्पृत्यनवकाशक्य दोषका प्रसन्न कहा है, इस सूत्र के भाष्य में "स्वामी शक्कराचार्य्वजी" ने भी इस अंश में यही आशय लिया है कि वेदानुकूल स्पृति माननीय है वेदविरुद्ध नहीं, जैसाकि:—

"वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं खेरिवरूपविषये पुरुषवचसान्तु मूलान्तरापेक्षम्" शं० भा० व० स० २।१।१

अर्थ-वेद ही अपने अर्थ मकाश करने में स्वतः प्रमाण है अन्य जितनी मनुष्यरचित वाणी हैं वह वेदमूलक होने से ही प्रमाण मानी जासकी है अन्यथा नहीं, इस कथन से स्वामी कां० चा० ने यह स्पष्ट मानलिया कि स्मृतियों के विरोध होने से सिद्धान्त की हानि नहीं होती, मिद्धान्त की हानि वेद विरोध होने से होती है, और जो उक्त स्वामीजी ने इस सूत्र में किपल मत का खण्डन किया है वह सूत्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि किपल मत के विषय में सूत्रकार ने सूचना तक नहीं की किन्तु "ऋषिं प्रसूतं किपलें यस्तमग्रे ज्ञानेविमित्ति" कोता ५ । २ इस वाक्य की व्यवस्था करते हुए उक्त स्वामीजी लिखते हैं कि इसमें कापल ऋषि का महत्व कथन किया गया है, इसमें भी श्रुति से विरुद्ध जो किपल का मत बह

श्रद्धा युक्त नहीं होसक्ता, क्यों कि इसमें इस बात का निर्णय नहीं किया गया कि वह कौनसा किपछ था ? जिसने सांख्य शास्त्र को छिखा है उस किपछ का उक्त उपनिषद् में वर्णन नहीं किन्तु उस किपछ का वर्णन है जिसने सगर के पुत्रों को शाप दिया था इससे सांख्यशास्त्र कर्चा किपछ का कोई महत्व न होने से उसका मन माननीय नहीं, और युक्ति यह है कि सांख्यशास्त्र कर्चा किपछ भेदवादी है अर्थाद जीव ईक्वर को भिन्न २ मानता है, इसिछिये भी उसका मत माननीय नहीं, इत्यादि सांख्यशास्त्र का खण्डन स्वामी शं० चा० जी ने अपने मायावाद के सिद्धान्त की पुष्टि के छिये किया है सूत्र में इसका आश्रय अश्रमात्र भी नहीं।

सं ० - अब उक्त अर्थ में हेत्वन्तर कथन करते हैं: -

इतरेषांचानुपलब्धेः ॥ २॥

पद०-इतरेषां। च। अनुपलब्धेः।

पदा०-(च) और (इतरेषां) अन्य तकों के (अनुपछन्धेः) न पायेजाने से ब्रह्म उपादानकारण नहीं।

भाष्य-तर्कों के न पाये जाने से ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं अर्थाद ब्रह्म के अभिन्निनिमित्तोपादानकारण मानने में और कोई तर्क न पाये जाने से सिद्ध है कि ब्रह्म जगद का निमित्त कारण है, क्योंकि विना चेतन नियन्ता से जगद रचना कदापि नहीं होसक्ती।

१८४ वेदान्तार्यभाष्ये

एतेनयोगः प्रत्युक्तः ॥ ३॥

पद्-एतेन । योगः । प्रत्युक्ताः ।

पदा०-(एतेन) ब्रह्मकारणवाद के खण्डन किये जाने से (योगः) सत्त्वों की स्वतन्त्र मिलावट द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति कामी (मत्युक्तः) खण्डन जानलेना चाहिये॥

भाष्य-ब्रह्म के अभिन्नानिमित्तोपादानकारण का खण्डन किये जाने से परस्पर तत्त्रों की मिलावट द्वारा छिष्ठ की उत्पत्ति मानी है इससे उसका भी खण्डन जान लेना चाहिये, स्वामी शं० चा० ने इस सूत्र का खण्डन करते हुए यह लिखा है कि यद्यपि परमान्नमा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन निषय में योग भी सम्यग्दर्शन से विरुद्ध नहीं तथापि द्वैतवादी होने के कारण योग भी वेदविरुद्ध होने से सांख्य के समान खण्डनीय है ॥

यहां शङ्करमत के परम श्रद्धालुओं की ओर से यह समाधान किया जाता है कि उक्त सूत्रों में स्वामीजी ने सांख्यस्मृति और योगस्मृति का खण्डन किया है सांख्य तथा योग शास्त्र का नहीं, यह समाधान आभासमात्र है, क्योंकि उपादानकारण मकृति और द्वेतवाद का खण्डन स्वामी शं० चा० जी ने उक्त सूत्रों में किया है जो सांख्य और योग दर्शन में स्पष्ट है।

और बात यह है कि सांख्यशास्त्र का खण्डन तो स्वामी स्पष्ट करते हैं रहा योगदर्शन सो उक्त सूत्र में कहीं योगस्मृति का नाम नहीं पत्युत सांख्य शास्त्र के सहचार से उनके अर्थी

द्वितीबाध्याषे-मथबः पादः

364

में योगवास्त्र ही स्त्रिया जासक्ता है, इसस्त्रिये सांख्यदर्शन और योगद्धन का खण्डन शङ्करभाष्य में स्पष्ट है।।

सं०-अब ब्रह्म को उपादानकारण मानने वाले वादी के मत में कार्यकारणमाव की अनुपर्णत्त कथन करते हैं:—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्॥शा

पद् ० – न । विस्नक्षणत्वाद । अस्य । तथात्वं । च । शब्दाद । पदा ० – (विस्नक्षणत्वाद) विस्नक्षण होने स (अस्य) इस जगद का उपादानकारण ब्रह्म (न) नहीं होसक्ता (च) और (शब्दाद) शब्द पमाण से भी (तथात्वं) ऐसा ही पाया जाता है ॥

भाष्य-विलक्षण होने से जगद और ब्रह्म का कार्यकारण भाष नहीं अर्थाद जगद और ब्रह्म में विलक्षणता पाये जाने से ब्रह्म जगद का उपादानकारण नहीं होसक्ता, क्योंिक कार्यकारणभाव सालक्षण्य में ही होता है वैलक्षण्य में नहीं, जैसािक मिट्टी से घट,तन्तुओं से कपड़ा,इसािद कार्य्य समानधम्म वाले द्रव्य से ही उत्पन्न होते हैं, और जड़ चेतन की विलक्षणता शब्द प्रमाण से भी पाई जाती है जो श्वेताश्व०१।१० में वर्णन की गई है कि "क्षर प्रधानममृताक्षर हुरः"=प्रकृति विकारणी और ब्रह्म निस शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है, इससे सिद्ध है कि जड़चेतन का वैलक्षण्य होने से ब्रह्म जगद का उपादानकारण नहीं ॥

सं०-ननु, "ता आप ऐसन्त " छा० ६ । २ । ४=जडाँ ने इच्छा की, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि कार्यकारण का वैक्रसण्य नहीं ? उत्तरः—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषातु-गतिभ्याम् ॥ ५ ॥

१८६

वेदान्तार्यभाष्ये

पद्-अभिमानिच्यपदेशः । तु । विशेषानुगतिभ्यां ।

पदा॰-(विशेषानुगतिभ्यां) विशेष तथा अनुगति से (अभियानिच्यपदेशः) चेतन कारण का व्यपदेश पाया जाता है॥

भाष्य-सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्षकी निर्दात्त के लिये आया है,
"सेयंदेवतेक्षत, हन्ताहिमिमास्तिस्रो देवता अनेन
जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति "
छा०६। ३। २=त्रह्म ने सङ्कल्प किया कि मैं अपने जीवरूप कार्या हारा तेजादि तीन देवताओं में मवेश करके नामरूप कार्या विस्तार करूं, इस वाक्य में जो ब्रह्म का ईक्षण कथन किया है उस का नाम "विशेष " और जीवरूप आत्मा द्वारा मवेशका वाम "अनुगति " है, इस विशेष और अनुगति से स्पष्ट है कि चेतन ब्रह्म में ही ईक्षण है जलादिकों में नहीं, क्योंकि आध्मानिन्यपदेश=अहङ्कारपूर्वक ईक्षण चेतन में ही होसक्ता है जह में नहीं॥

सं ० - अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं :--

हर्यते तु॥ ६॥

पद०-दृश्यते। तु।

पदा०-(तु) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (हक्यते)

बस तथा प्रकृति का भिन्न २ कारण होना श्रुति से

पाया जाता है।।

भाष्य-"मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महे इवरस् " वेःा०४। १०=माया=प्रकृतिं **डपादानकारण और** उसका नियन्ता परमात्मा निमित्तकारण है, "प्रधानक्षेत्रज्ञ-पातिग्रेणेद्याः " नेता० ६। १६=ईश्वर प्रधान तथा जीवात्मा का स्वामी है, इत्यादि वाक्यों में प्रकृति तथा परमात्मा का पृथक २ वर्णन पाये जाने से स्पष्ट है कि प्रकृति ही जगत का उपादानकारण है परमात्मा नहीं, इसी अभिप्राय से बृहदा० ३। ७। १ में वर्णन किया है कि " यः पृथिव्यां तिष्ठन पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी इारीरम "=जो पृथिवी में स्थिर होकर पृथिवी का नियन्ता है, जिसको पृथिवी नहीं जानती और जिसका पृथिवी शरीर है वह बदा है, यहां पृथिवी आदि जड्पदार्थों का ब्रह्म को नियन्ता कथन किया है और जो नियन्ता होता है वह उपादानकारण से भिन्न होता है, इसिछये ब्रह्म को उपादानकारण मानना समीचीन नहीं, और जो यह कथन किया है कि ब्रह्म ने ही जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नामक्ष्प का विस्तार किया, इसका यह आश्रय कदापि नहीं कि ब्रह्म ही जीव वनगया अथवा वही कार्यमात्र का उपादानकारण है किन्तु ईक्षण पाये से स्पष्ट है कि ब्रह्म जगद का निमित्तकारण है, क्योंकि इच्छापूर्वक स्रष्टि का रचना उपादान कारण द्वारा नहीं बनसक्ता, इसिलये ब्रह्म को उपादानकारण मानना ठीक नहीं, इसका विशेष विचार" उपनिषद्ार्थभाष्य" में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

वेदान्तर्यभाष्ये

और जो स्वामी शक्कराचार्यजी ने इस खूत्र को इस पकार छापन किया है कि जैसे चेतन शरीर से जड़ केश नखादि उत्पन्न होते हैं और अचेतन गोवर से चेतन विच्छु आदि होजाते हैं इसी प्रकार विंछक्षणों में भी कार्यकारणभाव बन जाता है, यह कथन उक्त स्वामीजी के सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि उनके सिद्धान्त में शरीर चेतन नहीं और नाही अचेतन गोवर आदि से चेतन विच्छु आदिकों की उत्पत्ति होती है किन्तु विच्छु के जड़ शरीर की उत्पत्ति होती है, विच्छु का जीवात्मा जीवक्ष्य से वा ब्रह्मक्प से उनके मत में भी अनादि है, फिर विछक्षणों का कार्यकारणभाव कैसे ? हमोर मत में विछक्षणों के कार्यकारण का दोष इसिछये नहीं आता कि उक्त नियम उपाद्धानकारण में ही घटता है निमित्तकारण में नहीं ॥

सं ० - अब पसङ्ग सङ्गति से असत्कारणवाद का आहेपधूर्वक समाधान करते हैं:--

असदितिचेन्नप्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७॥

पद् ० - असत् । इति । चेत् । न । मतिषेधमात्रलात् ।

पदा०-(असत्) सृष्टि के पूर्व असत् ही था (चेत्) यहि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (प्रतिषेध-यात्रत्वात्) असत् शब्द से केवल कार्यावस्था का प्रतिषेध कियागया है ॥

भाष्य-" असदेवसोम्येदमग्र असीत्" छां॰ ६। २। १= सृष्टि के पूर्व असद ही था, इत्यादि वाक्यों में असद कथन से यदि मकृतिका निषेध किया जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि

असद कथन से केवल कार्यावस्था का मतिषेध किया है कारणा वस्था का नहीं, इसलिये प्रकृत में "असद " पद से प्रकृति का अहण करना ही ठीक है।

तं १ - अव केवल जड़कारणवादी आश्रञ्जा करता है: — अपीतौ तद्दत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८॥

पदः-अपीतौ । तद्वत् । प्रसङ्गात् । असमञ्जसम् ।

पदा०-(अपीतौ) प्रख्यकाल में (तद्वत्यसङ्गात्) अशु-च्यादि दोषों का प्रसङ्ग होने से (असमअसम्) ब्रह्म को कारण मानना ठीक नहीं।

भाष्य-प्रकृति को उपादानकारण मानकर उसके अधिष्ठान
भूत ब्रह्म को निभित्तकारण मानने वाले के मत में जब यह
जगत लय होकर ब्रह्म में भिल्लजाता है तब वह अपने धर्मों से
ब्रह्म को दृषित करेगा अर्थात मलयकाल में ब्रह्म भी जगत के
अशुध्यादि धर्मों वाला होजायगा, इसलिये केवल भक्ति को
ही कारण मानना ठीक है ब्रह्म को नहीं।

सं ० - अव उक्त आवांका का समाधान करते हैं:-

नतु दृष्टान्तभावात्॥९॥

पद्०-न । तु । दृष्टान्तभावात् ।

पदा०-(दृष्टान्तभावादी) दृष्टान्त बनसकने से (न) उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यति के लिये आया है,

केवल मकृतिकारणवादी का यह कथन इसिलये ठीक नहीं कि लयावस्था में कार्य्य के अगुध्यादि धर्मों से ब्रह्म कदापि मिलन नहीं होता, इमेंम दृष्टान्त यह है कि जब किसी अशुध्यादि धर्म बाले पदार्थ के अवयव छिन्न भिन्न होजाते हैं फिर उसमें उक्त दोष नहीं रहता, जैसाकि जलादेने से उत्कर = कूड़ा कचारा आदि पदार्थों में देखाजाता है, इसिलये द्वैतवादियों के मत में यह दोष नहीं आता कि जब जगन पलयकाल में अपने कारण में लय होगा तब उस समय स्वकारण को दृषित करेगा, हां यह दोष तो मायावादियों के मत में आता है जो मलयकाल में जगत को ब्रह्म प्रमानते हैं और माया को सर्वदा आग्न की उष्णता के समान ब्रह्म की शाक्ति मानते हैं, इस मकार वैदिकासिद्धान्त को न समझकर जड़कारणवादी का उक्त आक्षेप केवल साहसमात्र है।

सं०-अव मायावाद में दोप कथन करते हैं:--

स्वपक्षदोषाच ॥१०॥

पद०-स्वपक्षदोषात । च ।

पदा०-(च) और (स्वपक्षदोषात्) स्वपक्ष में दोष पायेजाने से केवल ब्रह्मकारणवाद भी ठीक नहीं।

भाष्य—स्वपक्ष=मायावादियों के पक्ष में दोष पायेजाने से केवल ब्रह्म को ही कारण मानना ठीक नहीं, क्योंिक ऐसा मानने से ब्रह्म में अधुध्यादि दोषों की आपित्त होगी अर्थाद केवल ब्रह्म को ही कारण मानाजाय तो अनेक दुःखों का आकर यह जगद ब्रह्म में लय होता हुआ उसको भी दृषित करेगा, इसलिये केवल ब्रह्म को ही कारण मानना ठीक नहीं।

और जो मायावादी जगद को ब्रह्म का विवर्त्त मानकर उक्त दोष का परिहार करते हैं वह इमिलिये ठीक नहीं कि अनेक स्थलों में स्वा॰ बं॰ चा॰ जी ने जगद को ब्रह्म का परिणाम माना है, जेमािक बं॰ मा॰ व॰ मू॰ २।१।२६ में वर्णन ﴿ ﴾ किया है कि "तस्मादेकस्यापिब्रह्मणोविचित्रशक्ति-योगात् श्लीरादिवद्विचित्रः परिणाम उपपद्यते "= एक ही ब्रह्म का विचित्र मायावाक्ति के योगद्वारा दृध से दिष के समान यह जगदरूप विचित्र परिणाम होजाता है, इस कथन से प्रलयकाल में ब्रह्म के दृषित होने का दोष मायावादियों के मत में ही लगता है द्वैतवादियों के नहीं, इसिलिये केवल ब्रह्म ही जगद का कारण नहीं होसक्ता।

सं ० – अत्र तर्क की अप्रतिष्ठा कथन करते हुए पूर्वपसद्वारा पुनः मायात्राद का खण्डन करते हैं:—

तर्काप्रतिष्ठानाद्प्यन्यथातुमेयमितिचेदेव मप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥ ११॥

पद०-तर्काप्रतिष्टानात् । अपि । अन्यथा । अनुमेयं । इति । चेत् । एवं । अपि । अविमोक्षप्रसङ्गः ।

पदा॰ – (तर्कामितिष्ठानात्) तर्क की अमितष्ठा होने के कारण (अन्यथा, अपि) अन्य मकार से भी (अनुमेयं) माया-वाद का अनुमान होमक्ता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहों तो (अपि) भी ठीक नहीं, क्यों कि (एवं) ऐसा मानने से (आविमोक्षप्रमङ्गः) उक्त दोप ज्यों के त्यों वने रहते हैं।

भाज्य न तर्क की अमित्रष्ठा होने से यदि वह अनुमान किया जाय कि मकड़ी आदि की मांति छहा अभिजानियिची-पादान कारण है तोभी टीक नहीं, क्यों कि इस मकार से भी मायावादी के मत में उक्त दोष ज्यों के त्यों वने रहते हैं, तर्क की अमित्रष्ठा मानकर दोष दूर नहोंने का मकार यह है कि ऐसा कोई नहीं कह सक्ता कि कोई तर्क मितिष्ठित नहीं, क्योंकि तर्क को जो अमितिष्ठित कहाजाता है यह भी तर्क ही से कहाजाता है अर्थात भूत तथा वर्जमान काछ में जो कुछ देखाजाता है जिस यदि सब तर्क अमित्र हों तो छोकिक ज्यवहार ही न चछे, और जब श्रीत के अर्थ में विवाद होता है तक्मी अर्थामास का खण्डन तर्क ही से किया जाता है, इससे सिद्ध है कि वेद विरोधी तर्क त्याज्य है वेदानुकूछ नहीं, इसी अभिमाय से मनुजी का कथन है कि:—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सिता। आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः॥ मनु०१२।१०६।१०६

अर्थ-मत्यक्ष, अनुमान और शब्द, यह तीनों प्रमाण धर्म निर्णय करने वाले को मानने चाहियें, ऋषियों के सिद्धान्त और धर्मोपदेश इनको वेदशास्त्र अविरोधी तर्क से जो निर्णय करता है वही धर्म को जानता है अन्य नहीं। इस मकार तर्कमात्र की अमितिष्ठा नहीं किन्तु देदविरोधी
तर्क की अमितिष्ठा है तो फिर ब्रह्म को परिणामी कारण मानने
के निषेध में जो तर्क "स्वपक्षदोषाञ्च" खन्न में दिने गने हैं
वह अमितिष्ठित कैसे होसक्ते हैं, क्योंकि वह तर्क "द्वाञ्चपणीस्त युजासन्वाया" ऋग्०२।३।२० इत्यादि वेद बन्नों के
अनुकूछ है, इस मन्त्र में तीन पदार्थों को अनादि वर्णन किया
गया है और जीव को भोक्ता तथा ईक्वर को अभोक्ता माना है,
जैसाकि पीछ वर्णन कर आये हैं, इससे सिद्ध है कि परिणामी
कारणत्व मकृति में है अभोक्ता ईक्वर में नहीं, इस मकार तर्क
को अमितिष्ठित मानने से भी मायावादी का पीछा नहीं छूट सक्ता।

सं ० - अब उक्त अर्थ का अतिदेश कथन करते हैं:--

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः॥१२॥

पद् ०-एतेन । शिष्टापरिग्रहाः । अपि । व्याख्याताः ।

पदा०-(एतेन) इस कथन से (शिष्टापरिग्रहाः) जिनका शिष्ट लीगों ने ग्रहण नहीं किया उनका (अपि) भी (ज्याख्याताः) ज्याख्यान जानना चाहिये।

भाष्य-शिष्ट=आप्त पुरुषों ने जिन मतों का आद्र नहीं
किया उक्त कथन से उनका भी खण्डन जानना चाहिये अर्थाद
एक ही प्रकृति से जीव और उसी की शाक्ति से यह संसार
रचना होती है, जैसाकिं विरोचन मतानुयायी नास्तिक
मानते हैं, और कोई मतवादी ऐसा मानते हैं कि प्रकृति
और जीव ही हैं ईक्वर कोई नहीं, इत्यादि मतं जिनको

शिष्ट लोगों ने ग्रहण नहीं किया उक्त कथन से उनका भी खण्डन जानना चाहिये, इस सूत्र को "स्त्रामी शङ्कराचार्यय" और "रामानुज" ने परमाणुओं के खण्डन में लगाया है, पर यह अर्थ सूत्रकार के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि सूत्र में गन्धमात्र भी परमाणुओं के खण्डन का आशय नहीं पायाजाता।

सं० नन्तु, जीव को भोक्ता माना गया है और भोका तथा भोग्य एक देखे जाते हैं जैसे पार्थिव शारीर भोका और पार्थिव शाकादि भोग्य हैं, एवं एक ही पदार्थ में भोग्य और भोक्तृत्व बनसक्ता है फिर जीव को प्रकृति से भिन्न मानना ठोक नहीं ? उत्तरः—

भोक्त्रापत्तरविभागइचेत्स्याह्वोकवत्। १३।

पदः - भोक्त्रापत्तेः। अविभागः। चेत । स्यात । लोकवत।

पदा०-(भोक्त्रापत्तेः) उक्त प्रकार भोक्ता और भोग्य के एक होने से (चेत्) यदि (अविभागः) प्रकृति और जीव का अविभाग मानाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि यह बात (लोक-बत्) लोक दृष्ट की भांति (स्यात्) होसक्ती है।

भाष्य-लोक में यह नियम देखा जाता है कि भोग्य जड़ पदार्थ होते हैं और भोक्ता चेतन, चेतन से बिना कभी भोक्ता नहीं होता, और जो बारीरादिकों में भोक्तृत्व प्रतीत होता है वह केवल अविवेक से भान होता है, क्योंकि बारीरादि भोक्ता होने के साधन हैं जड़ होने से स्वयं भोक्ता नहीं, इस प्रकार इस "भोक्त्रापत्यधिकरण" में यह सिद्ध किया गया है कि जीव मक्ठित का अंश नहीं किन्तु प्रकृति से भिन्न स्वयंसिद्ध परिच्छिन्न चेनन पदार्थ है, स्वामी शं० चा० के मत में यह सूत्र इस प्रकार लगाया गया है कि अभिन्निनिमत्तोपादानकारण वादियों के मत में भोक्ता और भोग्य दोनों एक होनाते हैं अर्थाद जो जीव है वह भी ब्रह्म और जिन पदार्थों का भोग करता है वह भी ब्रह्म और जिन पदार्थों का भोग करता है वह भी ब्रह्म हैं,इस प्रकार भोक्ता और भोग्य एक होने का दोष लगेगा? इसका उत्तर अद्देतवादी स्वामी ने यह दिया है कि यद्याप हमारे मत में भोक्ता भी ब्रह्म ही है क्योंकि ब्रह्म ही जीवक्ष होकर सब शरीरों में प्रविष्ठ हुआ है तथापि उपाधि के वश से घटाका-शादिकों के समान भोक्ता और भोग्य का विभाग बनसक्ता है।

और "स्वामी रामानुज" के मत में उक्त सूत्र का आश्रय यह है कि जब स्थूलसूक्ष्मशारीरिविशिष्ट ब्रह्म अद्भेत है तो ब्रह्म ही सुख दुःख का भोक्ता हुआ ! इसका उत्तर यह है कि जिस मकार बड़ा महाराजा घोर युद्धादि सङ्कट में विद्यमान होने पर भी अपने सर्वज्ञ और सर्वशिक्तमत्व के कारण दुःखी नहीं होता इसी मकार ब्रह्म के शारीर ऋप जीवादिकों में दुःख होने से वह दुःखी नहीं होता।

उक्त दोनों आचाय्यों के भाष्य इसिलये सङ्गत नहीं कि विशिष्टाद्वेत और अद्वेतवाद में भोक्ता और भोग्य के एक होजाने क्य दोष का कोई परिहार नहीं।

सं०-अब कार्यकारण का अभेद सिद्ध करने के छिये आरम्भणाधिकरण का आरम्भ करते हैं:—

तदनन्यत्वमारकमणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

पदः ० –तदनन्यत्वं । आरम्अणवाब्दादि ४यः ।

पदा०-(आरम्भणशब्दादिभ्यः) आरम्भण आहि शब्दों के पायेजाने से (सदनन्यत्वं) कार्न्यकारण का अभेद है।

बाज्य-कारण से कार्य का अमेद है, क्योंकि आरम्भण बाष्द्रादिकों से ऐसा ही पाया जाता है, जैसाकि:-यथा सोम्येकेनमृतपिण्डेन सर्वमृत्मयं विज्ञातंस्या-द्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ मक्तिका विस्वार्य

छा० ६।१।३।

अर्थ-जब उदासक ऋषि का पुत्र नेतकेतु पढ्कर आया तो जदालक ने पूछा कि तुमने ऐसी विद्या भी सीखी जिससे विना देखी वस्तु देखी जाय और विना सुनी सुनीजाय तब भ्वत-केतु ने उत्तर दिया कि मैंने ऐसी विद्या नहीं सीस्ती, फिर बहाछक ने उसको कार्य्यकारण की एकता बतछाकर यह दर्शाया कि इस प्रकृति के जितने विकार हैं वह उससे भिन्न नहीं, हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड से सब मिट्टी के विकार जाने जाते हैं, क्योंकि विकार केवल वाणी का आरम्भमात्र हैं षिट्टी ही वास्तव में सत्य है, मिट्टी से आदाय यहां उपादानकारण का है इसी अभिनाय से छां० ६।४।१ में वर्णन किया हैकि:—

> " अपागादमेरमित्वं वाचारम्भणं विका-रोनामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम् "

अर्थ-अग्नि का अग्निपन दूर होजाता है, क्यों कि वाणी का आरम्भमात्र ही अग्निक्प विकार है अर्थात कार्यक्ष अग्नि अपने उपादानकारण से भिन्न कोई वस्तु नहीं, वास्तव में तीनों क्ष्य सत्य हैं, या यों कहो कि पृथिवी, अप, तेज यह तीनों सूक्ष्मभूत कारणक्ष्प से सस्य हैं, उक्त तीनों भूतों को सुक्य होने के अभिपाय से गिना है वास्तव में वायु, आकाश मिळाकर पांच भूत हैं, इस मकार मक्रतिक्ष उपादानकारण से कार्यमात्र भिन्न नहीं, श्वेतकेतु को इसके बोधन करने का फळ यह है कि वह इस निख्ल संसार को मक्रति का कार्य समझळे, आगे जाकर जीवात्मा को इस कार्यक्ष संसारवर्ग से भिन्न बोधन किया है, जैसािक:—

जीवापेतं वाव किलेदं भ्रियते न जीवोभ्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्व तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमिस क्वेतकेतो" छा० ६। ८। ७

अर्थ-जीव से रंहित होकर ही यह शरीर मरता है जीव नहीं
मरता, जो यह अणिमा सूक्ष्मक्ष्य है उसी जीवात्मा के यह सब झानादि
भाव हैं और वह चेतनस्वक्ष्य सत्य है, हे श्वेतकेतो ! वही जीवात्मा
है, इस मकार यहां जीवात्मा का अस्तित्व और अविनाशित्व
श्वेतकेतु को उदालक ने वतलाया है, यहां " ऐतदात्म्यमिदंसर्व तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमासि " छां । ६। ८। ७।
" इदंर्सवयदयमात्मा " बृ॰ २। ४। ६ " ब्रह्मेवेदंसर्व "
मुण्ड० २। २। ११ " आत्मेवेदंसर्व " छां ० ९। २५। २
"नेहनानास्तिकिञ्चन् " बृ॰४ । ४। २५ इसादि मतीके

वेदान्तार्यभाष्ये

996

लिखकर स्वामी शङ्कराचार्यजी ने जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध की है, उक्त मतीकों के अर्थ "अवस्थित रितिका शकृतस्नः" इव सू० १।४।२२ में कर आये हैं, यहां पुनः लिखने की आपश्यक्ता नहीं, इस अधिकरण में "तत्त्वमसि " से "स्वामी शक्कराचार्य " जीव ब्रह्म की एकता इसमकार सिद्ध करते हैं कि जैसे मिट्टी के सब विकार मिट्टी से भिन्न नहीं, और जैसे घट मठादि आकाश महाकाश से भिन्न नहीं, एवं यह सब विकारकप संसार ब्रह्म से भिन्न नहीं, यहां उक्त दृष्टान्तों का बल इसिंखिये काम नहीं आता कि सब कुछ ब्रह्म के विकार मानने पर ब्रह्म निर्विकार नहीं रहसक्ता और उक्त निर्विकार सिद्धिं के लिये स्वामी बां॰ चा॰ने इस अधिकरण में उभयलिङ ब्रह्मवादी का इस मकार खण्डन किया है कि " सृत्तिकेत्येव सत्यस् "= मिही ही सत्य है, इस मकृति मात्र के सत्यत्व निश्चय करने से पाया जाता है कि वाचारम्भण शब्द से विकारमात्र को मिथ्या कथन किया गया है, इस प्रकार स्वामी के कथन में विरोध आता है कि कहीं तो वाचारम्भण न्याय से कार्य्य कार्ण की एकता द्वारा इस सम्पूर्ण संसार को ब्रह्म बतलाते हैं और कहीं मिध्या मानकर एक निर्विकार ब्रह्म को ही सस कथन करते हैं, अस्तु एवं अनेक विरोध हैं पर यहां विचारणीय यह है कि "तत्त्वमासि" से जो जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध की जाती है वह कहां तक ठीक है, उपनिषद् का आशय यहां जीव ब्रह्म की एकता का नहीं, जैसाकि हम " जीवापेतं किलेदं मि-यते "इस वाक्य में दिखला आये हैं कि यहां जीव को

शरीर से भिन्न बोधन करने का अभिप्राय है एंक बोधन करने का तात्पर्य्य नहीं॥

शङ्करमत के अनुयायी यहां " भागत्यागलक्षणा " मानकर जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं, भागत्यागळक्षणा इस प्रकार है कि " तत् " पद वाच्य ईश्वर और "त्वं" पद वाच्य जीव है ईश्वर के सर्वज्ञतादि भाग को छोड़ देना और जीव के अल्पज्ञतादि भाग को छोड़कर चेतनमात्र से एकता सिद्ध करने का नाम " भागत्यागलक्षणा " है जैसाकि "सोऽयंदेवदत्तः"= यह वही देवदत्त है, इसादि स्थलों में तत्तदेश कालादि उपाधि को सागकर देवदत्तमात्र में छक्षणा होती है परन्त वेदान्तपार-भाषाकार ने यहां इस प्रकार उक्त लक्षणा नहीं मानी उनका कथन है कि शक्तिष्टित से उपस्थित जो जीव ईश्वर के विशेष-णांश हैं उनके अभेदान्वय के असम्भव होने पर भी शक्तिष्टीत से उपस्थित जो जीव ईश्वर का विशेष्यांश है उसके अभेदान्वय होने में कोई विरोधन होने के कारण लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं, जैसाकि " घटोऽनित्यः "=घटा अनित्य है, इस कथन से घट व्यक्ति के साथ अनित्यल का अन्वय होजाता है घटल के साथ नहीं, एवं विशेषण भाग के साथ अन्वय की अनुपपत्ति होने पर भी विशेष्य के साथ अभिधाद्यति से अन्वय होसक्ता है फिर लक्षणा की क्या आवश्यकता, इस प्रकार नवीन ग्रन्थकारों ने "तत्त्वमसि" को बहुत गहरा कर दिया है, जिसके छिखने से ग्रन्थ बढ़जाने के कारण प्रकरण ग्रन्थ का रस रहेगा इस अभिपाय से इम यहां छक्षणा का विचार न करते

वेदान्तार्थभाष्ये

200

हुए केवल यह दिखलाते हैं कि "तत्त्वमसि " से मायावादियों का अद्वेतवाद कदापि सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वेदान्त के प्रायः सब आचार्य इससे विरुद्ध हैं॥

" स्वामी रामानुज " के मत में "त्वं" पद वाच्य जो मक्कति और जींब उनके साथ " तव " पद बाच्य ईश्वर का इंसिछिये ऐक्य कहा गया है कि प्रकृति तथा जीव उस ब्रह्म के वारीरभूत हैं, या यों कहो कि बारीर बारीरीभाव द्वारा दोनों विशिष्ट रूप से एक हैं और एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा इसप्रकार ठीक होसक्ती है कि सूक्ष्म प्रकृति तथा जीव वारीरवाला जो ब्रह्म है उससे यह स्यूछ जगत रूपी बारीरवाछा ब्रह्म भिन्न नहीं, इस बात को "सन्यूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्र-तिष्ठा"छा ०६।८।४ "सर्वे खल्विंद ब्रह्म तज्जला नितिशान्त उपासीत् " छा० ३। १४। १ "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथि-व्यामन्तरो" बृ॰ ३।७।१ "यः आत्मनि तिष्ठनात्म नोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरस्" अं॰ ब्रा॰ इत्यादि प्रतीकों में जड़ प्रकृति और जीवात्मा को ब्रह्म का शरीर वर्णन किया गया है, इसी अभिपाय से छान्दो ० के छवें मपाठक में " अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम-रूपे ठयाकरवाणि " इस वाक्य से ब्रह्म के शरीररूप जीवात्मा द्वारा प्रवेश होने के कारण नामस्प का कर्ता ब्रह्म को कथन किया है जिसके यह अर्थ कदपि नहीं कि ब्रह्म ही जीव होगया किन्तु त्रझ का आत्मा इस अभिपाय से कहा गया है कि वह ब्रह्म

का शरीर है,इसी अभिमाय से "तत्मृष्ट्वातदेवानुप्राविश्वत"=
वह ब्रह्म शरीर को बनाकर अपने आत्मभूत जीव से उसमें पाविष्ट हुआ, उक्त प्रकार से "त्वं" पद वाच्य जीव और प्रकृति ब्रह्म का आत्मा होने से "तत्त्वमाम" में कोई विरोध नहीं, इसिंख्ये छक्षणा की भी कोई आवश्यकता नहीं, हमारे पत में तो वहां कोई विरोध ही नहीं फिर छक्षणा की क्या आवश्यकता है, और जो "स्वामी रामानुज " का कथन है कि:—

"भेदवादिनाश्चात्यन्त भिन्नयोःकेनापि प्रकारेण ऐक्यासम्भवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशो न सम्भवतीति सर्व वेदान्त परित्यागः स्यात् " श्री० भा० ब ० स् ० १,१११

अर्थ-जो केवल मेदवादी हैं उनके मत में परस्पर अत्यन्त
भिन्न जो जीव और ईक्कर हैं उनकी किसी मकार भी एकता न
होसकने से ब्रह्मात्मभाव का उपदेश नहीं वन सक्ता,इसिल्चिये उनके
मत में सारे वेदान्त का परित्याग होजाता है, यह कथन उनका
ठीक नहीं, क्योंकि "तक्त्वमिस "वाक्य में जब जीव और ब्रह्म
की एकता अभिनेत ही नहीं केवल जीव का ही वर्णन है फिर
उक्त दोष कैसे आमकता है, और "ऐतदात्म्यमिदं सर्व
तक्त्वमिस देवतकेतो" छा० ६ ।८।० इत्यादि श्रुतिवाक्यगत
एतदात्म्य पद का अर्थ यह है कि " एतदात्मनोभाव
ऐतदात्म्यम् "=हे द्वेतकेतो इसी आत्मा का यह सब भाव है
और वह आत्मा त है, एवं ऐतदात्म्य कथन से सर्वात्मवाद का

अभिपाय नहीं किन्तु जीव के भावों का अभिपाय है जो भाव पूर्व बोड्यकला बाले पुरुष के नाम से वर्णन किये गये हैं, फिर यहां जीवब्रह्म की एकता की कथा ही क्या, रही यह बात कि जिन वेदान्त वाक्यों में अभेदोपासना के अभिपाय से जीव ब्रह्म की एकता कथन कीगई है जैसाकि " अहंवात्वमसिभगवोदेवते-त्वंवाऽहमस्मि" इस वाक्य से जीव में ब्रह्म और ब्रह्म में जीवभावना द्वारा अभेदोपदेश किया गया है सो उससे यहां जीवब्रह्म की एकता बोधन करने का प्रयोजन नहीं किन्तु अपहतपाप्मादि ब्रह्म के धर्म्म जीवं में आजाने से ब्रह्मात्मभाव का उपदेश बन सक्ता है अथवा शमविधि के अभिमाय से " स्विखिट्व दंब्रह्म " इत्यादि वाक्यवत शान्ति के लिये अभेदोपासना है, फिर केवल भेदवादियों के मत में सर्व वेदान्त का त्याग कैसे ? अस्तु "स्वामी रामानुज "के निम्नलिखित लेख से हमारा उनके साथ तात्पर्य्य में विशेष विरोध नहीं, जैसाकि उन्होंने जिज्ञासाधिकरण में छिखा है कि:-

"अतिश्चदचिदात्मकस्य सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्म-तादात्म्यमात्मशरीरभावादेवेत्यवगम्यते तस्माद ब्रह्म-व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य तच्छरीरत्वेनैववस्तुत्वात तस्य प्रतिपादकोऽपिशब्दस्तत्पर्यन्तमेव स्वार्थमभिद्धाति अतः सर्वशब्दानां लोकव्यत्पत्त्यवगततत्तत्पदार्थ-विशिष्टब्रह्माभिधायित्वं सिद्धमिति ऐतदात्म्यमिदं

सर्वमिति प्रतिज्ञातार्थस्य तत्त्वमसीति सामानाधिक-करण्येन विदोषेणोपसंहारः"

अर्थ-जो जड़ चेतनरूप सव वस्तुपात्र का ब्रह्मके साथ अभेद है वह उसका शरीर होने के अभिनाय से है,इसछिये तत्तत् पदार्थों के मतिपादक शब्द ब्रह्म को ही कथन करते हैं, इसमकार तत्तरपदार्थ विशिष्ट ब्रह्म " ऐतदात्म्यमिदं सर्वे " इत्यादि वाक्यों का विषय है इसी वात को "तत्त्वमिस " इस समानाधिकरणवोध-क वाक्य द्वारा विशेषरूपता से उपसंहार किया है, यह विशिष्टा द्वैतवादियों का सिद्धान्त है जिसका अर्थ यह है कि "विशिष्टञ्च विविष्टञ्च विशिष्टे, विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टादैतं "= प्रथम "विशिष्ट" पद का अर्थ सूक्ष्म चिद्चिद्विशिष्ट ईश्वर और दूसरे "विशिष्ट " का अर्थ स्थूलचिद्चिद्विशिष्ट वस्तु ईक्वर है, दोनों कार्य्य कारणक्रप क्षारीरिवाशिष्ट के ऐक्य का नाम "विशिष्टाद्वैत" है, सारांश यह निकला कि स्वामी रामानुज के मत में जीव, ईक्वर और प्रकृति यह तीन पदार्थ अनादि हैं, उन्होंने जीव और प्रकृति को ईक्वर के सामर्थ्य से भिन्न नहीं माना. इसी अंश में ब्रह्म के साथ अभेदोपदेश है, इस प्रकार से जीव ईक्वर के भेदवादी वैदिक लोगों से उक्त मत का अत्यन्त भेद नहीं, इसलिये इम इस मत की विशेष समीक्षा नहीं करते।

विशेष समीक्षां हम यहां शङ्करमत की करते हैं जिनके मत

वेदान्तार्यभाष्ये

208

में यह सब जड़ चेतन शुद्धाशुद्ध भलाबुरा ब्रह्म ही ब्रह्म है, और वेदादि शास्त्र सब असत्य हैं, उस मिध्यक्ष्पी वेदशास्त्र से ही ब्रह्मतत्व की माप्ति होती है, इस मकार असद से सद की माप्ति बक्त यस में मानी गई है, जैसाकि " कथ्रञ्चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्य आत्मैकत्वस्युसत्यत्व स्पपदेशतेति" शं० भा० ब० स्०२। १। १४=अनृत मोक्ष शास्त्र से मतिपादित जो जीव ब्रह्म की एकता वह कैसे सत्य होसक्ती है ? इसका उत्तर उक्त यत में यह दिया गया है कि हमारे मत में सब व्यवहार ब्रह्मज्ञान से पूर्व २ सत्य समझे जाते हैं और वास्तव में सब स्वप्नपदार्थ के समान मिथ्या हैं, फिर मश्र यह किया जाता है कि " नहि रज्जू सर्पेणदृष्टोम्नि-यतेनापि मृगतृष्णिकाम्भसापानावगाहनादि प्रयो-जन क्रियते इति " शं० भा० व० स० २ । १ । १४=रज्जू के सर्प का इसा हुआ कोई नहीं मरता न मृगतृष्णा के जल से कोई स्नान पानादि पयोजन सिद्ध करता है फिर तुम्हारे मिथ्या शास्त्र से सत्य मोक्षरूप प्रयोजन कैसे सिद्ध होसका है ? इसका उत्तर शङ्करमत में यह दिया गया है कि जैसे विष भक्षण के सन्देह होने से मनुष्य मरजाता है और जैसे असत्य स्वप्न से उसका ज्ञान जाग्रव में सचा देखाजाता है, और जैसे स्वप्र के झूटे सिंह से डरकर सची जाग्रत होजाती है, एवं हमारे मिथ्या मोक्षशास्त्र से सचे मोक्ष की प्राप्ति होक्की है, उनका यह कथन इसिलिये ठीक नहीं कि विष की शक्का से मरना भय से होता है और भय सचा है, इसिलिये सब से ही सब हुआ, जो स्वम के पदार्थों का दृष्टान्त दिया गया है वह भी असद से सद माप्ति को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि स्वम के पदार्थों का ज्ञान असत्य नहीं है तथा उन्हीं की माप्ति जाग्रद में होती है, और वात यह है कि जाग्रद के पदार्थ ही स्वम में अन्यथा मतीत होते हैं अखन्त असद स्वम पदार्थ नहीं, और जो यह कहा गया है कि स्वम के सिंह से सची जाग्रद होजाती है, वहां भी उक्त मकार से भय ही कारण है जो सब है, और जो असद से सद माप्ति के तीन दृष्टान्त दिये हैं वह केवल कल्पनामात्र हैं क्योंकि उनके मत में विष से मरना स्वम के पदार्थों का ज्ञान और स्वम के सिंह से डरकर जागना, यह तीनों पदार्थ मिथ्या हैं फिर असद से सद की माप्ति के सै ? किन्तु असद से असद की ही माप्ति बनी रहा।

और जो यह कहा गया है कि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि सब ब्रह्म ही था तो " एकंबी-जं बहुधा यः करोति" श्वे॰ ६।१२=जो एक बीज=मकृति रूप कारण को अनेक प्रकार का बनाता है, इत्यादि वाक्यों में बीजरूप प्रकृति की बहुत प्रकार से रचना करने वाला कौन है? यदि यह कहाजाय कि "अविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधी योधीश्वरोभवाति व्योमेवघटकरका द्युपाध्यनुरोधी "

क्षं भाग व्रवस्थ २।१।१४=अविद्याकृत नामक्षोपाधी के पबल पड़जाने के कारण उस ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा होजाती है, जिसमकार घटादि उपाधियों से महाकाश की घटा-काशादि संज्ञा होजाती है इस मकार ब्रह्म की भी उक्त उपाधि वश से ईश्वर संज्ञा होजाती है,फिर वही ईश्वर अविद्याकृत नामक्ष्प वाले जीवों का ईश्वर कहलाता है, और उनका व्यवहार विषय में वह ईश्वर है, इस प्रकार अविद्याद्भ्योपाधि से ही ईश्वर के ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वज्ञक्तिमत्वादि धर्म हैं वास्तव में नहीं ? यह सिद्धान्त मायावादियों का इमलिये ठीक नहीं कि सर्वश-क्तिमद्रह्म पर माया प्रवल नहीं पड्सक्ती, और जो इस सूत्र के अर्थ में मायावादियों ने सव पदार्थीं को ब्रह्म माना है फिर माया प्रवल पड़ने वाली उससे भिन्न कैसे रही ? यदि यह कहाजाय कि माया भी उसकी शक्तिभूत है तो फिर स्वशक्ति द्वारा ब्रह्म अपनी उच पदवी से गिरकर ईश्वर कैसे वनजाता है, क्योंकि उसकी शक्ति उसकी सामर्थ्य को बढ़ाने के लिये हैं न कि घटाने के लिये, और जो "स्वामी शङ्कराचार्य" जी का यह कथन है कि परमार्थावस्था में व्यवहार का अभाव है जैसाकि:-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजिति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ गीता०५।१४

द्वितायाध्याये अथमः पादः

200

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतंज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

गी० ५। १५

उक्त दोनों श्लोकों का स्वामी बं चा ने यह अर्थ किया है कि यह श्लोक परमार्थावस्था में व्यवहार का अभाव कथन करते हैं वास्तव में न कोई ईश्वर और न कोई ईश्वितव्य जीवादि हैं यह सब मायामात्र हैं, उक्त श्लोकों का यह अर्थ करना गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, न केवल गीता से विरुद्ध है किन्तु स्वामी शं० चा० कृत उक्त श्लोकों के गीताभाष्य से भी विरुद्ध है, उक्त श्लोकों के भाष्य में स्वामी यह लिखते हैं कि किसी भक्त के पाप को परमेश्वर अपने सिर पर नहीं लेता और नाही पुण्य को किन्तु अज्ञान से उन जीवों का ज्ञान दुका हुआ है, उस अज्ञान से मोह को प्राप्त हुए वह अविवेकी जीव पुण्य पाप करते हैं " न कर्तृत्वं न कर्माणि " इस स्लोक के भाष्य में इन्होंने स्वयं यह अर्थ किये हैं कि परमेश्वर किसी के कर्म नहीं बनाता और नाही किसी को उन कर्मों का कर्चा वनाता है किन्तु जीवों का स्वभाव=उनकी अज्ञानक्प प्रकृति उनसे स्व २ कर्म कराती है. जब स्वामी शं० चा० अपने भाष्य में यह अर्थ करते हैं और गीता से यह स्पष्ट पाया जाता है कि उक्त श्लोकों में अज्ञान मे जीवों का मोहा जाना कथन किया है तो फिर यहां स्वामी यह कैमे कहते हैं कि ईश्वरादि भी अज्ञान के वश होकर ही सब करते धरते हैं, परमार्थ में " न कर्तृत्वं न कर्माणि " यह निषेष पायाजाता है, और निम्न लिखित स्रोक जिसका ममाण उक्त स्वामीजी ने सूत्र भाष्य में दिया है कि:-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्त्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ गी०१८। ६१

कि हे अर्जुन ! ईश्वर अपने मायाद्भप यंत्र से सब प्राणियों को भ्रमण कराता हुआ सबके हृदयदेश में विराजमान है, इस श्लोक से भी मायाक्ष्पी मोह से मोहित जीव ही पायाजाता है न कि ईश्वर, फिर "अद्वतिविद्याचार्य" स्वामी ने अपने मायोपाधि वाले ईश्वर के लिये उक्त श्लोक कैसे प्रमाण में दिये, इस मत में ऐमे विरोध सहस्रों पाये जाते हैं कि कहीं अविद्योपाधि से जीव बनते हैं, कहीं अविद्योपाधि से इंश्वर बनता है, कहीं माया और अविद्या को एक माना है, कहीं शुद्ध सल प्रधान का नाममाया,मिलन सल प्रधानका नाम अविद्या है,इसादि सैकड़ों विरोध हैं जिनका परिहार कुछ नहीं, और जो इस के भाष्य में यह कथन किया है कि परमार्थ के अभिमाय से सूत्रकार ने "तदनन्यत्वं" सूत्र रचा है और इस मूत्र में कार्य मपञ्च का खण्डन न करके परिणाममित्रया का आश्रयण कियाहै, और इस आश्रय का स्वामी ने सगुणोपासना में भी उपयोग वतकाया है, सगुणोपासना में उपयोग बतकाना और फिर परवार्थ के अभिमाय से सब वस्तुमात्र को बढ़ा ही कथन करना यह एक ऐसा गुप्तभाव है जिसकी माया को मायाबादी ही समझ सक्ते हैं अन्य नहीं, अस्तु मायाबाद का यह महत्व छुविझेय हो वा दुविझेय, हमने नो यहां छूत्रकार का आश्राय स्फुट करना है, सूत्रकार का आश्रय इस अधिकरण में केवल सत्कार्यवाद से हैं अर्थाव मकृति=उपादानक्ष से यह कार्यक्ष जगव नामक्ष के वनाने से पूर्व भी सब था।

सं०-अव उक्त अर्थ को छः मुत्रों से स्फ्रट करते हैं:— भावेचोपलुब्धेः ॥१५॥

पद्-भावे। च। उपछन्धेः।
पदा - (च) और (भावे) कारण के होने पर (उपछन्धेः)
कार्य की उपछन्धि पायेजाने से कार्य कारण का भेद नहीं।

भाष्य-कारण के विद्यमान होने पर ही कार्य की छपछिष्ध पाये जाने से सिद्ध है कि जपादानकारण के बिना यह
जगत्रक्ष कार्य उत्पन्न नहीं हुआ, और वह कार्य पहले कारण
कप से विद्यमान था, यदि भावक्ष कारण की अवस्था में कार्य
विद्यमान न होता तो असदूप में भेद न पाये जाने पर सिकता
से भी तेल की उत्पत्ति होती पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि
कार्य कारण का कोई भेद नहीं।

सत्त्वाचावरस्य ॥१६॥

पद् ०-सस्वात् । च । अवरस्य ।

पदा०-(च) और (अवरस्य) कार्य की (सच्वाव) सत्ता पायेजाने के कारण कार्य सब है।

आज्य-थावरूप कारण में कार्य की सत्ता पाई जाती है इसिक्रिये कार्य भी अपने कारण की थांति कारणरूप से सब है अर्थाव सदूप कार्य का अपने कारण से कोई थेद नहीं।

सं०-ननु, " असदिवेदमण आसीत् " छा० ३।१९। १=स्राष्ट्रि से मथम असद ही था, इत्यादि वाक्यों से कार्य्य द्रव्य का असद होनां सिद्ध है फिर इसको कारण रूप से सद कैसे कहा जाता है ? उत्तरः—

असद्व्यपदेशान्नतिचन्नधर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७॥

पद् ० - असद्व्यपदेशाद । न । इति । चेद । न । धर्मान्तरेण । वाक्यशेषाद ।

पदा०-(असद्व्यपदेंशात) असत का व्यपदेश पायेजाने से (न) कार्व्य सत नहीं होसक्ता (चेत) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्यों कि (धर्मान्तरेण) अन्य धर्म से असत का व्यवहार होता है और यह बात (वाक्यशेषात) वाक्यशेष से पाई जाती है।

भाष्य-यदि उत्पत्ति से प्रथम असद्व्यपदेश=कार्य्य के न होने का कथन कियाजाय तो टीक नहीं, क्योंकि अन्य

मकार से कार्य्य की सत्ता उक्त वाक्यों में पाई जाती है, यह बात बाक्यदोष से स्पष्ट है, जैसाकि "अस्देवेदमग्र आसीत्" इस वाक्य का कथन करके आगे यह छिखा है कि "तत्सदा सीत्" इसी प्रकार तैचिरीय में भी " असदा इद्मश्र आसीत्= छष्टि से पूर्व असद ही था, यह कथन करके आगे यह कहा है कि" तदात्मानंस्वमकुरुत "=उसने अपने आत्मा को बनाया, इससे पाया गया कि जी नामकप वाछी वस्तु छोक में सच्छब्द से मासिद्ध है उसी कार्यक्ष जगद का नाम रूप न था, इस अभिनाय से असद्व्यपदेश किया है और कारणकप से कार्य सर्वां या इस अभिपाय से " तत्सदासीत् " इत्यादि वाक्यों में सत् का कथन किया गया है, और जिस वाक्य में यह लिखा है कि उसने आत्मा को बनाया, वहां आत्मा शब्द के अर्थ ब्रह्म की विभूति होने से प्रकृति के हैं, इस प्रकार सद असद का कोई विरोध नहीं।

युक्तेः शब्दान्तराच ॥ १८॥

पद०-युक्तेः। शब्दान्तरात्। च।
पदा०-(च) और (युक्तेः) युक्ति तथा (शब्दान्तरात्)
शब्दममाण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-शब्द भमाण तथा युक्ति से कार्य्य कारण की एकता पाई जाती है, युक्ति यह है कि जिस कारण में कार्य्य का भाव होता

है उसीस उस कार्य का माहुर्भाव होता है अन्य से नहीं, जैसे मिही से घट, द्व से दिंध घृतादि कार्य हुग्ध में प्रथम ही खुक्ष्मक्ष से रहते हैं इसी मकार कार्यद्रच्य कारणानस्था में भी खुक्ष्मक्ष से रहते हैं केवळ उनका कार्यक्ष से अभिन्यक्ति=मकाश होता है, इस खुन में स्वामी बां० चा० ने समवायसम्बन्ध * का खण्डन में सबारोह के साथ किया है सो सून के आश्रय से सर्वथा विरुद्ध मतीत होता है, क्यों कि खुनकार का आश्रय समवाय के खण्डन करने का नहीं किन्तु कार्य कांरण के अभेद में है, इसिल्ये उनका उक्त कथन डीक नहीं।

परवा ॥ १९॥

पद ०-परवस् । च ।

पद्दा॰-(च) और (पटवत्व) पट की भांति कार्य्य जमत संदूष था।

आज्य-जैसे छपेटा हुआ कपड़ा स्पष्ट मतीत नहीं होसका कि यह कपड़ा है वा कोई अन्य द्रव्य, फिर फैछाया हुआ वही स्पष्ट मतीत होजाता है, इसीमकार यह कार्य्य जगत कारणावस्था में समवेष्ठित पट के समान था और इस कार्य्यावस्था में फैछाये हुए पट के सामन क्पान्तर को माप्त होगया है, इसिछये कार्य्य कारण का भेद नहीं ॥

^{*} वैशेषिक यास्य में नित्य सम्बन्ध का नाम "स्मन्य य" है, जैसाकि ब्रश्न में सम्बद्धानन्दादि गुणीं का फीर जड़ द्रम्य में क्यरसाहिकों का सम्बन्ध है।

यथाचप्राणादि ॥२१॥

पद्-यथा। च। माणादि॥ पदा-(च) और (माणादि, यथा) माणादिकों की भांति कार्य्य को सदूप मानना ही ठीक है॥

भाष्य-जैसे माण रोकने पर उनका काम बन्द हुआ मतीत होता है और फिर छोड़देने से माणों का आनाजाना स्पष्ट मतीत होता है इसी मकार यह कार्य्य जगद भी कारणावस्था में रुके हुए माणों के समान था॥

सं ० – कार्य कारण का अभेद वर्णन करने के अनन्तर अब " इतरच्यपदेशाधिकरण" में जीव ब्रह्म का मेद स्पष्ट रीति से कथन करने के छिये प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं:—

इतरव्यपदेशास्त्रिताकरणादिदोषप्रसक्तिः।१।

पद०-इतरव्यपदेशात । हिताकरणादिदोषप्रसिक्तः ॥
पदा०-(इतरव्यदेशात) जीव का व्यपदेश होने से
(हिताकरणादिदोषसिक्तः) ब्रह्म में हित का न करना आदि
दोषों की आपित्त होगी॥

भाष्य-इतरण्यपदेश=ब्रह्म का ही जीवक्य से भवेश कथन किये जाने के कारण हिताकरणादि दोषों का प्रसङ्ग होगा अर्थाद यदि ब्रह्म ही अपने आप जीव बनगया तो उसने अपने छिये हित न किया, क्योंकि वह अपने आप ही अतिदीन दुस्ती जीवों के भावों को प्राप्त होकर कहीं कीट पतङ्गादि शरीरों में, कहीं घृषित रोगविशिष्ट शरीरों में प्रविष्ट हुआ इसादि, इस

वेदान्तार्यभाष्ये

प्रकार उसने अपने आत्मा का हित न करते हुए अपने छिये आप जेलखाना बनाकर बन्धन में पड़ा परन्तु कोई बुद्धिमान् स्वयं कारागार बनाकर आप ही उसमें प्रविष्ट नहीं होता, फिर सर्वम्र बन्ध ने ऐसा क्यों किया॥

सं १ - अब बक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-अधिकं तु भेदानिर्देशात् ॥ २२॥

पद०-अधिकं। तु। भेदनिर्देशात्।

पदा॰-(भेदनिर्देशात्) भेद का निर्देश पायेजाने से (अधिकं) ब्रह्म जीवसे अधिक है।।

भाष्य-ब्रह्म जीव से अधिक = बड़ा है और वह शरीर में मिष्ट नहीं हुआ, यह जीव ब्रह्म के भेद कथन करने वाले वाक्यों से स्पष्ट पायाजाता है, जैताकि :—

"आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि ध्यासितव्यः " बहदा० २।४।६

अर्थ-परमात्मा द्रष्ट्रच्य=ज्ञानचश्च से देखने योग्य,श्रोतच्य=
श्रुतिवाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तच्य=श्रुत्यनुसारी
तकों से मनन करने योग्य और निदिध्यासितच्य=बारम्बार
श्राकार द्वित से जानने योग्य है, "सोऽन्वेष्ट्रच्यः स विजिद्वासितच्यः " छां० ८।७।१=बह परमात्मा खोजने और जानने
योग्य है, "सतासोम्यतदासम्पन्नो भवित छां० ६।८।१=हे
सोम्य ! तब यह जीव उस सत्युरुष के साथ मिछता है

" ज्ञारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः " वृ०४।३।३५= यह प्राणधारी जीव परमेश्वर के सहारे है, इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट पायाजाता है, इसलिये जिस की जपासना उक्त वाक्यों में कथन की गई है वह ब्रह्म जीव से अधिक=बड़ा है, वह जीव कदापि नहीं वनसक्ता, इस सूत्र में सूत्रकार ने जीव ईश्वर के भेद को स्पष्ट रीति से वर्णन किया है, यहां स्वामी शं० चा० को जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने का जब कोई मार्ग नहीं मिला तब हारकर यह उत्तर दिया है कि अविद्या कुल जो नामक्य उपाधि उसी ने ब्रह्म को जीव बनादिया है वास्तव में ब्रह्म जीव नहीं, इससे पूर्व के २१ वें सूत्र में प्रश्न यह था कि यदि ब्रह्म स्वयं जीव बनगया तो उसने अपने छिये हित न किया, क्योंकि वह जीवरूप होकर नाना प्रकार के दुखों में स्वयं मविष्ट हुआ, इसका उत्तर शङ्करमत में ठीक नहीं, और हमारे मत में तो जो "तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत् "तै० २ । ६ "अ-नेनजीवेनात्मनानुप्रविश्यनामरूपेव्याकरवाणि छां ०६ । ३ । २ इसादि वाक्यों में जीवरूप से ब्रह्म का प्रवेश कथन कियागया है, जीव ब्रह्म की आत्मभूत वस्तु होने से उस को ब्रह्म का आत्मा कथन किया है अभेद के अभिमाय से नहीं, इस प्रकार प्रवेश विधायक उक्त वाक्यों का वैदिक द्वैतवाद के साथ कोई विरोध नहीं॥

सं - अव उक्त अर्थ को मकारान्तर से स्फ्रूट करते हैं: — अरमादिवचतदनुपपत्तिः ॥ २३॥

वेदान्तार्थभाष्ये

388

पद०-अक्षमादिवत् । च । सद्तुपपितः ।

पदा०-(च) और (अञ्मादिवत्) अञ्मादिकों की यांति (तद्वुपपत्तिः) जीव ब्रह्म की एकता नहीं होसक्ती॥

भाष्य-अद्यादि=पत्थरादिकों के समान जीव ब्रह्म नहीं बन-सक्ता अर्थाव जिसमकार पत्थरादि असन्त विजातीय पदार्थ हैं इसी मकार जीव भी ब्रह्म से अखन्त विजातीय पदार्थ है वह कदापि ब्रह्म नहीं बनसक्ता, और न कथी ब्रह्म जीव बनसकता है, इस सूत्र के अर्थ शङ्करमत में यह कियेगये हैं कि जिसपकार एक कान से बहुमूल्य मणि आदि पाषाण होजाते हैं इसीप्रकार एक ही ब्रह्म से नानाप्रकार का यह जगद उत्पन्न होजाता है, इसिखये पूर्वोक्त दोष की अनुपपत्ति=असिद्धि है, यह अर्थ इस अधिकरण के साथ सङ्गति नहीं रखता, क्योंकि ब्रह्म के स्वयं जीव वनने में पूर्वपक्ष सूत्र में दोष दिया गया है तथा " अश्विकन्तुभे-दिनिर्देशात " इस सूत्र में ब्रह्म को अधिक कथन किया है और इस सूत्र में भी यही कथन कियागया है कि जैसे पत्थरादि वस्त्वन्तर ब्रह्म नहीं होसकते इसीपकार जीव भी ब्रह्म नहीं बनसक्ता।

"स्वामी रामानुज" ने इस सूत्र को इस मकार लापन किया है कि जैसे पाषाणादि अत्यन्त विजातीय पदार्थ ब्रह्म नहीं होसको इसी मकार जीव भी ब्रह्म नहीं होसका, और नाही सर्वज्ञ, सससङ्खल्प ब्रह्म कभी जीव होसका है॥

सं०-ननु, कर्ता होने की सामग्री न पाये जाने से ब्रह्म छष्टि का रचयिता नहीं होसका ? उत्तरः—

उपसहारदर्शनान्नेतिचेन्नक्षीरविद्ध ॥२४॥

पद०-उपसंहारद्शनात्। न । इति । चेत् । न । क्षी-रवत् । हि ॥

पदा०-(उपसंहारदर्शनाव) कर्तामात्र के पास सामग्री देखे जाने से (न) ब्रह्म जगत्कर्ता नहीं होसक्ता (चेत) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं (हि) क्योंकि (क्षीरवव) दूध की भांति सहायता के चिना भी ब्रह्म में रच-ियत्त्व होसक्ता है ॥

भाष्य-कर्त्तामात्र के पास वाह्य सामग्री देखे जाने से ब्रह्म जगद का कारण नहीं होसक्ता, क्योंिक उसके पास कोई सामग्री नहीं? यह कथन इसिछये ठीक नहीं कि जैसे दूध विना किसी सामग्री के स्वभाव विशेष से ही दिध वन जाता है इसी प्रकार ब्रह्म भी स्वभाव विशेष से जगद का कारण होसक्ता है, इस सूत्र में दूध का दृष्टान्त किसी दूसरे की सहायता न छेने के अभि- प्राय से दिया गया है न कि दूध के समान स्वयं जगदरूप परिणाम होने में, यदि दूध से दिध के समान जगद ब्रह्म का ही परिणाम माना जाता तो ब्र० स्व०१।४। २६ में यह न वर्णन किया जाता कि परमात्मा जगद का निमित्तकारण तथा प्रकृति उपादानकारण है, और:—

" नतस्यकार्य्यकरणञ्चविद्यते न तत्समञ्चाभ्य-भिकश्चहृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधेव अयुरते

स्वाभाविकीज्ञानबलिकयाच " ने०६। ८

अर्थ-न उसका कोई कार्य, न कारण, न उसके कोई सहमा और न उससे कोई अधिक है, उसकी स्वाभाविक ज्ञान, वल, िक या क्ष्प शक्ति बहुत प्रकार से सुनी जाती है, इसादि वाक्यों में ब्रह्म को निराकार वर्षन कियागया है, इससे भी पाया जाता है कि उसमें स्वाभाविक बद्ध ज्ञान और िकया पाये जाने से यहां दृध का दृष्टान्त दिया गया है मर्वथा दिधे की भांति परिणाभी होने के अभिपाय से नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और दृष्टान्त कथन करते हैं:— देवादिवदिपिस्ठोके ॥ २५॥

पद०-देवादिवत । अपि । लोके ।

पदा०-(छोके) छोक में (देवादिवत) देवादिकों की भांति (अपि) भी बिना वाह्य साधन के रचयितृत्व देखा जाता है।।

भाष्य-जिस मकार देव = दिव्य गुणों वाछे पुरुष अपनी विचित्र शक्ति से साधन सामग्री के विना ही जगत में विचित्र कार्य्य उत्पन्न कर देते हैं, जैसाकि मृिम पर विना घोड़े आदि जोतने के विचित्र प्रकार के यान चलासक्ते हैं, और विना मनुष्यादि दृत भेषण करने के देश देशान्तरों का समाचार ज्ञात कर छेते हैं इसी प्रकार निराकार ब्रह्म विना हस्तपादादि सामग्री के इस सम्पूर्ण संसार को निर्माण करसक्ता है इसमें कोई दोष

नहीं, इस सूत्र में देवादिकों का दृष्टान्त देना इस बात को सिद्ध करता है कि ब्रह्म जगद का परिणामी उपादान कारण नहीं, शङ्करमत में इस उपसंहारदर्शनाधिकरण को परिणामवाद में लगाया है कि ब्रह्म ही नाना वस्तुओं में परिणत होकर दूध से द्धि के समान जगन्र वनगया है, जैसाकि स्वामी शं० चा०ने २४ वें सूत्र के भाष्य में लिखां है कि "तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद्विचित्रः परि-णाम उपपद्यते " शं॰ भा॰=दृध की भांति एक ही ब्रह्म का विचित्र शक्तियोग से विचित्र परिणाम होता है परन्तु सुत्र कार का यह आशय कदापि नहीं, इस आशय की भ्रान्ति का खण्डन करने के लिये ही आगे "कृत्स्नमसक्त्रचिकरण "का आरम्भ कियागया है कि ब्रह्म जगदक्य परिणाम को कदापि माप्त नहीं होता ॥

सं०-अव मायावादियों के मत में ब्रह्मकारणवाद की अनुपपित कथन करते हैं:--

कृत्स्नप्रसाक्तार्नेस्वयवत्वशब्दकोपो वा।२६।

पदः - कृत्स्नमनक्तिः । निरवयवलशब्दकोपः । वा ।

पदा०-(कृत्स्नभसिक्तः) जगव को ब्रह्म का परिणाम मानने में उसके सारे देश में पारिणाम की आपीत (वा) और (निरवयवलशब्दकोपः) निरवयव मतिपादक शास्त्र का विरोध होगा॥

वेदान्तार्थभाष्ये

220 भाष्य-ब्रह्मकारणवादियों से प्रष्टुच्य यह है कि ब्रह्म किसी एकदेश से जगदाकार होता है अथवा सर्वदेश से ? प्रथम पक्ष इसिख्ये ठीक नहीं कि निरवयव ब्रह्म में देशविशेष का असम्भव होने से जगदूप परिणाम नहीं होसक्ता, दूसरे पक्ष में अदिकारी ब्रध्म न रहने के कारण मुक्त पुरुषों की गति का अभाव होजायमा अर्थाव पायावादियों के मत में ब्रह्म को जगव का कारण मानने से कुत्स्तप्रसाक्ति=सम्पूर्ण देश में ब्रह्मका परिणाम होजानाक्य दोष और एकदेश में परिणाम मानने से " नतस्य श्रतिमास्ति " इसादि निराकार मतिपादक यन्त्रों का ज्या-कोप=विरोध आता है,इसछिये ब्रह्म को परिणामी उपादानकारण यानना ठीक नहीं, क्योंकि बेद तथा उपनिषद् उसको निराकार वर्णन करते हैं, जैसाकि " दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स वाह्या-भ्यन्तरो ह्यजः " मुण्डक २।१।२ " इदमहदूत मनन्तमपारं विज्ञानघनएव " दृहदा० २। ४।१२ "स एषः नेतिनेत्यात्मा " व॰ ३।९। २६ " अस्थूल-मन्णु० " बृ० ३। ८। ८ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि वह पुरुष दिन्य है, अमूर्त्त है, सबके बाहर भीतर और अजन्मा है, वह सब से बड़ा तत्व है, अनन्त हे, अपार है, वि-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

इानघन=इानस्वरूप है, यह जितना दृश्य जगत है यह परमात्मा

नहीं, वह स्थूल नहीं, अणु नहीं, दीर्घ नहीं=साकार द्रव्य के

द्वितीयाध्याये-प्रथमः पादः

.229

स्यूळादि भानों से सर्वथा रहित है, इसिछिये ब्रह्म की जगद का परिणाम मानना ठीक नहीं ॥

सं ० - अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:-

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७॥

पद् ०-श्रुतेः । तु । शब्दमूललात् ।

पदा०-(श्रुतेः,तु) और यह वात श्रुति से भी पाई जाती है कि (शब्दमूछलाव) ब्रह्म शब्दमूछक है ॥

भाष्य-श्रुति द्वारा ब्रह्म निराकार पाये जाने से जगद ब्रह्म का विवर्त्त नहीं होसक्ता, जैसाकि:—

एतावानस्य महिमाऽतोज्यायांश्चप्रुरुषः । पादोऽस्यविश्वाभृतानि त्रिपादस्याऽमृतंदिवि ॥

यजु० ३१।३

अर्थ-यह सब जगत रूपी महिमा उसके एक पादस्थानी
और वह तीन पाद रूप अमृतस्वरूप है, यहां पाद विभाग केवछ
इस जड़ जगत को अल्प दर्शाने के अभिप्राय से है निक साकार
के अभिप्राय से,यदि साकार के अभिप्राय से होता तो उसको अमृत
न कहाजाता, इस प्रकार श्रुति से ब्रह्म निराकार पायाजाता है,
यदि कोई यह प्रश्न करे कि श्रुति से निराकार पाये जाने के
कारण वास्तव में ब्रह्म निराकार कैसे समझा गया ? इसका
उत्तर सूत्र के "शृब्दमुल्द्वात्" इस भाग से दिया गया
है कि वह ब्रह्म शब्दमूछ=शब्दश्माण से ही जाना जाता है।

२२२

वेदान्तार्घभाष्ये

स्वामी बां० चा० ने इस सूत्र के यह अर्थ किये हैं कि ब्रह्म का परिणाम होकर जगत होजाता है और फिर वह निराक्तार भी है,जब इनसे यह पूछाजाता है कि यह बात कैसे समझ में आसक्ती है कि एक वस्तु परिणामी उपादान कारण भी है और फिर निराकार है ? इसका उत्तर यह दिया है कि:—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

अर्थ-जो भाव विचार में नहीं आसक्ते उनमें तर्क नहीं करना चाहिये, जो प्रकृति से परे है वह अचिन्त्य है, इस मकार ब्रह्म आचिन्त्य होने से इस तर्क का विषय नहीं होसक्ता कि वह जगद का परिणामी उपादानकारण कैसे होगया और फिर निराकार कैसे रहा, और यह भी उत्तर दिया है कि अविद्याकृत कल्पित रूप से वह संसार रूप बनगया वास्तव में वह निराकार है, इस स्थान में आकर स्वामी बां वा ने अपने मत को बहुत ही बिाथिल कर दिया है, पीछे तो यह कहते आये हैं कि ब्रह्म में धर्म्म के समान केवल श्रुति ही मयाण नहीं किन्तु युक्ति ममाण है पर यहां जब युक्ति में बस न चछता देखा तो इसी बात का आश्रय लेलिया कि "आधा ब्रह्म जगद बना या सारा " इसमें युक्ति का काम नहीं, ठीक है युक्ति का काम देशता भी कैसे, इस पश्च का क्या उत्तर दोसका है कि यदि ब्रह्म को उपादान कारण मानाजाय तो निराकार कैसे रहसका है, इसलिये यहां स्वामी शं०चा० जी को तर्क का रास्ता छोड़ना पड़ा।

सं० - ननु, निमित्तकारणवादियों के मत में निराकार ब्रह्म इस्त पादादि अवयवों के विना सम्पूर्ण जगत का कर्ता कैसे होसक्ता है ? उत्तरः—

आत्मिनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८॥

पद०-आत्माने । च । एवं । विचित्राः । च । हि ।
पदा०-(च) और (आत्मानिं) परमात्मा में (हि) निश्चय
करके (एवं, विचित्राः, च) इसमकार की विचित्र शाक्तियें
पाई जाती हैं।

भाष्य-परमात्मा में इस मकार की विचित्र शक्तियें पाई जाती हैं कि बिना इस्तपादादि अवयवों के स्रष्टि को बना सक्ता है, स्रष्टि के अकर्त्ता होने का दोष तो मायावादियों के मत में आता है जिसको मुत्रकार अगले सूत्र से कथन करते हैं।

स्वपक्षदोषाच ॥ २९॥

पद०-स्वपश्चदोषात्। च।

पदा०-(च) और (स्वपसदोषात्) मायावादियों के पक्ष में दोष पाये जाने से ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं।

भाष्य-मायावादियों के मत में यह दोष आता है कि निराकार ब्रह्म जगद का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कैसे बन गया, क्योंकि उक्त कारण में कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता. इसिक्षिये यायावादियों का उक्त कथन आदरणीय नहीं।

इमरि वैदिक मत में यह दोष नहीं आता कि निराकार परमात्मा जगद का निमित्तकारण कैसे वन गया, इस बात को इस अगके सूत्र में यों स्पष्ट किया है कि:—

सर्वोपेताचतहर्शनात् ॥ ३०॥

पहं ०-सर्वेषिता । च । तद्र्वानात् ।

पदा०-(च) और (सर्वेषिता) परमात्मा सर्वगुणसम्पन्न है क्योंकि (तद्दीनाव) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

थाष्य-परमात्मा सर्वग्रण सम्पन्न है, इसलिये उस अक्षर से सब जगव उत्पन्न होसक्ता है, जैसाकि बृहदा० ३। ८। ९ में वर्णन किया है कि:—

"एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विभृतौ तिष्ठतः"

अथे-परबात्मा की आज्ञा में सूर्य चन्द्रमा स्थिर हैं और वह निरांकार अक्षर ही सब जगत का निमित्तकारण है।

सं ० - अब उक्त अर्थ में शंकापूर्वक समाधान करते हैं: -

विकरणत्वान्नोतिचेत्तदुक्तम् ॥३१॥

पद्-विकरणत्वाद । न । इति । चेद । तद । उक्तम् ।
पदा - (विकरणत्वाद) इस्तपादादि साधनों के न होने से
इन्दर जगत्कर्षा (न) नहीं होसक्ता (चेद) यदि (इति) ऐसा
कहो तो (तदुक्तम्) इसका उत्तर पीछे कथन कर आये हैं।

आष्य-इस्तपादादि साचनों से रहित होने के कारण ब्रह्म जगद का कर्ता नहीं होसक्ता, यदि यह कहाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि इसका समाधान पीछे २० वें खूत्र में कर आये हैं और इसी अभिपाय से बु॰ ३।८।८ में वर्णन किया है कि "अचश्चक्कपश्चीत्रमनागमनाः"=परमात्मा बह्नरादि होन्द्र-यों से रहित है, इत्यादि धाक्यों में चश्च, श्रोत्रादि रहित छछ को ही जगद का कारण कथन किया गया है, इसी अर्थ के अनुसार ने १ १९ में मतिपादन किया है कि " अपूर्वा-णिपादो जवनो प्रहीता पश्यत्यचश्चः स शृणोत्य-ऋणीः "=परमात्मा इस्तपादादि अवयवीं से रहित जननः= वेगवाळा, ग्रहीता=सवका ग्रहण करने वाला, विना आंखों से देखता और बिना कानों से झुनता है, इस प्रकार इन्द्रियादि करण रहित ब्रह्म में शास्त्र सर्वसामध्ये वर्णन करता है. इसिछिये निराकार ब्रह्म के जगत्कारण होने में कोई दोष नहीं ॥

सं ० – अब जगद रचने में प्रयोजन दिख्छाने के किये "प्रयोजनवत्त्वाधिकरण" का प्रारम्भ करते हुए प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं:—

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२॥

पद्०- न। प्रवोजनवस्त्रात्।

पदा०-(न) परमात्माँ जगत्कर्चा नहीं होसक्ता, क्योंकि (भयोजनवस्वाद) महत्तिमात्र में प्रयोजन पायाजाता है।

वेदान्सार्थभाष्ये

भाष्य-ब्रह्म जगत्क ची इसिट्टिय नहीं होसका कि कर्ची का कोई प्रयोजन अवश्य होता है, और जगत के रचने में ब्रह्म का कोई प्रयोजन ब्राप्त नहीं होता, संसार में प्रयोजन हो मकार का पायाजाता है,एक अपना और दूसरा किसी अन्य का, इसका अपना अर्थ इसिट्टिये नहीं होसक्ता कि वह आप्तकाम होने से नित्यतृप्त है और दूसरे का इसिट्टिये नहीं कि छिष्टि से मथम दूसरा कोई थाही नहीं जिसके अर्थ ब्रह्म जगत को रचता, इत्यादि तकों से सिद्ध है कि वह इसने आयाससाध्य जगत का कर्चा नहीं होसकता।

सं ० - अब उक्त पूर्वपस का समाधान करते हैं :-

खोकवत्त्रखीलाकैवल्यम् ॥ ३३॥ पद०-डोकवद । तु । बीडाकैवल्यम् ।

पदा ॰ – (छोकवत्) छोक की भांति (छीछाकैवल्यम्)
छोछरचना छीछायात्र है।

भाष्य-जैसे संसार में बड़े २ काम राजा महाराजा छीछा-बाज से कर छेते हैं उनको कोई बड़ा आयास नहीं करना पड़ता इसी प्रकार परब्रद्धा भी इस जगदीबम्ब को छीछामात्र से रच छेता है अर्थाद संसार के रचने में उसको कोई यब नहीं करना पड़ता किन्तु जैसे स्वभाव से श्वास प्रश्वासादिक बिना यब से चछते हैं उसमें मनुष्य को कुछ प्रयत्न नहीं होता इसी प्रकार ब्रद्धा को भी जगद रचने में कोई यब नहीं करना पड़ता।

द्वितीयाध्याये-प्रथमः पादः

229

सं ० - नतु, ईश्वर को संसार रचने में यब न हो पर तो भी ऊंच नीचादि विषम सृष्टि बनाने से वैषम्य नैर्घृण्यक्प दोष की आपील होगी ? उत्तर :—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि- दर्शयति ॥ ३४॥

पद्-वैषम्यनैर्घृण्ये । न । सापेक्षत्वाद । तथाहि । दर्भायाते । पद्गि – (सापेक्षत्वाद) कम सापेक्ष होने से (वैषम्यनैर्घृण्ये) ईश्वर को वैषम्य नैर्घृण्य दोष (न) नहीं छगसक्ते (हि) क्योंकि (तथा) श्रुति में (दर्भयति) ऐसा ही पाया जाता है ॥

भाष्य-किसी को ऊंच किसी को नीच और किसी को राजा किसी को रक्क बनाने का नाम "नैष्ट्रिण्य " दोष है, उक्क दोनों दोष परमत्मा में इसिछिये नहीं कि वह जीवक्रत सुभाग्रम कर्मी की अपेक्षा से स्रष्टि बनाता है कर्म निरपेक्ष नहीं और यह बात श्वात प्रमाण सिद्ध है, जैसाकि "पुण्यो ने पुण्येन क- भिणा भवति पापः पापेन " ब॰ ३ । २ । २३=पुण्य कर्म से सुखी तथा पापकर्म से दुःखी होता है,इससे कर्मफळ देना भी ईश्वर का स्रष्टिरचने में प्रयोजन जानना चाहिये॥

सं ० - नतु, सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म होने से उक्त व्यवस्था ठीक नहीं ? उत्तर :- न कर्माविमागादितिचेन्नाऽनादित्वात्॥३५॥

पद्-न। कर्म। अविभागात। इति। चेत्। न। अनादितात।
पदा॰-(अविभागात) साष्ट्र के पूर्व एक ही अदितीय ब्रह्म
होने से (कर्म) कर्म (न) नहीं थे (चेत्र) यदि (इति) ऐसा
कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अनादितात्) कर्म
स्नाहि हैं॥

याच्य-" सदेव सोम्येद्मग्र आसीदेकमेवाऽदि-तीय्य "=रे सोम्य छष्टि के पूर्व एक अदितीय ब्राम ही या, इस बाक्य द्वारा ब्राम के साथ कमों का विभाग न पायंजाने के कारण कमसापेक्ष छष्टिरचना नहीं होसक्ती, क्यों कि कर्म स्विसिद्धि के लिये छष्ट्यच्चरभावी शरीरादि की अपेक्षा रखते हैं! यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि कमों का प्रवाह अनादि है, और उनके अनादि होने से ही ईश्वर के कर्मसापेक्ष कर्चा होने में कोई दोष नहीं आता अर्थाद जीव स्वक्ष्य से अनादि होने के कारण पूर्वकरणीय कर्मों की अपेक्षा से विषय छष्टि रचने में कोई दोष नहीं मत्युत ईश्वर की न्यायकीलता निरावाध वाई जाती है।

सं ० - अब उक्त अर्थ में उपपत्तिपूर्वक प्रमाण कथन करते हैं :--

उपपद्यते चाप्युपलम्यते च ॥ ३६॥

पद०-उपपद्यते। च । अपि । उपस्रभ्यते । च ।

पदा०-(च) और (उपपद्यते) जीव और कर्मों का अनादि

होना उपवादन किया जासका है (च) और (उपक्रम्यते, अपि) श्रुति में भी ऐसा ही पायाजाता है॥

भाष्य-" अनेन जीवेनात्मनात्रप्रविश्य नाम-क्ष्पे ठयाकरवाणि " छां॰ ६।३।२=इस अपने जीवहप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामक्य को ककं, यहां आत्मा शब्द अपना होने के अभिप्राय से है नाके ब्रह्म जीवक्य होजाने के अभि-शाय से, जैसेकि छोक में भी घनिष्ट सम्बन्ध पाये जाने से यह बोळा जाता है, कि अमुक पुरुष मेरा आत्मा है, स्वामी शं जा ने भी इस वाक्य में जीव को अनादि माना है, जब जीव अनादि सिद्ध होगया तो उसके साथ उसके कर्प भी अनादि काछ से ही सिद्ध होजाते हैं, और जो कई एक छोग इस स्थल में अन्योऽ-न्याश्रयदोष कथन करते हैं कि जीव और कर्म अनादि नहीं होसके, क्योंकि वारीर होगा तो कर्म और कर्म हों तो कर्मफछरूप वारीर वने, इस मकार अन्योन्याश्रयदोष से कर्मों का अनादि होना नहीं बनसक्ता ? इसका उत्तर यह है कि जिन कमों से जो शारीर बनता है उस वारीर से फिर वह कर्म नहीं बनते, जैसाकि जिस बीज से जो इस बनता है उस इस से फिर वह बीज नहीं होता, यदि ऐसे स्थलों में भी अन्योऽन्याश्रय दोष हुआ करे तो बीज से दस और द्वस से बीज यह प्रवाह रुक जाना चाहिये पर रुकता नहीं, इसिछिये इसमें अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आता, इसी मकार श्वरीर और कमों में भी उक्त दोष नहीं, इस मकार जीव तथा कर्मी का अनादि होना उपपादन किया जासका है, और

वेदान्तार्थभाष्ये

590

"अनेनजीवेनात्मनानुप्रविश्य" इत्यादि वाक्यों में जीव का अनादि होना उपलब्ध भी होता है, अतएव कर्म तथा जीव के अनादि होने से ईश्वर में वैषम्य नैर्धृण्य दोष नहीं आते, और न निष्मयोजन छाष्ट्र रचने का दोष आता है।

सार यह है कि मथम सृष्टि के कमों का फर देने के अभिमाय से परमात्मा सृष्टि को रचता है, जैसाकि " स्नूर्य्याच-न्द्रमस्तीधातायथापूर्वमकल्पयत्" कर ८१८ ४८१२ इत्यादि पंत्रों यें वर्णन किया है कि पूर्व सृष्टि के समान ही परमात्मा सूर्य चन्द्रयादिकों को रचता है, इसी अभिमाय को गी०१५। ३ में इस मकार वर्णन किया गया है कि:—

"न रूपमस्यह तथोपलभ्यते-नान्तो न चाऽऽदिनचसंप्रतिष्ठा"

अर्थ-मवाहरूप से संसार का न कोई आदि,न अन्त और न प्रध्य है, अत्र एव ईश्वर को कर्मसापेक्ष कर्त्ता मानने में कोई दोष नहीं।

सं०-ननु, जब उक्त प्रकार से छिष्ट अनादिरनन्त है तो ईश्वर में ईश्वरत्व ही क्या, क्योंकि न वह जीव को उत्पन्न कर सक्ता न प्रकृति को, इसमे ईश्वर के अनन्त सामर्थ्य में दोष आता है ? उत्तरः—

सर्वधमॉपपत्तेश्च ॥ ३७॥

पद०-सर्वधर्मीपपचेः। च।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

द्वित्रीनाध्याये अथमः पादः

355

पदा०-(च) और (सर्वधर्मोपपत्तेः) जगत के चेतनकर्षा में जो धर्म अपेक्षित हैं उन सब धर्मों की सिद्धि पाये जाने से उक्त दोष नहीं आसा।

भाष्य-ब्रह्म में उन सब धर्मों की उपपत्ति=सिद्धि है जो उस में होने चाहियें अज्ञानी पुरुषों के कल्पना किये हुए सब धर्म उसमें नहीं होसक्ते,यदि सब धर्म के अर्थ यहां इयत्तारिहत धर्मी के छिये जायं तो ईश्वर का उत्पत्तिविनाशशाछी होना, अपने जैसा और ईक्वर उत्पन्न करलेना, अपने आपको मार डालना, इत्यादि अनन्त अनिष्ट धर्म पानने पड़ेंगे, इमलिये "सर्वधर्म" के अर्थ यहां ईम्बर योग्य धर्मों के ही हैं और वह योग्यता यह है कि " इष्टे-इति - ईश्वरः "= जो ऐश्वर्य रखता हो उसका नाम " हुश्वर " है, सो उसका ऐश्वर्य यह है कि वह चराचर जगत की रचना करने वाला, चराचर का अधिष्ठाता, ज्ञाता, जाता और निर्माता है, इसालिये उसके ईश्वरत्व में दोष नहीं आता, और जो स्वामी बं॰ चा॰ ने उक्त सूत्र के यह अर्थ किये हैं कि सर्वधर्म उसमें वनसक्ते हैं अर्थाव जड़ तथा चेतन दोनों के धर्म उसमें होसक्ते हैं, उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि उक्त आश्रय सूत्रकार का होता तो अभिन्निनिमेचो-पादान कारण में पूर्वोक्त दोष न दिये जाते, जैसाकि (१) वह निराकार अभिन्ननिमित्तोपादानकारण कैसे बनगया ? (२) जब वहजगत् बना तो आधा बना व सारा ? (३) यदि वह आधा जगदाकार हुआ तो निरवयव न रहा, यदि सारा जगदरप बद

282

वेदान्तार्थभाष्ये

गया तो वेष ब्रह्म न रहा ? (४) जब वह अपने आप वारीरों को बनाकर डनमें मदेश कर गया तो उसने नित्य शुद्ध बुद्ध शुक्तस्वरूप की पदवी से गिरकर जन्म मरणादि धर्मी का षाम वन आत्महनन किया, इत्यादि अनेक सकी के उत्तर में स्वामी बं० चा० ने यही पर्याप्त समझा कि 'स्विच्ध्रमीं प्रपत्तिश्च" के अर्थ सब शुभा-शुभ धर्मी के हैं।

स्त्रामी बं॰ चा॰ जी का एवं विध आष्य देखने से इमको यह पतीत हुआ कि इस खन्न के आष्य में महा च्यास का आवाय गन्धवान भी ग्रन्थन नहीं किया गया, अन्यथा ऐसा परस्पर असम्बद्ध छेख महा च्यास क्यों छिखते जो इतरच्यपदेशाधिकरण में ब्रह्म को सब दोषों से दूरकर "अधिकृन्तुभेद्दिनिहेशात् " इस खन्न में सर्वोपिर सिद्ध किया, ंऔर प्रयोजनहेंशात् " इस खन्न में सर्वोपिर सिद्ध किया, ंऔर प्रयोजनव्याधिकरण में परमात्मा के छिष्ठ रचने में प्रयोजन और उसके न्यायादिकों को सम्यग् रीति से निक्षण किया, एवं परमात्मा के न्याय की निर्मछता तभी रहसक्ती है जब उक्त खन्न के अर्थ पूर्व खनों के साथ सङ्गित रखें, वह सङ्गित सर्व बाब्द को संकुचित यानने पर ही रहसक्ती है अर्थात सर्वधमों से आवाय यहां उन धमों का है जो परमात्मा के योग्य हैं, इसीछिये स्वामी रामानुज ने छिखा है कि:—

"अतस्सर्वविलक्षणत्वात्सर्वशक्तित्वाहीलैकप्रयो जनत्वात् क्षेत्रज्ञकर्मानुग्रण्येनविचित्र सृष्टि योगाद् ब्रह्मेव जगत्कारणस् " श्री० भा० व० स०२।१। ३५ अर्थ-सब से विलक्षण सर्वशक्तिमान परमात्मा जीवों के, कर्मानुकूल ही स्रष्टिक क्तां है निरपेक्ष कर्चा नहीं, यहां स्वामी राम्मानुज ने पूर्व सूत्रों की सङ्गति को नहीं छोड़ां और सर्वशक्तिमान के वहीं अर्थ किये हैं जो वेद शास्त्रानुकूल हैं अर्थाद वह सब शाकियें उसमें हैं जिनसे उनके न्याय नियमादिकों में कोई दोष नहीं आता, इसी अभिमाय से उन्हेंनि कई एक स्थलों में परमात्मा के कल्याण गुणों की अनन्तता मानी है,स्वा० शं० चा० के समान भले बुरे सब गुणों का आश्रय परमात्मा को नहीं माना।

इति प्रथमःपादः समाप्तः

अथ दितीयःपादः प्रारम्यते

CRACKET

सं०-प्रथम पाद में स्मृतियों के साथ वेदान्तशास्त्र के सम-न्वय का अविरोध कथन करके अब केवल तर्कद्वारा वेदविरोधी मतों का विस्तारपूर्वक खण्डन करने के लिये इस पाद का मारम्भ करते हैं:—

रचनानुपपत्तश्चनानुमानम् ॥१॥

पद०-रचनानुपपत्तेः । च । न । आनुमानं ।
पदा०-(•रचनानुपपत्तेः)रचना की उपपत्ति न पायेजाने
से (आनुमानं) अनुमान मिद्ध प्रधान=पकृति जगद का
निमित्तकारण (न) नहीं होसकती ।

288

वेदान्तार्यभाष्ये

भाष्य जड़ मक्कति से ही सब संसार उत्पन्न होता और उसी
में नाना प्रकार के स्वभाव हैं जिसमे मब प्रकार की रचनायें
होसक्ती हैं फिर प्रकृति से भिन्न ईश्वर के निभित्तकारण प्रानने
की आवश्यका नहीं ? यह अनीश्वरवादी का पूर्वपक्ष इसिंखें
ठीक नहीं कि यह जो नाना प्रकार की रचना संसार में पाई जाती
है इसका कर्चा प्रकृति नहीं होसक्ती, क्योंकि वह जड़ है
उसमें रचना करने का ज्ञान नहीं, इस प्रकार इस सूत्र में चार्वाक
यस का खण्डन किया है जो चार भूतों से भिन्न अन्य किसी पदार्थ
को जगद का कर्चा नहीं मानते।

स्वामी बं० चा० इस मूत्र का यह अर्थ करते हैं कि रचना के न बनसकने से सांख्यशास्त्र का माना हुआ प्रधान जगत का कर्चा नहीं, स्वामी रामानुज तथा मध्वादि सब आचार्य्य इस पाद में सांख्य, वैशेषिकादि शास्त्रों का खण्डन वड़े बलपूर्वक करते हैं, प्रन्तु यह भाव इस पाद का कदापि नहीं, क्योंकि जिस समय इन आचार्यों के भाष्य बने थे उस समय शास्त्रों के परस्पर खण्डन का आविधिक समय आगया था उसी समय के प्रभाव से इन लोगों ने वेदान्त से भिन्न पाचो शास्त्रों का खण्डन किया है जो वेदान्त शास्त्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, इन विषय में निम्न लिखत युक्तियें हैं:—

(१) वेदान्त सूत्रों में कहीं भी सांख्य वैशोषकादि शास्त्रों का नाम लेकर खण्डन नहीं किया गया।

- (२) इन मुत्रों का आश्चय भी परस्पर शास्त्रों के स्वण्डन का नहीं पाया जाता।
- (३) जब वैदिक समय से लेकर उपनिषदों के समय तक कहीं भी वैदिक शास्त्रों का खण्डन नहीं तो फिर दर्शनों में यह बात कैसे होमक्ती है कि एक द्सरे का खण्डन करे।
- (४) दर्शन शास्त्र उस ममय के बने हुए हैं जिस समय आपस के द्वेष का लेशमात्र प्रवेश भी भारत में नहीं हुआ था, उक्त तकों से स्पष्ट पतीत होता है कि शङ्कराचार्य आदि एक दूसरे के पीछे चलते हुए शास्त्रों का खण्डन करते हैं और स्याद उन्होंने अपने मन में इसी बात का गौरव समझा है कि अन्य शास्त्रों का खण्डन करके वेदानत को सब से उच्च रखें, जैसािक आज कल के वेदिवरोधी कई एक ग्रन्थकारों ने लिखा है कि:-

तावत्गर्जान्त शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जिति महाबाहुर्यावदेदान्तकसरी ।।

अर्थ-शास्त्रकृषी जम्बुक=गीदड़ जङ्गल में तभी तक गर्जते हैं जब तक वेदान्तकृषी सिंह नहीं गर्जता।

इस आशय को लेकर इन्होंने अन्य शाखों की मतिष्ठा की अपेक्षा नहीं की. इसलिये वैदिक सिद्धान्त में शाखों का परस्पर विरोध कदापि मान्य नहीं होसक्ता, हम इस पाद के यथार्थ अर्थ जैमेकि न्यासमूत्रों से मतीत होते हैं करते हैं, जिससे मकट होनायगा कि न्यास का आशय कदापि अन्य शाखों के खण्डन का न था, यद्यपि इस अंश में छकीर के फकीर यह कहेंगे कि तुम्हारे पूर्वाचायों से विरुद्धार्थ प्रमाण नहीं तथापि इस उन छोगों के कथन की अपेक्षा न करके महर्षि ज्यास के आशय को छिपा नहीं सक्ते और नाही इस वैदिकभाव को दवा सक्ते हैं जो वैदिक समय से छकर शास्त्रों के समय तक एकरस चला आया है कि शास्त्रों का परस्पर विरोध नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ को अन्य हेत् ओं से स्पष्ट करते हैं:-

प्रवृत्तेश ॥ २॥

पद०-महत्तेः। च।

पहा०-(च) और (महत्तेः) महत्ति के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-कार्यानुकूल चेष्टा का नाम " प्रृतृत्ति" है, और बह प्रदिश्च केवल जड़ द्रव्य में नहीं होसक्ती,इसलिये पृथिवी,जल, तेज, बायु, यह चारो भून जगत्र का निमित्तकारण नहीं होसक्ते, इससे भी चार्वाक का पर ठीक नहीं, स्वामी शं० चा० इस सूत्र के यह अर्थ करते हैं कि सांख्य वालों ने जो तीन गुणों की साम्याबस्या इप प्रकृति मानी है उसकी प्रदिश्च विना चेतन से नहीं होसक्ती, इसलिये सांख्यमत ठीक नहीं, यह कथन भी पूर्वोक्त युक्तियों से अमझत जानना चाहिये।

पयोऽम्बुवचेत्तत्रापि ॥३॥ पद०-पयोऽम्बुवद। चेद। तत्र। अपि॥

पदा०-(चेत्) यदि (पयोम्बुनत्) द्घ, जल की भांति जड़ की स्वतः मद्यत्ति माने तो (तत्र,अपि) वहां भी जड़ मद्यार्च चेतन द्वारा ही पाई जाती है ॥

भाष्य-यदि द्ध और पानी के दृष्ठान्त द्वारा जड़ की स्वतः

महित्त माना कि जैसे बच्चे के निमित्त स्तनों से दृष स्वयं बाहर

आजाता है, एवं विना किसी चेतन प्रवंत्तक के नीचे स्थानों की ओर

जड़ जल स्वयं चला जाता है इसीमकार पृथिन्यादि जड़ दृन्य

से स्वतः ही जगत्रचना की महित्त सिद्ध होजायगी, फिर जड़

दृन्य से भिन्न ईश्वर मानने की क्या आवश्यक्ता है ? इसका

उत्तर यह है कि यदि ऐसा माना तो वहां भी चेतन के अधीन

ही महित्त हैं, क्यों कि दृष स्वयण पक्ष में गो और वच्छा दोनों

चेतन हैं, इसिल्ये उनके न्यापार से महित्त होती है, और नीचे के

स्थानों की ओर पानी के जाने का नियम हं जोकि नियन्ता से विना

नहीं बनसक्ता, इसिल्ये विना चेतन से जड़ द्रन्य में महित्त न

हो सकने से चार्वाकादिकों का कथन केवल साहसमात्र है।।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

पद०-व्यतिरेकानवस्थितः। च । अनपेक्षत्वात्।

2

पदा०-(च) और (अनपेक्षत्वात्) स्वभिन्न किसी वास साधन की अपेक्षा न रखने से (व्यतिरेकानविस्थतेः) अभाव की स्थिति न पाये जाने के कारण चार्वाक पक्ष ठीक नहीं। भाष्य-व्यतिरेक=अभाव की अनवस्थिति=स्थिति न हो-सकने से यह अनीश्वरवाद ठीक नहीं, क्योंकि जब जड़ द्रव्य के स्वभाव ही से स्टिष्ट उत्पन्न होगी तो फिर कभी भी इसका अभाव न होगा, क्योंकि किभी और पदार्थ की अपेक्षा वाळा इस जड़ द्रव्य को चार्वाक लोग नहीं मानते, और हम ईश्वरवादियों के पक्ष में जो न्यायकारी ईश्वर है वह पूर्व कमीं की अपेक्षा से स्टिष्ट बनाता है और इसी कारण कमीं का भोग समाप्त हो चुकने पर स्टिष्ट का लय होजाता है.या यों कहोकि स्वाभाविकस्टिष्टवादियों के मत में जड़ द्रव्य किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता, इसिल्ये सदैव स्टिष्ट बनी रहनी चाहिये पर ऐसा नहीं, इससे भी चार्वाक मत ठीक नहीं॥

अन्यत्राभावाच न तृणादिवत् ॥५॥

पदः - अन्यत्राभावात् । च । न । तृणादिवत् ।

पदा०-(च) और (अन्यत्राभावात्) अन्य पदार्थ में न बनमकने से (तृणादिवत्) तृणादिकों की भांति पकृति की स्वतः प्रदृति (न) नहीं होमक्ती॥

भाष्य-जैसे गौ को जो घामादि खिलाये जाते हैं वह उसमें जाकर उसके स्वभाव की विचित्रता से ही वहां दूध बनजाते हैं, इसीप्रकार इन जड़ पदार्थों के स्वभाव की विचित्रता से ही जीवों के ऊंच नीचादि भावों का भेद बन मकेगा और इसी स्वभाव की विचित्रता से ही सृष्टि का प्रलय भी बन जायगा, फिर चेत- नकर्ता की क्या आवश्यक्ता है ? इसका उत्तर यह है कि गौ
आदिकों में तृणादि द्वारा दृध का नियम पाये जाने से और
बैलादिकों में उक्त नियम के न होसकने से यह नियम किसी
नियन्ता के अधीन है, इसीलिये तृणादिकों का दृष्टान्त ठीक
नहीं, क्योंकि तृणादि ईश्वर के नियम से दुग्धादि परिणाम को
पाप्त होते हैं इस पकार स्वभाववाद की सिद्धि के लिये तृणादि का
दृष्टान्त सङ्गत नहीं होसक्ता ॥

अम्युपगमेऽप्यर्थामावात ॥ ५॥

.पद ०-अभ्युपगमे । अपि । अर्थाभावाद ।

पदा॰-(अभ्युपगमे, अपि) मान लेने पर भी (अर्था-भावाद) अर्थिसिद्धि न होसकने से स्वभाववाद असङ्गत है ॥

भाष्य-यदि मान भी छिया जाय कि जड़ द्रव्य ही संसार को रच छेता है तो भी प्रयोजन के न बनसकने से चार्वाक मत ठीक नहीं अर्थाद यह जो जगद में नाना प्रकार के प्रयोजन पायेजाते हैं जैसाकि संसार में शब्द साझाद कार के छिये श्रोत्र, स्पर्श का ग्राहक लचा, रूप ज्ञान के छिये चक्षु, रसार्थ रसना और गन्ध गुण के छिये ग्राण इन्द्रिय बनाया गया, इसादि प्रयोजन चेतनक जां से चिना कदापि नहीं होसक्ते, इस सूत्र को भी स्वामी शं० चा० ने सांख्य शास्त्र की मानी हुई प्रकृति के खण्डन में छगाया है और युक्ति यह दी है कि प्रधान का स्राष्ट रचने में कोई प्रयोजन नहीं होमक्ता, यदि मुक्ति प्रयोजन कहाजाय तो मुक्ति तो प्रथम ही प्राप्त थी जब कि स्रष्टि भी नहीं बनी थी, यदि विचार कर देखें तो यह तर्क शक्करमत को उलटा काटता है, क्योंकि उक्त मत में स्रष्टि रचने से प्रथम जीव ब्रह्मरूप से मुक्त था फिर मुक्ति का प्रयोजन नहीं होसक्ता, यदि यह कहा जाय कि भोग के लिये स्रष्टि रची तो भोग का प्रयोजन इसलिये नहीं बनसक्ता कि पूर्ण ब्रह्म में भोग की क्या अपूर्णता थी, और सांख्य मत में उक्त दोष इसलिये नहीं आता कि सांख्यशास्त्र पुनर्जन्म को मानता है, क्योंकि उसमें त्रिविध दुःकों की असन्त-निष्टित्त को पुरुषार्थ माना है, फिर कैसे कहा जाता है कि सांख्यमत में स्रष्टि रचने का कोई प्रयोजन नहीं, यदि यह कहाजाय कि पूर्व कर्म कहां से आये जिनकी अपेक्षा से स्रष्टि रची ? तो खबर यह है कि यह प्रवाह अनादि है, इसलिये पूर्वकमों पर कोई सक्ष नहीं होसका।

पुरुषारमवदिति चेत्तथापि ॥ ७॥

पद् - पुरुषाञ्चवत् । इति । चेत् । तथापि ।

पदा०-(पुरुषाइमवत्) पुरुष और पत्थर की भांति स्वतः महीच होगी (चेत्) यदि (इति) ऐना कही तो भी (तथापि) भयोजन की सिद्धि नहीं होसक्ती ।

भाष्य-यदि यह कहाजाय कि जैसे क्यादि झानशाकि विहीन अन्ध पुरुष दूसरे पुरुष को पाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करकेता है इसीमकार यह प्रथिच्यादि भूतचतुष्ट्य भी देशकाळादि निमित्तों को पाकर सृष्टि रचना करलेंगे और जैसे अदम=चुबम्क
पत्थर अपनी स्नाभाविक दाक्ति से लोहे को खींचलेता है इसी
मकार यह जड़ दृज्य सृष्टि को बनालेंगे ? इसका उत्तर सूत्रकार
यह देते हैं कि पुरुष और चुम्बकपत्थर के समान भी तुम जड़ दृज्य
में जगेत रचने की किया सिद्ध नहीं करसक्ते, क्योंकि अध
पुरुष को भी जबतक कोई मार्ग बतलाने वाला ज्ञानी नहीं मिलता
सबसक वह अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं करसक्ता, एवं चुम्बक
का भी जबतक लोहे के साथ सम्बन्ध नहीं होता नबतक वह भी
अपना काम नहीं करता, इसी प्रकार जबतक तुम्हारे जड़ दृज्य
का किसी चतन पुरुष के साथ सम्बन्ध न हो तबतक उससे स्वयं
सृष्टि बनना असम्भव है ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८ ॥

पद् ०-अङ्गित्व। नुपपत्तेः । च ।

पदा०-(च) और (अङ्गित्वानुपपत्तेः) किसी चेतन पदार्थ का सम्बन्धी न होने मे जड़ में स्वतः प्रष्टति नहीं होसक्ती।

भाष्य-जवतक जड़ पदार्थ का कोई चेतन पदार्थ अङ्गी=स-म्बन्धी न हो तबतक उससे स्वयं रचना नहीं होसक्ती, औरचार्वाक छोग ऐसा नहीं मानते, अतप्व उनके मत में स्टष्टि रचना की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है।

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशाक्तिवियोगात्। ९।

पद०-अन्यथा। अनुमितौ। च। इशक्तिवियोगात्।

पदा०-(च) और (अन्यथा) अन्य प्रकार से (असुभितो) अनुमान करने पर भी जड़ प्रदक्ति स्वतः नहीं होसक्ती, क्योंकि (इशक्तिवियोगाद) उसमें चेतनशक्ति का योग नहीं।

भाष्य-अन्य प्रकार से अनुमान करने पर भी नास्तिकों का निर्वाह नहीं हो सक्ता अर्थाद यदि नास्तिक यह मानें कि इस जड़ द्रव्य में हम एक ज्ञाक्ति मानलेंगे जिस में स्टिष्ट्रियना आदि सब प्रयोजन सिद्ध होसकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि उस ज्ञाकि के चेतन न होने से तुम्हारा मत ठीक नहीं।

विप्रतिषेधाचासमञ्जसम् ॥१०॥

पदा०-विमतिषेधात्। च। असमञ्जसम्।

पदा०-(च) और (विश्वतिषेधात्) परस्परिवरोध होने से भी (असमज्जसम्) नास्तिक मत ठीक नहीं।

भाष्य-परस्पर विरोध होने से भी तुम्हारा मत ठीक नहीं अर्थात नास्तिक छोगों के मत में परस्पर विरुद्ध बातें पाई जाती हैं, कोई कहते हैं कि समय के प्रभाव से स्रष्टि रचना होती है इसिछिये काछ ही कारण है, कोई कहते हैं कि प्रथिवी, जल, तेज, वायु ये चार भूत ही स्रष्टिके कारण हैं,कोई कहते हैं कि उक्त भूतों की शाक्ति स्रष्टि रचने का कारण है,अन्यों का कथन है कि यह माया आनेर्ब-चनीय है जिसको हम कथन नहीं करसक्ते उससे स्रष्टि होती है, इत्यादि परस्पर विरुद्ध नाना कल्पनाओं से भी नास्तिकों का मत ठीक नहीं। "रचनाऽनुपपत्तेश्च" ब्र॰ सु॰ २। २। १ से छेकर उक्त सूत्र पर्यन्त स्त्रामी शङ्कराचार्यजी ने इन दश्च सूत्रों को सांख्य शास्त्र के खण्डन में लगाया है जो ग्रन्थ के विस्तार भय से उक्त सब सूत्रों पर स्वामी शं॰ चा॰ के भाष्य का आश्चय नहीं दिखलाया गया, पाठक उक्त लेख से ही उनका आश्चय समझलें।

इस सूत्र का उक्त स्वामीजी यह अर्थ करते हैं कि कहीं सांख्यी लोग सात इन्ट्रियों को मानते हैं, जैसाकि एक बुद्धि.पांच कर्मेन्द्रिय और सांतवां मन,कहीं बुद्धि, अहंकार और मन, यह तीन अन्तः-करण, और कहीं एक बुद्धि ही इन्द्रियमानते हैं,इस प्रकार सांख्यों का दर्शन परस्पर विरुद्ध होने से ठीक नहीं, पहली बात यह है कि पूर्वोक्त इन्द्रियों की संख्या में जो विरोध निरूपण किया गया है वह सांख्यशास्त्र में नहीं, अन्य आधुनिक ग्रन्थों के इम समा-धाता नहीं, क्योंकि उनके परस्परविरोध से सांख्यशास्त्र का खण्डन नहीं होसक्ता, यादे इसी मकार के विरोध छिये जायं तो स्वामी बां० चा० के मत में भी तो सैकडों विरोध हैं, कहीं अन्तःक-रणाविच्छन जीव है, कहीं आभास जीव है, कहीं एक जीववाद है, कहीं नाना जीववाद हैं, कहीं जीव ब्रह्म का अंश है, कहीं जीव ब्रह्मरूप से ही प्रवेश हुआ है. कहीं जीव अविद्या से बना है, और कहीं ' अनेनजीवनात्मनाऽनुप्राविश्यनामरूपे व्याकर वाणि " इत्यादि वचनों से जीव को अनादि सिद्ध किया गया है, कहां तक कहें सहस्रों विरोध हैं, क्या इन भेदों से मायावाद वेदान्त असमअस नहीं।

388

वेदान्तार्थभाष्ये

सं ० - नतु, निरवयव परमाणुओं से कारणगुण विपरीत साव-यव कार्य जगत की उत्पत्ति कैसे ? उत्तरः ---

महद्दीर्घवद्वाह्यस्वपरिमण्डलाम्याम् ॥११॥

पद्-महदीर्घनत्। वा । हस्त्रपरिमण्डलाभ्याम् ।
पदाः - (हस्त्रपरिमण्डलाभ्यां) हस्त्र परिमाण वाले द्वयणुक
तथा परिमण्डल परिमाण वाले परबाणुओं से (महदीर्घनत्) महत्
तथा दीर्घ परिमाणवाले कार्य्य की भांति सात्रयत्र जगत् की
उत्पत्ति होसक्ती है।

भाष्य-"वा" प्रबद्ध सिद्धान्तपक्ष के द्योतनार्थ आया है और परमाणुगत परिमाण को "परिमण्डल " कहते हैं, जिस मकार परिमण्डल परिमाणवाले परमाणुओं के कार्यभूत द्विणुक में अपने कारण से निछक्षण हस्त्र परिमाण खत्पन होजाता है तथा द्विण्य के इस्त्र परिमाण से उसके कार्य व्यापक में दीर्भ और महत्परिमाण उत्पन्न होता है इसी मकार निरवयन परमाणुपुंज से कार्य द्रव्यों में स्वकारणगत परिमाण से विछक्षण महत्त परिमाण उत्पन्न होता है अर्थात निरवयन परमाणुपुंज के मचय विशेष से महत्त परिमाण की उत्पत्ति की भांति निरवयन परमाणुओं से सावयन जगत की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं, और जो स्वामी बाक्कराचार्यजी ने इस सूत्र से छकर "अपरिग्रहाचा-त्यन्तमनपेशा" विश्व है, क्योंकि यहां परमाणुनाद के लण्डन का कोई मकरण नहीं।

और यदि इस्व तथा परिमण्डल के दृष्टान्त से उक्त स्वामी जी की यह बात मान भी लीजाय कि विकक्षणों में भी कार्य-कारण भाव होजाता है तब भी ब्रह्म के जुपादानकारण होने का यहां कथन नहीं पायाजाता, क्योंकि यह पाद उपादानकारण की सिद्धि के लिये पटत नहीं हुआ किन्तु "रचनाऽनुपपत्तेरच" इस सूत्र से लेकर निमित्तकारण के जपपादन करने को यह पाद पटत हुआ है, और ऐमे निमित्तकारण को वर्णन करता है जो निसश्च दुद्ध मुक्तस्वभाव कूटस्थ निस्स है, किर उमका उपादानकारण हुप से सूत्रकार कैसे वर्णन कर

सके हैं, और तर्क यह है कि "पयोऽम्बुवचेल्ल्लापि"

विक स् २ । २ । ३ इस सूत्र में बं० चा० ने दृध और जल का

मेरक परमेश्वर भिन्न माना है, फिर यहां उस परमेश्वर को वैद्येिषक बास्त्र के माने हुए परमाणुक्ष्य उपादान का खण्डन करके

उसको जड़ जगद का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कैसे सिद्ध

करसक्ते हैं॥

सं ० - अब मायावादियों के मत में सृष्टि की अनुपपित्त कथन करते हैं: --

उसयथाऽपि न कर्माऽतस्तदभावः॥ १२॥

पद०-डभयथा। अपि। न। कर्म। अतः । तद्भावः।
पदा०-(डभयथा) दोनों प्रकार से (अपि) भी उसमें
(कर्म) किया नहीं होसक्ती (अतः) इसिछिये (तद्भावः) ब्रह्म
जगद का उपादान कारण नहीं ॥

भाष्य-मायावादियों के मत में ब्रह्म निष्क्रिय है इसिल्ये उसमें कर्म नहीं और नाही जड़ माया में कर्म होसक्ता है, जैसाकि तीसरे सूत्र के भाष्य में स्वामी द्यां० चा० मान चुके हैं कि जड़ द्रव्य चेतन से विना कोई काम नहीं करसक्ता, इससे यह भी स्पष्ट होगया कि वह चेतन ब्रह्म इस सब जड़ जगद से पृथक् है, फिर बह अभिक्रीनिमत्तोपादानकारण कैसें?।

तात्पर्य यह है कि माया उपाधि वाले ब्रह्म को उपादान कारण मानकर दोनों प्रकार से कार्य्य नहीं होसक्ता, क्योंकि

द्वितीयाध्याये-द्वितीयः पादः

289

मायाबादियों के मत में निष्क्रिय ब्रह्म तथा जड़ माया में कर्म की स्वतन्त्रता नहीं, इसमकार आदि स्टिष्ट में कर्म न बनसकने से मायाबादियों के मत में स्टिष्ट की उत्पत्ति कल्पनामात्र जाननी चाहिये।

समवायाभ्युपगमाचसाम्यादनवस्थितः। १३।

पद०-समत्रायाभ्युपगमात्। च। साम्यात्। अनवस्थितेः।
पदा०-(समत्रायाभ्युपगमात्) माया तथा ब्रह्म का
सम्बन्ध मानने (च) और (साम्यात्) दोनों के सम्बन्ध में
समान तर्क पाय जाने से (अनवस्थितेः) कार्य्य कारणभाव की स्थिति न होने के कारण ब्रह्मकारणवाद
ठीक नहीं॥

भाष्य-मायावादियों से प्रष्टच्य यह है कि माया और ब्रह्म का सम्बन्ध किसने उत्पन्न किया ? यदि कही कि उक्त सम्बन्ध का हेतु माया है सो ठीक नहीं, क्योंकि जड़ माया में स्वतः सम्बन्ध उत्पन्न करने की क्रिया नहीं होसक्ती और निष्क्रिय निर्विकार ब्रह्म माया के विना सम्बन्ध का हेतु नहीं होसक्ता, इस मकार उत्तरोत्तर अने कं तर्क पाये जाने से कार्यकारणभाव की स्थित के निर्मित्तभूत माया तथा ब्रह्म का सम्बन्ध न बनसक ने के कारण ब्रह्म को जगत का उपादानकारण मानना केवळ साइसमात्र है।

नित्यमेव च भावात् ॥ १४॥

पद ०-निसम्। एव। च। भावात्।

पदा०-(च) और (निसं) सदा (एव) ही (भावात्)

जगत के बने रहने से बहाकारणवाद ठीक नहीं।

भाष्य-और बात यह है कि माया और ब्रह्म के सम्बन्ध से स्टाष्टि का होना मानाजाय तो स्टिष्ट सदा ही बनी रहनी चाहिये पर ऐसा नहीं, और जो अद्वेतवादी ब्रह्म और माया का सम्बन्ध मान के ब्रह्म को जगत का उपादानकारण बनाते हैं तो ब्रह्म और माया का सम्बन्ध सदा ही बना रहेगा, क्योंकि ब्रह्म सर्वञ्यापक है और माया उसके आश्रित रहती है, इसप्रकार माया और ब्रह्म का निस सम्बन्ध होने से विचारा ब्रह्म कभी माया से विनिर्मुक्त न होसकेगा, इस प्रकार स्टिष्ट का कभी र प्रजय होने से भी ब्रह्म जगद का उपादानकारण नहीं बनसक्ता ॥

सं०-अत्र ब्रह्मकारणवाद में और अनुपर्यात्त कथन करते हैं:-

रूपादिमलाचविपर्ययोदर्शनात् ॥ १५॥

पद०-इपादिमलात । च। विपर्ययः। दर्शनात ।
पदा०-(च) और (विपर्ययः, दर्शनात) कार्य्य जगत
से ब्रह्म विलक्षण होने के कारण जगत का कारण नहीं होसक्ता,
क्योंकि (इपादिमलात) जगत इपादि गुणों वाला है।

भाष्य-और बात यह है कि उपादानकारण ब्रह्म तुम्हारे मत में रूपरहित और साकार जगत रूपवाला है यह विल-

द्वितीयाध्याये-द्वितीयः पादः

288

क्षणता देखे जाने से ब्रह्म जगद का उपादानकारण नहीं बन-सक्ता, क्योंकि जो कारण में गुण होते हैं वही कार्य्य में आया करते हैं फिर निराकार शुद्धचेतन ब्रह्म से यह साकार जड़ जगत कैसे बनगया, और यदि यह कहाजाय कि ब्र॰ स्र॰ २। २ । ११ में कारण से कार्य की विलक्षण उत्पत्ति मानी गई है फिर यह कैसे कहसक्ते हो कि निक्प ब्रह्म से रूप बाळा जगद नहीं बनसक्ता ? इसका उत्तर यह है कि उक्त सूत्र में विछक्षण उत्पत्ति से यह तात्पर्य नहीं कि उपादानकारण के गुण कार्य में नहीं आते किन्तु यह तात्पर्य है कि निरवयव परमाणुपुक्ष के प्रचय विशेषादिकों से सावयव जगत बनजाता है अर्थात जैसे बहुत स्रक्ष्मपदार्थों के एकत्रितकरने से एक स्यूछ पदार्थ बन जाता है इसीमकार परमाणुपुञ्ज से साकार जगद बनने में कोई देश नहीं, और मायावादियों के मतमें तो रूपादि गुण ब्रह्म में सूक्ष्म इप से भी नहीं फिर उपादानकारण ब्रह्म से कार्य्य में इपादि गुण कहां से आये, इसिछिये ब्रह्म से कार्यक्प जगत का मानना ठीक नहीं॥

उभयथा च दोषात् ॥१६॥

पद०-उभयथा । च । दोषात् ।

पदा०-(च) और (उभयथा) दोनों प्रकार से (दोषाय) दोष पायजाने के कारण ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं ॥ भाष्य-अँद्रेतवादी छोग ब्रह्म को अभिक्रीनिमिचोपादान

कारण इस प्रकार मानते हैं कि ब्रह्म में जो मायांश है वह जगत का जपादानकारण और चेतन ब्रह्म निमित्तकारण है, इसमें यह प्रष्टुच्य है कि वह माया ब्रह्म का स्वक्ष्य है अथवा नहीं ? यदि ब्रह्म का स्वक्ष्य है तो ब्रह्म ही जपादानकारण हुआ और यदि स्वक्ष्य नहीं तो ब्रह्म से भिन्न माया जपादानकारण हुई ब्रह्म नहीं बह केवल निमित्तकारण ही रहा, इसलिये दोनों प्रकार से इनके मत में दोष आने के कारण ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं।

अपरिग्रहाचात्यन्तमनपेक्षा॥१७॥

पद०-अपरिग्रहात् । च । असन्तं । अनपेक्षा ॥
पदा०-(च) और (अपरिग्रहात्) ग्रहण न किये जाने
से मायावाद (अत्यन्तं) नितान्त (अनपेक्षा) आदरणीय नहीं ॥

भाष्य-किसी सच्छास्त्र में मायावाद का आदर न पायेजान से माया उपाधिवाला ब्रह्म जगत का उपादानकारण नहीं अर्थात वेद तथा उपनिषद् ग्रन्थों में मायोपहित ब्रह्म को जगत का कारण नहीं माना मत्युत कल्याणगुणाकर, सर्वज्ञ,सर्वशक्तिमान ब्रह्म को ही जगत्कर्त्ता मतिपादन किया है,इसलिये सर्वभकार से मायावाद आदरणीय नहीं ॥

सं०-मायावाद का खण्डन करके अब बौद्धों की प्रिक्रया का खण्डन करते हैं:—

समुदाय उभयहेतुकेऽपितद्प्राप्तिः॥१८॥ पद॰-समुदाये । उभयहेतुके । अपि । तदमाप्तिः। पदा॰-(जभयहेतुके) दोनों पकार के (समुदाये) समुदायों में (अपि) भी (तद्पाप्तिः) सृष्टि की उत्पश्चि नहीं होसक्ती॥

भाष्य-वैभाषिक, सौत्रान्तिक योगाचार और माध्यमिक यह बुद्ध के चार शिष्य हैं, इन चारों की बुद्धिभेद से बौद्धमत के चार भेद हैं, इनके मत में संसार की उत्पत्ति का हेतु दो प्रकार का समुदाय मानागया है,एक वाह्यममुदाय और दृशरा आन्तर समुदाय, पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों के परमाणुक्प समुदाय का नाम " वाह्यसमुद्य " और रूप, विज्ञान, वेदना, मंज्ञा तथा संस्कार इन पांचो स्कन्थों का नाम "आन्तर समुदाय " है, विषयसहित इन्द्रियों का नाम "क्ष्पस्कन्ध " "अहं अहं" इस मकार की मतीति वाले आलय विज्ञान का नाम " विज्ञानस्कन्ध" सुल दुःल के ज्ञानहेतु का नाम " वेदनास्कन्ध " गौ, अस, पुरुष, इस्ति इसादि नामों को " संज्ञास्कन्ध " और रागादि तथा धर्माधर्म को " सं-स्कार स्कन्ध " कहते हैं,इस प्रकार पांच स्कन्धकप " आन्तर समुदाय " तवा पृथिव्यादिभूत क्ष " वाह्य समुदाय " यह दोनों पिलकर स्राष्ट्र उत्पन्न करते हैं ? बौद्धों का उक्त कथन इसलिये ठीक नहीं कि दोनों मकार के समुदाय जड़ होने से उनमें स्वत: क्रिया नहीं होमक्ती और नाही उनके

यत में उभयविध समुदाय से भिक्ष कोई चेतन पवर्त्तक मानागया है जिससे उक्त समुदाय कियावाले होकर इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के जनक होसकों, इत्यादि अनेक दोष पायेजाने के कारण उक्त मत भी मायावाद की भांति निस्सार प्रतीत होता है ॥

सं 0-अब उक्त अर्थ का शङ्कापूर्वक समाधान करते हैं:--

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र-निमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

पद्-इतरतरमसयलात्। इति। चेत् । न । उत्पत्ति-मात्रीनीमत्त्वात्॥

पदा॰—(इतरेतरप्रययलाद) अविद्यादिकों का परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव होने से उक्त उभयविध समुदाय द्वारा उत्पित्ति होसक्ती है (चेद) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वाद) वह उत्पत्तिमात्र में सहकारी है ॥

भाष्य-यदि यह कहाजाय कि यद्यपि हमारे मत में कोई
दियर चेतन कर्ता वा भोक्ता नहीं तथापि अविद्या, संस्कार,
विक्वान, नाम, रूप, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, भव=जन्म, जाति, जरा,
मरण, शोक, परिदेवना इत्यादि अविद्यासमुदाय एक दूसरे
का हेतु इस मकार बन सकेगा कि अविद्यादिकों से जन्म और
जन्म से अविद्यादि, एवं घटीयन्त्र के समान इनमें एक दूसरे का

हेतु बन सकने से जगद की उत्पत्ति में चतन प्रवर्षक की आवश्यक्ता नहीं ? इसका उत्तर यह है कि तुम्हारे यत में अविद्यादि क्षाणिक होने से एक दूसरे का हेतु नहीं बनसक्ते अर्थाद तुम्हारे सिद्धान्त में जब तक पदार्थ क्षणिक है तो अविद्या कैसे निमित्त बनसक्ती है, क्योंकि विपरीत बुद्धि का नाम "अविद्या" है जिससे राग द्वेषादिक उत्पन्न होते हैं, और उनसे विद्यान, विद्यान से संज्ञा संज्ञा से पृथिज्यादिक्षप वाला द्रज्य और उससे इन्द्रिय, उत्पन्न होते हैं इस प्रकार उत्पत्ति भी तभी होसक्ती है जब आविद्या की स्थिर मानाजाय और क्षाणिकवादियों के मत में कोई पदार्थ स्थिर नहीं, इसलिये इतरेतरपत्ययवाली आविद्या संघात का कारण नहीं होसक्ती, इसलिये चेतन प्रवर्णक का मानना ही युक्ति युक्त है।

सं०-अब उक्त मत में और दोष कथन करते हैं:--

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २०॥

पद०-उत्तरोत्पादे । च । पूर्वनिरोधाद ।

पदा॰ – (च) और (उत्तरोत्पादे) उत्तर क्षण के उत्पत्ति समय तक (पूर्विनिरोधाद) पूर्व क्षण नष्ट होजाने से भी उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य-क्षणिकवादी का कथन है कि उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर प्रथम क्षण नष्ट होजाता है, जब ऐसा है तो पूर्वक्षणवनी पदार्थ का उत्तरक्षणवर्ती पदार्थ के साथ कार्य्यकारणभाव कैसे होसक्ता है ? क्योंकि कार्य्य की उत्पत्ति से प्रथम ही वह नष्ट

वेदान्तार्यभाष्ये

३५४

होचुका, इसलिये आविद्यादिकों का परस्पर निमित्तनैमित्तकथाव मानकर संघात की उत्पत्ति मानना समीचीन नहीं।

सं०-अब और दोष कथन करते हैं:-

असतिप्रतिज्ञोपरोधोयौगपद्यमन्यथा॥२१॥

पद०-असित । प्रतिक्षोपरेष्यः । योगपद्यं । अन्यथा ।
पदा०-(असित) हेतु के विना उत्पत्ति मानने से (प्रतिक्षोपरोषः) प्रतिक्षा का भक्त होगा और (अन्यथा) कारणक्षण
की स्थिति मानने से (योगपद्यं) कार्यकारण की युगपत्
आपत्ति होगी।

भाष्य-यदि कारण के विना ही कार्य्य की उत्पत्ति मानें तो आछोक, नेत्र, पूर्वज्ञान और विषय इन चारों से जो छुखादि चैत्र=आन्तरिवयों की उत्पत्ति विषयक प्रतिज्ञा की गई है उससे विरोध आयेगा तथा कार्यपर्यन्त कारण की स्थिति माने तो यौगपद्य=कार्यकारण की एक काल में स्थिति माननी पड़ेगी और ऐसा मानने से क्षणिकवादियों की प्रतिज्ञा भक्त होजायगी, इसलिये क्षणिकवाद की उत्पत्तिमिक्तया मर्वथा असक्त है।

सं०-क्षाणिकवादी के मत में उत्पत्ति की अनुपपत्ति कथन करके अब विनाशमित्रया की अमिद्धि का वर्णन करते हैं:-

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिर-विच्छेदात्॥ २२॥

पद०-मातिसंख्याऽमतिसंख्यानिरोधामाप्तिः। अविच्छेदाद्।

पदा०—(अविच्छेदात्) अविच्छेद के पायेजाने से (प्रति-संख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः) प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रति-संख्यानिरोध का असम्भव होने से बौद्धों की विनाशप्रिया ठीक नहीं।

भाष्य-बुद्धिपूर्वक विनाश का नाम "प्रतिसंख्यानिरोध" है,
यायों कही कि सब संसार आविधिक है जिसका विद्या के उदय
होते की बाध हो नाता है, इस प्रकार बुद्धिपूर्वक नाशभावना को
"प्रतिसंख्यानिरोध" और इससे विपरीत क्षणिक प्राकृत प्रख्य
को "अप्रतिसंख्यानिरोध" और इससे विपरीत क्षणिक प्राकृत प्रख्य
को "अप्रतिसंख्यानिरोध" कहे हैं, आविच्छेद=पदार्थों का
सर्वथा नाश न पाये जाने के कारण उक्त दोनों प्रकार का निरोध
नहीं होसक्ता अर्थात किसी पदार्थ का सर्वथा नाश नहीं होता
किन्तु क्पान्तर होजाता है, पर यह वात बौद्धमत में नहीं बन
सक्ती, क्योंकि इनके मन में प्रत्येक पदार्थ क्षाणिक है, इसिख्ये
निरन्वय=विना मम्बन्ध के दोनों प्रकार का निरोध न बन सकने
से बौद्धों की नाश कल्पना भी ठीक नहीं।

उभयथा च दोषात् ॥२३॥

पद०-उभयथा। च। दोषात्।

पदा०-(च) और (उभयथा) दोनों मकार से (दोषाद)

दोष पायेजाने के कारण बौद्धमत असङ्गत है।

भाष्य-यदि तुच्छ=शून्य से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति यानकर निरन्वय विनाश मानाजाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि तुच्छ से उत्पन्न होने वाला तुच्छक्प ही होना चाहिये, एवं दोनों मकार से देश आता है अर्थात तुच्छक्प कारण माने तो कार्य तुच्छ होजायमा और यदि सत पदार्थ से उत्पत्ति माने तो निरन्वय विनाश नहीं होसक्ता, इसिछये उक्त करपना भी युक्तियुक्त नहीं।

सं ० - ननु, आकाश ता शून्य है फिर कैसे कहाजाता है कि यून्य कोई पदार्थ ही नहीं ? उत्तर:-

आकाशे चाविशेषात्॥२४॥

पद०-आकाशे। च। अविशेषात्।

पदा०-(च) और (आकाशे) आकाश में (अविशेषात्) भावक्य की तुल्यता पाये जाने से वह शून्य नहीं।

भाष्य-वाब्द आकाश का गुण होने से सिद्ध है कि आकाश भाव पदार्थ है शून्य नहीं, अतएव उसका निरन्वय विनाश नहीं होसका।

अनुस्मृतेश्च ॥ २५॥

पद ०-अनुस्मृतेः। च।

पदा ०-(च) और (अनुस्मृतेः) अनुभव किये हुए पदार्थ की स्मृति पायेजाने से कोई पदार्थ क्षणिक नहीं॥

भाष्य-बौद्ध लोगों का यह कथन कि वस्तुमात्र स्निणक है इसलिये ठिक नहीं कि अनुभव तथा स्मरण का नियम से समानाधिकरण पायाजाता है, इसलिये अनुभव किये हुए पदार्थ की अनुभव से अनन्तर स्मृति पायेजाने के कारण अनुभ-वकत्तों स्निणक नहीं होसक्ता अन्यथा जिसने अनुभव किया था वह तो नष्ट होचुका फिर स्मृति किसको होगी, इसमकार स्मृति की अनुपपत्ति से भी क्षणिकवाद असङ्गत जानना चाहिये।

सं ७ – अव वादी के मत में दो सूत्रों से और दोष कथन करते हैं:—

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६॥

पद ० – न । असतः । अदृष्टलात् ।

पदा॰-(असतः) असत पदार्थ से कार्य्य की उत्पत्ति (अदृष्टवात्) न देखे जाने से श्रून्यवाद (न) ठीक नहीं॥

भाष्य-और जो शून्यवादी का कथन है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति पायेजान के कारण शून्य ही परमार्थ वस्तु है भाव कोई पदार्थ नहीं? इसका उत्तर यह है कि असत से सत की उत्पत्ति में कोई दृष्टान्त न पाये जाने से भावक्ष्य दुग्धादि पदार्थी द्वारा दिध आदि पदार्थों की उत्पत्ति देखे जाने से शून्यवाद असङ्गत है।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धि॥ २७॥

पद०-उदासीनानां। अपि। च। एवं। सिद्धिः।
पदा०-(च) और (एवं) अभाव से भाव की उत्पत्ति
पानने पर (उदासीनानां) कार्य्य न करने वाले लोगों की (अपि)
भी (सिद्धिः) कार्यसिद्धि स्वतः ही होनी चाहिये।

भाष्य-यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होतों जो छोग कोई काम नहीं करते उनके भी सब कार्य्य स्वतः सिद्ध होजाने चाहियें पर ऐसा न होने से पायाजाता है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, इसका विस्तार "न्यायार्यभाष्य" को जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ॥

सं ० – अब विज्ञानवादी योगाचार के मत का खण्डन कर के छिये अभावाधिकरण का आरम्भ करते हैं:—

नामाव उपलब्धः ॥ २८॥

पद्-न। अभावः। उपलब्धेः। पद्गः-(उपलब्धेः) उपलब्धि पायेजाने से (अभावः) बाह्य पदार्थों का अभाव (न) नहीं होसक्ता॥

भाष्य-विज्ञानशादी के मत में एक विज्ञानमात्र ही पदार्थ है वाज्ञ पदार्थ कोई नहीं किन्तु सब पदार्थ बुद्धि के भीतर हैं,यह इसिछ्ये ठीक नहीं कि यदि बाहर कोई पदार्थ न होता तो उसकी आन्तर उपछ्ठिष भी न होती परन्तु बाह्य उपछ्ठिष पाय जाने से सिद्ध है कि बाहर के पदार्थ मिथ्या नहीं।

द्वितीयाध्याये-द्वितीयःपादः

369

सं०-ननु, वाह्यपदार्थ स्वप्न पदार्थों के समान हैं सस नहीं ? उत्तर :—

वैधम्यांच न स्वप्नादिवत्।। २९॥

पद् - वैधम्यात् । च । न । स्वप्नादिवत् ।

पदा०-(च) और (वैधर्म्याद) वैधर्म्य पायेजाने से (स्वप्रादिवद) स्वप्रादिकों की भांति (न) बाह्य पदार्थ मिथ्या नहीं ॥

भाष्य-स्वप्नादि पदार्थी से जाग्रव पदार्थी में विरुद्ध धर्म पाये जाने के कारण जाग्रत पदार्थ स्वप्न पदार्थों के समान मनो-रथमात्र नहीं,यायों कही कि स्वप्नादिकों के समान जाग्रद के पदार्थ बिध्या नहीं,इस सूत्र से मायावाद का खण्डन करदिया कि स्वप्न पदार्थ और जाग्रव के पदार्थों में परस्पर बहुत वैछक्षण्य पाया जाता है, यदि सूत्रकार को जाग्रव के पदार्थ स्वप्न की भाति मिथ्या अभिनेत होते तो इस अधिकरण में कदापि स्वाप्न पदार्थी से जाग्रद पदार्थों का वैधर्म्य वर्णन न करते पर किया दे इससे सिद्ध है कि स्वप्न की भांति जाग्रद के पदार्थों को मिध्या मानना ठीक नहीं, इसी अभिनाय से " स्वामी रामानुज " का कथन है कि " ज्ञानमात्रमेव परमार्थ इति साधयन्तः सर्वलोकोपहासोपकरणं भवन्तीति वेदवादछग्नप-च्छन्नबौद्धनिराकरणेनिपुणतरं प्रपञ्चितम्" श्री॰ भा॰ त्र विश्व र । २ । २ ७ = जो छोग ज्ञानमात्र कोही परमार्थ सिद्ध करते और सब पदार्थों को मिथ्या मानते हैं वह सब छोगों की हंसी का स्थान होते हैं, वह छोग छछ का परदा छगाकर बेद-वादी दनते हैं पर छिपे हुए बौद्ध हैं उनके खण्डन में यह वात अच्छी तरह कथन की गई है कि यह पदार्थ मिथ्या नहीं किन्तु अनिस हैं, इससे स्वामी रामानुज ने यह स्रचित करिदया कि विज्ञानवादी बौद्ध और सब पदार्थों को मिथ्या मानने वाछे मायावादी एकही हैं इसिछये उनके खण्डन में भी उक्त सूत्र समझना चाहिये।

सं ० — अब विज्ञानवादी के यत में विज्ञान की अनुपपित कथन करते हैं:—

न माबोऽनुपलब्धेः ॥ ३०॥

षद् ० - न । भावः । अनुपलब्धेः ।

पदा०-(अनुपछब्धेः) वाह्य पदार्थों की अनुपछिष्य पाये जाने से (भावः) विज्ञान की सत्ता (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य-विज्ञानवादी के यत में जबतक कोई पदार्थ बाहर न माना जाय तबतक विज्ञान का भी कोई स्वरूप सिद्ध नहीं होसक्ता अर्थाद कर्जा कर्म से विना कहीं ज्ञान की उपलब्धि नहीं देखी गई, स्वप्न ज्ञानादिकों में भी वाह्यार्थ से बिना ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती किन्तु वहां भी अन्यथारूयाति के आश्र-यण करने से वाह्य पदार्थ के होने पर ही अन्यथा ज्ञान होता है अन्य रीति से नहीं, इसाल्ये वाह्य पदार्थी का मानना समीचीन है।।

^{*} प्रन्य पटायं की प्रन्य रूप स प्रतीत को "प्रन्यथास्थाति" करते हैं, जैसे सीपी में चांदी की प्रतीति।

द्वितीयाध्याये-द्वितीयः पादः

२६१

सं - अव श्रून्यवादी माध्यामिक के मतका सण्डन करते हैं: — स्विथानुपपत्तेश्च ॥ ३१॥

पद०-सर्वथा । अनुपपत्तेः । च । पदा०-(च) और (सर्वथा) सब प्रकार से (अनुपपत्तेः) अनुषपत्ति पाये जाने के कारण शून्यवाद ठीक नहीं ।

भाष्य-श्न्यवादी का कथन है कि वस्तुतः कोई पदार्थ नहीं सब श्न्य ही श्न्य है और अभाव होजाना ही मुक्ति है, क्यों कि वस्तु के नाश होने से विना कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, जैसे कि बीज के नाश होने से अङ्कुर और पिण्डादिकों को नाश करके घट उत्पन्न होता है, इसिछये श्न्य ही तत्व है और फिर सब श्न्य ही रहजाता है, जन्म, विनाश, सत्य, झूट, यह सब भ्रान्तिमात्र हैं ! इसका उत्तर यह है कि यदि सब कुछ श्न्य ही है तो उसका ज्ञाता कौन है, क्यों कि ज्ञाता के विना निराश्रय श्न्य की उपलब्धि में कोई प्रमाण नहीं, यदि यह कहाजाय कि श्न्य का ज्ञाता श्न्य से भिन्न है तो सब कुछ श्न्य नहीं, इमिछये श्न्य का ज्ञाता श्न्य से भिन्न है तो सब कुछ श्न्य नहीं, इमिछये श्न्यवादियों का मत सर्वथा ही अनुपपन्न है, मायावादियों के मत समान यह मत भी युक्तिश्न्य होने से आदरणीय नहीं।

सं ० - बौद्धमत का खण्डन करके अब जैनमत का खण्डन करने के छिये "असम्भवाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:-

विकस्मिन्नसम्भवात् ॥ ३२॥ पर०-न। एकस्मित् । असम्भवाद ।

वेदान्तार्यभाष्ये

पदा॰-(असम्भवाद) असम्भव होने से (एकस्पिन्) एक पदार्थ में अस्तिनास्तिकप न्याय की प्रदत्ति (न)नहीं होसक्ती।

भाष्य-जैनों का कथन है कि जीव तथा अजीव येद से जगत दो मकार का है और उसका कर्चा ईव्वर कोई नहीं, जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश और काल यह जो छ पदार्थ हैं इन्हीं का संघात इप संसार स्वतः सिद्ध अनादि है और यह एकान्तस्व इप नहीं किन्तु इनसे सक्षभ की न्याय द्वारा जगत की अनेकान्त इपता ही सिद्ध होती है, उक्त न्याय का स्वक्षप यह है कि:—

- (१) स्याद्मित=किसी क्ष से यह पदार्थ है।
- (२) स्यान्नास्ति=िकसी रूप से नहीं है।
- (३) स्यादस्ति च नास्ति च=िकसी रूप से है भी और नहीं भी।
- (४) स्यादवक्तु व्यं=िकसी रूप से कथन योग्य नहीं।
- (५) स्यादास्तिचाऽवक्तव्यं च=िकसी रूप से है पर अवक्तव्य है।
- (६) स्यानास्तिचाऽवक्तव्यं च=िकसी रूप से नहीं पर अवक्तव्य है।
- (७) स्यादस्ति च नास्तिचाऽवक्तव्यंचेति=िकसी कप से है, किसी कप से नहीं और किसी कप से अवक्तव्य है।

द्वितीयाध्याये-द्वितीयःपादः

रहर

सब जगह सप्तभङ्गी न्याय सङ्गत होने से छः पदार्थ परस्पर विरुद्ध भावाभावात्मक हैं ? यह इसिल्चिये डीक नहीं कि असम्भव होने से एक पदार्थ में अस्ति नास्तिक्ष्प परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं होसक्ते अर्थाद एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध धर्म न रहसकने से सप्तभङ्गी न्याय की कल्पना ठीक नहीं।

स्मरण रहे कि मायावादियों के मायावाद की भांति सप्तभक्षी न्याय भी सतर्क नहीं,मायावादियों के मत में अनिर्वचनीय पदार्थ बह कहलाता है जो इन नत्र युक्तियों को न सहार सके, जैसाकि (१) माया को सत्य मानने से ब्रह्म का सजातीय होना (२) असत्य मानने से किसी कार्य्य का कारण न होना (३) यदि सत्य और असत्य दोनों का समुचय मानें तो किसी की बुद्धि में न आना (४) आत्मा से भिन्न मानने में द्वैतदोष (५) अभिन्न मानने में मायावाद की हानि (६) दोनों को मिछाकर मानें तो किसी की बुद्धि में न ओन का दोष (७) यदि निरवयव मानें तो इसमें कोई ममाण नहीं (८) यदि सावयव मानें तो ब्रह्म के सामर्थ्यहर अनिर्वचनीय माया में अत्रयव कहां से आये (९) यदि निरवयव और सावयव दोनों मिलाकर कहा तो उसका कोई बुद्धिमान नहीं मान सक्ता, इस मकार उक्त युक्तियों को जो न सहार सके उसको मायावादी लोग "अनिर्वचनीय-" कहते हैं, और इस अनिर्वचनीयवाद के सहारे ही वह अपनी सारी फिलामफी का मण्डन करते हैं, अस्तु मक्तत यह है कि इस

वेदान्तार्थभाष्ये

२६४

मिध्याबाद के समान ही जैनों का यह सप्तमझीनय है जो तर्क न सहार सकने से समीचीन नहीं।

सं०-अव जैनमत में अन्य दोव कथन करते हैं:— एवंचाऽत्माऽकात्स्न्यम् ॥ ३३॥

पद्-एवं। च। आत्माऽकात्स्न्येम्।

पटा॰-(च) और (एवं) उक्त दोष की भांति (आत्मा-कात्स्वर्य) आत्मा की अपूर्णता=असिद्धि पाये जाने से उक्त यत ठीक नहीं।

भाष्य-जैन मत के स्याद्वाद=सप्तभङ्गीनय में जिसमकार एक पदार्थ में युगपत परस्पर विरुद्ध धर्म न बनसकने से असम्भव दोष पायाजाता है, इसीमकार इनके मत में आत्मा की सिद्धि का न होनारूप दोष भी ज्यों का त्यों बना रहता है अर्थाद जैनों का यह कथन कि जीव मध्यम परिमाण=श्वरीर के समान परिमाण बाला है और वही हस्ती चींटी आदि अनेक योनियों को प्राप्त होता है, इसलिये यह ठीक नहीं कि मध्यम परिमाण बाला पदार्थ घटादि पदार्थों की भांति अनिस होता है और ऐसा होने से जीव भी अनिस होजायगा, दूतरी बात यह है कि यदि जीव को शरीर के समान परिमाण वाला मानाजाय तो हस्ती के शरीर का जीव चींटी के शरीर में आना असम्भव है, इसादि तकों से आत्मा की सिद्धि न होने के कारण उक्त मत आदरणीय नहीं।

द्वितीयाध्याये-द्वितीयःपादः

289

सं०-ननु, दीपशिला की भांति संकोच विकाशशासी होने के कारण हस्तिका जीव चीउंटी के शरीर में आमक्ता है ?उत्तर:-नचपय्यायादण्यविरोधोविकारादिभ्यः॥३४॥

पद०-न। च। पर्यायात । अपि। अविरोधः। विकासिद्भ्यः।
पदा०-(पर्यायात) संकोच विकाश मानने पर (अपि)
भी (न,च, अविरोधः) विरोध का अभाव नहीं होसक्ता, क्योंकि
(विकासिद्भ्यः) ऐसा मनाने से जीव में विकासिद् दौष
बने रहेंगे॥

भाष्य-दीपशिखा की भांति जीव को संकोच विकाशशास्त्री मानकर उक्त व्यवस्था का मानना इसिलये ठीक नहीं कि ऐसा मानने से जीव घटादि पदार्थों की भांति विकारी होने के कारण अनिस होजायगा और अनिस होने से बन्ध मोक्ष की व्यवस्था न रहेगी, इसिलये उसका शरीर के बराबर परिमाण मानना ठीक नहीं।

सं०-अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :— अन्त्यावस्थितश्चीभयनित्यत्वादाविशेषः ३५

पद०-अन्त्यावस्थितेः। च। उभयनित्यत्वातः। अविशेषः।
पदा०-(च) और (अन्त्यावस्थितेः) मुक्तिः में जीवगतः
परिमाण निस मानने से (उभयनित्यत्वातः) दोनों की निसताः
मानने पर (अविशेषः) उसका पूर्वावस्था से कोई भेद नहीं।

भाष्य-जैनों का कथन है कि सुक्ति से पूर्व संकोच विकाश-शाकी होने के कारण जीव का परिमाण एकरस नहीं रहता परन्तु मुक्त होने पर पुनर्जन्म न होसकने से उसका परिमाण एक रस=निस बना रहता है फिर उसमें किसी मकार का परिवर्त्तन नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि जो पथम न होकर पश्चाद होवे वह घटपटादि पदार्थों की भांति " अनिस " होता है और ऐसे ही अनिस को " अभूलाभावि" कहते हैं, सो यदि मुक्ति-काल में जीव का परिमाण अभूलाभावि हो तो उसका कालान्तर में अब्हय परिवर्त्तन होगा, क्योंकि अभूलाभावि पदार्थ कदापि एकरस नहीं रहसका, जैसाकि घटादि पदार्थों में देखाजाता है, यदि जीवपरियाण को मुक्तश्ववस्था में निस मानो तो घटादि पदार्थों से विपरीत होने के कारण मुक्ति से पूर्व भी ज्यों का त्यों मानना पडेगा और ऐसा मानने से बन्ध तथा मोक्ष दोनों अव-स्थाओं में जीवपरिमाण की विशेषता न पायेजाने से स्पष्ट है कि जीव और जीवपरियाण दोनों की निसता स्वाभाविक है, अतएव उसके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्त्तन न होने के कारण जीव को बारीर परिमाण वाला मानना समीचीन नहीं।।

सं ० - अब साकार ईश्वरवादी का मत खण्डन करते हैं: -पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३६॥

पद्-पत्युः। असामञ्जस्यात्।

पदा०-(असामक्षस्यात्) युक्तिश्रुन्य होने से (पत्युः) साकार ईश्वरवादी का मत ठीक नहीं ॥

सं ० - अब उक्त पत में तर्क का अभाव कथन करते हैं:-

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३७॥

पद ०-सम्बन्धानुपपत्तेः । च ।

पदा॰-(च) और (मम्बन्धानुपपत्तेः) साकार ईश्वर का सम्बन्ध न बनसकने से वह जगत्कर्त्ता नहीं होका॥

भाष्य-जो शरीरधारी है वह एकदेशी होता है, इस नियम के अनुमार यदि इश्वर साकार होता तो उसका जगत के उपादानकारण प्रकृति के साथ सम्बन्ध न बनसकने से कदापि जगत की उत्पत्ति न होती पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि ईश्वर साकार नहीं॥

सं ० - अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं: - अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३८॥

पद् ०-अधिष्ठानानुपपत्तेः। च।

पदा॰-(च) और (अधिष्ठानानुपपत्तेः) अधिष्ठान न बन सकने से भी उक्त अर्थ ठीक नहीं॥

भाष्य-अधिष्ठान=आश्रय न बनसकने से भी उक्त अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि जो साकार होगा उसके ठहरने के छिये भी कोई साकार पदार्थ आश्रय चाहिये,और यदि उसके ठहरने के छिये प्रथम ही कोई पदार्थ था तो वह सर्वकर्चा नहीं होसक्ता, इसी विषय में स्वामी शं० चा० जी ने छिखा है कि "सृष्ट्युत्तरकालभा-वित्वाच्छरीरस्यप्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः" शं० भा० व्र० सू० २।२।३९=शरीर भूगोछादि सृष्टि के प्रभाद होसका है सृष्टि से प्रथम नहीं, इसारूये परमेश्वर को शारीरवारी मानकर सृष्टिकर्त्ता मानना ठीक नहीं ॥

सं०-ननु, ईश्वर को इन्द्रियों वाला मानेकर जगव का कत्ती मानने में क्या हानि ? उत्तर:—

करणवश्चेन्नभोगादिभ्यः॥३९॥

पद०-करणवत् । चेत् । न । भोगादिभ्यः ॥

पदा०-(चेत्र) यदि (करणवत्) ब्रह्म को इन्द्रियों वाछ। मानाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से (भोगा-दिभ्य:) उसको भोगादि की आपत्ति होगी॥

भाष्य-परमात्मा इन्द्रियों वाला नहीं होसक्ता,क्योंकि इन्द्रियों बाला मानने ५र उसको भोक्ता भी मानना पड़ेगा,इसलिये साकार ईश्वर की कल्पना असङ्गत है ॥

सं०-अव उक्त अर्थ में और दोष कथन करते हैं:-

अन्तवत्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४० ॥

पदः - अन्तवत्वं । असर्वज्ञता । वा ।

पदा०-(अन्तवत्वं) अपने आकार की सीमा जानने से अन्तवाला होजाता है (वा) अथवा (असर्वज्ञता) न जानने से सर्वज्ञ नहीं रहता ॥

भाष्य-साकारवादियों से प्रष्टव्य है कि ईश्वर अपने आकार की सीमा को जानता है वा नहीं ? यदि जानता है तो अन्तवाला हुआ नहीं जानता तो सर्वज्ञ न रहेगा, इसलिये उसको साकार मानना ठीक नहीं, यदि यह कहाजाय कि निराकार वादियों का सर्वगत विभु परमात्मा अपनी सीमा को जानता है वा नहीं?यदि जानता है तो सीमा वाला हुआ,यदि नहीं जानता तो अझानी हुआ ? उत्तर—यह दोष निराकारवादियों के मत में नहीं आता, क्यों कि जो पदार्थ जैसा होता है उसको वैसा ही झान होता है, बह सीमा रहित है,इमलिये उसको अपने सीमारहित होने का झान है, एवं निराकार ईश्वरवाद में कोई दोष नहीं।

सं ० - तनु, जैमे अन्य पदार्थों का ईश्वर कर्ता है इसी प्रकार पदार्थ होने में ईश्वर का भी कोई कर्ता होना चाहिये ! उत्तरः --

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४१ ॥

पद् ० – एकपद् ०। पद् १० – (उत्पत्त्यसम्भवाद) ईश्वर के जन्म का असम्भव होने से उसका कोई कर्त्ता नहीं।

भाष्य-जो पदार्थ उत्पत्ति विनाशशाली होता है उसका कर्जा अवक्य होता है परन्तु ईश्वर उत्पत्ति विनाश से रहित होने के कारण उसका कोई कर्जा नहीं होसका ।

सं०-अव उक्त अर्थ को तीन सूत्रों से स्फुट करते हैं:-

नचकर्तुः करणम् ॥४२॥

पद्-न। च। कर्तुः। करणम्।
पद्ग-(न, च) और नाहां(कर्तुः) उन कर्त्तां का (कगणं) कोई करण है।

भाष्य-और नाही उस कर्चा का कोई करण=इन्द्रियादि साधन होसको हैं, जैसाकि खे॰ ६। ८ में वर्णन किया है कि

"नतस्य कार्य्य करणञ्चिवद्यते, न तत्समश्चाभ्य-धिकश्चदृश्यते। पराऽस्यशक्तिर्विविधैवश्रूयते, स्वाभा-विकीज्ञानवलिकयाच"

अर्थ-उसका न कोई कत्ता और न करण है, ज्ञान वल किया यह सब उसके स्वाभाविक हैं।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४३॥

पद् - विज्ञानादिभावे । वा । तदमतिषेधः ।

पदा०-(वा) अथवा (विज्ञानादिभावे) परमात्मा में सर्वज्ञ-त्वादि धर्म पाये जाने से (तदमतिषेधः) उसकी उत्पत्ति नहीं होसक्ती।

भाष्य-अनादि काल से परमात्मा में सर्वज्ञत्वादि धर्म पाये जाते हैं और सदा बने रहेंगे, इसलिये उन धर्मों का आश्रय अनादि अनन्त परमेश्वर सर्वदा एकरम रहने से उत्पत्ति बाला नहीं होसका।

विप्रतिषेधाच ॥ ४४॥

पद०-विमतिपेधात्। च।

पदा॰-(च) और (विमितिषेयात) विमितिषेय होने से भी साकारवाद ठीक नहीं।

भाष्य-ईश्वर को माकार मानने से विश्वतिषेध=परस्पर विरोध आता है, क्योंकि माकार और निराकार यह दोनों परस्पर विरोधी धर्म एक ही काल में एक पदार्थ में नहीं रहसक्ते, इसस्तिये

द्वितीयाध्याये-द्वितीयः पादः

२७१

बह परस्पर विरुद्धधर्माश्रय नहोंने से सर्वदा एकरस कूटस्य नित्य है।
स्वा० शङ्कराचार्य्य तथा रामानुज आदि आचार्यों ने इस
उत्पत्यऽसम्भवाधिकरण को जीव की उत्पत्ति के निषेध में छगाया
है सो ठीक नहीं, क्योंकि जीव की उत्पत्ति का निषेध व० सू०
व १३। १८ में स्पष्ट रीति से किया गया है, यदि यह अधिकरण
श्री जीव की उत्पत्ति का निषेध करता तो पुनरुक्ति दोष आता,
इसछिये यह अधिकरण ईश्वर की उत्पत्ति का निषेध करता है,

इस प्रकार तर्कपाद के तर्कों की सङ्गति छगाने से सिद्ध है कि यह पाद वैदिकदर्भनों का खण्डन नहीं करता किन्तु

अवैदिक तर्कों का खण्डन करता है।

ननु-इस तर्कपाद में बौद्धों की फ़िलासफ़ी के खण्डन से पायाजाता है कि बुद्ध न्यासजी से प्रथम हुए हैं ? उत्तर — सूत्रों में उस फ़िलासफ़ी का खण्डन है जिसका आश्रय लेकर बुद्ध उठा, सूत्रों में कहीं बुद्ध का नाम न होने से उसके प्रथम होने में कोई प्रमाण नहीं और ऐतिहासिक विचार से भी बुद्ध महाविंग्यास से पीछे हुए हैं, इसलिये जहांर हमने बौद्ध फ़िलासफ़ी का नाम लिया है और बुद्ध के शिष्यों का नाम लेकर खण्डन किया है वहां सर्वत्र हमारा आश्रय उस फ़िलासफ़ी के अनुयायी लोगों से है।

और माध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, बक्कमा-चार्य, यह चारो आचार्य इस तर्कपाद में शक्कर का ही शरण छेते हैं अर्थाद उक्त आचार्य भी सांख्य वैशेषकादि मतों का

वेदान्तार्थमाध्ये

३७२

1

खण्डन करके ब्रह्म को अभिक्षनिमित्तीपादान कारण ही अपना सन्तब्ध ठहराते हैं, यह वह आचार्य हैं जिनके विषय में एक खाधुनिक मायावाद के ग्रन्थ में लिखा है कि:—

> चार यार मध्वादिक जे हैं। वेदविरुद्ध कहत सब ते हैं।। मध्वादिक को मत न प्रमानी। ये हम व्यासवचन ते जानी।।

अर्थ-उक्त चारो मित्र जो मध्यादिक हैं, यह सब वेदिवरुद्ध कहते हैं, इसिंखिये इनका मत मानने योग्य नहीं ॥

इति द्वितीयःपादः समाप्तः

अथ तृतीयः पादः प्रारम्यते

सं०-द्वितीय पाद में श्रोतार्थ के साथ युक्ति विरोध का परि-हार करते दूर केवल तर्कवल से वेदिवरोधी मतों का खण्डन किया, अब मसङ्गसङ्गति से आकाशादिकों की उत्पक्ति विधायक श्रुतियों का परस्पर विरोध परिहार करने के लिये इस पाद का आरम्भ करते हैं:—

न वियदश्चतेः ॥ १ ॥

पद्-न । वियत् । अश्रुतेः ।

पदा०-(अश्वतः) उत्पत्ति पकरण में श्रवण न पायेजाने से (वियद) आकाश (न) उत्पन्न नहीं होता ॥

द्वितीयाध्याये-तृतीयः पादः

२७३

भाष्य-" तदेक्षत, तत्तेजोऽसृजत " छां॰ ६ । २ । ३ = उसने सङ्कल्प द्वारा तेज को उत्पन्न किया, इसादि उत्पत्ति विधायक श्रुतियों में आकाश्चिषयक उत्पत्ति न पायेजाने से सिद्ध है कि आकाश की उत्पत्ति नहीं होती ॥ सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

अस्तितु ॥ २॥

पद०-अस्ति। तु।

पदा०-(अस्ति) आकाश उत्पन्न होता है।

भाष्य-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के छिये आया है, श्रुति से आकाश की उत्पत्ति पाई जाती है,जैसाकि " तस्मा-द्धा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः " तै० २ । १ । १=उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ।

गौण्यसम्भवात् ॥ ३॥

पद०-गौणी। असम्भवाद।

पदा०-(असम्भवात) असम्भव होने से (गौणी) आकाश की उत्पत्ति गौण है मुख्य नहीं।

भाष्य-आत्मा की भांतिनिरवयव होने से आकाश की उत्पत्ति का सम्भव न होने के कारण 'आत्मन आकाशःसम्भूतः' इसादि श्रुति उपचार से आकाश की उत्पत्ति कथन करती हैं वस्तुतः नहीं।

सं०-अब उक्तं अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :-

बेदान्तार्यभाष्ये

508

शब्दाश्र ॥ ४ ॥

पद०-शब्दाव। च।

पदा०-(च) और (भव्दात्) भव्द से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।।

भाष्य-शब्द से भी आकाश की उत्पत्ति का निषेध पाया जाता है, जैसाकि " वायुक्चान्तिरिश्च चैतद्ग्यतम् " बृहदा वि १ । १ । ३ = बायु और अन्तिरिश्च = आकाश यह दोनों अस्ति हैं, इस बाक्य में आकाश को अस्ति कथन किया गया है, और अस्ति बही होता है जिसकी उत्पत्ति न हो, इससे पाया गया कि आकाश की उत्पत्ति नहीं होती॥

सं ॰ - ननु, एक ही उत्पत्ति विधायक श्रुति में "सम्भूत" शब्द गौण मुख्य कैसे होसका है ! उत्तर:-

स्याचेकस्यब्रह्मशब्दवत्।। ५॥

पद०-स्यात्। च। एकस्य। ब्रह्मशब्दवत्।

पदा॰ — (ब्रह्मशब्दवत) ब्रह्म शब्द की भांति (एकस्य) एक ही सम्भूत शब्द का (स्यात) गौण मुख्य अर्थ होसक्ता है।

माष्य-"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते"

मुण्ड०१। १ । ८=अपने पयत्रक्ष तप से ब्रह्म जाना जाता और

उसी से मकृति का आविर्भाव होता है, "तस्मादेतद्ब्रह्मनाम

रूपमन्त्रञ्ज जायते " मुण्ड० १ । १ । ९=उसी परमात्मा

से ब्रह्म=मकृति कार्य्याकार होकर नाम रूप वाली होती है, जिस

मकार एक ही मकरण पठित उक्त दोनों वाक्यों में प्रथम ब्रह्म

का प्रकृतिकृष अर्थ परमात्मा और दूसरे वाक्य में ब्रह्म शब्द का प्रकृतिकृष अर्थ गौण पाया जाता है इसी प्रकार प्रकृत में एकवाक्यगत " स्मम्भूत " शब्द योग्यता वस्त में गौण तथा मुख्य दोनों प्रकार के अर्था में आता है अर्थाद जब सम्भूत शब्द का " आकाश " पद के साथ सम्बन्ध होता है तब उसमें उत्पत्तिकृप अर्थ औपचारिक मानाजाता है मुख्य नहीं, क्योंकि आकाश में उत्पत्ति की योग्यता नहीं पाई जाती, इसस्ति उसकी उत्पत्ति मानना टीक नहीं ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का दो सूत्रों से समाधान करते हैं :प्रतिज्ञाऽहानिर्ठयतिरेकाच्छब्देस्यः॥ ६॥

पद ० -प्रातिज्ञाऽहानिः । अन्यतिरेकातः । शब्देभ्यः ।

पदा०-(अव्यतिरेकात) उत्पत्ति अंश में वायु आदि से आकाश का भेद न पाये जाने के कारण (प्रतिक्षाऽहानिः) पदा-धमात्र विषयक उत्पत्ति की प्रतिक्षा बनी रहती है और (शब्देभ्यः) शब्द से भी ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" तैति॰
३। १=जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं वह ब्रह्म है, इस
वाक्य में जो भूतमात्र की उत्पत्ति विषयक प्रातिक्षा की गई है
वह तभी रहमक्ती है जब आकाश की उत्पत्ति मानीजाय, और
"तस्मात् आत्मन आकाशः सम्भूतः"=परमात्मा से आकाश
उत्पन्न हुआ, इसादि वाक्य स्पष्टतया आकाश की उत्पत्ति कथन
करते हैं, इसछिये आकाश की उत्पत्ति को गौण कथन करना
समीचीन नहीं।

वेदाम्सार्यभाष्ये

और जो पिछे बृहदा० २ । ३ । ३ में आकाश को अग्रत कथन किया है वह कल्पस्थायी होने के अभिनाय से है सर्वथा उत्पत्तिश्चन्य होने के अभिनाय से नहीं, इसिछिये आकाश की उत्पत्ति माननी चाहिये ॥

यावदिकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७॥

पद०-यावत् । विकारं । तु । विभागः । लोकवत् ।

पदा॰ -(तु) और (यावत, विकारं, विभागः) कार्ययात्र का भेद पायेजाने से (लोकवत्) लैकिक घटादि पदार्थों की भांति आकाश उत्पत्ति वाला है।

भाष्य-जिसमकार छोक में विकार-कार्यक्ष घटपटादि पदार्थ परस्पर भिन्न होने से उत्पत्ति वाछे हैं इसी मकार आकाश भी इतर द्रव्यों से भिन्न होने के कारण उत्पत्ति वाछा है अथार्द उसमें अन्य पदार्थों से विछक्षणता का हेतु शब्दगुण पायेजाने से स्पष्ट है कि आकाश उत्पत्ति वाछा भाव पदार्थ है निस नहीं।

स्मरण रहे कि " आकाशावत्सवगतश्चिनित्यः"
तै० १।६। २= ब्रह्म आकाश की भांति सर्वव्यापक तथा निस्र
है, इसादि वाक्यों में जो आकाश के सहश ब्रह्म निस्र कथन
किया है उसका यह अभिप्राय नहीं कि वस्तुतः आकाश निस्र है
किन्तु कल्पस्थायी होने के कारण आकाश में औपचारिक नित्यता
मानकर ब्रह्मगत नित्यता के बोधनार्थ दृष्टान्त का प्रयोग किया है
सर्वाश्च में सदशता के अभिप्राय से नहीं।

और जो स्वामी शं० चा० के मत में इस सुत्र का यह ज्याख्यान कियागया है कि जो भेदवाछा होता है वह विकारी ं होता है, इसलिये आकाश भी परमात्मा से भिन्न होने के कारण विकारी है ? सो ठीक नहीं,क्योंकि इस आशय कासूत्र में गन्धमात्र भी नहीं पाया जाता, और यह बात तर्क से भी तुच्छ जात होती है कि यदि भिन्न होना ही विकारी होने का हेतु है तो ब्रह्म भी अन्य द्रव्यों से भिन्न है फिर वह विकारी क्यों नहीं, यदि यह कहाजाय कि जड़ द्रव्य तो काल्पत हैं इसिछिये उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होसक्ती तो उत्तर यह है कि जब कल्पित थे तो सूत्रकार को भेद हेतु से इनके मिध्यात्व सिद्ध करने का क्या प्रयोजन ? और मिध्या पदार्थ का विकारी होना भी किसी प्रमाण से नहीं पाया जाता, इसिछये यहां " विभाग " शब्द से तात्पर्य उस भेद का है जो द्रव्यों को अपने वैलक्षण्य से परस्पर भिन्न करता है, और उक्त वैलक्षण्य के हेतु जड़ द्रव्यों के गुण हैं, अतएव शब्द गुण से भिष होने के कारण पृथिवी आदि पदार्थों के समान आकाश को उत्पि विनाश वाला मानना ही ठीक है।

सं० - अब उक्तं अर्थ का वायु में आतेदेश कथन करते हैं:-

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः॥८॥

पद् ०-एतेन । मातरिश्वा । च्याख्यातः !

पदा०-(एतेन) आकाश की उत्पत्ति कथन करने से (मातरिश्वा) वायु की भी (व्याख्यातः) उत्पत्ति जाननी चाहिये।

भाष्य-जिसमकार श्रुतिमयाण से आकाश की उत्पत्ति पाई जाती है इसी मकार वायु की उत्पत्ति का लिक्न पायेजाने से वह थी आकाश की भांति उत्पत्ति विनाशशाली पदार्थ है नित्य नहीं।
सं०-ननु, आकाशादि पदार्थों की भांति अपने गुणों से
विस्नक्षण होने के कारण ब्रह्म भी उत्पत्ति वाला होना
चाहिये ? उत्तर:—

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः॥ ९॥

पद०-असम्भवः । तु । सतः । अनुपपत्तेः ॥

पदा०-(तु) निश्चय करके (अनुपपत्तेः) उपपत्ति न पाये जाने से (असम्भवः) ब्रह्म की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है।

भाष्य-ब्रह्म की उत्पत्ति में कोई युक्ति नहीं पाई जाती और न कोई प्रमाण मिलता है पत्युत दवेता व ६।९ में परमात्मा विष-यक इस प्रकार बर्णन पाया जाता है कि:—

नतस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके-नचेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् । सकारणं करणाधिपाधिपो-नचास्य कश्चिजानिता नचाधिपः ॥

अर्थ-न उसका कोई पित, न उसका कोई नियन्ता, नाही उसका कोई छिद्ध है, न उसका कोई रचायेगा और नाही उसका कोई अधिपित है, वही सबका उत्पन्न करने वाला और चिद्दिन्द् का नियन्ता है, इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म की उत्पत्ति का स्पष्टतया निषेध पाया जाता है।

सं०-अब उक्त अर्थ का तेज में अतिदेश कथत करते हैं:--तेजोऽतस्तथाह्याह ॥ १०॥

पद ० -तेजः । अतः । तथाहि । आह ।

पदा०-(अतः) इसिछिये (तेजः) अग्निभी कार्यक्प है, क्योंकि (तथाहि, आह) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"वायोर्मिः"=वायु से अग्नि उत्पन्न होती है,इत्यादि श्रौतवचनों से अग्नि की उत्पत्ति पाये जाने के कारण उसकी कार्यक्प मानना ही समीचीन है।

सं ० - अब जलों की उत्पत्ति कथन करते हैं: -

आपः ॥ ११ ॥

पद०-आपः।

पदा०-(आप:) जल भी उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं।

सं०-"ता आप ऐक्षन्त वहः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त" छा० ६।२। ४=जलों ने इच्छा की कि इम बहुत हों, उन्होंने अन को उत्पन्न किया, इस विषय बाक्य में अन के अर्थ ब्रीहि यवादि अथवा पृथिवी के हैं ? इस सन्देह की निष्टत्ति के खिये "पृथिव्यधिकाराधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

पृथिव्यधिकार्रूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२॥

पद्०-पृथिवी। अधिकारक्ष्यशब्दान्तरेभ्यः।
पदा०-(पृथिवी) अन्न शब्द के अर्थ यहां पृथिवी के हैं,
क्योंकि (अधिकारक्ष्पशब्दान्तरेभ्यः) अधिकारक्ष्प तथा शब्द
से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-उक्त श्रुतिवाक्य में अन शब्द से पृथिवी का प्रहण है ब्रीहि यवादि रूप अन का नहीं, क्योंकि "तत्तेजोऽसृजत" छां० ६।२। ३= उसने तेज को उत्पन्न किया "तहिएों उसुजत"
छां० ६।२। ३= उसने जलों को उत्पन्न किया, इत्यादि सृष्टि
बोधक वाक्यों में महाभूतों का अधिकार पाया जाता है और इसी
अधिकार में अन शब्द के पढ़े जाने से वह भी महाभूतों के
अन्तर्गत पृथिती का बोधक है, ब्रीहि यवादि का नहीं,
और दूसरी वात यह है कि "युत्कृहणांतहं झूस्य" छां० ६।
४। १= जो छुष्ण रूप है वह अन्न का है, इस बाक्य
में जो अन्न को छुष्ण रूप वर्णन किया गया है वह
भी विशेषतया पृथिती में पाया जाता है, और शब्द भी उसी
को वर्णन करता है, इससे सिद्ध है कि अन्न नाम यहां पृथिती
का ही है अन्नादि का नहीं।

सं ० - ननु, "तन्तेज एक्षत" = तेज ने इच्छा की, इत्यादि वक्यों से तेजादि जड़ पदार्थों में स्टिष्टिविषयक कर्तृत्व पायाजाता ब्रह्म में नहीं ? उत्तरः—

तदिभिध्यानादेव तु ति हिङ्गात्सः ॥ १३॥

पद०-तदभिष्यानात् । एव। तु । तिष्ठङ्गात् । सः।

पदा०-(तदभिध्यानात्) बहा के ईक्षणरूप सङ्कल्प से (पव) ही तेजादि में स्रिष्टिकर्तृत्व है, क्योंकि (ति हिङ्कात्) शब्द ममाण से (सः) बहा ही कत्ती पाया जाता है।

भाष्य-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के छिये आया है, "तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त "=तेज ने इच्छा की जर्कों ने इच्छा की, इसादि वाक्यों द्वारा तेजादि पदार्थों में जो ईक्षण पाया जाता है वह ब्रह्म के ही सङ्कल्प से है स्वतः नहीं अर्थाद चेतन होने से ब्रह्म में ही स्टष्टि रचना का सङ्कल्प मुख्य है उसकि सम्बन्ध द्वारा तेजादि में गौण ईशण पायाजाता है, जैसाकि बृहदा० ३। ७। ३ में वर्णन किया है कि:—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद । यस्य पृथिवी दारीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति ॥

अंध-जो पृथिवी में रहता, जो पृथिवी का अन्तरात्मा है जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो पृथिवी के भीतर ज्याप्त होकर नियमन करता है वही ब्रह्म है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि नियम्यनियामकभाव सम्बन्ध द्वारा तेजादि पदार्थों में ईक्षण औपचारिक और ब्रह्म में मुख्य है, इसिछिये स्रष्टि का कर्जा ब्रह्म ही है अन्य तेजादि नहीं ॥

सं - भूतों की उत्पत्ति का ऋष कथन करके अब उनके छप का ऋष निरूपण करते हैं :--

विपर्ययेण तु कमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

पदः -विपर्ध्येण । तु । क्रमः । अतः । उपपद्यते । च ।
पदाः -(च) और (उपपद्यते) युक्ति से पायाजाता है
कि (अतः) उत्पत्तिकम से (विपर्ध्येण, क्रमः) भूतों का
छयक्रम विपरीत है ॥

भाष्य-" तु" शब्द विपरीतक्रम के निश्चयार्थ आया है, जिसमकार से भूतों की उत्पत्ति वर्णन की है उससे उनके छप का क्रम विपरीत है अर्थाद जैसे लोक में सीहियों पर

चढ़ने बाले का कम उतरने काल से विपरीत होता है इसीमकार पृथिबी आदि का अपने २ कारण में लगकम उत्पत्ति से विपरीत जानना चाहिये, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपिन्षदार्ध्य-आह्य " में किया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

सं०-अंब इन्द्रियों की उत्पत्ति का भूतोत्पत्तिक्रम से विशेष परिहार करने के लिये "अन्तराविज्ञानाधिकरण " का प्रारम्भ करते हैं:—

अन्तराविज्ञानमनसी ऋमेण तिछङ्गादि-तिचेन्नाविशेषात् ॥ १५॥

पद्-अन्तरा। विज्ञानमन्तसी। क्रमेण। तिश्चिङ्गाव्। इति। चेव् । न। अविशेषात्।

पदा०-(ताल्लाइ) सिष्ट प्रतिपादक वाक्यों से (अकतरा) आत्मा और भूतों के मध्य (विज्ञानमनसी) विज्ञान तथा मन की उत्पत्ति का क्रम पायाजाता है, इसिल्लिये (क्रमेण) इन्द्रिय विषयक उत्पत्तिक्रम का भूतोत्पत्तिक्रम से विरोध है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अविशेषाद) इन्द्रियोत्पत्ति वाक्य में उत्पत्तिक्रम का भेद विविक्षत नहीं।

भाष्य-मुण्डकोपनिषद् में भूतोत्पत्ति से मथम विज्ञान=इन्द्रि-य बुद्धि आदि की उत्पत्ति का वर्णन है और तैत्तिरीय में इस से विपरीत पायाजाता है, जैसाकि :—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

अर्थ-प्राण, मन,चक्षुरादि इन्द्रिय,आकाश,वायु, अग्नि, जल, पृथिवी यह सब उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं जो सब से निरिति- क्षय ऐश्वर्यवाला होने के कारण " ब्रह्म " कहाता है, इस वाक्य में इन्द्रियोत्पत्ति के अनन्तर भृतोत्पत्ति का वर्णन है और " आत्मनः आकाशः सम्भूतः " इस तैत्ति० वाक्य में इन्द्रियोत्पत्ति मे प्रथम ही भूतोत्पत्ति का प्रतिपादन करने से स्पष्ट है कि उक्त दोनों श्रुतिवाक्य परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक होने से अमङ्गत हैं ? यह कथन इमिल्लिये ठीक नहीं कि मुं० २ । १ । ३ में प्राण आदि का उत्पत्तिकम विवक्षित नहीं केवल उत्पत्तिमात्र विवक्षित हैं, अतएव तैत्तिरीय वाक्य से उक्त वाक्य का विरोध नहीं आमक्ता ॥

तात्पर्य यह है कि "पाठकम में अर्थकम विष्ण होता है"
यह नियम है इन नियम के अनुमार जो "आत्मन आकाराः
सम्भूतः" इम वाक्य में पश्चमी विभाक्त द्वारा आकाशादि पदार्थ
विषयक परस्पर कार्य्यकारणभाव का आर्थिककम है उसका
मुण्डक श्रुति से वाध नहीं होसक्ता, दूसरी बात यह है कि
" अन्नमंय हि सोम्य मनः आपो मयः प्राणस्तेजो
मयी वाक् " छान्टो व हाराश्र मन अन्न का, पाण जल का,
वागिन्द्रिय तेज का विकार है, इसादि श्रुतियों में मन आदि को

वेदान्तार्थभाष्ये

स्पष्टतया भौतिक कथन करने से सिद्ध है कि भूतों की उत्पत्ति के अनन्तर ही मन आदि भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होसक्ती है अन्यथा नहीं, इस मकार तैक्तिरीय श्रुति के अनुसार मुण्डक श्रुति का अर्थक्रम छापन करने से दोनों वाक्यों में किसी मकार का विरोध न होने के कारण उनको असङ्गत कथन करना केवल साहसमात्र है ॥

सं०-अब जीव विषयक श्रुतिवाक्यों का विरोध परिहार करने के छिये "चराचरव्यपाश्रयाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

चराचरव्यपाश्रयस्तुस्यात्तद्व्यपदेशों भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६॥

पद०-चराचरव्यपाश्रयः। तु।स्यातः। तत्व्यपदेशः। भाकः। तद्भावभावित्वात्।

पदा०-(तद्भावभावित्वात) शरीर की वासनाओं से युक्त होने के कारण (चराचरव्यपाश्रयः) चराचर भूगों में होने वाला (तद्भयपदेशः) जन्मपरण व्यवहार जीव में (भाक्तः) औप-चारिक (स्यात) है ॥

भाष्य-" जातो देवदत्तः "=देवदत्त उत्पन्न हुआ, "मृतो यज्ञदत्तः"=यज्ञदत्त मरगया, इसादि जो जीव में जन्म मरणादि व्यवहार प्रतीत होता है वह शरीरसम्बन्ध से औपचारिक है युख्य नहीं,पुख्य उत्पत्तिविनाश चराचर शरीरों में ही पाये जाते हैं, क्यों कि जीव स्वरूप से अनादि नित्य है और जो भावपदार्थ अनादि नित्य होता है उसका उत्पत्ति विनाश कदापि नहीं होसक्ता, इसी अभिभाय से छां० ६ । ११ । ३ में वर्णन किया है कि:—

"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते नतु जीवो म्रियते "

अर्थ-जीव से रहित हो कर शरीर नष्ट हो जाता है पर शरीर नाश से जीवनाश कदापि नहीं हो सक्ता, यदि कोई दुराग्रहवशाद ऐसा माने तो अकृताभ्यागय दोष की प्राप्ति होगी अर्थाद किये हुए कर्म कल की प्राप्ति रूप दोषों का निवारण करना दुः माध्य ही नहीं किन्तु असम्भव होगा, इसिल्ये शरीर सम्बन्ध से जन्म मरण व्यवहार जीव में औषाधिक हैं वास्तविक नहीं, यही मानना ठीक है।

सं ० - नतु, यदि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता तो आग्ने विस्कु - क्षिजादि हष्टान्तों से उसकी उत्पत्ति निक्रपण करके उसकी वस का अंश कैसे कथन किया गया है ? उत्तरः ---

नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाचताभ्यः॥ १७॥

पद् ० न । आत्मा । अश्रुतेः । नित्यत्वातः । च । ताभ्यः । पद् । ० (अश्रुतेः) उत्पत्तिविधायक श्रुति के न पायेजाने (च) और (ताभ्यः) श्रुतियों द्वारा नित्य कथन करने से (आत्मा) जीवात्मा (न) उत्पन्न नहीं होता ।

भाष्य-जीवात्मा की उत्पत्ति में कोई श्रुतिवाक्य नहीं पायाजाता और नाही उसकी उत्पत्ति का साधक कोई तर्क मिलता है मत्युत

वेदान्तार्यभाष्ये

अनेक श्रातिवाक्य उसको अविनाशी प्रतिपादन करते हैं, जैसाकि कठ० २ । १८ में वर्णन किया है कि:—

> न जायते म्रियते वा विपश्चित्-नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतायं पुराणो-न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अर्थ-नित्य चैतन्यस्वकृप आत्मा न उत्पन्न होता, न मरता, न कोई उनका उपादानकारण और नाही उससे कोई कार्य उत्पन्न होता है किन्तु वह अजन्मा, नित्य तथा अनादि होने से देहनाश होने पर भी नष्ट नहीं होता. इसी भाव को छां॰ ६।११।३ में यों स्पष्ट किया है कि "न जीवो म्रियते"=जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता. इत्यादि अनेक प्रमाणों से जीव का जन्म न पाये जाने के कारण उममें जन्मादिभावों को औपाधिक मानना ही समीचीन है, और जो कह कहा है कि बृहद्दा २ ।१। २० में अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तद्रारा जीव बद्य का अंश होने से उत्पत्ति वाला है, सो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त दृष्टान्त में केवल चेतनत्वेन जीव ब्रह्म का माइइय है ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति किया जीव ब्रह्म का अभेद अभिषेत नहीं अर्थात जीव ब्रह्म के अभेद बोधक वाक्यों में जीव चेतनन्त्रेन ब्रद्ध के सहश है और अन्य प्राकृत पदार्थ मत्तामात्र से उसके सहश हैं यह तान्यर्थ हैं, इसिन्ये उक्त दृष्टान्त से जीव की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं, जीव ब्रह्म के

अभेद का विस्तारपूर्वक खण्डन तथा अग्निविस्फुल्लिङ्गादि दृष्टान्तों का आश्रय "उपिनिपद्रियम्। ह्यू " में विस्तारपूर्वक वर्णन किये जाने से यहां विशेष लिखने की आवश्यका नहीं।

स्मरण रहे कि जिनके मत में ब्रह्म ही भजकर जीव वन गया है जनके मत में यह अधिकरण कदापिसंगत नहीं होसका, क्योंकि यहां स्पष्ट जीव की उत्पांत्त का निषेध पाया जाता है और ब्रह्मकारणवाद में जीव ब्रह्म का कार्य्य होने से नित्य नहीं होसक्ता, दूसरी बात यह है कि एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भी उनके मत में तभी ठीक रहसक्ती है जब पदार्थमात्र की बंहा से उत्पत्ति मानकर उसी में सब का लय मानाजाय पर ऐसा न होसकने से स्पष्ट है कि मायावादियों के मत में "आत्माधिकरण" का लापन करना मर्वथा असम्भव है, इस प्रकार जब जीव ब्रह्म न हुआ तो फिर " आहंब्रह्मास्मि" बृहदा०१।४। १० "तत्त्वमसि"छां० ६।८।७ इत्यादि वाक्यों से उसको ब्रह्म कैसे बनावेंगे, और "प्रतिज्ञाहानिर-व्यतिरेकात्" त्र॰ स्॰२।३।६ "यावदिकारन्तुवि-भागोलोकवत्"व॰म्॰ २।३।७इनमुत्रों में जो स्वामी शं०चा॰ने अद्वेतवाद की व्यवस्था इस प्रकार बांधी है कि कोई पदार्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं ब्रह्म ही सबका अभिन्नीनिम त्रोपादानकारण है, यह व्यवस्था इस अधिकरण में सर्वथा निस्सार मतीत होती है,क्योंकि यहां मुत्रकार ने मुक्तकण्ठ से जीवात्मा की उत्पत्ति का निषेध किया है श्रीर जो स्वामी बं०चा०जी ने इस अधिकरण में जीवात्मा तथा ब्रह्मविषयक दोनों प्रकार के वाक्य मिछाकर जीवात्मा की उत्पत्तिका निषेध करते हुए अर्थतः ब्रह्मकी उत्पत्ति का निषेध माना है सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां ब्रह्म का कोई श्रकरण नहीं, यदि मान भी छियाजाय कि यह प्रकरण ब्रह्म की उत्पत्ति का निषेधक है तो भी आग्रेम "झाधिकरण" के साथ इसकी सङ्गति नहीं छगसक्ती, क्योंकि इसमें जन्म मरणादि हेतु जीव के बोधक हैं ब्रह्म के नहीं।

सं ० - अब मसङ्गसङ्गति से जीवात्मा को ज्ञाता कथन करते हैं:-

ज्ञोऽतएव ॥१८॥

पहर-जः। अतः। एव।

पदा०-(एव) निश्चयकरेक (अतः) शब्दप्रमाण पाये जाने से जीवात्मा (इः) ज्ञाता है।

भाष्य-जीवात्मा ज्ञाता है ज्ञानमात्र नहीं, क्यों कि
शब्दममाण से ऐसा ही पाया जाता है, जैसाकि
"अथयो वेदेदं जिल्लाणीति स आत्मा" छा०८।१२।४=
जो यह जानता है कि मैं गन्य को अनुभव करता हूं वह "आस्मा" है, इत्यादि अनेक ममाणों द्वारा जीवात्मा के ज्ञाता होने से
सिद्ध है कि वह मायावादियों के माने हुए आत्मा के समान
केवछ ज्ञानस्वरूप नहीं किन्तु ज्ञाता है और जो
स्वामी शं० चा० जी का कथन है कि अविद्याद्दप उपाधिद्वारा

जीवात्मा में ज्ञातृत्व भान होता है स्वतः नहीं, क्योंकि शुद्ध में शातृत्व का होना असम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि यहां सूत्र-कार ने स्पष्टतया शुद्ध में ही ज्ञातृत्व माना है किसी उपाधिद्वारा नहीं, इसी अभिपाय से कठ० ४ । ३ में यों वर्णन किया है कि "येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाश्चिमेथुनानतेनैव विजानाति०"=जो रूप,रस,गन्ध,स्पर्श तथा शब्दादि विषयों का अनुभव करता है वह "आत्मा" है, यदि शास्त्रका तात्पर्य्य जीवात्मा के औपाधिक ज्ञातृत्व में होता तो शुद्ध को रसादि का ज्ञाता कदापि वर्णन न किया जाता पर उक्त वर्णन पाये जाने से स्पष्ट है कि जीवगत ज्ञातृत्व धर्म औपाधिक नहीं किन्तु इंच्छादि की भांति शुद्धस्वरूप जीवात्मा का एक धर्मविशेष है, और जो इस प्रकरण में स्वामी बं व्चाव्जी ने टहदारण्यक के बहुत से वाक्य उद्धृत करके जीव ब्रह्म की एकता प्रतिपादन की है उनका समाधान हम " वाक्यान्वयात् " व्र० सू० १।४। १९ में कर आये हैं कि यह वाक्य ब्रह्म प्रकरण के हैं जीव प्रकरण के नहीं और उन वाक्यों को उद्धृत करके मायावादी स्वामी यह नहीं सिद्ध कर सक्ते कि वह वाक्य ज्ञानस्वरूप वर्णन करते हैं क्योंकि "नहिविज्ञात्रर्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्यते"बृहद्ग०४।३।३०= इता के ज्ञान का लीप नहीं होता, इसादि वाक्यों से परमात्मा को भी ज्ञान वाळा कहा है ज्ञानमात्र नहीं, ज्ञानमात्र मानने से मायावादियों के मत में यह फल है कि वह ज्ञाता होना माया जपाधि से मानते हैं और उनके मन्तव्यानुसार आत्मा म

स्वरूपभूत ज्ञातृत्व नहीं, वैदिकमत में ज्ञाता होना किसी जपाधि से नहीं आता किन्तु आत्मा का स्वाभाविक ग्रुण है। ननु—यदि ज्ञाता होना स्वभाविक ग्रुण हैतो वह सुषुप्ति आदिकों में क्यों नहीं भान होता ? उत्तर—सुप्रित आदिकों में उसका तिरो-भाव होजाता है अर्थात अविद्यादि दोषों से दव जाता है नाश नहीं होता, और मायावादियों के मत में तो जवतक मायिकभाव उसके साथ न मिले तव तक उनका आत्मा पापाण सहश रहता है, आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानना उनका कथनमात्र है वास्तव में ज्ञान का गन्ध भी उसमें नहीं ॥

सं०-अव जीवात्मा को अणुपरिमाण कथन करने के खिये " उत्क्रान्तिगत्यधिकरण " का आरम्भ करते हैं:—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥१९॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(उत्क्रान्तिगसागतीनाम्) उत्क्रान्ति, गांते तथा आगति पाये जाने से जीवात्मा अणु है।

भाष्य-उत्क्रान्ति=देहपात के समय शरीर से निकलजाना
गिति=चलना, आगिति=पुनः दूसरे शरीर में प्रवेश करना, इसादि
क्रियायों के पायेजाने से जीवात्मा अणु है विभु नहीं, क्योंकि
विभु में उत्क्रान्ति आदि क्रियाओं का होना सर्वथा असम्भव
है, जैसािक आकाशादिकों में देखाजाता है, इसिलये अणुपरिमाण
मानना ही ठीक है।।

सं ० - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं : -

द्वितीयाध्याये-तृतीयः पादः

२९१

स्वात्मनाचोत्तरयोः ॥२०॥

पद्०-स्वात्मना । च । उत्तरयोः ॥

पदा०-(च) और (उत्तरयोः) गति तथा आगति का (स्वात्मना) आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से जीव अणु है।

भाष्य-गित तथा आगित का आत्मा के साथ निरन्तर सम्बन्ध है अर्थात प्रथम द्यारिए से स्वत्व खागने पर विशु आत्मा में उत्क्रानित होसक्ती है परन्तु गित आगित यह दोनों धर्म विशु आत्मा में नहीं होसक्ते किन्तु अणु वा मध्यम परिमाण वाले में होते हैं परन्तु आत्मा के मध्यम परिमाण का तर्कपाद में खण्डन कियेजाने के कारण परिदेष से जीव को अणुपरिमाण वाला मानना ही ठिक है।।

सं ० – अव उक्त अर्थ को पूर्वपश्चद्वारा समाधान करते हुए विशेषक्ष से अणुनाद का समर्थन करते हैं: —

नाणुरतच्छुतेरितिचेन्नतराधिकारात्।२१।

पद०-न । अणुः । अतत् । श्रुनेः । इति । चेत् । न । इतराधिकारात् ।

पत्। ०-(अतन श्रुतेः) शब्द प्रमाण न होने मे जीव अणु (न) नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (इतराधिकारात्) विभुशोधक वाक्यों में परमात्मा का अधिकार पायाजाता है॥

वेदान्तार्यभाष्ये

भाष्य-"स वा एष महानजि॰" बृहदा॰ ४१४। २२=
आत्मा महान तथा अज है, इसादि वाक्यों में आत्मा की विभुता
पायजाने से उसको अणु मानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है
कि उक्त श्रुतिवाक्य ब्रह्म प्रकरण में पढ़ागया है जीव
पकरण में नहीं, इसिल्ये जीव के अणु स्वरूप में कोई बाधा नहीं।

सं ०-अव जीव की अणुता में शब्दममाण कथन करते हैं:-

स्वशब्दोन्मानाम्यां च ॥ २२ ॥

पद् ०-स्वशब्दोन्मानाभ्यां । च ।

293

पदा०-(च) और (स्वशब्दोन्मानाभ्यां) स्वशब्द तथा उन्मान=परिमाणबोधक वाक्यों से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है॥

भाष्य-स्वशब्द=जीववाची शब्द और उसके परिमाण वोधक बाक्यों से भी यही पायाजाता है कि जीवारमा अणु है जैसाकि:—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो-यस्मिन्प्राणाः पश्चधा संविवेश" पुं राशाट ।

अर्थ-जिसके आश्रित होकर पांच मकार का माण चेष्ठा करता है वह आत्मा शुद्ध चित्त से जानाजाता है, यहां जीवात्मा को साक्षात अणु शब्द द्वारा माणधारी वर्णन करने से स्पष्ट है कि वह आकाशादि के समान विभु नहीं और श्वे० ५। ८ में जीव का उन्मान=माप यों वर्णन किया है कि:— बालाग्र शतभागस्य शतभा कृतिपतस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयः सचानन्त्याय कृत्यते ॥
अर्थ-जिसमकार बाल के अग्रभाग का सौवां भाग करके
किर बसका सौवां भाग करने से स्रक्ष्मता होती है इसी प्रकार जीव
का स्रक्ष्मद्भप जानना चाहिये।

सं ० - नतु, यदि जीवात्मा अणु है तो शरीर के एकदेश में रहकर सारे शरीर को चेतनता कैसे देसक्ता है ? उत्तरः -

अविरोधरचन्दनवत् ॥२३॥

पद्-अविरोधः। चन्दनवत्।

पदा०-(चन्दनवत्) चन्दन की भांति (अविरोधः)जीव के अणुवाद में कोई विरोध नहीं।

भाष्य-जिसमकार शरीर के किसी एकदेश में चन्दन छगाने से सर्वत्र शीतछता का अनुभव होता है इसी मकार जीवास्मा शरीर के किसी एकदेश में रहकर छखदुःखादि का अनुभव कर सक्ता है, क्योंकि उसकी चेतनता सब शरीर में ज्यास है, इस छिये कोई दोष नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:-

अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमात् हिदिहि ॥ २४॥

पद् ०-अवस्थितिवैशेष्यात । इति । चेत्। न । अभ्युप्गमात।
हिदि । हि ।

वेदान्सार्यभाष्ये

368

पदा०—(अवस्थितिवैशेष्यात) चन्दनच्याप्ति की विशेषता पाये जाने से उक्त दृष्टान्त असङ्गत है (चेत) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (हि) निश्चयकरके आत्मा की (हृदि) हृद्यदेश में (अभ्युपगमात) स्थिति पाई जाती है।

भाष्य-चन्दन का शरीर के एकदेश में होना पाया जाता
है पर जीवात्मा का एकदेश में होना कथन नहीं किया गया?
यह शङ्का इसिलिये ठीक नहीं कि हृदयदेश में उसका स्वीकार
पाया जाता है, जैसाकि "स वा एष आत्माहृदि" छां ७८।
३।३=निश्चयकरके यह आत्मा हृदयदेश में विराजमान है।

तात्पर्य यह है कि चन्दन के समान एकदेश में न्याप्त होकंर आत्मा की चेतनता सब शरीर में विस्तृत होने के कारण ज्ञानादि की अनुपपत्ति का दोष नहीं और नाही उत्क्रान्ति आदि में किसी मकार की बाधा होसक्ती है, इसिछिये विभुवाद मानना ठीक नहीं। सं०-अब उक्त अर्थ की सिद्धि में अन्य दृष्टान्त कथन करते हैं:-

गुणादालोकवत् ॥ २५॥

पद ० – गुणात् । वा । स्रोकवत् ।

पदा०-(वा) अथवा (लोकयत्) मणि आदि प्रकाश वाले पदार्थों के सदश (गुणात्) शरीर में सर्वत्र चेतनता ज्याप्त होने से अणुवाद में गन्धादि ज्ञान की अनुपपत्ति नहीं।

भाष्य-जिसमकार एकदेशवर्ती मणि आदि पदार्थी का

द्वितीयाध्याय-तृतीयः पादः

399

मकाशादि गुण गृह के सर्वदेश में विस्तृत होजाता है इसी मकार परिच्छित्र जीव का चेतनता रूप गुण सारे शरीर में विस्तृत होजाता है, इसिछिये जीवात्मा के अणु होने पर भी सकछशरीर में चेतनता होने के कारण गन्धादि ज्ञानों की उपछिष्य में कोई बाधा नहीं।

सं०-नतु, जीवात्मा के ज्ञानादि गुण उससे भिन्न कैसे होसक्ते हैं ? उत्तर:—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

पद०-व्यतिरेकः । गन्धवत् ।

पदा०-(गन्धवत्) गन्ध की भांति (व्यतिरेकः) चैतन्य गुण का व्यतिरेक है।

भाष्य-जिममकार गन्धस्त्रक्ष पृथिवी के गन्धगुण का "पृथिव्या गन्धः"=पृथिवी का गन्ध है, इस मकार पृथक् व्यवहार होता है इसीमकार आत्मा के ज्ञानादि गुणों का व्यतिरेक पायाजाता है, इसिक्ष्ये ज्ञानादि गुणों के भिन्न होने में कोई दोष नहीं।

तथा च दर्शयति ॥ २७॥

पद०-तथा। च। दर्शयति।

पदा०-(च) और शास्त्र भी आत्मा को (तथा) झानादि गुणों वाला (दर्शयित) कथन करता है।

भाष्य-"जानात्येवायं पुरुषः" = यह पुरुष झान गुण बाखा है, इत्यादि शास्त्र द्वारा ज्ञान तथा आत्मा का गुणगुणीभाव पाये

वेदान्तार्यभाष्ये

३९६

जाने से सिद्ध है कि ज्ञानगुण के विस्तृत होने से सर्वश्वरीर में चेतनता है अन्यथा नहीं।

ष्ट्रथगुपदेशात ॥२८॥

पद् ०-एकपद ०।

पदा॰-(पृथगुपदेशात) गुण गुणी का पृथक् उपदेश पाये जाने से भी दोनों भिन्न हैं एक नहीं।

भाष्य-जीवात्मा तथा उसके ज्ञानगुण का पृथक्र उपदेश पाया जाता है, जैनाकि व्र० स्व० २। ३। १९ के भाष्य में वर्णन कर आये हैं,इसिल्चिंचन दोनों को एक मानकर ज्ञानस्वरूप और विश्व मानना समीचीन नहीं।

सं ० - ननु, "योयं विज्ञानमयः प्राणेषु" बृहदा ० ६।४। २२ इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप वर्णन किया है, फिर कैसे कहाजाता है कि ज्ञानादि उसके गुण हैं ? उत्तरः —

तद्गुणसारत्वात्तुतद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।२९।

पद् -तद्भुणसारत्वात् । तु । तद्व्यपदेशः । प्राप्नवत् ।

पदा॰-(तद्रुणसारत्वाद) ज्ञानगुण मुख्य होने से (प्राज्ञ-यद) ब्रह्म की भांति (तद्व्यपदेशः) जीव को ज्ञानस्वरूप कथन किया है वस्तुतः नहीं। भाष्य-"आनन्दो ब्रह्मोति विज्ञानात्" तै० ६ ११ = ब्रह्म को आनन्दस्बद्धप जानो, इत्यादि वाक्यों में जिसप्रकार आनन्दगुण प्रधान होने से ब्रह्म को आनन्दमय कथन किया है, क्योंकि ब्रह्म का आनन्द गुण सारभूत है इसी प्रकार ज्ञानगुण के युख्य होने से जीवात्मा को ज्ञानस्बद्धप माना है वस्तुतः ज्ञानतथा आत्मा दोनों का गुणगुणीभाव मानना ही समीचीन है।

स॰-अव उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:— यावदात्म भावित्वाच न दोष्स्तह्शनात्।३०।

पद०-यावदात्मभावित्वात्। च। न। दोषः। तद्दर्शनात्।
पदा०-(च) और (यावदात्मभावित्वात्) आत्मा के साथ
नित्य रहने से (दोषः) ज्ञानस्वरूप होने का दोष (न) नहीं आसका
क्योंकि (तद्दर्शनात्) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-जो विज्ञानमय शब्द से जीवात्मा को ज्ञानस्त्रक्ष होने का दोष दिया गया है वह इसिल्ये ठीक नहीं कि ज्ञानगुण जीव के साथ नित्य बना रहता है अर्थात ज्ञान और जीव का समवायसम्बन्ध होने से उसको ज्ञानस्त्रक्ष कथन किया है, जैसाकि "प्राणेषु हृद्यन्तज्योंतिः" बृह्मा०६। ४।२२=माणों का अधिपति स्वयंज्योतिः पुरुष हृदयदेश में निवास करता है, इत्यादि प्रमाणों मे सिद्ध है कि उन दोनों के गुणगुणीभाव में कोई दोष नहीं।

सं०-ननु, यदि जीव के ज्ञानादिगुण नित्य हैं तो सुपुप्ति-काल में भी उनकी पतीति क्यों नहीं होती ? उत्तरः—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्यसतोऽभिव्यक्तियोगात्।३१।

पद्र - पुंस्त्वादिवत् । तु । अस्य । सतः । अभिव्यक्तियोगात् । पद्मा - (तु) निश्चयं करेक (सतः) सत् पदार्थं की (अभि-व्यक्तियोगात्) अभिव्यक्ति का नियम होने से (पुंस्त्वादिवत्) पुंस्त्वादि की भांति (अस्य) ज्ञान का कदाचित्र आविर्भाव होता है सर्वदा नहीं।

भाष्य-जिसमकार मनुष्य के पुंस्त्वादि धर्मों का विद्यमान होने पर ही यौजनकाल में आजिर्भात पायाजाता है बाल तथा रुद्धातस्था में नहीं इसी प्रकार अदृष्टादि प्रतिबन्धकविशेष से आत्मर्रात्त ज्ञानादि गुणों की सुपुप्ति आदिक अवस्थाओं में तिरोभाव तथा जाग्रदादि काल में आजिर्भाव होता है इसिल्ये ज्ञानादि के नित्य होने पर भी कदाचित प्रकट होने में कोई बाधा नहीं।

सं०-अव विभवादी के मत में दोष कथन करते हैं:— नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतर-नियमोवाऽन्यथा ॥ ३२॥

पद् ०-नित्योपलब्ध्यनुपलविधमसङ्गः । अन्यतर्गियमः । वा । अन्यथा ।

पदा०-(अन्यथा) यदि जीव को अणु न मानाजाय तो (नित्योपल्रब्ध्यनुपल्रब्धिप्रमङ्गः) एक ही काल में विषय की जपल्रब्धि तथा अनुपल्रब्धि का प्रमङ्ग होगा (वा) अथवा (अन्य-तर्शनयमः) दोनों में से किसी एक को मानना पड़ेगा।

भाष्यं-मायावादी जीव को (ज्ञानस्त्रक्ष्प)तथा विभु मानते हैं और आधुनिक नैयायिक ज्ञानका अधिकरण मानते हुए विश्व कथन करते हैं उनका यह कथन इसिलये ठीक नहीं कि ऐसा मानने से एक ही काल में विषय की उपलब्धि=मतीति तथा अनुपलब्धि=अमतीति शाननी पड़ेगी और शारीर से वाह्य प्रदेश में भी विषयोपछाडेघ की आपत्ति होगी, क्योंकि ज्ञानस्वरूप विभु आत्मा जिसमकार भारीर में व्यापक है वैसे ही उसकी व्यापकता शरीर से बाहिर भी पाई जाती है, यदि यह कहाजाय कि विषयोपछन्ध्य-नुपल्रिक्य का नियामक आत्मसंयुक्त मन का इन्द्रियों के साथ संयोग है केवछ. आत्मा नहीं और उसका आत्मा से युगपत संयोग न होने के कारण एककाल में सब ज्ञान नहीं होसक्ते ? इसका उत्तर यह है कि ब्यापक आत्मा का सर्वत्र सर्वदा एक प्रकार से संयोग होने के कारण युगपत अनेक विषयोपलब्धि का कोई बाधक नहीं,इसिछिये उक्त आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है, यदि अद्दृष्टीं को नियामक मानकर उक्त व्यवस्था कीजाय अर्थाद जिस काल में जो अदृष्ट जिस विषय की उपलब्धि द्वारा सुलदुः ल का निमित्त होगा उसी विषय की उपलब्धि होगी अन्य की नहीं? यह कथन इसिंखये ठीक नहीं कि अदृष्टों के साथ भी विभु आत्मा का सम्बन्ध पूर्ववत समान पायाजाता है, अतएव विभुवादी का उक्त समाधान ठीक नहीं।

तात्पर्ध्य यह है कि ज्ञानस्त्रक्ष आत्मा को निभु मानकर विषयोपछिष्धि का हेतु मानने से सर्वत्र सर्वदा विषयोपछिष्धि की आपत्ति और अनुपल्लिष का हेतु मानने से विषयमात्र की अम-तीति प दोष का परिहार विभुवादी के मत में कदापि नहीं होसका, इसलिये आत्मा को अणुपरिमाण वाला मानना ही समीचीन है, इसका विस्तार पूर्वक वर्णन "वैशेषिकार्यभाष्य" में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

स्मरण रहे कि इस अधिकरण में स्वामी शंकराचार्यजी ने आत्मा को ज्ञानस्वरूप वर्णन करते हुए ज्ञानगुण का खण्डन किया है और जीव को उपाधिवशात परिच्छित्र मानकर वस्तुतः विभु माना है जो सूत्रकार के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, यदि सूत्रकार का यही अभिनाय होता तो १८वें सूत्र में महर्षि व्यास मुक्तकण्ठ से जीव को ज्ञानगुण का अधिकरण वर्णन न करते और नाही "अविरोधश्चन्दनवत्" ब॰स॰ २१३।२३ "व्यतिरेको गन्धवत्" ब्र० स्०२।३। २६ इत्यादि सूत्रों द्वारा अणुवाद में दोषों का परिहार किया जाता परन्तु इस अधिकरण में अणुवाद का भछेपकार समर्थन पाये जाने से सिद्ध है कि स्वा॰ शं॰ चा॰ जी की उक्त कल्पना वेदान्त सिद्धान्त से सर्वथा प्रतिकूछ है, और जो उक्त स्वामीजी ने "तद्गुणसार-त्वातु"इस२९वें सूत्र में "तत्" शब्द से बुद्धि का परामर्श मानकर सूत्र का यह अर्थ किया है कि बुद्धिक्ष उपाधि के सम्बन्ध से जीव में अणुल का व्यपदेश है वस्तुतः नहीं,और उसी द्वारा कर्तृत्व भोक्तृल भान होता है वास्तविक नहीं ? यह स्त्रामीजी का कथन इसिछियेठीक नेहीं कि इस सूत्र से पूर्व किसी सूत्र में बुद्धिवाचक पद नहीं पाया जाता जिससे उसका परामर्श मानकर आत्मद्यत्तिकर्तृत्व भोक्तत्व को औषाधिक मानाजाय, और बात यह है कि इस सारे दर्भन में इतना बड़ा पूर्वपक्ष कहीं उपलब्ध नहीं होता फिर ग्याइरवें सूत्र में अकस्मात अणुवाद का खण्डन कैसे होसक्ता है यह स्वामी की अपूर्व कल्पना सूत्रकार की शैली से किछ होने के कारण आदरणीय नहीं।

सं ॰ - अब जीवात्मा को कर्चा कथन करते हैं: -कत्ती शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३॥

पद०-कर्जा। बास्त्रार्थवस्त्रात्।
पदा०-(बास्त्रार्थवस्त्रात्) बाब्दपमाण पायेजाने से
(कर्जा)जीवात्मा कर्जा है॥

यह करे " मुमुक्षुर्बह्योपासीत "= मुमुक्षु ब्रह्म की उपा-सना करे, इसादि विधिवाक्य पायेजाने से जीव कर्चा है, इसी अभिनाय से यज्ञ० ४० । २ में वर्णन किया है कि " कुर्विन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ५ समाः"= अग्निहोत्रादि कर्मों को करता हुआ ही सौवर्ष पार्यन्त जीने की इच्छा करे, यदि जीवात्मा में कर्तृत्वभाव किसी उपाधि द्वारा होता तो शास्त्र में कदापि कर्मानुष्ठान का उपदेश न पायाजाता परन्तु स्पष्टसया वेदादि शास्त्रों में कर्मानुष्ठान का उपदेश पाये जाने से सिद्ध है कि उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व औपाधिक नहीं। भाव यह है कि जीव को कर्चा मानने पर ही विधि निषेध-इप शास्त्र सार्थक होसक्ता है अन्यथा नहीं, इसिंखये जीव को कर्चा मानना ठीक है।।

सं - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:--विहारोपहेशात् ॥ ३४॥

पद०-एकपद०।

पदा॰-(विहारोपदेशात्) विहार का उपदेश पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥

भाष्य-सुषुप्तिं आदि अवस्थाओं में इच्छापूर्वक विहरण का नाम " विहार " है, उपनिषदों में जीव का यथेच्छ विहार पायेजाने से वही कर्त्ता होसक्ता है बुद्धि नहीं, जैसाकि बृह०२। १। १८ में वर्णन किया है कि :—

स यथा महाराजो जानपदा नगृहीत्वा स्वेजनपदे यथाकामं परिवर्त्तते । एवमेव एष एतत्राणानगृ-हीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते ॥

अर्थ-जिसमकार महाराज अपने जनपद में मंत्री आमात्य आदि को साथ लेकर इच्छापूर्वक विचरता है इसीमकार जीवात्मा अपने वागादि माणों के साथ शरीर में निवास करता हुआ मुख्ति आदि अवस्थाओं में स्वतन्त्र विचरता है,यदि बुद्धि ही कर्चा होती अथवा बुद्धिद्वारा जीव में औपाधिक कर्चापन होता तो उक्त श्रुति वाक्य में जीव का विहरण वर्णन न किया जाता परन्तु

द्वितीयाध्याये-तृतीयःपादः

\$0\$

स्पष्टतया सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जीव विषयक विदार पाये जाने से सिद्ध है कि बुद्धि कर्त्ता नहीं ॥

उपादानात्॥ ३५॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(उपादानात) इन्द्रियों का ग्रहण करने वाळा होने से जीव ही कत्तों है।

भाष्य-" प्राणान्गृहीत्वा "बृहदा० २।१।१८=इन्द्रियों को अपने साथ लेकरें विचरता है, इसादि विषय वाक्यों में ग्रहण किया का कर्त्ता जीव है बुद्धि नहीं, इसलिये जीवसे भिन्न बुद्धि आदिकों को कर्त्ता मानना ठीक नहीं।

व्यपदेशाच क्रियायां न चेन्निर्देश-विपर्ययः ॥ ३६ ॥

पद्०-व्यपदेशात्। च। क्रियायां। न। चेत्। निर्दे-शविपर्ययः।

पदा०-(च) और (क्रियायां) लौकिक तथा वैदिक कर्मों में (व्यपदेशाद) जीव का कर्जा होना पायाजाता है (चेद) यदि (न) ऐसा न मानाजाय तो (निर्देशिवपर्ययः) श्रुति वाक्य में विपरीत कथन की आपित्त होगी।

भाष्य-"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" तेचि॰ २। ५। १=जीवात्मा यज्ञादि वैदिक तथा भक्ष्य भोज्यादि लेकिक कर्मों का विस्तार करता है, इसादि वाक्यों में जीवात्मा ही कममात्र का कर्चा कथन किया है, यदि उक्त श्रुतिवाक्यानतर्गत "विज्ञान " पद से आत्मा का ग्रहण न करके

बुद्धि छीजाय तो उक्त पद में विभक्ति का व्यत्यय करना
पड़ेगा अर्थाद विज्ञान पद के स्थान पर "विज्ञानेन"
ऐसे तृतीयान्त पाठ की कल्पना करनी होगी, क्योंकि बुद्धि ज्ञान
किया का साधन है कर्चा नहीं और अनिभिहितकरण में तृतीया
विभक्ति होती है यह व्याकरण का नियम है परन्तु
उक्त विभक्ति का परिवर्त्तन उपनिषत्कर्चा ऋषि को
अभिनेत न होने से स्पष्ट है कि वैदिकसिद्धान्त में जीव के
विना बुद्धि आदि जड़ पदार्थ कदापि कर्चा नहीं होसक्ते,हां जीव
के साथ सम्बन्ध होने तथा उसके मयन द्वारा स्व २ व्यापार
में महत्त होने से उनके औपचारिक कर्चा होने में के.ई
वाधा नहीं॥

सं०-नतु, यदि जीव कर्ता है तो स्वतन्त्र होने से सर्वदा इष्ट ही सम्पादन क्यों नहीं करता ? उत्तर :--

उपलब्धवदिनयमः॥ ३७॥

पद्०-उपलब्धित्व । अनियमः ।
पद्ग०-(उपलब्धित्व) उपलब्धि की भांति (अनियमः)
इष्ट सम्पादन करने का नियम नहीं ।

भव्य-जिसमकार ज्ञानक्य िकया के मित स्वतन्त्र होने पर भी जीव कभी दुःख को उपलब्ध करता है इसीमकार स्वतन्त्र जीव कभी इष्ट=उत्तम कर्म कर्ता है और कभी किसी दोष वश से आनिष्ट=निषिद्ध कर्म करता है यह जीव का स्वाभाविक धर्म है इसल्यिं उसकी स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं ॥

स्वा० रामानुज ने इस सूत्र को इम मकार छापन किया है
कि "यथात्मनो विभुत्वे नित्योपल्रब्ध्यनुपल्रब्ध्य
प्रसङ्ग इत्यादिनोपल्रब्धरिनयम उक्त तद्धदात्मनोऽ
कर्त्तृत्वे " श्री० भा०=जिस मकार आत्मा के विभु होने में
विषयोपल्रब्धि का नियम नहीं रहसक्ता इसीमकार आत्मा को
कर्ता न मानकर बुद्धि को कर्ता मानने से भी कर्तृत्व का
नियम दूर जाता है अर्थात महत्तव=समष्टिबुद्धिक्प मकृति को
कर्ता मानने से पुरुषमात्र के किये हुए कमों का फल सबको
माप्त होगा, क्योंकि सब पुरुषों की मद्यांच का हेतु मकृति
समान है ? यह इसलिये ठीक नहीं कि जब वैदिकसिद्धान्त में
पुरुषभेद से मकृतिभेद=बुद्धिभेद माना गया है फिर बुद्धि को
एक मानकर उक्त आसेप तथा समाधान की आवश्यकता ही क्यां हिससे सिद्ध है कि जीव ही कर्त्ता है बुद्धि नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :-

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८॥

पद् ० – एकपद ०।

पदा०-(शक्तिविपर्ध्यात्) आत्मा की भोक्तृशक्ति का विपर्ध्यय होने से भी बुद्धि को कर्त्ता मानना ठीक नहीं॥

भाष्य-जो छोग बुद्धि को कर्ता मानकर आत्मा को भोका मानते हैं उनके मत में आत्मा की भोंक्तृशक्ति का विपर्यय होगा अर्थात जो कर्ता होता है नहीं भोक्ता होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार यदि बुद्धि को कर्त्ता मानें तो उक्षीको भोक्ता मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्त्त्वधर्म को छोड़कर भोक्त्त्वधर्म नहीं रहसक्ता ऐसा होने से जो आत्मा की भोक्त्वशक्ति का नाश है बही " शक्तिविष्टियय " कहलाता है सो सिद्धान्त में इष्ट न होने से सिद्ध है कि आत्मा ही कर्त्ता भोक्ता है बुद्धि नहीं॥

भाव यह है कि " " त्योरन्यः पिष्पुलं स्वाद्धस्यन-इन्मन्यो अभिचाकशीति " ऋ०२।३।१७=जीव ईश्वर इन दोनों में से एक कर्मफल का भोक्ता है दूसरा नहीं, इसादि वैदिक प्रमाणों से जीवात्मा ही भोक्ता मानागया है जीव से भिन्न पक्ति वा ईश्वर नहीं, क्योंकि जड़ होने से मक्ति में भोक्तृत्वशिक्त नहीं और नाही निस शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होने से ईश्वर भोक्ता होसक्ता है, परिशेष से जो जीव कर्चा है विही कर्मफल का भोक्ता है, इसल्पि जीव को कर्चा मानना ही समीचीन है॥

समाध्यभावाच ॥ ३९॥

पद् ०-समाध्यभावात् । च।

पदा०-(च) और (समाध्यभावात्) समाधि का अभाव होने से जीव को ही कर्त्ता मानना ठीक है।।

भाष्य-यदि जीव को छोड़कर बुद्धि को ही भोक्ता माने तो समाधि के अभाव का मसङ्ग होगा अर्थात् "योग[श्चित्तवृ- तिनिरोधः "यो० १। १=वित्तदित्त=बुद्धित के निरोध का नाम "योग "है, इसादि शास्त्रों में जो योग का उपदेश पायाजाता है वह बुद्धि को भोक्ता मानने से सर्वथा निरर्थक होजाता है, क्योंकि ममाधि में बुद्धि से भिन्न आत्मा की प्रतीति होती है और बुद्धि का निरेध करना ही योग कहलाता है, इसपकार जो निरोध कर्त्ता जीव बुद्धि से भिन्न है वही भोका है बुद्धि नहीं॥

सं०-ननु,यदि जीवात्माही कर्त्ता है तो सुषुप्ति आदिकों में उसके कर्तृत्व का निरोध क्यों होजाता है ? उत्तर:-

यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

पद् ० - यथा। च। तक्षा। उभयथा।

पदा॰-(यथा, च, तक्षा) तक्ष=बढ़ई की भांति जीव में (उभयथा) कर्नृत्व अकर्तृत्व दोनों धर्म होसक्ते हैं॥

भाष्य-जिममकार यन्त्रादि से निर्माण करने वाळा तसक यन्त्रादि साधनक्ष्य कुल्हाड़ी आदि के होने पर भी अपनी इच्छ। से उन साधनों द्वारा किसी पदार्थ का कर्ता होता है और न होने से नहीं इमीपकार जीवात्मा की कर्त्व्याक्ति का सर्वदाकाळ कार्य्य में उपयोग नहीं होता अर्थात सुष्ठित में निद्रादि दोषों का प्रतिबन्ध होने मे उसके कर्त्व का निरोध होजाता है, इसळिये जीव के कर्त्व में कोई बाधा नहीं । और बुद्धि को कर्ता मानने पर यह दोष आता है कि वह जड़ है, इशिल ये भोग की इच्छा आदि का नियम उसमें नहीं वनसक्ता, अतएव जीवात्मा ही कर्ता है॥

सं०-नतु, जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है वा परतन्त्र ? उत्तरः— प्रात्तुतच्छूतेः ॥ ४१॥

पद०-पराद। तु। तद्। श्रुतेः।
पदा०-(पराद) जीव ब्रह्म के अधीन होकर कर्म करता है
क्वोंकि (तच्छुतेः) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"तु" शब्द सिद्धान्त की पुष्टि के लिये आया है, जीव स्वतन्त्र होने पर भी पूर्वकृत कर्मानुसार ईश्वर मेरणा से युभाश्वभ कर्मों में प्रदत्त होता है, जैसाकि कोषी ०३। ८ में वर्णन किया है कि:—

एषह्यव साधुकम कारयति तं यमेभ्योलोकेभ्य उन्निनीषते। एषह्यवासाधुकमे कारयति तं यमधो-निनीषते॥

अर्थ-निश्चय करके परमात्मा जिसको उच्च लोकों में लेजाना चाइता है उसको श्रम तथा जिसको नीच लोकों में लेजाना चाइता है उसको अश्रम कर्म कराता है, इसी आश्रय को गी० १८।६१ में बों वर्णन किया है कि:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ अर्थ-हे अर्जुन ईश्वरीय नियमक्रप यन्त्र में स्थित सब माणियों को माया से श्रमण कराता हुआ परमात्मा माणिमात्र के हृदय देश में विराजमान है।

सं ० - न नु, यदि ईश्वर की पेरणा से जीव श्वमाश्चम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तो ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य दोषों की आपित होगी ? उत्तरः —

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२॥

प्द ० - कृतप्रयत्नापेक्षः । तु । विहितप्रतिषिद्धावैपर्थ्यादिभ्यः । पदा० - (विहितप्रतिषिद्धावैपर्थ्यादिभ्यः) विधिनिषेष शास्त्र व्यर्थ न होसकने से (कृतप्रयत्नापेक्षः) जीवकृत पूर्व कर्मों के अनुसार ईक्टर प्रेरणा करता है स्वतः नहीं ।

भाष्य—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के लिये आया है, ईश्वर की प्रेरणाद्वारा जीव श्वभाश्चम कर्म में प्रवृत्त होता है ऐसा मानने से उसमें वैषम्य=मुली दुःली बनानारूप विषमता तथा नैर्घृण्य=अतिदीन दुःली बनाने से निर्दयता आदि दोषों की आपित्त होगी इसलिये जीव को ईश्वराधीन मानकर कर्मकत्ता मानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि प्रमात्मा पूर्वकर्मी के विना किमी जीव को प्रेरणा नहीं करता यदि पूर्वकृतकर्मी की अपेक्षा विना ही प्रेरणा करे तो मम्पूर्ण विधि निषे- भशास्त्र व्यर्थ होजायगा परन्तु उक्त शास्त्र का व्यथे होना सिद्धान्त

में इष्ट न होने से सिद्ध है कि ईश्वर की भेरणा कर्मनिरपेक्ष नहीं किन्तु कर्मसापेक्ष है।

तात्पर्य यह है कि जिम जीव की पूर्वकृत कर्मानुसार जैसी वासना होती है वैसे ही परमात्मा की मेरणा पाई जाती है अन्यया नहीं और वह इतने अंश में है कि ईश्वर पूर्वकृत कर्मी का फल अवक्य भुगाता है, इस प्रकार विधिनिषधशास्त्र में किसी प्रकार की बाधा न होने से ईक्वरपेरणा मानने पर भी वेषस्य नैष्टृण्यादि दोषों की आपित्त नहीं होसक्ती, इसका विशेष विचार अब सु २ । २ । ३४ में किया गया है इसलिये यहां विस्तार की आवक्यकता नहीं।

सं०-अब जीव के ईश्वरांशबोधक वाक्यों की व्यवस्था योधन करने के छिये "अंशाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:-

अशोनानाव्यपंदेशादन्यथाचापिदाश कितवादित्वमधीयत एके ॥ ४३॥

पद् ० - अंदाः । नानाव्यपदेशातः । अन्यथा । च । अपि । दाशकितवादित्वम् । अधीयते । एके ।

पदा०-(नानान्यपदेशात्) भेदन्यपदेश पाये जाने के कारण (अंशः) जीव ब्रह्म का अंश है (अन्यथा, च, आपें) और अभेद न्यपदेश से भी (एके) कई एक शास्ता वाले (दाशांकि-तशादित्वं) ब्रह्म को दाशिकतवादि भावों से कथन करते हैं।

भाष्य-जीवों में नानात्व पाये जाने से वह ब्रह्म के अंश हैं अर्थाद जीवों में जो मानापन पाया जाता है और उन सब में परमात्मा व्यापक है इसिल्लिये वह अंश के समान हैं, और जो कई एक शाखावाले दाश=धीवर, कितव=वक्षक आदि पुरुषों को भी ब्रह्म कथन करते हैं, क्यों कि वह भी ब्रह्म के एकदेश में होने से ब्रह्मांश हैं ब्रह्मदूप होने के अभिमाय से नहीं, इसका विशेष व्याख्यान भूमिका में किया गया है वहां देखें।

सं०-अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:— मंत्रवर्णाच ॥ ४४॥

पद्०-मंत्रवणीत्। च।

पदा०-(च) और (मन्त्रवर्णात्) वेदमन्त्र से भी चक्क अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-वेद में पाया जाता है कि जीव ब्रह्म के एकदेश में होने से अंश कहा गया है वास्तव में नहीं, जैसाकि:—

एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च प्रुरुषः। पादाऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतंदिवि॥

यजु० ३१। ३

अर्थ-यह एकपाद रूप उस परमात्मा की महिमा सम्पूर्ण जगत है और तीन पादरूप अमृत है, यहां अंश शब्द के अर्थ एक भाग के हैं, इसिल्टिय जीवों को ब्रह्म का अंश कथन किया गया है, अंश,पाद,भाग यह सब एकार्थवाची शब्द हैं।

अपि च स्मर्यते ॥ ४५॥

पद् ०-अपि । च । स्मर्थते ।

पदा०-(च) और (स्तर्यते, अपि) स्मृति में भी जीव को ब्रह्म का अंश कथन किया है।

भाष्य-"ममैवांशोजीवलोकेजीवसूतः सनातनः"
गी०१५। ७=मेरा ही अंश जीवलोक में जीवभूत सनातन है,यहां
अंश स्वस्वामीभाव के अभिमाय से कहागयाहै अन्यथा "सनातन"
कथन निष्फल होगा, इसादि स्मृति से सिद्ध है कि ब्रह्म के
एकदेश में रहने के कारण जीव ब्रह्म का अंश है वस्तुतः नहीं॥

सं ० - न न , "यथा सदीप्तात्पावकाद्धिस्फुल्लिङ्गाः"

ग्रं २ । १। १ इत्यादि वाक्यों में जीव को "अभिविस्फुल्लिङ्ग"

हष्टान्त से ब्रह्म का अंश=दुकड़ा कथन किया गया है फिर

"अंश " पंद का अर्थ एकदेश में होने वाला क्योंकर
होसकता है ? उत्तरः—

प्रकाशादिवन्नेवं परः ॥४६॥

पद्-मकाशादिवत् । न । एवं । परः ।

पदा ॰ - (प्रकाशादिवत्) जिसमकार अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थ अंश वाले हैं (एवं) वैसा (परः) ब्रह्म (न) नहीं ॥ भाष्य-अप्नि आदि प्रकाशक साकार पदार्थों के समान ब्रह्म सावयव न होने से जीव निराकार ब्रह्म का वास्तव में अंश नहीं किन्तु एकदेशी होने से अंश के समान कोल्पत अंश है, इसी अभिप्राय से अद्वैतिविद्याचार्य्य स्त्रा० श० चा० जी का भी कथन है कि "अंश इवांशों निह निरवयवस्य मुख्योंश सम्भवंति " शं० भा० ब० स० २। ३। ४३=जीव अंश के समान अंश है वास्तव में अंश नहीं, क्योंिक ब्रह्म निरवयव है, और निरवयव पदार्थ का मुख्य अंश नहीं होता, इसिछ्ये जो अप्नि विस्फुल्लिङ्ग दृष्टान्त से जीव को ब्रह्म का अंश कथन किया है वह एकदेशी बोधन करने के अभिपाय से है सर्वथा साकार पदार्थों की भांति अंशांशीभाव बोधन करने के अभिपाय से नहीं॥

सं ० - अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:-

स्मरन्ति च ॥ ४७॥

पद् ०-स्मर्गन्त । च।

पदा०-(चं) और (स्मरन्ति) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है॥

भाष्य-स्पृति भी परमात्मा को निर्गुण निरवयव कथन करती है, जैसाकि :-

तत्र यः परमात्मा हि नित्यो निर्श्रणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

अर्थ-नित्य निर्शुण,निरवयव होने से परमात्मा को पुण्य पाप का लेश नहीं, क्योंकि वह जल में कमलवत सर्वथा निर्लेप रहता है, इसादि स्पृति वाक्यों द्वारा परमात्मा को निरवयव कथन करने से स्पष्ट है कि जीव ब्रह्म का वास्तव अंश नहीं और नाही अग्नि विस्फुलिङ्गिदि दृष्टान्तों का अभिमाय वास्तव अंश बोधन करने का है।।

सं०-ननु, परमात्मा की भांति जीव निराकार तथा स्वरूप से शुद्ध है फिर उसके छिये विधि निषेधरूप शास्त्र की प्रदृत्ति कैसे होसक्ती है ? उत्तर:—

अनुज्ञापरिहारोदिहसम्बन्धाज्ज्योति-रादिवत् ॥ ४८ ॥

पद०-अनुज्ञापिरहारौ । देहसम्बन्धात । ज्योतिरादिवत ।
पदा०-(ज्योतिरादिवत) अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थौं
के समान (देहसम्बन्धार्ते) देहसम्बन्ध से (अनुज्ञापिरहारौ)
जीव के छिये विधिनिषेध रूप शास्त्र का उपदेश है ॥

भाष्य-जिसमकार अग्नि आदि मकाशक पदार्थ स्वरूप से
शुद्ध होने पर भी क्षशानादि अपिवत्र स्थान के सम्बन्ध से
अपिवत्र होने के कारण त्याज्य होते हैं और वही अग्न्याधान काल
में श्रोत्रिय गृह सम्बन्धी उपादेय हैं,इसीमकार स्वरूप से शुद्ध होने
पर भी जीवात्मा देह के सम्बन्ध से मालिन=पापी होजाता है,
उसकी आगन्तुक मलीनता दूर करने के लिये ही विधिनिषेधरूप
शास्त्र का उपदेश किया है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि ईश्वर की भांति जीव स्वरूप से शुद्ध है तथापि उसके साथ अज्ञान का सम्बन्ध होने से विहित कमीं का अनुष्ठान तथा निषिद्ध कमीं के साग की आवश्यकता बनी रहती है जर वह आचाय्योपदेश द्वारा वेदिविहित कमीं का यथाविधि अनुष्ठान करता है तब शनै: २ मछादि दोषों की निष्ठति से ईश्वरोपासनाद्वारा परमात्म सम्बन्धी धमों को धारण करता हुआ शुद्ध होजाता है फिर वह देह-सम्बन्ध न रहने से विधिनिषेधक्ष शास्त्र का छक्ष्य नहीं रहता, इसिलये देहसम्बन्ध के कारण जीवों के लिये विधिनिषेधात्मक शास्त्र का उपदेश है स्वतः नहीं ॥

सै॰-ननु,जीवात्मा विभु है इसिछिये अन्यकृत कर्मों का फछ अन्य को शाप्त होने से कर्मसांकर्घ्य दोप आता है ? उत्तरः—

असन्ततेश्चाव्यतिकरः॥ ४९॥

पद ० - असन्तते । च । अव्यतिकरः ।

पदा०-(असन्ततेः) जीवात्मा विभु न होने से (अञ्यति-करः) कर्मो का सांकर्घ्य नहीं होसक्ता।

भाष्य-मूत्र में "च" शब्द "तु" के अर्थ में पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के लिये आया है,जीवात्मा को विभु मानकर कर्मसांकर्य का आक्षेप करना इसलिये ठीक नहीं कि वैदिक सिद्धान्त में जीव को विभु नहीं माना गया, जैसाकि:—

" एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश "

अर्थ-जिसमें पांच प्रकार का पाण प्रविष्ट है अर्थाद जिस की शक्ति द्राग ही पश्चित्रिय प्राण अपनी २ किया में व्यापृत रहते हैं वह आत्मा अणु है और मन से ही जानाजाता है किसी वाह्य इन्द्रिय का विषय नहीं, इसादि प्रमाणों से सिद्ध है कि जीवात्मा विभु नहीं और विभु न होने से ही अन्यकृत कर्मों का अन्य को फल प्राप्तिकप सांकर्यदोष नहीं आसक्ता,हां जो कई एक आधुनिक टीकाकार जीवात्मा को विभु मानते हैं उनके मत में उक्त दोष का समाधान सर्वथा अमस्भव है और अन्य भी विभुवादी के मत में कई एक दोष आते हैं जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन "वैशेषिकार्य भाष्य " में कियागया है, इसलिये यहां विस्तार की आव-

" विज्ञानिभिक्क " ने इस सूत्र को इस प्रकार छापन किया है कि" सच जीवो ऽव्यतिकरः नास्ति व्यतिकरे। व्यतिषद्भः सम्बन्धविशेषा लेपाख्यो यत्रेत्यव्यति-करोऽसंग इत्यर्थः"=सम्बन्धविशेष का नाम "ठयतिकर" है और असन्तित=अविकारी होने से जीवात्वा को किसी पकार के कर्म का व्यतिकर=छेप नहीं होसक्ता, कथन इसिछिये ठीक नहीं कि तिहितकर्मी के परिसाग तथा निषद्ध कर्मों के आचरण से होने वाले पापसम्बन्ध की निर्दात्त के छिपे शास्त्र का उपदेश है, यदि आधुनिक वेदान्तियों की भांति सर्वथा ही जीव निर्छेप होता तो वेदादि शास्त्र का उपदेश निर्धक होजाता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि इस अधिकरण में महर्पिच्यास का आवाय जीवात्मा को असङ्ग बाधन करने का नहीं किन्तु कर्मसांकर्य्य का अभाव बोधन करने में है जैसाकि ऊपर स्पष्ट कर आये हैं॥

द्वितीयाध्याये-तृतीयः पादः

329

सं०-अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:-

पद्०-आभासः। एव। च।

पदा ॰ – (च) और (एव) निश्चय करके (आभासः) जीव परिच्छित्र है।

भाष्य-जो विभु होकर चेतन हो वह ईक्तर की भांति सर्वेद्र होता है,इस नियम के अनुमार यदि जीवात्मा विभु होता तो अवक्य सर्वद्र होता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि वह आभ।स=परिच्छिन है और परिच्छिन होने से ही एक दूसरे के कर्मों का संकर नहीं होता, यहां आभास शब्द खद्योत की भांति छछुता के अभिनाय से आया है।

स्त्रामी शं०चा० जी का कथन है कि जल में सूर्यमितिबिम्ब के सहश बुद्धि में जीव परमात्मा का आभास है, और जैसे एक जलगत सूर्य के कांपने से अन्य जलों में जो सूर्य के आभास हैं वह नहीं कांपत इसी प्रकार एक आत्मा के सुखी दुःखी होने से दूसरे आत्मा सुखी दुःखी नहीं होते, यह इमिल्ये ठीक नहीं कि निराकार ब्रह्म का सूर्यादि साकार पदार्थों की भांति मतिबिम्ब नहीं होसकता, इसका विशेषविचार भूमिका में कर आये हैं, इसिल्ये यहां आवश्यकता नहीं।

"स्वामी रामानुज " के मत में इस मूत्र के अर्थ यह हैं कि मायावादी लोग जो जीव को ब्रह्म अथवा विभु वर्णन करने में तर्क देते हैं वह सब तर्काभाम हैं अस्तु, यदि सूत्रार्थ को देखाजाय तो स्वामी रामानुज के भी वैमे ही अर्थ घटते हैं जैसे स्वामी कं० चा० के, सूत्रों की परस्पर सक्कति देखने से यह बात मतीत होती है कि ४९ वें सूत्र से लेकर इस पाद की समाप्ति पर्यन्त जीवात्मा के विभु होने का खण्डन किया गया है, इन सूत्रों में मूत्रकार ने वड़ी योग्यता से इन वात को दर्शाया है कि यदि जीवात्मा को विभु मानाजाय तो इसका कोई उत्तर नहीं होसक्ता कि अन्यकृत कर्मी का फल अन्य को माप्त न होसके?, इसल्लिये जीवात्मा को अणु मानना ही समीचीन है।

सं०-अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

पद् ०-एकपद् ०।

पदा०-(अदृष्टानियमात्) अदृष्ट का नियम न वनसकने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-यदि विभुवादी कथन करे कि कर्मफल की व्यवस्था अदृष्टों से की जायगी अर्थाद जिसका जो अदृष्ट होगा वही उस कर्मफल का भागी होगा,इस्लिंग जीवात्मा के विभु मानने पर भी कर्म सांकर्य का दोप नहीं आता? इसका उत्तर यह है अदृष्टों द्वारा श्री उक्त व्यवस्था नहीं बनमक्ता, क्यों कि विभुं जीवात्मा का सब अदृष्टों के साथ समान सम्पन्य है अर्थाद एक शरीर में असख्यात जीवात्मा व्यापक हैं फिर यह कैसे निर्णय कियाजाय कि अमुक अदृष्ट अमुक जीवात्मा के हैं अयवा तत्कृद अदृष्ट जन्य फल उभी जीवात्मा को हुआ है दृसरे को नहीं ? इस प्रकार अदृष्ट हेतुक व्यवस्था न वनसकने से उक्त देश की निरृत्ति के लिये जीवात्मा को परिच्छिन मानना ही समीचीन है।।

सं०-अत्र अभिसन्ध्यादिकों में उक्त दोष का अतिदेश कथन करते हैं:—

अभिसन्ध्यादिष्वपिचैवम् ॥५२॥

पद०-अभिसन्ध्यादिषु । अपि । च । एवं । पदा०-(च) और (अभिसन्ध्यादिषु) अभिसन्ध्यादिकों में (अपि) भी (एवं) उक्त दोष ज्यों का त्यों बना रहता है ।

भाष्य-संकल्प का नाम "अभिसृन्धि" है और आदि पद से उद्योग तथा कर्मा नुष्ठानादिकों का ग्रहण है, यदि यह कहा जाय कि जिस जीव ने जिस शरीर के सम्बन्ध द्वारा संकल्प करके जिस कर्म का अनुष्ठान किया है उसीको उस कर्म का फल होगा अन्य को नहीं ? यह कथन भी ठीक नहीं, क्यों कि सब शरीरों में जीवों की व्यापकता समान होने से यह निर्णय नहीं होसक्ता कि अमुक संकल्प उसी जीव का है दूसरे का नहीं, इसलिये अभिसन्ध्यादिकों में भी उक्त दोप ज्यों का त्यों बना रहने के कारण जीव को विभु मानना केवल साहसमात्र है।

सं०-ननु, देशभेद द्वारा कर्मफल की व्यवस्था होने से संकर दोष नहीं होसक्ता ? उत्तरः—

प्रदेशादितिचेन्नान्तर्भाबात् ॥ ५३॥

पद०-भदेशात । इति । चेत्। न । अन्तर्भावात ।
पदा०-(भदेशात) देशभेद द्वारा संकल्पभेद होने के कारण
अन्यकृत कर्मों का अन्य को फल माप्त नहीं होसक्ता (चेत्)
यदि (इति) ऐमा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि
(अन्तर्भावात) सर्वत्र आत्मा की ज्याप्ति समान है।

भाष्य-मकत में "प्रदेश" शब्द से शारीर का ग्रहण है,जिस प्रदेश में जिस जीवात्मा ने संकल्प वा कर्म किया हो वह उसी जीवात्मा का समझा जायगा, इस प्रकार कर्मसंकर होने की संभा-वना नहीं होसक्ती? इसका उत्तर यह है कि उस शरीर के भीतर और भी जीवात्मा विद्यमान हैं फिर कैसे समझाजाय कि यह कर्म इसी जीव का है दूसरे का नहीं, इमिछिये उक्त दोष के परिहारार्थ जीव को परिच्छित्र मानना ही ठीक है, और जो स्वा॰ शं॰ चा॰ जी ने उक्त सूत्रों को वैशापिक मत के खण्डन में लगाया है सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां उक्त मत के खण्डन का कोई प्रकरण नहीं पाया जाता प्रत्युत जो दोष उक्त स्वामी ने वैशेषिक मत के खण्डन में दिये हैं वह ज्यों के त्यों अद्भैतवादियों के ही बाधक हैं, क्यों कि वस्तुतः मायावादियों के मत में जीव विभ्र है केवल बुद्धिकप उपाधि से घटाकाश की आंति परिच्छिन मतीत होता है और उपाधि के चलने पर भी अचलात्मा रहता है, इस मकार उपाधि के चलने से गुक्त वन्धन में आता जायगा और बद्ध मुक्त होता जायगा, इत्यादि अनन्त दीष मायावादीयों के यत में आते हैं जिनका ग्रन्थगौरवभय से यहां अधिक विस्तार नहीं किया गया, इस अधिकरण की भूमिका में विस्तार किया गया है, इसलिये भी यहां विस्तार की आवश्यक्ता नहीं।।

इति तृतीयःपादः समाप्तः

अथ चतुर्थः पादः प्रारम्यते

सं० - तृतीय पाद में आकाशादि भृतों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए प्रसङ्गसङ्गति से जीवविषयक विचार कियागया अव छिङ्गशारीरविषयक श्रुतियों का परस्पर विरोध परिहार करने के छिये इस पाद का प्रारम्भ करते हैं:—

तथा प्राणः ॥ १ ॥

पद०-तथा। प्राणः ॥

पदा०-(तथा) आकाशादिकों की भांति (पाणः) इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं॥

भाष्य-जिसमकार "तस्मादात्मनः" तै० २। १। १ इसादि श्रुतियों में आकाशादि मूर्तो की उत्पत्ति कथन की गई है वैसे ही इन्द्रिय उत्पत्ति वाळे हैं, क्योंकि आकाशादि की भांति उनकी उत्पत्ति भी श्रुति से पाई जाती है, जैसा मुं०२। १। ३ में वर्णन किया है कि :—

एतस्माजायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुज्योतिरापः पृथिवीविश्वस्य धारिणी ॥

अर्थ-प्राण, मन, इन्द्रिय और उनके विषय, आकाश, वायु, जल तथा विश्व को धारण करनेवाली पृथिवी यह सब उसी प्रमात्मा से उत्पन्न होते हैं॥

सं ० - नतु, जीवोत्पत्ति के समान इन्द्रियोत्पत्ति को गौण ही क्यों न मानाजाय ? उत्तर :---

गीण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(गौण्यसम्भवात) असम्भव होने से इन्द्रियोत्पंति मुख्य है गौण नहीं ॥

भाष्य-इन्द्रियोत्पत्ति मितपादक श्रुतिवाक्य से इन्द्रियो-त्पत्ति की गौण करपना करना इसिल्ये ठीक नहीं कि उक्त करपना में कोई ममाण नहीं पायाजाता प्रत्युत अन्ध विधरादिकों में रूपादि विषयों की अनुपल्लिध द्वारा इन्द्रियनाश सर्वानुभव सिद्ध है, इसिल्ये उनको उत्पत्ति विनाशशाली मानना ही समीनीन है॥

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:— तत्प्राक्श्रुतइच ॥ ३॥

पद०-तत्पाक्श्रुतेः। च।

पदा०-(च) और (तत्पाक्श्वतेः) आकाशादिकों से पूर्व इन्द्रियोत्पत्ति कथन करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है॥

भाष्य-मुण्ड०२।१।३ में जो "ज्ञायते" पद आया है उसी की अनुद्रत्ति द्वारा आकाशादिकों की उत्पत्तिरूप अर्थ का बोध होता है सो यदि उक्त पद गौणरूप से इन्द्रियोत्पत्ति का मितपादक होता तो आकाशादिकों की उत्पत्ति को भी गौण ही कथन किया जाता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि "ज्ञायते" पद आकाशादिकों की भांति इन्द्रियों की मुख्य उत्पत्ति का मितपादक है गौण का नहीं ॥

द्वितीयाध्याये-चतुर्थः पादः

353

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः॥ ४॥

पर्०-तत्पूर्वकत्वाद । वाचः ।

पदा०-(बाचः) विगिन्द्रिय (तत्पूर्वकत्वात्) तेज का कार्य्य होने से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानना ही ठीक है।।

भाष्य-" ते जो मयी वाक्" छां० ६। ५। ४ में बागि-निद्रयं को तेज का कार्य्य कथन किया है, यदि इन्द्रियों की उत्पत्तिं गौण होती तो उक्त श्रुति में बाणी को तेजोमयी न कहा-जातां और नाही किसी एक इन्द्रियं की उत्पत्ति को मुख्य पान-कर दूसरे इन्द्रियों की उत्पत्ति के गौण होने में कोई तर्क होसक्ता है, इसिछिये श्रुसर्थ अनुसारी इन्द्रियोत्पत्ति के मानने में कोई बाधा नहीं।

सं ० - इन्द्रियों की उत्पत्ति वर्णन करके अब उनकी संख्या कथन करने के छिये प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं:-

संप्रगतेर्विशेषितत्वाच ॥ ५॥

पद ० - सप्त । गतेः । विशेषितत्वाद । च ।
पदा ० - (गतेः) गति (च) और (विशेषितत्वाद) विशेपंण के पायेजाने से (सप्त) इन्द्रिय सात हैं ॥

भाष्य-" सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् " मुं॰ २।१।८=दो चस्तु, दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक वाक् यह सात प्राण=इन्द्रिय उसी प्रमात्मा से उत्पन्न होते हैं, इस श्रुति में सात इन्द्रियों की गति=उत्पत्ति पाई जाती है और " सप्त वै शीर्षण्याः प्राणः "तैत्ति । संहि० ५। १। अ१ = प्र्ह्यास्थान
में सात इन्द्रिय हैं, इस वाक्य में " स्नुस्न " संख्या को इन्द्रियों का
दिवोषण कथन किया है, इस मकार गति और विशेषण दोनों
के पायेजाने से सिद्ध है कि इन्द्रिय सात हैं अधिक नहीं ॥

तं - अव वक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवस् ॥६॥

पद ० - इस्तादयः । तु । स्थिते । अतः । न । एवस् ॥
पदा ० - (इस्तादयः) अन्य इस्तपाद्यादि भी इन्द्रिय हैं
(अतः) इसिलिये (स्थिते) सप्त संख्या से अधिक संख्या के
सिद्ध होने पर (एवं, न) इन्द्रियों को सात मानना ठीक नहीं ।]

भाष्य-चक्षुः आदि सात इन्द्रियों का मानना इसिछिये डोक नहीं कि पांच बानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन यह सब बिछकर एकादश इन्द्रिय हैं और जो तैचिरी० बाक्य से इन्द्रियों की सप्तसंख्या कथन की है उसका यह अभिमाय नहीं कि सप्तसंख्या से अधिक कोई इन्द्रिय नहीं किन्तु सूर्दास्थान में होनेबाछे इन्द्रिय सात हैं इस अभिमाय से उक्त वाक्य कथन किया है यही रीति शेष बाक्यों में भी जाननी चाहिये।

सं ० - अव इन्द्रियों की सुक्ष्मता वर्णन करते हैं :--

अणवश्च ॥७॥

पर्०-अणवः । च । पद्रा०-(च) आर (अणवः) चक्कुरादि इन्द्रिय सुरूप हैं।

द्वितीयाध्याये-चतुर्थः पादः

356

भाष्य-"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामित "वृह०४।
४। २=आत्मा के निकलजान पर उसके पीछे सब इन्द्रिय निकल
जाते हैं, इत्यादि श्रुतिवाक्यों से आत्मा के उत्क्रमण काल में
इन्द्रियों की उत्क्रान्ति का वर्णन पायाजाने से सिद्ध है कि वह
परिच्छित्र है परन्तु घटपटादि पदार्थी के सहबा उपल्रिक्य का
विषय न होने के कारण द्रचणुकादि के समान सुक्ष्म हैं।

सं ०-इन्द्रिय विषयक विचार करके अब मुख्य पाण को सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ कथन करते हैं:—

श्रेष्ठश्च ॥ ७॥

पद०-श्रेष्ठः। च।

पदा०-(च) और (श्रेष्ठः) प्राण सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ है।
भाष्य-एक समय सब इन्द्रियों ने अभिमान किया कि मैं
बड़ा हूं, मैं बड़ा हूं, इसप्रकार विवाद करते हुए सब मिलकर
प्रजापित के पास गये और कहा कि हे भगवन ! हम में से कौन
बड़ा है? यह छनकर प्रजापित ने उत्तर दिया कि जिसके निकल जाने
से शारीर सर्वथा निश्चेष्ठ होजाता है वही बड़ा है, प्रजापित के इस
बाक्य को छनकर चछुरादि सब इन्द्रिय क्रमशः शारीर से निकलगये तो
भी शारीर की चेष्ठा बनी रही, जैसाकि अन्ध, विधर, पंग्र तथा
जिक्षहस्तादि मनुष्यों में देखा जाता है परन्तु जब शारीर से
प्राण निकलने लगा तब सब इन्द्रिय अपनीर किया सम्पादन करने
में असमर्थ होगये और शारीर लोछवत निश्चेष्ठ होगया इसमकार

खान्दोग्य के पश्चमप्रपाठक में इन्द्रियों की अपेक्षा प्राणों को श्रेष्ठ बोषन करने के लिये अलङ्कारक्ष से पाण तथा इन्द्रियों संबाद वर्णन कियागया है, जिसका विस्तार"उपिन्षद्र्रियेश्वाद्य" में किये जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०-अब प्राण की अन्य विशेषता कथन करने के लिये "वायुक्रियाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:---

न वायुक्रिये एथगुपदेशात्॥८॥

पद०-न । वायुक्तिये । पृथगुपदेशात् ।

पदा०-(पृथगुपदेशात्) पृथक् उपदेश पाये जाने से (बायुकिये) वायु और वायुक्तिया का नाम (न) प्राण नहीं।

भाज्य-"एतस्माजायित प्राणः" मुं० २१११३ इत्यादि
वाक्यों में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि यहां "पाण" शब्द
से महाभूतात्मक वायु का ग्रहण है वा वायु की किया का
नाम पाण है अथवा किसी विशेष अवस्था को प्राप्त हुई वायु का
नाम पाण है १पूर्वपक्षी का कथन है कि "यः प्राणः स वायुः'=
जो पाण है वही वायु है, इत्यादि वाक्यों में "पाणं" शब्द द्वारा
वायु का ग्रहण होने से यहां महाभूतात्मक वायु का मानना ही ठीक
है अथवा छोकपितिद्ध से उच्छ्वास निश्वासक्ष किया ही "पाण"
पद का वाच्यार्थ है विशेषावस्यापन वायु का नाम पाण नहीं ?
इसका उत्तर यह है कि वायु अथवा वायुकिया का नाम प्राण
इसकिये नहीं होसका कि मुण्ड० २।१।३ में महाभूतात्मक वायु से

प्राण का पृथक् उपदेश पाया जाता है, जसािक पिछे वर्णन कर आये हैं, यदि उक्त शब्द से महाभूतात्मक वायु का ग्रहण अभिनेत होता तो "स्वं वृ्ष्युः" इस वाक्य द्वारा वायु का पृथक निर्देश न किया जाता पर किया है इससे सिद्ध है कि प्रकृत में "प्राण" शब्द शरीरान्तरवर्ती प्राणायानािंद्द पांच प्रकार की वायु के अभिषाय से आया है सामान्यवायु वा उसकी स्पन्दक्रप किया के अर्थ में नहीं।

ं सं ० - ननु, प्राण की श्रेष्ठता कथन करने से पायाजाता है कि शरीर में जीव की भांति प्राण स्वतन्त्र हैं ? उत्तरः -

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः॥ १०॥

पद ० - चश्चरादिवन् । तु । तत्सहिशष्टचादिभ्यः ।

पदा०-(चक्षुरादिवत) चक्षुरादि इन्द्रियों की भांति (तत्स-इशिष्ट्यादिभ्यः) समान शासन पाये जाने से प्राण स्वतन्त्र नहीं।

भाष्य-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के लिये आया है,
जिसमकार चक्षुरादि इन्द्रिय स्यतन्त्र नहीं वैसे ही प्राण भी स्वतन्त्र
नहीं, क्योंिक जड़ होने से यह भी जीव के अधीन है अर्थात्
राजमन्त्री के सदश जीचनयोगि=जीवनहेतुक प्राणसंचार रूप
पयत्र का निर्वाहक होने से जीव का एक गुरूयसाधन है,इसिंख्ये
उसको स्वतन्त्र मानना ठीक नहीं।

सं ० ननु, यदि चक्षुरादि की भांति पाण जीव कर साधन है तो उसका कोई इपादि विषयों के समान असाधारण विषय

वेदान्तार यंभाष्ये

३२८

होना चाहिये ? उत्तरः—

अकरणत्वाच न दोषस्तथा हि दर्शयति।११।

पद०-अकरणत्वात्। च।न। दोषः। तथा। हि। द्र्ययित। पदा०-(अकरणत्वात्) करण न होने से (दोषः) उक्त दोष (न) नहीं आता (हि) क्योंकि (तथा, द्र्ययित) शास्त्र से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"च" शब्द "तु" के अर्थ में पूर्वपक्ष की व्याद्यक्ति के खिये आया है, माण अकरण होने से चक्षु आदिकों के साथ सर्वथा समान न होने का दोष नहीं पाया जाता अर्थाद माण चक्षुरादि इन्द्रियों की भांति साधनक्ष्य नहीं किन्तु शरीर की भांति खपकरणमात्र है, जैसाकि शास्त्र में भी वर्णन कियागया है कि:—

"यस्मिन्नुत्क्रान्त इदं शरीरं पापिष्ठतरमिवहरयते"
छां० ५ । १ । ६=जिसके निकछने से यह शरीर अत्यन्त
घृणास्पद होजाता है वही प्राण सब इन्द्रियों के पध्य श्रेष्ट है,
इस प्रकार वाणी आदिक इन्द्रियों के चले जाने से शरीर और
इन्द्रियों की स्थिति को दिखलाकर प्राणों के निकल जाने से
शरीर और इन्द्रियों की शिथिलता कथन की गई है जिससे स्पष्ट
है कि प्राण चक्ष आदिकों के समान केवल करण नहीं किन्तु
राजमन्त्री के समान जीव की शरीर स्थिति में मुख्य
सहायक हैं।

पश्चरित्तमनोवद्यपदिश्यते ॥१२॥

पद०-पञ्चरात्तः।मनोवत्। व्यपदिश्यते।

द्वितीयाध्याये-चतुर्थः पादः

336

पदा०-(मनोवत्) मन की भांति प्राण (पश्चष्टितः) पांच भकार की द्वतिवाला (व्यपदिवयेत) कथन किया गवा है।

भाष्य-जिसमकार एक ही मन=अन्तः करण काम, संकल्प, विचिकित्सा आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है इसीमकार एक प्राण के ही अपानादि अनेक भेद होते हैं वस्तुतः प्राण एक है अर्थात एक ही प्राणवायु श्वास प्रश्वास किया से "प्राण" मलमूत्रादि को नीचे की ओर छेजाने से "अपान" प्राण अपान की सन्धि में रहकर चेष्ठा कराने से " उदान" जत्कान्ति आदि का निमित्त होने से " उदान" और अक्षादि के रस को प्रथेक अङ्ग प्रत्यङ्ग में पहुंचाने के कारण "स्प्रान" कहाता है।।

अणुइच ॥१३॥

पद्०-अणुः। च।
पदा०-(च) और (अणु) वह प्राण सूक्ष्म है।
सं०-अब परमात्मा को अग्नि आदि पदार्थों का अभिष्ठान
कथन करते हैं:

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्॥१४॥

पद्-ज्योतिराद्यधिष्ठानं । तु । तदामननातः । पदा - (ज्योतिराद्यधिष्ठानं) परमात्मा अग्नि आदि पदार्थौ

वेदान्तार्यभाष्ये

055

का अधिष्ठान है, क्योंकि (तदामननात्) शास्त्र में ऐसा ही पायाजाता है॥

भाष्य—" तु" शब्द अन्य अधिष्ठाता की व्याद्यत्ति के छिये आया है, परमात्मा अग्नि आदि सब पदार्थों का अधिष्ठान है, क्योंकि नियमन करने का सामर्थ्य उसी में पायाजाता है अन्य में नहीं, जैसाकि बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में वर्णन किया है कि:—

योऽरनौतिष्ठन्नमेरन्तरो यमिर्मनेवेदयस्यामिः शरीरं। योऽरिनमन्तरो यमयति संत आत्मा अन्तर्याम्यसृतः॥

बृह० ५। ७। ५

अर्थ-जो परमात्मा अग्नि में रहता है, आग्नि से भिन्न है, जिसको अग्नि नहीं जानता, जिसका अग्नि श्रीर हे और जो अग्नि को मेरणा करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इसादि वाक्यों में जड़ पदार्थों का अधिष्ठाता परमात्मा ही कथन किया गया है अन्य नहीं॥

सं० - नमु, अग्नि आदि पदार्थ परस्पर सम्बन्ध द्वारा संसार के निर्वाहक होसक्ते हैं, परमात्मा को अधिष्ठाता मानने की आवश्यकता नहीं ? उत्तरः—

प्राणवता शब्दात् ॥ १५॥

पद०-प्राणवता । शब्दात् ॥ पदा०-(प्राणवता) सामर्थ्य वाले प्रमात्मा के सम्बन्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

से ही अग्नि आदि संपारयात्रा के निर्वाहक हैं स्वतः नहीं, न्योंकि (काब्दात) काब्द प्रमाण से ऐसा ही पायाजाता है ॥

भाष्य-" प्राण्नं प्राणः"=मामध्यं का नाम प्राण है,
सब से अधिक सामर्थ्य वाले परमात्मा के सम्बन्ध द्वारा ही।
अग्न्यादि जड़ पदार्थ स्व २ दाइन प्रकाशनादि कार्य्य करने में
समर्थ होसक्ते हैं अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय से केन० २। १९
में वर्णन किया है कि:—

''तस्मै तृणं निद्धावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय-सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं "

अर्थ-उस अग्नि के लिये यक्ष ने एक तिनका धरकर कहा
कि इसको जलादे तब आंग्नि सारे बेग से उस तृण के समीप
गया पर उसके जलाने को समर्थ न हुआ, इसादि अनेक बाक्यों से
सिद्ध है कि सब जड़ पदार्थ परमात्मा की सामर्थ्य से ही संसार
यात्रा के निर्वाहक हैं स्वतः नहीं॥

मं ० - अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :-

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

पद्-तम्प । च । नियत्वात् ।

पदा॰-(च) और (तस्य) परमात्मा (निसत्वात्) निस होने से अधिष्ठाता है।

भाष्य-यदि अग्नि आदि जड़ पदार्थ परस्पर आक-र्षण शक्ति द्वारा अथवा किमी मम्बन्ध विशेष मे कार्यकारणइप मपश्च के अधिष्ठाता होते तो मलयकाल में उनकी अधिष्ठानता का अभाव होजाता. या यों कहो कि कार्य्यकारण कप मपश्च के उत्पत्ति विनाश का कोई नियम न रहता, क्यों कि चेतन सम्बन्ध के विना जड़ पदार्थ में किसी मकार की किया नहीं होसक्ती, इसलिये श्रीप्र आदि जड़ पदार्थों का अधिष्ठाता परमात्मा को ही मानना समीचीन है॥

सं ० - प्रसङ्गसङ्गति से जड़ पदार्थों की अधिष्ठानता कथन करके अब पुनः इन्द्रिय विषयक विशेष विचार करते हैं:-

त इन्द्रियाणि तद्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्। १७।

पद्द ० — ते। इन्द्रियाणि। तद्वयपदेशात्। अन्यत्र। श्रेष्टात् । पदा० — (श्रेष्ठात्, अन्यत्र) पुरुष प्राण की छोड़ कर (ते) शेष प्राण (इन्द्रियाणि) इन्द्रिय कहाते हैं, क्यों कि (तद्वयपदेशात्) उन्हीं में इन्द्रिय शब्द का व्यवहार पायाजाता है।

भाष्य-" एतस्माजायते प्राणः " मुण्ड० २। १। ३
में जो माण शब्द आया है वह शरीरान्तः सश्चारी माण अपानादि
का वाचक है और इसी को मुख्यमाण कहते हैं और उक्त माण को
छोड़कर अन्यत्र जो श्रुति स्पृति में माण शब्द आता है वह बागादि
इन्द्रियों का वाचक है माण का नहीं, क्योंकि उक्त श्रुति में माण
से पृथक् इन्द्रियों का निर्देश किया है, यदि सर्वत्र माण शब्द से
चश्चरादि इन्द्रियों का ग्रहण होता तो उक्त मुण्डक वाक्य में इन्द्रिय
तथा माणों का पृथक निर्देश न किया जाता पर ऐसा न

होने से सिद्ध है कि मुख्यमाण को छोड़कर शेष चक्करादि माण इन्द्रिय हैं, इसी अभिमाय से क्षेत्र का वर्णन करते हुए गी० १३। ५ में वर्णन किया है कि:—

"इन्द्रियाणि दशैकश्च पञ्चचेन्द्रियगोचराः"

अर्थ-पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और यन इन्हीं का इन्द्रिय ज्ञाब्द से ग्रहण किया है मुख्यपाण का नहीं, इससे सिद्ध है कि चक्षुरादि ही इन्द्रिय है मुख्यपाण नहीं।

सं ० - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं: --

मेदश्रुतेः ॥१८॥

पंदं - एकपद ।

पदा०-(भेदश्रुतेः) मुख्यपाण का इन्द्रियों से भेद भी उक्त अर्थ का साधक है।

भाष्य-"अथ हेममासन्यं प्राणमृचुः" बृहदा ० १ । ३ २= १व इन्द्रियों ने मुख्यशाण को कहा कि आप उद्गाता बने इत्यादि बाक्यों में असुरों का पराजय करने वाले मुख्यशाण से इन्द्रियों का भेद पाया जाता है, इसल्लिये वागादिक इन्द्रिय प्राण से भिन्न हैं।

वैलक्षण्याच । १९॥

पद०-वैलक्षण्याद । च ।

पदा॰-(च) और (वैलक्षण्यात) विलक्षणता पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है। भाष्य-सुषुप्ति अवस्था में सब इन्द्रिय अवने२ व्यापार से उपरत होजाते हैं पर माण जागता रहता है, शरीर तथा इन्द्रियों का घारण करना माण का काम है और इन्द्रिय ज्ञान तथा कर्म के साधन हैं, इत्यादि विलक्षणता पाये जाने से सिद्ध है कि इन्द्रिय और माणों का परस्पर भेद है अभेद नहीं।

सं०-अब नामक्ष्पव्याकरण के वोधक वाक्यों में कर्तृत्व का विचार करते हुए प्रथम उसके उपयोगी पश्चीकरण का विवरण करते हैं:—

संज्ञामृत्तिक्रुप्तिस्तुत्रिच्तकुर्वत उपदेशात् ॥ २०॥

पद०-संज्ञामूर्तिकलृप्तिः । तु । त्रिटत्कुर्वतः । उपदेशात् । पदा०-(त्रिटत्कुर्वतः) परमेश्वर से (संज्ञामूर्तिकलृप्तिः) नाम रूप की रचना होती है, क्योंकि (उपदेशात्) श्रुति मे ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"तु" शब्द परमेश्वर से भिन्न कर्ता के व्यावर्त्तनार्थ आया है, एकर भूत को तीनर प्रकार से विभक्त करने के कारण परमात्मा का नाम "त्रिवृत्कुर्वत्" है और पदार्थवोधक शब्द को "संज्ञा" तथा इप=आकृति को "सृत्ति" कहते हैं, नामक्प के रचना प्रतिपादक वाक्यों में त्रिवृत्करण पाये जाने से उनका कर्ता परमेश्वर है अन्य नहीं, जैमािक छां० ६। ३। २ में वर्णन किया है कि:—

"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्त्रिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमैकैकां करवाणीति"

अर्थ-उस परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं इस जीव कृप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामकृप को बनाऊं और प्रत्येक पृथिव्यादि महाभृत को तीन र प्रकार से विभक्त करूं, इत्यादि वाक्यों से नामकृप का कर्त्ता परमात्मा ही पाया जाजा है अन्य नहीं।

· मनु-प्रवेशिक्षया का कर्चा जीव है वा ब्रह्म ? उत्तर-उक्त किया का कर्त्ता ब्रह्म है जीव नहीं, क्योंकि समान वाक्यस्थित " ट्याक्र्याणि " किया का कर्चा बहा ही पाया जाता है जिसका प्रवेशहर किया के माथ सम्बन्ध है अर्थात "समानकर्तकयोः पूर्वकाले" अष्टा०३। ४। २१ इस सूत्र के अनुसार समानकर्तृक किया में "क्त्वा" प्रत्यय का नियम है जिसके स्थान में "समासे उन्जपूर्वक्त्वोल्यण् " अष्टा०७। १। ३७ इस मूत्रद्वारा "ह्यप्" होकर "अनुप्रविश्य" पद बना है. यदि प्रवेश किया का कर्ता जीव होता तो कदापि "क्त्वा" के स्थान में "ल्यए" होकर उक्त प्रयोग की मिद्धि न होती पर ऐसा न होने में स्पष्ट हैं कि उक्त किया का कत्तां ब्रह्म है जीव नहीं यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म ही प्रदेश किया का कर्ता है तो फिर जीव ईश्वर का भेद न रहेगा ! इसका उत्तर यह है कि जीव अध्य का अंशवद सहचारी होने से आत्मा है अध्य नहीं, यदि जीव स्वयं अध्य होता तो "अनेन जीवेन" इस मकार का भेद निर्देश न किया जाता पर किया है इससे सिद्ध है कि जीव अध्य का अभेद नहीं और नाही समानक कृंक किया के सम्बन्ध में कोई अनुपपत्ति होसक्ती है और बात यह है कि उक्त विषय वाक्य में "स्वा० रामानुज" स्पष्ट भेद मानते हैं और "स्वा० शक्कारचार्य" जी जीव को अनादि कथन करते हैं फिर जीव अध्य का अभेद कैसे सिद्ध होसक्ता है।

सं ०-अब त्रिटत हुए भूतों का नारीर में उपयोग कथन करते हैं:-

मांसादिभोमं यथाश्च सितरयोश्च ॥२१॥

पद्-मांसादि। भौमं। यथाशब्दं। इतरयोः। च।
पदाः-(मांसादि) भांसादिक (भौमं) पृथिवी के विकार
(च) और द्सरे शरीरस्थ धातु (यथाशब्दं) शब्द ममाणानुसार (इतरयोः) जल, तेज का विकार जानेन चाहियें।

भाष्य-जिन माहाभू ों को त्रिटत बनाकर परमात्मा ने ब्रह्माण्ड रचना की है, उनमें पृथिवी का विकार शरीवर्ची मांसादिक हैं और शेष धातु जल, तथा तेज के विकार हैं, जैसािक छां० ६। ५। १ में वर्णन किया है कि:—

"अन्नमशितंत्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठोधातुस्त-त्युरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः" अर्थ-भोजन किया हुआ अन्न तीन प्रकार से विभक्त हो जाता है जिसका स्थूलभाग "पुरीष" मध्यमभाग "मांस" और सुक्ष्मभाग "मन" के रूप से परिणत होता है।

सं०-ननु, यंदि शरीर पांचभौतिक है तो इसमें पार्थिव, तैजस तथा जलीय का व्यवहार क्यों होता है ? उत्तर:—

वैशेष्यात्तु तदादस्तदादः ॥२२॥

पद०-वैशेष्याद । तु । तद्वादः । तद्वादः ।

पदा०-(वैशेष्यात) पृथिवी आदि तत्त्वों की अधिकता से (तद्वाद:) शरीर में पार्थिवादि व्यवहार होता है।

भाष्य—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के लिये और
"तद्रादः" पद दोवार अध्याय की समाप्ति के लिये आया है,
पाञ्चभौतिक होने पर भी किसी एक तत्त्र की अधिकता से शरीर
मेंपार्थिव, जठीय आदि का व्यवहार होसक्ता है अर्थाद पृथिवी तत्त्व
अधिक होने से मनुष्य शरीर "पार्थिव" और जलतत्त्व की
अधिकता से मतस्यादि शरीर "जठीय" कहाते हैं, यही रीति तैजसादि शरीरों में भी जाननी चाहिये।

स्मरण रहे कि जो "संज्ञामू त्तिक्छत्प्यधिकरण" में एक २ भूत के तीन २ भाग बनाकर "त्रिवृतमेकैकं कर-वाणि"इस वाक्य से त्रिवृतकरण कथन किया है वह "पश्चीकरण"का भी जपलक्षण हैं जिसका प्रकार यह है कि प्रत्येक पृथिच्यादि भूतों के दो २ भाग करके फिर दोनों में से एक भाग के चार भाग करिं जाते हैं और अपने २ आधे भाग को छोड़कर उन चारो भागों को अन्य भूतों में मिला दिया जाता है, इस मकार मत्येक भूत में आधा भाग अपना और आधा भाग दूसरे भूतों का मिलकर पश्चीकरण होता है।

तात्पर्य यह है कि सब भूत अपने कार्यों में कहीं न्यून और कहीं अधिकांश से मिछते हैं,इसिछये एक की प्रधानता और अन्यों की अप्रधानता पाये जाने के कारण पश्चभूतात्मक कार्यों में पाथिवादि व्यवहार होता है सर्वथा एक भूत का कार्य होने के अभिप्राय से नहीं ॥

इति श्रीमदार्घ्यमानिनोपनिबद्धे,वेदान्तार्घभाष्ये दितीयाःयायस्य चतुर्थःपादः समाप्तः

समाप्तश्चायंद्वितीयोऽच्यायः

ओश्म अथ तृतीयाध्यायः प्रारम्यते

सं०-पूर्व के समन्त्रय तथा अतिरोध नामक दोनो अध्यायों में निराकार ब्रह्म को शास्त्र का विषय प्रतिपादन करके अब उसकी उपासना तथा उपासना के साधनों का विचार करने के लिये इस अध्याय का प्रारम्भ करते हुए प्रथम जीव की परलोक यात्रा का निरूपण करते हैं:—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रहाति सम्परिष्वक्तः प्रश्नानिरूपणाभ्याम् ॥ १॥

पदः -तदन्तरप्रतिपत्तौ । रंइति । सम्परिष्यक्तः । प्रश्नानि-इपणाभ्याम् ।

पदा०-(तदन्तरमितपत्ती) शरीरान्तर की माप्ति के छिये (सम्परिष्वक्तः) स्र्क्ष्मभूतों से मिछा हुआ जीव (रंहित) परछोक में गमन करता है, क्योंकि (प्रश्लानिक्ष्पणाभ्यां) प्रश्लोत्तर से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-छां० ५। ३। ३ में जैबिंछ ने श्वेतकेतुके प्रति यह प्रश्न किया कि "वेत्थ यथापश्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"=क्या तुम जानते हो जिसप्रकार पांचवीं आहुति में जल पुरुषदूप होजाते हैं ? इसका उत्तर न देसकने पर जैबिंछ ने स्वयं कहा कि द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषित यह पांच प्रकार की अग्नियें हैं और पांचर्वी अग्नि की आहुति में जल पुरुषक्ष होजाते हैं, इस मकार मश्न तथा निक्षण से सिद्ध है कि जलों से मिलकर जीव परलोक यात्रा करता है अन्यथा नहीं, इसका विशेष विचार "उपिनिषद्दार्यभाष्य" दितीयभाग में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, मकुत में "जल" षद्द सूक्ष्मभूतों के अभिनाय से आया है॥

ननु—परलोक यात्रा करता हुआ जीव तत्काल ही दूसरे आरीर में मवेश करता है अथवा विलम्ब से ? उत्तर—
"तद्याथा तृणजलायुका " बृह० ४ । ४ । हे=जिस
मकार जलायुका=कीटविशेष जबतक मथमपाद नहीं जमा लेता तब
तक दूसरा पाद नहीं उठाता इसीमकार जीव भी दूसरे शरीर का
अवलम्ब करने पर ही मथम शरीर को छोड़ता है अर्थाद शीघ्र
ही देहान्तर को माप्त होता है उसको देहान्तर माप्ति के लिये
विशेष बिलम्ब की आवश्यकता नहीं।

सं०-नतु, उक्त वाक्य में केवल जल के साथ ही परलोक थात्रा प्रतिपादन की है शेष भूतों से नहीं ? उत्तर:—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २॥

पद०-ज्यात्मकलात् । तु । भूयस्तात् ।

पदा०-(ज्यात्मकत्वात) सुक्ष्म भूतों से परिवेष्टित जीव का परलोक में गमन होने के कारण केवल जल से उत्क्रमण अभिनेत नहीं, यहां (भूयस्तात) जल का ग्रहंण अधिकता के अभिनाय से हैं। भाष्य-पृथिव्यादि सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित जीव परछोक यात्रा करता है अन्यथा नहीं,क्यों कि त्रिट्टत्करण श्रुति में ऐसा ही पायाजाता है जिसका वर्णन पिछे कर आये हैं, और जो छां०५।३। ३ में पांचती आहुति निरूपण करते हुए केवल जल से परिवेष्टित जीव का गमन कथन किया है उसका तात्पर्य जलांश की अधिकता में है शेष भूतों के निपेध में नहीं, क्योंकि शरीर में किथरादि रूप से जल की अधिकता सर्वानुभव सिद्ध है, इसाल्ये सब पृथिव्यादि सूक्ष्मभूतों से परिवोष्टित जीव का ही परलोक गमन मानना ठीक है।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

प्राणगतेश्च ॥ ३॥

पद०-प्राणगतेः। च।

पदा०-(च) और (प्राणगतेः) जीव के साथ प्राणों की गति पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-" तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽन्त्क्रामित प्राणा-मनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामिन्त " बृहदा० ४। ४। २=जीवात्मां के निकलने पर प्राण और उसके पिछे सब इन्द्रिय निकलजाते हैं, इस विषयवाक्य में सूक्ष्म शरीर के साहत जीवात्मा की उत्क्रान्ति का वर्णन पायेजाने से सिद्ध है कि केवल जल के साथ जीवात्मा का परलोक गमन अभिमेत नहीं ॥ सं०-नतु, मृतक के वागादि इन्द्रियों का अम्न्यादि भूतों

वेदान्तार्यभाष्य

रे४२

में छय पायाजाता है फिर उनकी जीव के साथ गित कैसे बन सकी है ? उत्तरः—

अग्न्यादिगतिश्रुतेशितचेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

पद ०-अग्न्यादिगतिश्रुतेः । इति । चेत् । न । भाक्तत्वात् ।

पदा०-(अग्न्यादिगतिश्चतेः) अग्न्यादिभूतों में छय पाये जाने से जीव के साथ इन्द्रियों की गति नहीं होसक्ती (चेत्र) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि (भाक्तवाद) उनके छयका कथन औपचारिक है।

भाष्य-"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्यार्गि वागण्येति वातम्प्राणः " बृहदा० २ । ३ । १३=मृतक पुरुष का वागिन्द्रिय अग्नि में और प्राण वायु में लीन होजाते हैं, इस वाक्य से इन्द्रियों का अम्पादि पदार्थों में लय पायेजाने के कारण जीव के साथ इन्द्रियों का गमन मानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों का अम्पादिकों में लय होना औपचारिक है मुख्य नहीं, क्योंकि उसकी मुख्यता में कोई प्रमाण नहीं पायाजाता अर्थाद यदि उक्त लय का कथन औपचारिक न होता तो "ओषधीलोमानि बनस्पतिन्केशाः" बृहदा० २ । ३ । १३=मृतक के लोमों का ओषधियों में और केशों का बनस्पति में लय होता है, यह वर्णन न किया जाता

तृतीयाध्याये-प्रथमः पादः

£8\$

पर किया है इमिलिये उक्त कथन औपचारिक मानना ही समीचीन है।

भाव यह है कि जिसमकार मृतक पुरुष के केशलोमादिकों का ओषि, वनस्पति आदिकों को प्राप्त होना प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित होने के कारण औपचारिक है नैसे ही वागादि इन्द्रियों का लय कथन औपचारिक होने से उनकी जीव के साथ परलोक यात्रा में कोई वाधा नहीं।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

पद०-प्रथमे । अश्रवणातः । इति । चेतः । न । ताः । एव । हि । उपपत्तेः ।

पदा०-(प्रथमे) प्रथम आहुति में (अश्रवणाद) जल का ग्रहण न होने से पांचर्ती आहुति में उसको पुरुषक्ष्प कथन करना असद्भत है (चेद) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति द्वारा (हि) निश्चयकरके (ताः, एव) श्रद्धा पद से जल का ही ग्रहण पायाजाता है।

भाष्य-"तस्मिन्नेतस्मिन्नमौ देवाः श्रद्धां जुह्वति"

छां० ५ । ४ । २= प्रथम आहुति में देवता श्रद्धा का होम करते
हैं, इस वाक्य में जल को हवनीय द्रव्य कथन नहीं किया गया है
इसिल्ये पांचित्री आहुति में उसका पुरुषक्ष्य कथन करना सर्वथा
असङ्गत है ? यह कथन इसिल्ये ठीक नहीं कि प्रकृत में "श्रद्धा"
पद से जल अभिनेत है यदि जल अभिनेत न होता तो पांचित्री
आहुति में "जल पुरुषक्ष्य होजाते हैं "यह उपसहार न किया
जाता, क्योंकि प्रशानुकूल ही उपसहार होसक्ता है अन्यथा नहीं,
दूसरी बात यह है कि "श्रद्धा वा आप: "=िश्चय करके
जल का नाम "श्रद्धा "है, इत्यादि वाक्यों से श्रद्धा पद का
प्रयोग जलक्ष अर्थ में दर्शाया गया है, इसिल्ये पञ्चमाद्वित में
जल को पुरुषक्ष कथन करना असङ्गत नहीं।

तात्पर्य यह है कि जिसम्बार "सिंही माणवकः"=
यह पुरुष सिंह है, इत्यादि वाक्यों में सिंह की भांति क्रूरतादि
गुणयोग से पुरुष को सिंह कहा जाता है, इसी मकार श्रद्धापूर्वक किये हुए कमों का सम्बन्धी होने से जल में श्रद्धा पद का
व्यवहार गौण है मुख्य नहीं, अतएव पश्चमाहृति मकरणस्थ जल
को पुरुषद्भप कथन करना निर्दोष है, इसका विस्तार पूर्वक वर्णन
"उपनिषद्गर्यभाष्य"के द्वितीय भाग में किया गया है
जिज्ञास वहां देखलें।

सं०-अब जीव की उत्क्रान्ति का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणांप्रतीतेः।६।

षद्द ० - अश्वतत्वात्। इति। चेत्। न। इष्टादिकारिणां। मतीतेः।
पदा० - (अश्वतत्वात्) पञ्चामि विद्या में जीव का श्रवण न
होने से उसकी स्रक्ष्म भूतों के साथ उत्क्रान्ति नहीं होसकी
(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि
(इष्टादिकारिणां) इष्टादि कर्म करने बाले जीवों की (मतीतेः)
मतीति पाईजाती है।

भाष्य न वाक्य ने पश्चामितिया प्रकरण में जीव बोधक वाक्य न वाक्य न वाक्य ने से सिद्ध है कि उसकी परछोक्यात्रा सुस्म भूतों से मिछकर नहीं होती ? यह कथन इसिछये ठीक नहीं कि वहां इष्टादि कर्म करने वाछे जीवों का प्रकरण पायाजाता है जैसाकि "अथ य इमे प्राम इष्टापूर्तेंदत्तिमित्युपासते ते धूममिसिम्भविन्ति" छां० ५। १०। ३=जो छोग इष्ट=अग्निहोंत्र, पूर्त=वापी, कूप, तहाग, उद्यानिद तथा दत्त= दानादि कर्म करते हैं वह कर्मीजनों के छोक को प्राप्त होते हैं, इत्यादि समान प्रकरणस्थ वाक्यों में जीव का वर्णन पायाजाता है, इस प्रकार कर्मीजनों का प्रकरण होने से पञ्चामित्या में जीव सम्बन्ध पाये जाने के कारण सूक्ष्मभूतों के साथ जीवविष- यक परछोक गमन में कोई बाधा नहीं।

सं ० - नतु, छां ० ५ । १० । ४ में सोमछोक प्राप्त कर्मीजनों को देवताओं का अन कथन किया है फिर उनका परछोक भोग कैसे बनसक्ता है ? उत्तरः —

भाक्तंवाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दश्यति।।७

पद०-भाक्तं। वा। अनात्मिविच्यात्। तथा। हि। दर्शयित। पदा०-(अनात्मिविच्यात्) आत्मवेत्ता न होने से (भाक्तं) उक्त कथन औपचारिक है, क्योंकि (हि) निश्चयकरके (तथा, दर्शयित) शास्त्र ऐसा ही प्रतिपादन करता है।

भाष्य—"एष सोमो राजा तहेवानाम नं तं देवा
भक्षयन्ति" छां० ५। १०। ४=तोम छोक को मास होने वा छे
कर्मी जन देवताओं का अन है जिसको वह भक्षण करते हैं,
यहां कर्मी जनों को उपचार से देवताओं का अन्न कथन किया है
वस्तुतः नहीं, क्यों कि उनका भक्षण किया जाना किसी प्रमाण
सिद्ध नहीं किन्तु आत्मवेचा न होने से वह देवताओं के
पश्च कहाते हैं, इसी अभिप्राय से बृहदा०१।४।१० में वर्णन किया
है कि "यो ऽन्यां देवता सुपासते पश्चरेव क्य से देवाना म्य"=
जो परमात्मा से भिन्न देवता की उपासना करता है वह पश्च
समान है, या यों कहो कि जो "मैं अन्य और परमात्मा अन्य
है" ऐसा नहीं जानता वह विद्वानों के मध्य पश्च है, इससे सिद्ध है
कि उक्त वाक्य में कर्मी जनों को औपचारिक अन्न कथन किया
है वास्तविक नहीं॥

सं ०-अब मुक्त पुरुष की कर्मशेष मे पुनराष्ट्रित कथन करते हैं:-

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्ट्रस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च ॥८॥

पद०-कृतास्यये। अनुशयवान्। हष्टस्मृतिभ्यां। यथा। इतं। अनेवं। च।

पदा०-(अनुशयवान्) अनुशयी जीव (कृतात्यये) कर्मों का नाश होने पर मुक्ति से लौट आता है (च) और (यथा,इतं) जिसमकार मुक्त हुआ था उसी मकार और (अनेवं) अन्य मकार से भी पुनर्जन्म को धारण करता है, क्योंकि (हष्ट्रस्मृतिभ्यां) श्रुति स्मृति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"उपभुक्तिशिष्टंकर्मानुशयः"=भक्तकर्म के बेष का नाम "अनुश्य" और उक्त कर्म बाले जीव को "अनुश्यी" कहते हैं, जिसमकार जीव मुक्ति को माप्त होता है उसी मकार कर्मनाश होने पर शेष कर्म द्वारा मुक्ति से लौटकर जन्मधारण करता है तथा अन्य मकार से भी कई एक जन्मों को माप्त होता है अर्थाद कई एक अनुश्यी जीव नियत काल पर्यन्त मुक्ति का आनन्द भोगकर योगी, ऋषि तथा मुनियों के पद को माप्त होते हैं और कई एक जीव शेष कर्मों के मन्द होने से नीचयोनियों को पाते हैं, जैसाकि श्रुति में वर्णन किया है कि:-

"तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुन-निवर्त्तन्ते यथेतम्॥तद्य इह रमणीयचरणाः०"

छा०५।१०।५-७

अर्थ-थ किमों वाले अनुश्यी जीव ब्राह्मणादि उत्तम योनियों को और निन्दित कमों वाले नीच योनियों को माप्त होते हैं,और गौतमस्मृति १०। १ में इसी अर्थ को यों वर्णन किया है कि:—

वेदान्ताञ्चभाष्वे

वर्णाश्चाश्रमाश्चस्वकमानिष्ठाः प्रेत्य कर्मफल-मनुभूय ततः शेषेणविशिष्टदेशजातिकुल-रूपायुः श्रुतवित्तवृत्तमेषसो जन्मप्रतिपद्यन्ते ॥

अर्थ-ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्यादि आश्रमों को पूर्ण करने वाले लोग मरणानन्तर कर्मानुसार छुल दुःल का भोग करके भुक्तशेष कर्मद्वारा उत्तम देश, जाति तथा कुल में रूपवान, दीर्घाय, विद्यावान, श्रीमान, सद्द्याचारी, बुद्धिमान और सुलसम्पत्ति से युक्त वयाधिकार जन्म धारण करते हैं।

सं ० - नतु, श्रुतिस्य "चरण" पद से " अनु शय " का ग्रहण नहीं होसक्ता, क्योंकि वह स्वभाव तथा आचार का वाचक है ? उत्तर:—

चरणादितिचेन्नोपलक्षणार्थिति कार्ष्णाजिनिः॥९॥

पद०-चरणात् । इति । चेत् । न । उपलक्षणार्था । इति । कार्ष्णाजिनिः ।

पदा॰—(चरणात) चरण पद से अनुशय का ग्रहण नहीं होसक्ता (चेत) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (उपलक्षणार्थी)चरण शब्द अनुशय का उपलक्षण है (इति) ऐसा (कार्ष्णाजिनिः) कार्ष्णाजिनि आचार्य्य मानते हैं।

भाष्य-शीछ, आचार तथा स्वभाववाची होने से "चरण" पद अनुशय का बोधक नहीं होसक्ता? यह कथत इसिछये ठीक नहीं कि उक्त पद गौणीद्यत्त से अनुशय के अर्थ में आया है जैसाकि किसी ने कहा कि "काकिम्यो दिधि रह्यतां" = कौवों से दिधि की रहा करो, इस कथन से वक्ता का तात्पर्य केवल कौवों से ही दिधिरहा का नहीं किन्तु दिधि नाशक कौवे, कुत्ते तथा मार्जारादि सभी पश्च पिहायों से है अर्थाद जिस मकार "काक" पद लक्षणाद्यत्ति द्वारा मार्जारादि रूप अधिक अर्थ का वोधक होने से "उपलक्षण" कहाता है इसीमकार प्रकृत में "वरण" शब्द शील तथा आचार का वाचक होने पर भी सुख दुःख हेतुक अनुशय कर्म का उपलक्षण है, यह कार्ष्णीजिन आचार्य्य का मत है।

सं०-अव उक्त अर्थ का अन्य प्रकार से आसेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

आनर्थक्यमिति चेन्नतदपेक्षलात् ॥१०॥

पद०-आनर्थक्यं। इति। चेत्। न। तद्पेक्षलात्।
पदा०-(आनर्थक्यं) चरण पद को अनुश्रायार्थ में छाक्षणिक मानने से श्रीत आचार निरर्थक होजयगा (चेत्) यदि
(इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं,क्योंकि (तद्पेक्षलात्)
उक्त पद से श्रुतिविद्दित आचार भी अपेक्षित है।

भाष्य-" चरण " पद से लक्षणादृष्टिद्वारा श्रुतिविद्दित आचार को छोड़कर केवल अनुवायरूप अर्थ का ग्रहण करना इस लिये ठीक नहीं कि बाह्माणादि योनि भी उक्त आचार का फरू हैं, यदि ऐसा न मानाजाय तो श्रुतिविद्दित आचार निष्कल वेदान्तार्यभाष्ये

होजयगा ? इसका समाधान यह है कि श्रुत्युक्त इष्टापूर्त कर्म आचारसापेक्ष होते हैं अर्थाव आचारहीन पुरुष को बैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार नहीं, इसलिये '' रमणीय चरणः '' इसादि श्रुतिस्य '' चरण'' पद को मुख्यक्ष से श्रीताचार का और लक्षणादृत्ति से अनुशयक्ष्य अर्थ का मितपादक मानना ही समीचीन है।

सं ० – अब उक्त अर्थ में "वादिर " आचार्य का मत कथन करते हैं:—

सुकृतदुष्कृत एवेति बादिरः ॥ ११ ॥

पद ०-सुकृतदुष्कृते। एव । इति । बादिः।

पदा०-(बादिरिः;) बादिर आचार्य्य का कथन है कि चरण षद से (सुक्ततदुष्कृते, एव, इति) पुण्यपापरूप कर्मों का ही प्रदृष्ण है।

सं०-अब कर्म न करने वाले जीवों की चन्द्रलोक=अव-स्थाबिशेष की प्राप्ति में पूर्वपक्ष करते हैं:—

अनिष्टादिकारिणामपिश्रुतम् ॥१२॥

पद०-अनिष्टादिकारिणां। अपि। श्रुतम्।

पदा०-(अनिष्टादिकारिणां) पापकर्म करने वाले जोवों की गति (अपि)भी (श्रुतं) श्रुति ने चन्द्रलोक में प्रतिपादन की है।

भाष्य-" ये वै के चास्माछोकात्प्रयन्ति चन्द्रम-समेव ते सर्वे गच्छन्ति " कौषीतकी ०१।२ अर्थ-जो जीब इस छोक से प्रयाण करते हैं वह सब चन्द्र छोक को प्राप्त होते हैं,इम श्रुति से पापी तथा पुण्यात्मा सब का चन्द्रछोक में गमन पायेजाने मे निद्ध है कि इष्टापूर्त्तादि कर्म न करने वाले जीव भी चन्द्रछोक को प्राप्त होते हैं॥ सं०-अब उक्त पूर्वपक्षका समाधान करते हैं:—

संयमनेत्वनुभ्येतरेषामारोहावरोही तद्गीतदर्शनात्॥ १३॥

पद०-संयमने । तु । अनुभूष । इतरेषां । आरोदावरोही ।

तद्गतिद्र्शनाव ।

तहातद्शनात् ।
पदा०-(मंयमने) मृत्यु की शासना में (अनुभूय) पाप
का फलभोग कर (इतरेपां) पापी जीवों का चन्द्रलोक के विना ही
(आरोहावरोहों) आरोह तथा अवगेह होता है, क्योंकि
(तद्गीतद्शीनात्) उक्त श्रुनि वाक्य मे ऐमा ही पायाजाता है।
भाष्य-पुण्यात्मा तथा पापानमा जीवों की गति का इतना ही भेद

है कि पापी जीव यम=परमात्मा के दण्ड को भोगकर इसी छोक को प्राप्त होते हैं चन्द्रलोक को नहीं अर्थात पापफल भोगने के अनन्तर पापी जीवों का चन्द्रलोक में आरोह के विना ही आकाशादि मार्गों से अवरोह होता है और यही उक्त कौपीतकी वाक्य का अभिशाय है कि पुण्यान्मा पुरुपों का ही चन्द्रलोक से आरोहावरोह होता है पापात्माओं का नहीं, जिमका वर्णन ''छान्द्रोग्यार्ग्यभाष्ट्य" में कियेजाने से यहां विस्तार नहीं कियाग्या और यम की शामना को कठ० २१३ में यों प्रतिपादन किया है कि :- 368

वेदान्तार्यभाष्ये

न साम्परायः प्रतिभाति बालं, प्रमाचन्तं वित्तमोहेन मृद्धः । अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।

अर्थ-धनकृष मोह से दिवेक रहित पुरुष को परछोक का विचार नहीं होता, यही छोक है परछोक नहीं ऐसा मानने वाछा पुरुष सुक्ष यम के वश को वारंबार मान होता है, इसमकार पापात्मा पुरुषों को चन्द्रछोक की माप्ति न होने के का रण पापात्मा पुरुषों को चन्द्रछोक की माप्ति न होने के का भद है अमेद नहीं।

स्मरन्ति च ॥१४॥

पद०-स्मर्नित । च ॥

पदा०-(च) और (स्मरन्ति) स्पृति से भी ऐमा ही। पाया जाता है।

भाष्य-निकेतादिकों की आख्यायिका में ऋषि लोगों का स्मरण पायाजाताहै कि निन्दित कर्म करने वाले नरक में यमयातना को सहारते हैं, यहां " यम " पद से नियमन करने वाले धर्मराज सर्वोपरि शासन कर्चा परमात्मा का ग्रहण है पौराणिक देवविशेष का नहीं ॥

तृतीयाध्याये-प्रथमः पादः

३५३

सं ० - अब शारीरस्थ सात नरकों का कथन करते हैं:-

अपि च सप्त ॥ १५॥

पद०-अपि । च । सप्त । पदा०-(अपि, च) और वह नरक (सप्त) सात पकार के हैं।

भाष्य-रस, रक्त, मांस, मेदा, आस्थ, मंज्ञा और शुक्र यह शरीरस्थ सात धातु नरक कहाते हैं अर्थाद इनके विषम होजानें से शरीर नरकधाम होजाता है।

ं'सं०-ननु,रस रक्तादि विकार वाले शरीर में रहकर ही जीव दुःखनिष्टांचे का उपाय करता है फिर उसको नरकथाम क्यों मानाजाय ? उत्तर:---

तत्रापि च तद्यापारादविरोधः॥ १६

पद०-तत्र । अपि । च । तद्वयापारात । अविरोधः ।
पदा०-(च) और (तत्र) शरीरस्य धातुरूप नरक में रहने
पर भी (तद्वयापारात्) शुभकर्मानुष्ठानंदूप न्यापार से उच्चगीत
की प्राप्ति में (अविरोधः) कोई विरोध नहीं।

भाष्य-शरीरात्मक रसादि विकारक्ष नरक में जीव का सर्वथा स्वातन्त्र्य नहीं कि वह अपनी इच्छानुसार उसको सुलक्ष्प ही बनासके किन्तु ईश्वरीय नियम द्वारा पूर्वजन्मकृत कमों के अनुसार जीव को अवश्य सुलदुः सभोगना पड़ता है अर्थात जीव कम करने में स्वतन्त्र होने पर भी फल्लभोग में परतन्त्र है, अत्प्व ईश्वरेच्छा से विरुद्ध होकर शरीर को सुल्लथाम नहीं बनासक्ता, जैसाकि पीछे "प्रात्तु तच्छूतेः " ब्र॰ स्र॰ ३।३।४१ के भाष्य में वर्णन करआये हैं, इसिछिये शरीरस्थ सात घातुओं को नरक मानने में कोई दोष नहीं।

सं०-अब पापी जीवों की गति का देवयानादियांग द्वारा न होना कथन करते हैं:—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

पद्-विद्याकर्मणोः। इति। तु। मकृतत्वात्।

पदा०-(विद्याकर्मणोः) विद्या तथा कर्म का (प्रकृतत्वाद)
प्रकरण होने से (इति) पापी जीवों का चन्द्रलोक में आरोह
पानना ठीक नहीं।

भाष्य—" तु" शब्द सिद्धान्त पक्ष के द्यातनार्थ आया है, इसम विद्या तथा उत्तम कर्मानुष्ठान करने वाले विद्यानी पुरुष "देवयान" तथा केवल कर्मी " पितृयाण " रूप मार्ग को माप्त होते हैं, जैसाकि बृहदा०३।५। १६ में वर्णन किया है कि "कर्मणापितृलोको विद्ययादेवलोकः "=केवल कर्मा- वृष्ठान से "पितृलोक" तथा विद्यासहित कर्म करने से "देवलोक" की माप्ति होती है, इसमकार उक्त दोनों मार्गों में उत्तम पुरुषों की गति पाये जाने के कारण पापी पुरुषों की गति का निषेध अर्थसिद्ध होने से स्पष्ट है कि देवयान तथा पितृयाण मार्ग में पापी पुरुषों के आरोहावरोह नहीं होते।

सं०-अब "तृतीयमार्ग" में पांचवीं आहुति की संख्या का

तृतीयाध्याये-मथमःपादः

399

अनियम कथन करते हैं:-

न तृतीय तथोपलब्धेः॥ १८॥

पद ० - न । तृतीये । तथा । उपलब्धेः ।

पदा०-(तृतीये) तृतियस्थान में (न) पांचर्वी आहुति की संख्या का नियम नहीं, क्योंकि (तथा, उपछब्धेः) शब्दममाण हे ऐसा ही पाया जाता है ॥

भाष्य-"अथितयोः पथोन कतरेण तानीमानीश्चद्राण्यसकृद्वित्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व प्रियस्वेत्ये
तत्तृतीयं स्थानम् "छां०५। १०।८=देवयांन तथा पितृयाण
दोनो मागों में से किसी मार्गद्वारा भी पापी जीवों की गति नहीं
होती किन्तु वह जूं तथा मशकादि श्चद्र योनियों को पुनः२ मास
होते रहते हैं औरइमी का नाम"तृतीयस्थान" है जो उक्त जीवों
से कदापि पूर्णन होने के कारण आवर्त्तनशील कहाता है,इसमकार
शब्द प्रमाणद्वारा पापी जीवों के तृतीयस्थान का पृथक् वर्णन पाये
जाने से स्पष्ट है कि उक्त स्थान में पश्चमादुति संख्या का
नियम नहीं।

सं०-अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

पद०-स्मर्थिते । आपि । च । छोके ।
पदा०-(च) और (छोके) छोक में (स्मर्थिते, अपि) स्मरण
पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि अमैथुनिस्रिष्टि में पांचवीं आहुति का नियम नहीं, जैसाकि बतक वीर्घ्यसेचन के बिना ही गर्भ को धारण करती है, इत्यादि जीवों में पांचवीं आहुति के नियम का अभाव पाये जाने से सिद्ध है कि तृतीय स्थान में पांचवीं आहुति का नियम नहीं॥

दर्शनाच ॥ २०॥

पद०-दर्शनात्। च।

पदा ॰ – (च) और (दर्शनात) दर्शन से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-नरायुज, अण्डज, स्त्रेदज और उद्धिज इस चार मकार के भूतर्ना में स्त्रेदज तथा उद्धिज की अमैथुनी सृष्टि पाये जाने से सिद्ध है कि सब जीवों में पांचर्वी आहुतिका नियम नहीं॥

सं०-नतु, छां ०६ । २ । १ में त्रिविधसृष्टि का वर्णन होने से स्वेदजसृष्टि का कथन असङ्गत है ? उत्तर:—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१॥

पद० - तृतीयशब्दावरोधः । संशोकजस्य ।

पदा॰-(संशोकजस्य) स्वेदज का (तृतीयशब्दावरोधः) तीसरे उद्भिज शब्द से ग्रहण होता है।

भाष्य-"अण्ड जं जीवजमुद्भिज्ञम् " छां०६।३।१ इस वाक्य में कथन किये हुए "उद्भिज्ज " पद से "स्वेदज" जीवों का ग्रहण होने के कारण उक्त जरायुजादि मेद से चार मकार की स्रोष्ट मानने में कोई दोष नहीं। सं०-अब मुक्ति से छौटकर आते हुए जीवों का आकाशादि पदार्थों के साथ सम्बन्धविशेष कथन करते हैं:—

तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

पद ० -तत्साभाव्यापत्तिः । उपवत्तेः ।

पदा०-(तत्साभाव्यापितः) कल्पपर्यंन्त मुक्ति के मुख को भोगकर पुनः संसार में आने वाले जीवों का आकाशादि भूतों के साथ "सम्बन्धमात्र" होता है तदूपता नहीं, क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति से ऐना ही पाया जाता है।

भाष्य-"अथैतमेवा वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथैतमेवा ध्वानमाकाशाद्वायुं वायुर्भृत्वाधूमो भवाति ०" डां०५।१० ५=जब जीव की मुक्ति से पुनराष्ट्रित होती है तब वह प्रथम आका श को आकाश से वायु, वायु से घूम, घूम से मेघ को माप्त होता है, फिर वर्षाद्वारा ब्रींहि, जौ आदि ओषियों तथा बनस्पतियों में जाता है, तदनन्तर अन्नादिभाव को शाप्त होकर पिता के बीटर्पद्वारा पुनः गर्भाश्चय में आता है, इसमकार जो श्रुति में जीव के अन्नादि भावों को घारण करना वर्णन किया है उसका ताल्पर्य यह है कि जीन आकाशादि पदार्थों के साथ नियतकालपर्यन्त "सम्बन्ध विशेष " को प्राप्त होता है तद्रपता को नहीं, यदि जीव सर्वथा आकाशादि जड़ पदायों की सहशता को ही पाप्त होता तो कदापिं कूटस्थ निस न रहता पर ऐसा न होने से मिद्ध है कि उक्त श्रुतिवाक्य में आकाशादिकों से जीव का सम्बन्धीवदाष अभिमेत है "तदूपता " नहीं ॥

वेदान्तार्थभाष्ये

सं ० - ननु, ब्रीहि आदि भावों की माप्ति से पथम जीव आका-शादिकों में चिरकाल पर्यन्त रहता है अथवा शीघ्र ही छीट आता है ? उत्तर :—

नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

पद०-न । अतिचिरेण । विशेषात् ।

पदा०-(विशेषात्) विशेष कथन पायेजाने के कारण (अतिचिरेण) जीव का आकशाादि पदार्थों से चिरकाल पर्यक्त सम्बन्ध मानना (न) ठीक नहीं।

भाष्य-" अतो वै ख्ळु दुर्निष्प्रपत्रम् " छां०५।
१०। ६=त्रीहि आदिभावों को प्राप्त होकर वहां से जीव का
निकलना अत्यन्त काठेन है, इस वाक्य द्वारा आकाशादि पदार्थों।
के सम्बन्ध की परस्पर विलक्षणता पाईजाती है अर्थात उक्त
विषय वाक्य में बीह्यादिकों से जीव का निकला कठिनतर वर्णन
कियागया है आकाशादिकों से नहीं, इमिलिये उनमें जीव अल्पकाल
पर्यक्त स्थिर रहकर शीघ्र ही बीह्यादिभावों को प्राप्त होता है॥

संश-ननु, अनुवायी जीव ब्रीहि आदिकों में जन्म छेता है अयवा आकाशादिकों की भांति केवल सम्बन्ध को प्राप्त होता है ? उत्तर :---

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदिभिलापात् ॥२४॥

पदं ०-अन्याधिष्ठिते । पूर्ववतः । अभिछापादः ।

तृतीयाध्याये-:प्रथमःपादः

360

पदा०-(अन्याधिष्ठिते) त्रीहि आदिकों में अन्य चेतन अधिष्ठाता होने के कारण (पूर्ववत्) आकाशादिकों की भांति केवल जीव का सम्बन्ध होता है जन्म नहीं।

भाष्य-अनुशयी=मुक्ति से लौटकर आनेवाला जीव ब्रीहि आदि ओषधियों में जन्म नहीं लेता,क्योंकि उनमें उनका अधिष्ठाता= भोक्ता जीव प्रथम ही विद्यमान होता है, इसलिये अनुशयी जीव का आकाशादिकों के समान ब्रीहि आदिकों से सम्बन्धविशेष मानना ही ठीक है।

सं ० - नतु, पञ्चामिविद्या में वीर्यस्प पांचवीं आहुति का वर्णन अश्लील होने से साज्य है ? उत्तर :—

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

पद०-अशुद्धं। इति । चेत्। न। शब्दात्।

पदा॰ – (अशुद्धं) पांचवीं आहुति का कथन अश्लीह है (चेत) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं क्योंकि (शब्दात) यह शब्दममाण सिद्ध है।

भाष्य-पञ्चामिविद्या में वीर्घ्यक्प आहुति का किसी अप-वित्रभाव से वर्णन नहीं कियागया मत्युत वैराग्य की हदतार्थ जीव की जन्मदशा का कथन किया है, इसिल्ये उक्त अर्थ शब्द प्रमाण द्वारा दोषरहित होने के कारण अश्लील नहीं।

सं०-अब अनुशायी जीव का पितृदेह के साथ सम्बन्ध कथन करते हैं :--

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६॥

पद्-रेतःसिग्योगः । अथ ।

पदा॰-(अथ) ब्रीह्यादिभावों के अनन्तर अनुकायी जीव का (रेतःसिग्योगः) वीर्यसेका पुरुष के साथ सम्बन्ध होता है।

भाष्य-आकाशादिद्वारा ब्रीह्यादिभानों की माप्ति के अनन्तर
पुनः जीव का नीर्य्यमेचन करने वाले पुरुष के शरीरमें प्रवेश होता
है, जिसाकि छान्दो० ५ । १० । ६ में वर्णन किया है कि
"यो य अन्नमत्ति योरेतः सिञ्चति तद्भ्य एव अविति =
जिसके शरीर में अन खाने से जो नीर्य्य बनता है उसी के
सिञ्चन द्वारा जीव की उत्पत्ति होती है।

सं ० - अव मातृ सम्बन्ध द्वारा अनुशयी जीव की शरीरे त्यांच कथन करते हैं:---

योनेःशरीरम् ॥ २७॥

पद०-योनेः । शरीरम् ।

पदा०-(योनेः)मातृसम्बन्ध द्वारा (शरीरम्) शरीर बनता है। भाष्य-पितृकृत गर्भाधान संस्कार के अनन्तर अनु शयी जीव का मातृशरीर से सम्बन्ध होता है और माता के गर्भाशय में ही उसका शरीर बनता है, इसमकार मुक्ति से पुनः छोटकर आनेवाछे जीवों के जन्म की गति कथन की गई है, इस अधिकरण के "अधुद्धामितिचेन्न शब्दात् " ब्र०स् ० ३।१।२५ में 'स्वा०शक्कराचर्यं" जी ने वैदिककर्मों में पशुहनन माना

है और आप ही शंका करके यह समाद्यान किया है कि पश्चिंसादि कर्म पाप नहीं होसक्ते, क्योंकि धर्माधर्म को प्रतिपादन करने बाला बास्त्र ही यह में हिंसा का विधान करता है अर्थाद "न हिंस्यात्सर्वा भृतानि "=नाणिमात्र की दिसा व करे, यह बाक्य उत्तर्ग=सामान्यक्य से हिंसा का निषेधक है और " अविनषोमीयं पशुमालभेत '=अप्रिधोन बाग में पशु की मारे, यह बाक्य अपवादकप होने से उक्त सामान्यविधि का बाधक है, इसलिये शास्त्रविदित होने से यज्ञादि कर्मी में पशु हिला दोषकर नहीं होसक्ती, इसी प्रकार "स्वा॰ रामानुज " ने भी इनका अनुकरण करते हुए अन्निष्टोमादि यहाँ में पशुरण माना है परन्तु यह बात वैदिकांसद्धान्त से सर्वया विरुद्ध है, क्कोंकि "मुज्यदिवा उत शुना यजन्त" अवर्व० ७। १ । ५=वज्ञों में पशुक्य करने वाले मूर्स हैं, इत्वादि मन्त्रों से हिंसा का स्पष्ट निषेध पाया जाता है, और सूत्र के किसी अक्षर से भी हिंसा का भाव नहीं निकलता फिर न जाने उक्त आचार्यों को मनलयुक्ति रखेत हुए भी पौराणिकों का क्या भय था जिससे उन्होंने अत्यन्त घृणास्पद यहीय पश्रहनन का अनुपोदन किया, अप्तु. वास्तविक बात यह है कि वास्तों में पश-हिंसा का कहीं भी विधान नहीं, इसका विशेष विचार"मीमांसा-र्यभाष्य ,' में किया गया है विशेषामिलाषी वहां देखलें। इति प्रथमःपादः समाप्तः

वेद्

अथ हितीयःपादः प्रारम्यते

सं ० - प्रथमपाद में पञ्चामिविद्या के दृष्टान्तद्वारा जीव की परछोकपात्रा का निरूपण किया, अब उसकी छुषु ति आदि अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के छिये इस पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम स्वप्नावस्था विषयक पूर्वपक्ष करते हैं: -

सन्ध्येसृष्टिराह हि ॥ १ ॥

पद ०-सन्ध्ये । स्टंष्टिः । आह । हि ।

पदा०-(हिं) निश्चयकरके (सन्ध्ये) स्वप्तस्थान में (सृष्टिः) नवीन सृष्टि को (आह) उपनिषद्वाक्य प्रतिपादन करते हैं।

भाष्य-जाग्रव तथा सुषुप्ति के मध्य में होने के कारण स्वक्ष का नाम स्नन्ध्य है, सन्ध्यस्थान में जीव नवीन सृष्टि की करपना करता है, जैसाकि "न तत्र स्था न स्थयोगा न पन्थानी भवान्ति अथ स्थात्रथयोगान्पथः सृजत इति" बृहदा॰ ४।३। ४=वहां न स्थ हैं, न घोड़े हैं और नाही उनके चछने योग्य मार्ग हैं तो भी जीव स्थ आदिकों को बनालेता है, इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में जीवकृत नवीन सृष्टि स्वना पाये जाने से स्पष्ट है कि स्वप्तसृष्टि जाग्रव की भांति सत्य है मिध्या नहीं।

सं० – अब उक्त अर्थ में अन्य शास्त्रा वालों का मत कथन करते हैं:—

निर्मातारञ्चेके पुत्रादयश्च ॥ २॥

वृतीयाध्याये-भद्वतीयः पादः

\$6.3

पद्-निर्मातारं।च।एके।पुत्राद्यः।च।

पदा०-(च) और (एके) कई एक शाखा वाले जीव की स्वप्नावस्था में (निर्मातारं) ईश्वर को निर्माता कथन करते हैं (च) क्यों कि श्रुतिस्थ "काम" पद से (पुत्रादयः) पुत्रादि पदार्थों का ग्रहण पाया जाता है।

भाष्य-कठ शाखा वालों का कथन है कि जीव के स्वाप्त पदार्थों का रचियता ईश्वर है, जैसाकि कठ० ५। ८ में वर्णन किया है कि:—

एष सुप्तेषु जागतिं कामं कामं पुरुषोनिर्मिमाणः। तदेवश्चकं तद्बद्य तदेवामृतमुच्यते, तस्मिलोकाः श्रिताःसर्वेतदुनात्यति कश्चन ॥

अर्थ-वह अन्तर्यामी परमात्मा प्रत्येक कामना की पूर्त्त के लिये सारे जगद को निर्माण करता हुआ जीवों के स्नुप्त होने पर भी जागता है और वही निरञ्जन होने से "शुद्ध "और निरित-श्रय कल्याणगुणाकर होने से "ब्रह्म "है उसी में सब छोक स्थित हैं, इसप्रकार सब जगद का निर्माता ईश्वर ही जीव की स्वप्नकाम-नाओं का रचियता है, प्रकृत में "काम " पद से पुत्रादि पदार्थ अभिनेत हैं इच्छामात्र नहीं, इससे सिद्ध है कि जैसे जाप्रद अवस्था के पुत्रादि पदार्थ ईश्वर रचित होने से सत्य हैं वैसे ही स्वप्नपदार्थ भी सत्य हैं काल्पत नहीं।

सं ०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समीधाने करते हैं:-

388

मायामात्रन्तु कारस्येनानभिव्यक्त-स्वरूपत्वात् ॥ ३॥

पद०-मायामात्रं। तु। कात्स्न्येत्र। अनिभन्यक्तस्वक्षपत्वाद् ।
पदा०-" तु " बाब्द पूर्वपक्ष की न्याद्यक्ति के लिये आणा है,
(कात्स्न्येन) पूर्णक्षप से (अनिभन्यक्तस्वक्षपत्वाद) प्रकंट न
न होने के कारण स्वप्रसृष्टि (मायामात्रं) मायामात्र है सत्य नहीं।

भाष्य-जिल प्रकार जाग्रव के पदार्थ यथायोग्य देशकालाहि कारणों से उत्पन्न होते हैं वैसे स्वप्न पदार्थों की उत्पत्ति नहीं पाई जाती मत्युत जाप्रद पदार्थों के अनुभव से उत्पन हुए संस्कारों द्वारा रज्जु सर्प के समान स्वग्नपदार्थी की अन्यथा प्रतीतिं होती है अर्थाद जिस मकार सर्प विषयक संस्कार वाळे पुरुष को तिथि-रादि दोषों के जपस्थित होने से पुरोवर्षि रज्जु आदि पदार्थी में "अयं सर्पः"=यह सर्प है, इस मकार का विपरीब ज्ञान होता है वैसे ही जाप्रव संस्कारविधिष्ठ पुरुष को निद्रादि दोषों से स्वप्न पदार्थों की अन्यथा मतीति होती है इसी को वैदिकसिद्धानत में "अन्यथारूयाति "कहते हैं; और जो पदार्थ अन्यथारूयाति इप इसि का विषय होता है वह अन्य में अन्य बुद्धि होने के कारण जाप्रव पदार्थों की भांति सत्य नहीं होसक्ता किन्तु रज्जु सर्पादिकों के सहबा करपनामात्र होता है, इसलिये स्वप्रसृष्टि को सत्य मानना समीचीन नहीं, और जो उक्त श्रुतिवाक्य से ईश्वर को स्वप्रपदार्थी का निर्माता कथन किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि वह जाग्रद काछ में

वपक्षम्य होने वाले सूर्यादि पदार्थों का निर्माता है जीव करियत मिध्या पदार्थों का नहीं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन " उपिन्य-द्रार्थ्यभाष्य"में कियागया है इसिलिये यहां आवश्यकता नहीं।

और जो मायावादियों का कथन है कि यहां " माया " श्राब्द अनिर्वचनीय=सतसत् से विलक्षण अविद्या के अभिमाय से आया है, यह इसिखये ठीक नहीं कि संसार में सतसद से विख्क्षण कोंई पदार्थ नहीं, इसी अभिमाय से " न ताहक्पदार्थांऽ-श्रुद्धीतेः " सांख्य० १ । २४ में वर्णन किया है कि पदार्थमात्र श्रतसद से विलक्षण न होने के कारण अविद्या को अनिर्व-पानीय कथन करना केवल भ्रान्ति है, दूसरी बात यह है कि सर्वत्र विश्यार्थ में " याया " शब्द के मयोग का कोई नियम नहीं, बदि सर्वत्र माया शब्द का मिथ्या अर्थ में प्रयोग अभिनेत होता तो " सम्भवाम्यात्ममायया " गी० ४। ६ में यह वर्णन न किया जाता कि मैं अपनी माया=शक्ति से मगट होता हूं, और नाही "जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता" इस बारमीकि रामायण के बचन से यह वर्णन कियाजाता कि जनक राजा की पुत्री सीता देवमाया के समान उत्पन्न हुई, इसादि ममाणों से स्पष्ट है कि " माया " शब्द कहीं ज्ञान, कहीं शक्ति तथा किसी प्रकरण में विपरीत ज्ञान के अभिप्राय से आया है अनिर्वचनीय अर्थ में नहीं, और " मीयते उनया इति माया "= जिससे पदार्थ की वरिच्छेद=इयत्ता जानीजाय उस

को " माया " कहते हैं, इस न्युत्पत्ति से भी "माया" शब्द से झानक्प अर्थ ही संगत होता है, क्यों कि ज्ञान के विना किसी पदार्थ का मकाश नहीं होसक्ता, यदि दुर्जनतोषन्याय से "माया" के अर्थ मायानादियों के माने हुए अनिर्वचनीय=मिध्या पदार्थ के ही मान छिये जायं तो भी उनकी इष्टीसिद्धि नहीं होती, क्योंकि " वैधर्म्याच न स्वप्नादिवत् " वर स्र २।२। २९ के भाष्य में वाह्यार्थापळापी विज्ञानवादी का मत खण्डन करते हुए स्वा० शङ्कराचार्यजी ने इन बात को स्पष्ट करिदया है कि "न स्वप्नादि प्रत्यय वज्जागरितप्रत्यया भवितुमईन्ति कस्मात्,वैधर्म्यात्,वैधर्म्यं हि अवति स्वप्नजागरितयोः= जाप्रव पदार्थों का बाध नहीं होता और स्वप्न पदार्थों का बाध इोजाता है, इसलिये स्वप्नज्ञान के सहश जाप्रव उपलब्धि के वाह्य विषय को न मानकर मिथ्या कथन करना निज्ञानवादी का साइसमात्र है, जब इस मकार उक्त स्वामीजी ने बलपूर्वक स्वयं स्वप्न तथा जाग्रत् के पदार्थों में विलक्षणता मानी है फिर जाग्रव पदार्थों को मिध्या सिद्ध करने के छिये स्वप्रपदार्थी को मायामात्र=अनिर्वचनीय कथन करना मायावादियाँ का साहस मात्र है॥

सं०-अब मसङ्ग सङ्गति से स्वप्न को श्रुभाश्चभ का सूचक कथन करते हैं:—

सूचकरच हि श्रुतेराचत्तते च तदिदः ॥४॥

पर्०-सूचकः । च । हि । श्रुतेः । आचसते । च । सहिदः ।

पदा ॰ – (च) और (हि) निश्चयकरके स्वप्न (स्वकः)
भावी श्वभाश्वभ का स्वचक है, क्यों कि (श्वतेः) श्रुति से
ऐसा ही पाया जाता है (च) और (तद्विदः) स्वप्नीविधा के
जानने वाले भी (आचसते) ऐसा ही कथन करते हैं।

बाष्य-स्वप्नविद्या के जाननेवाओं का अनुभव है कि कई एक स्वप्न भावी श्रुभ हत्त के और कई एक अश्रभ हत्त के सूचक होते हैं और श्रुति भी इसी अर्थ को प्रतिपादन करती है, जैसाकि छां० ५।२।८ में वर्णन किया है कि:—

यदाकर्मसुं काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धितत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिद्र्शने ॥

अर्थ-जब पुरुष स्वप्न में स्त्रियों को विवाहादि मङ्गल काय्यों में व्यापृत देखता है तब उसको भविष्य में इष्टफल की माप्ति होती है और " पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्त पश्यति स एनं हन्ति "=जब स्वप्न में कालेदांतों वाले कृष्णवर्ण पुरुष को देखे तो जानना चाहिये कि इसकी मृत्यु समीप होने वाली है।

"सार रामानुन" ने इस मूत्र को इस मकार लापन किया है कि " इतश्च स्वप्नार्था न जीवसंकल्प-पूर्वकाः यतः स्वप्नोऽभ्युद्ययानभ्युद्ययोः सूचकः श्रुतेरवगम्यते"=श्रुतिममाण द्वारा स्वम् इष्टानिष्ट फल का मुक्क होने के कारण स्वप्न पदार्थ जीव संकल्पकृत नहीं होसको, यदि स्वप्नपदार्थ जीव संकल्परचित होते तो दुःस्वप्न से अनिष्ठकृत्व की सूचना कदापि न पाई जाती, क्योंकि कोई पुरूष अपने अनिष्ठ के लिये व्यापृत नहीं होता, अतएव स्वप्नस्टक्षि को ईश्वर रचित मानना ही समीचीन है? यह कथन इसिल्चेय ठीक नहीं कि यदि स्वप्नपदार्थ ईश्वररचित होते तो तदिषयक मतीति को अन्यथाद्वान न माना जाता. जैसाकि पीछे निष्टपण कर आये हैं परन्तु स्वप्नपदार्थों की मतीति को अन्यथा ज्ञानक्ष मानना सर्ग सन्जासिद्ध होने से श्रीभाष्यकार की उक्त कल्पना आदरणीय नहीं।

सं ० - ननु, चेतनस्वरूप जीव को दुः खरूप बन्ध तथा स्वप्नादि विपरीत ज्ञान क्यों होते हैं ? उत्तरः ---

परामिध्यानात् तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५॥

पद् ० - पराभिध्यानात् । तु । तिरोहितं । ततः । हि । अस्य । बन्धविपर्ययौ ।

पदा०-(हि) निश्चय करके (पराभिध्यानात) परमात्मा के संकल्प से (तिरोहितं) जीव का ज्ञान आदत रहता है (ततः) इसिछिये (अस्य) इसको (बन्धविपर्ययौ) बन्ध तथा मोझ होनों बने रहते हैं।

भाष्य-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यति के छिये आया है, स्वकृत अनादि कर्मों की परम्परा से ईश्वर संकल्पद्वारा जीव का स्काशांविक चेतनस्वरूप आदित रहता है और स्वरूपावरण के कारण जीव अपने कर्त्तन्याकर्त्तन्य का विवेक नकरता हुआ निषिद्ध कभी के आचरण से पुनः २ जन्म मरणरूप संसार के बन्धन में पड़ा रहता है जब कभी पूर्वकृत पुण्य के फछ से सत्संगद्वारा सत्कर्मों में कचि होजाती है तब विहितकर्मों के अनुष्ठान से चिच्चछिद्ध के अनन्तर निदिध्यासन करता हुआ मुक्त होजाता है, इसमकार परमात्मा का संकल्प जीव के बन्धमोक्ष में हेतु होने के कारण झानस्वरूप होने पर भी जीव के बन्ध तथा अन्यश्राह्मन की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं।

सं ० - अब जीव के बन्ध में और हेतु कथन करते हैं : - देहियोगाद्वासोऽपि ॥ ६॥

पद०-देइयोगात्। वा। सः। अपि।

पदा०-(वा) और (देहयोगात) शरीर के सम्बन्ध से (अपि) भी (सः) जीव को बन्ध होता है।

भाष्य—स्वकृत कर्मों के अनुसार ईश्वर संकल्पद्वारा जीवों का श्वरीर से अनादि सम्बन्ध भी बन्ध का हेतु जानना चाहिये, और जो मायावादियों ने यहां अंशांशिभाव मानकर जीव ईश्वर का अभेद सिद्ध किया है वह स्वप्त, सुष्ठिस आदि अवस्थाओं से सम्बन्ध न रखने के कारण आदरणीय नहीं।

सं०-जीव की स्वप्नावस्था निरूपण करने के अनन्तर अव

सुद्धांत अवस्था का वर्णन करते हैं:--

300

तदमावोनाडीषु तच्छ्रतेरात्मनि च ॥॥

पद०-तद्भावः। नाडीषु। तच्छुतेः। आत्मनि। च।
पदा०-(नाडीषु) पुरीततः नाडी में (तदभावः) स्वप्नावस्था
का अभाव है (च) क्योंकि पुरीततः तथा (आत्मनि) आत्मा
कें खुष्डुप्ति होती है और (तच्छुते) श्रुति से भी ऐसा
ही षाषा जाता है।

भाष्य-उपनिषदों में खुषुप्तिस्थान भिन्न २ पायाजाता है जैसाकि छां० ८।६। ३ में नाडीयों और बृहदा० २।१।१९ में पुरीतव=हृदय को देष्टन करने वाली किंधरप्रधान सूक्ष्म ांधाराओं को सुखुतिस्थान वर्णन कियागया है, इसिख्ये यहां यह सन्देह होता है कि उक्त छुषुप्तिस्थानों का समुचय है किंवा वि-कल्प है ? या यों कही कि एक ही काल में सब स्थानों पर सुषुप्ति होती है अथवा कालभेद से भिन्न स्थानों में होती है !इसमें पथ-मपक्ष सिद्धान्ती का और दूसरा पक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का अभिषाय यह है कि उक्त श्रुतिवाक्यों में सुचुप्ति स्थान विषा २ वर्णन किया गया है, और अपने २ अर्थ के मतिपादन करनें में सब श्रुतिवाक्य स्वतन्त्र हैं, इस छिये कालभेद से सबको सुषुप्तिस्थान मानकर सुषुप्ति का विकल्प यानना ही ठीक है समुचय नहीं ? इसका उत्तर यह है कि " पाठशालायामधीते "=पाठशाला में पढ़ता है " आस-नमिध्रायाधीते "=आसन पर बैठकर पढ़ता है, इसादि परस्पर भिन्ना र्थक समान मकरणस्य वाक्यों के समुख्यद्वारा एक-

ततीयाध्याये-द्वितीयःपादः

वाक्यता करने से यह बोध होता है कि पाठशाला में आसन पर बैठ कर पहता है, इसी प्रकार प्रकृत में मुचु मिपतिपादक उक्त बादयों का खंडपभेद होने पर भी समान प्रकरण होने मे एक वाक्यता क्ष बोध के लिये समुचय मानना ठीक है विकल्प नहीं, जैसाकि बृहदा० २। १। ९ में वर्णन किया है कि "ताभिः प्रत्यवसु-प्यक्रीते "=नांडीयों द्वारा पुरीतव को माप्त होकर सोता है, इसमकार नाडीयों को छुषुप्ति का साधन कथन करके फिर बृहदा० ४। ३। २१ में यों वर्णन किया है कि:-

"स्ता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति"

अर्थ-हे सोस्य सुषुप्ति अदस्था में जीव परमात्मा से मिसजाता है, और इसी आञ्चय को छां० ६। ८। १ में इसमकार स्फुट किया है कि " प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किश्चन वेद नान्तरं "=माझ=परमात्मां के साथ मिछा दुआ जीव किसी वाह्य गन्धादि विषय को नहीं जानता और नाही किसी आन्तर मुखादि विषय को विशेषक्य से अनुभव करता है, इस रीति से हृदयगत नाडीयें, पुरीतव और परमात्मा यह सब सुबुप्ति के स्थान हैं।

भाव यह है कि हृदयगत नाडीयें सुबुप्ति का साधन,पुरीतव मृहस्थानी तथा ब्रह्म पर्श्यक्कस्थानी है जिसपर शयन करके जीव सुषुप्तिके आनन्द को अनुभव करता है,इसी अभिनाय से"समा-धिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता "सां० ५ । ११६ में वर्णन

किया है कि समावि, सुबुप्ति तथा मोक्ष में जीव अद्धा के रूप को घारण करता है।

सं॰-अब जीव की जाम्रद अवस्था का वर्णन करते हैं:--अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८॥

पद ०-अतः । प्रबोधः । अस्पात् ।

पदा॰-(अतः,अस्मात) पर्यञ्जस्थानी परमात्मा से (अस्य) जीव की (प्रवोधः) जाग्रत होती है।

भाष्य-सुषुप्ति में जीव परमात्मा के सिर्वाहित होजाने के कारण उसकी जाग्रव भी उसी परमात्मा से होती है, जैसाकि "सत आगम्य न विदुःसत आच्छामहङ्गति" छां०६। १०। २ में वर्णन किया है कि सव=परमात्मा से आकर जीव नहीं जानसक्ते कि हम सब से आये हैं, इससे यह भी पाया गया कि परमात्मा ही जीव का मुख्य सुषुप्तिस्थान है वेष स्थान गीण हैं परन्तु उनका समुचय है विकल्प नहीं।

सं-० अब सौषुप्त आनन्द अनुभव करने वाछे जीव की ही जाग्रद का भोक्ता कथन करते हैं:—

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः॥९॥

पद०-सः। एव । तु । कर्मानुस्पृतिभाव्दंविधिभ्यः।

पदा०-(तु) निश्चयकरके (कर्मातुस्मृतिशब्दविधिभ्यः) कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि इन चारों से पाया जाता है कि (सः, पव) वही जीव जाग्रद का भोक्ता है अन्य नहीं।

भाष्य-जी जीव सुवुप्ति अवस्था के आनन्द को अनुभव करता है वंही पुनः जाय्रव में आकर गन्धादि विषयों को उपस्रव्य करता है अन्य नहीं, क्योंकि कर्म तथा अनुस्पृति आदि हेतुओं से ऐमा ही पाया जाता है, यदि सौषुन आउन्द के अनुभविता जीव से जाग्रद जीव भिन्न होता तो कर्म तथा पाछ की व्यधिक-रणता होजाती. या यों कहो कि कर्म का कर्चा जीव तथा फलभोक्ता अन्य होता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि दोनों अवस्थाओं का साक्षी जीव एक है, इमी प्रकार अनुस्पृति=जो में सोया था वही जागा हुं, यह स्मृति भी उक्त अर्थ का साधक है और इसी भाव को " शब्द " यों मिद्ध करता है कि "त इह व्यात्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद यद भवान्त तदा भवन्ति " छां ० ६ । ९ । २=व्याघ, सिंह, हक, बराइ, कीट, पतंग,दंश=डांस, मशक इत्यादि जो२ जीव सुषुप्ति में ब्रह्म के सिवाहित होजाते हैं वह पुनः व्युत्थान को प्राप्त होकर उसी इप को धारण करते हैं, इस मकार शब्दममाण भी दोनों अवस्थाओं के साक्षी जीव को एक ही कथन करता है और "आत्मानसुपासीत "=आत्मा की उपासना करे, इत्यादि विधि वाक्य भी नक्तार्थ की सिद्धि में प्रमाण जानने चाहियें।

स्मरण रहे कि यह सूत्र मायावादियों के आश्चय से सर्वया विरुद्ध है, क्योंकि जब उनके कथनानुसार सुधुप्तिकास्त्र में जीव का समुद्रस्थानी ब्रह्म से सर्वथा अभेद होगया तो फिर उसके जामूत में आने की चर्चा ही क्या ! इसमकार "क्यां जिस्सृति शब्दाधिकरण " में जीव ब्रह्म का स्पष्टमेद मतिपादन किया गया है और मुप्ति में सत्सम्पत्ति कथन का अभिमाय यह है कि जीव उस काल में ब्रह्म की भांति अपहतपाष्मादि धर्मों को धारण करता है।

पद् ०-मुग्धे । अर्धसम्पत्तिः ।

पदा॰ - मुग्धे) मुग्ध पुरुष की (अर्थसम्पत्तिः) मरण के समान अवस्था होती है।

भाष्य-मूर्च्छत पुरुष का नाम " सुरुध " है, मुरुष पुरुष की अवस्था मृत्युके समान होती है अर्थात ज्ञान के तिरो हित होने से यह अवस्था जाग्रत तथा स्वप्न नहीं और प्राणों की चेष्ठा पाये जाने के कारण मृत्यु नहीं, कम्प तथा नेत्रों की निमीछनोन्मीछन किया होने से सुषुप्ति नहीं, इसमकार परिशेष से मुग्ध पुरुष की अवस्था उक्त तीनों अवस्थाओं से भिन्न है और इसी को "मूच्छी" कहते हैं।

सं ० - अब ब्रह्म को निराकार प्रतिपादन करने के लिये

" उम्रविद्याधिकरण " का प्रारम्भ करते हैं:-

न स्थानतोऽपि परस्योभयिछिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥ पद०-नै। स्थानतः।अपि। परस्य। उभयछिङ्गं। सर्वत्र। हि।
पदा०-(स्थानतः) पृथिवी आदि उपाधिओं और (आपे)
स्वरूप से भी (परस्य) ब्रह्म (उभयछिङ्गं) दोनों प्रकार के छिङ्गों
बाला (न) नहीं होसक्ता (हि) क्योंकि (मर्वत्र) सर्वत्र श्रुति
खाक्यों में उसको निराकार पानेपादन किया गया है।

भाष्य — "अशब्दमस्पर्श ०" कठ० ३। ५ "अका यमज्ञणं० "यज्ञ०४०। ८ इत्यादि श्रातित्राक्यों में ब्रह्म को सर्वत्र निराकार प्रतिपादन करने से सिद्ध है कि ब्रह्म पृथिवी आदि किसी उपाधिद्वारा अथवा स्वरूप से निराकार और साकार दोनों प्रकार के छक्षणों वाला नहीं होसका किन्तु वह सर्वदा एकरस निराकार है।

सं०-नतु, ब्रह्म को सर्वया निराकार मानने से 'सर्वग्रन्धः सर्वरसः " छां० ३।१४। २ इत्यादि साकार मतिपादक वाक्यों की क्या गति होगी ? उत्तरः—

न भेदादितिचेन्न प्रत्येकमतद्यनात्॥१२॥

पद०-न। भेदात । इति । चेत । न। प्रत्येकं। अतद्वचनात ।
पदा०-(भेदात) श्रुतियों में उभयछिङ्ग ब्रह्म का वर्णन
पाये जाने से वह केवल निराकार (न) नहीं होसक्ता (चेत)
यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (प्रत्येकं)
सब वाक्यों में (अतद्वचनात) उसको निराकार ही प्रातिपादन किया है।

भाष्य-ब्रह्मपतिपादक श्रुतिवाक्यों में सर्वत्र ब्रह्मं निरा-कार ही अभिमेत है साकार नहीं, जैमाकि " युः पृथि व्यां तिष्ठन पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शारीरं " बृहदा०३।७। १=जो पृथिवी में रहता है. जिसको पृथिवी नहीं जानती और जो पृथिवी का भेरक है वही आत्मा=परमात्मा तेरा अन्तर्यामी है, इत्यादि अन्तर्यामी ब्राह्मण के कई एक वाक्यों में उपचार से पृथिव्यादिकों को उसका वारीर श्रतिपादन करते हुए भी स्वद्भ से निराकार ही वर्णन किया है और जो छां० ३। १४ में ब्रह्म को सर्वगन्य, सर्वरम प्रतिपादन किया है उसका यह अभिमाय नहीं कि जीव की भांति ब्रह्म गन्धादि विषयों का भोका है किन्तु सब गन्धों का उत्पादक होने से " सर्वगन्ध " और रसमात्र का जनियता होने के कारण " सर्वरस" कहाता है, इसछिये सर्वत्र ब्रह्म प्रतिपादक वाक्यों के ीवषयभूत ब्रह्म को निराकार मानना ही ठीक है।

सं०-अब उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य शाखा का प्रमाण कथन करते हैं:--

अपि चैवमेके ॥ १३॥

पद् ०-अपि। च। एवं। एके।

पदा०-(च) और (एके) कई एक शाखा वाले ब्रह्म में (एवं, आपे) भेददर्शन की निन्दा कथन करते हैं।

भाष्य-"मृत्योःस मृत्युमामोति य इह नानेव पश्यति"=

कठ० ४। ११=जो ब्रह्म को नानाल=निराकार तथा साका रक्ष्य से उभयछिङ्ग जानता है वह पुनः २ जन्ममरण में आता है, इसादि कठशाखावाले उभयछिङ्गब्रह्मदर्शी पुरुष के लिये जन्म मरणक्ष दोष कथन करते हैं जिससे सिद्ध है कि ब्रह्म निराकार है।

सं०-ननु, साकार तथा निराकार दोनों भकार के ब्रह्म मितपादक वाक्य पाये जाने से ब्रह्म को केवल निराकार ही मानना ठीक नहीं ? उत्तरः—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानलात्॥ १४॥

पद् - अद्भवत् । एव । हि । तत्प्रधानत्वात् ।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (तत्प्रधानलात्) निराकार बोधक वाक्य प्रधान होने से (अइपवत्) ब्रह्म निराकार है साकार नहीं।

भाष्य—" अस्थूलमनणु॰" बृहदा॰ ५ । ८ । ८ इसादि निराकार प्रतिपादक वाक्य प्रधान और " सर्वग्रन्धः सर्वरसः" छां॰ ३ । १ । ४ ईसादि साकार प्रतिपादक वाक्य गौण हैं, और "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यस-म्प्रत्ययः "=गौण तथा मुख्य दोनों के मध्य मुख्य में कार्य की प्रतीति होती है गौण में नहीं, इस नियम के अनुसार गौण वाक्य वस्तुतः साकार के प्रतिपादक नहीं,या यों कहो कि सगुण वाक्य उपचार से साकार के प्रतिपादक और निर्गुण वाक्य ब्रह्म के वाह तीवक

कप को बोधन करते हैं, इस मकार उभयविध वाक्यों में परस्पर कोई विरोध नहीं और नाहीं पौराणिकों की भांति ब्रह्म के साकार होने में कोई प्रमाण उपलब्ध होता है, इसका विशेष विचार "आर्यमन्त्रुयप्रकाश " में किया गया है, अतएव सर्वथा निर्दोष होने के कारण निराकारवाद ही आदरणीय है। सं०-ननु, "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" इसादि वाक्य ब्रह्म

को निर्विशेष प्रतिपादन करते हैं सविशेष नहीं ? उत्तरः—

प्रकाशवद्यवियध्यति ॥ १५॥

पद ०-प्रकाशबद । च । अवैयर्थ्यात ।

पदा०-(च) और (अवैयध्यात) सर्वज्ञतादि विशेषधर्म प्रतिपादक वाक्य व्यर्थ न होने से (प्रकाशवत) प्रकाशस्त्र प्रज्ञा सविशेष है निर्विशेष नहीं।

भाष्य—"गुणि सिर्विविद्यः" श्वेता०६।१६ = परमात्मा सत्वादि
भगें वाला तथा सर्वज्ञ है, इसादि वाक्य ब्रह्म के ससत्व
सर्वज्ञत्व तथा जगत्कारणत्वादि धर्मों का प्रतिपादन करते हैं,
इसिल्ठिये मायावादियों की भांति ब्रह्म सर्वथा निर्विशेष नहीं
अर्थाद ससादि वाक्य भी ब्रह्म की निर्विशेषता वोधन नहीं करते
किन्तु जसको ससलादि धर्मों वाला प्रतिपादन करते हैं, और
जो वैदिकिसिद्धान्त में ब्रह्म को निर्विशेष मानाजाता है वह केवल
इस अभिप्राय से कि उसमें स्थूललादि विशोधी धर्म नहीं, जैसाकि
बृहदा० ५ । ८ । ८ । में वर्णन किया है कि:—

" एतद्वेतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवद-न्त्यस्थूलमनण्वद्वस्वमदीर्घमलोहित-मच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गं "

अर्थ-हे गागि! निश्चयकर्के इमी अक्षर=अविनाशी परमात्मा को ब्रह्मवेचा कथन करते हैं कि न वह स्थूल है, न अणु है, न दीर्घ है, न लोहित है, न ऋष्ण है, न वायु है, और न आकाश है, इसादि वाक्यों से स्पष्ट है कि ब्रह्म निर्विशेप हैं।

"श्रीभाष्याचार्य" का कथन है कि "न च निर्गुणवाक्य विरोधः प्राकृतहेयगुणविषयत्वात् "=पाकृत हेय गुणों से रहित होने के कारण ब्रह्म " निर्गुण " तथा ससादि गुणों वासा होने से "सगुण " है, इसिल्चे निर्गुण प्रातेपादक वाक्यों का कोई विरोध नहीं।

मं ० - ननु, उपाधि से सगुण तथा उपाधिशून्य होने से निर्गुण मानने में क्या दोष ? उत्तरः—

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

पद्०-आह। च। तन्मात्रम्।

पदा॰ (च) और श्रुति में ब्रह्म को (तन्मात्रम्) केवल प्रज्ञानघन (आह) कथन किया है, इसलिये उसमें उपाधिकल्पना ठीक नहीं।

वेदान्तार्थ्यभाष्ये

360

भाष्य—" स यथा सैन्धवधनोऽनन्तरोऽबाह्यः"

हृद्दा० ४ । ५ । १३=जिसमकार सैन्धव=नमक बाहर
भीतर एकरस छत्रण ही छत्रण होता है इसी मकार
परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण होता हुआ बाहर भीतर विज्ञांनधन=चैतन्यमात्र हैं, और चैतन्य से भिन्न उसके स्वक्षप
में किसी बस्तु का प्रवेश नहीं जिससे उसको उपाधिवाला माना
जाय, इसमकार एक ही परमात्मा निराकार चेतनस्वरूप तथा
निरक्षन हैं, इस कथन से यह भी पायागया कि मायाकृत
उपाधवश्च से उसमें अवतारादि की कल्पना करना पौराणिकों
का साहसमात्र हैं।।

दर्शयति चाथोऽपि स्मर्यते ॥ १७॥

पद्-दर्शयित । च । अथो । अपि । स्मर्यते ।
पदा - (दर्शयिते) श्रुति नें ब्रह्म को निराकार प्रतिपादन
किया है (च) और (अथो, अपि,स्मर्यते) स्मृति से भी उसकी
निराकारता ही पाई जाती है ।

भाष्य-"अथात आदेशो नेति २" वृहदा० २। ३। ६ = पंह
ब्रह्मित्वयक उपदेश साकार वस्तु का नहीं "अन्यदेव तिद्धिदितद्यो अविदितादिधि" केन० २। ३ = ब्रह्म विदित = कार्यक्ष
जगद तथा अविदित = कारणक्ष प्रकृति से भिन्न है, इत्यादि श्रुतियों
में स्पष्टतया ब्रह्म को निराकार प्रतिपादन किया है और स्मृतियों

वृतीयाध्याये-द्वितीयः पादः

३८१

में भी उसकी साकारता का निषेघ पायाजाता है, जेसाकि गी० १३। १२ में वर्णन किया है कि :—

क्षेयंयत्तरप्रवृक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्चते । अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

अर्थ-हे अर्जुन! में तेरे प्रति उस क्षेय पदार्थ का उपदेश करता हुं जिसकी जानकर पुरुष अमृतपद की प्राप्त होता है, अनादि निर्विकार चराचर जगत का रचियतां ब्रह्म ही " क्षेय " है, वह घटादि साकार पदार्थों की भांति सत=स्यूज नहीं और नाही श्रातिस्मृति वाक्य ब्रह्म की निराकारता के प्रतिपादक जानने चाहियें।

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥

पद०-अतः। एव। च। उपमा। सूर्य्यकादिवतः।
पदा०-(च) और (अतः, एव) निराकार होने से ही बस
को (सूर्यकादिवतः) सूर्य्याद प्रतिविभ्यों की भांति असङ्ग
होने की उपमा दीगई है।

भाष्य-जो शास्त्र में ब्रह्म को सूर्यादि प्रतिविम्बों की भांति असङ्ग होने की उपमा दीगई है वह निराकार होने पर ही घट सक्ती है अन्यया नहीं, जैसाकि कट॰ ५ । ११ में वर्णन किया है कि:—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्नलिप्यते चासुपै

र्वाह्यदोषेः। एकस्तथा सर्वभृतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः॥

अर्थ-जिसमकार सब जगत का चक्षु:-- प्रकाशक होने पर
भी सूर्य्य चक्षु: मम्बन्धी बाह्यदोषों से लिप्त नहीं होता इसी प्रकार
सब भूतों का अन्तर्यामी परमात्मा वस्तुतः भूतों से पृथक् होने
के कारण सांमारिक दुःखों से लिपायमान नहीं होता, इत्यादि
औपनिषद वाक्यों में सूर्यादि दृशानों द्वारा ब्रह्म को असङ्ग
बोधन करने से स्पष्ट है कि वह निराकार है माकार नहीं।
सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर में स्फुट करते हैं:--

अम्बुवद्ग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९॥

पद्-अम्बुवत् । अग्रइणात् । तु । न । तथात्वम् ।
पदाः - " तु " शब्द सिद्धान्त पक्ष के द्योतनार्थ आया है
(अम्बुवत्) जलगत सूर्यादि प्रनिविम्व की भांति (अग्रहणात्)
उपलब्ध न होने से ब्रह्म (तथात्वं) साकार (न) नहीं।

भाष्य-जिममकार जन्मत स्यादि मितिबिम्ब साकार मितित होते हैं तैसे परमात्मा की प्रतीति नहीं होती अर्थात यदि अहा साकार होता तो उमकी अवज्य किमी न किमी पदार्थ में प्रतिबिम्बक्प से उपलिब्ध होती पर ऐमा न होने से मिद्ध हैं कि वह साकार नहीं और नाही मायाबादियों के मन्तव्यानुसार उसका किसी पदार्थ में प्रतिबिम्ब पड़स का है, क्योंकि उनके मत में बहा से भिन्न दूसरा कोई पदार्थ नहीं और विम्ब प्रतिबम्बभाव

भेद में ही होता है अभेद में नहीं, इस प्रकार प्रतिविम्य सिद्ध न होने के कारण ब्रह्म का निराकार पानना ही सपीचीन है।

सं०-ननु, छां० ६। ३। २ में ब्रह्म का बहुत होना कथन किया है फिर वह निराकार केमे ? उत्तर:—

वृद्धिह्वासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसाम-अस्यादेवम् ॥ २०॥

पद् ० - हिद्धिहासभाक्त्वं। अन्तर्भावात्। उभयसाम अस्यात्। एवं।

पदा ० - (अन्तर्भावात्) परमात्मा के सर्वव्यापक होने और
(अभयसाम अस्यात्) व्याप्यव्यापक दोनों का एकत्र अविरोध
पाये जाने में (एवं, हिद्धिहासमाक्त्वं) उसके हिद्धिहासक्ष वहुत्व
कथन में कोई दोष नहीं।

भाष्य-जगत के उपादान कारण प्रकृति और निमित्तकारण अहा के व्याप्यव्यापकभाव का परस्पर कोई विरोध नहीं और नाही उसके होने में कोई प्रमाण उपलब्ध होता है प्रत्युत तर्कसहित प्रमाणों मे यही सिद्ध होता है कि अतन्त होने से अहा व्यापक तथा एकदेशहीं होने से प्रकृति व्याप्य है, और वही प्रकृति परमात्मा की इछाद्वारा अनेक प्रकार के परिणामों को धारण करती है, या यों कहो कि दृद्धि=बद्दना तथा हास= घटनां प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है, इसी प्रकृतिगत दृद्धिहास के अभिषाय से छां ६। ३। २ में वर्णन किया है कि "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" च्छिके आरम्भ में परमात्मा

वेदान्सार्यभाष्ये

ते संकल्प किया कि मैं बहुत होजाऊं अर्थात अपनी मकुति को नानाक्यों द्वारा परिणत करूं, इसमकार द्विद्वास का क्ष्मक्षार परमात्मा में मकुतिसम्बन्ध से औपचारिक है मुख्य नहीं, इसिछिये उक्त बृद्धिहासक्य बहुभवन के आक्षेप द्वारा ईश्वर को साकार कथन करना साकारवादियों का मनोरथमात्र जानना चाहिये।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:— दश्चीनाञ्च ॥२१॥

पद ०-दर्भनात् । च।

पदा०-(च) और (दर्शनात्) श्रुति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-श्रुति भी परमात्मा के दृद्धिहास को औपचारिक वर्णन करती है, जैसाकि "पुरश्च के द्विपदः पुरश्च के चतुष्पदः पुरः सपक्षीभृत्वापुरः पुरुष आविशत् " बृहदा०२।५। १८=द्विपाद, चतुष्पाद आदि अनेक शरीरों को उत्पन्न करके उनके नियमनार्थ परमात्मा ने प्रवेश किया, इससे सिद्ध है कि परमात्मा का बहुत होना औपचारिक होने से उसकी निराकारता में कोई बाधा नहीं, इसका विशेष विचार" उपनिषद् रिर्माष्य" में किया गया है, इसिल्ये यहां विस्तार की आवश्यक्ता नहीं।

और जो मायाबादियों ने उक्त दोनों सूत्रों का लापन करते हुए परमास्मा में औपाधिक दृद्धिहास माना है सो सूत्रकार के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, क्यों कि "अरूपवदेव हितत्प्रधानत्वात्" इ॰ सु॰ ३।२।१४ में ब्रह्म को अरूप कथन किया गया है।

सं ० - नतु, यदि ब्रह्म निराकार है तो फिर उसकी खुरदा॰
२।३।१ में सूर्त्तामूर्त उभयक्प क्यों वर्णन किया गया है ? उत्तरः-

प्रकृतेतावत्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवाति

च भूयः ॥ २२॥

्षस् ० - मकुतैतावत्वं । हि । प्रतिषेषति । ततः । व्यदीति । च । भूयः ।

पदा०-(हि) निश्चयकरके शास्त्र (मक्कतैतावत्वं) बद्ध की इयक्ता का (प्रतिवेधति) निषेध करता हुआ (ततः, च, ब्रवीति, भूयः) इससे भी अधिक प्रतिपादन करता है।

भाष्य-बृहदारण्यक के मूर्तामूर्त ब्राझण में ब्रह्म को इसमकार वर्णन किया है कि "द्वे वाव ब्रह्मणों रूपे मृत्ते वेवामुत्रिञ्च " बृहदा०४। ३। १=मूर्त तथा अमूर्त भेद से ब्रह्म के दो कृप हैं अर्थाद पृथिवी, जल, तेज यह "मूर्त" और वायु तथा अन्तरिक्ष यह "अमूर्त" हैं, इस भकार दोनों रूपों का वर्णन करते हुए अपसहार में यह कथन किया है कि "अथात आदेशों नेति २ " बृहदा० ४। ३। ६=उक्त दोनों रूप ब्रह्म के स्वरप्रमूत नहीं यही मुख्य उपदेश है, या यों कही कि पृथिव्यादि

सब इयचा बाले हैं और ब्रह्म की कोई सीमा नहीं, इसमकार भूतों का वर्णन करके परमात्मा के स्वरूप को असीम वर्णन किया है यदि उपनिषत्कार का तात्पर्ध्य ब्रह्म की साकारता बोधन में होता तो "नेति" शब्द द्वारा उसके आकार का प्रतिषेध न किया, जाता पर किया है इससे सिद्ध है कि ब्रह्म निराकार है सांकार नहीं।

भाव यह है कि " द्वे वाव ब्रह्मणों रूपे " इस वाक्य
गत ब्रह्म पद में षष्ठी विभक्ति " स्वस्वामिभावसम्बन्ध " से है
तादात्म्यसम्बन्ध से नहीं, क्यों कि " असन्नेव स अविति
असद्ब्रह्मिति वेद चेत् " तैति॰ २।६।१= जो ब्रह्म को
असद्ब्रह्मिति वेद चेत् " तैति॰ २।६।१= जो ब्रह्म को
असद=अन्यथा जानता है वह भी असद होजाता है, इसादि
वाक्यों में ब्रह्म के मूर्च होने का निषेध किया है, इसलिये
सूर्जामूर्च ब्राह्मण में पृथिवी आदि को ब्रह्मसम्बन्धी होने
से इसका इप कथन किया है वस्तुतः ब्रह्म आकार वाला नहीं॥

सं ० - अब ब्रह्म की मूक्ष्मता कथन करते हैं:--

तदव्यक्तमाह हि॥ २३॥

पद०-तद् । अन्यक्तं । आह । हि ।

पदा०-(हिं) निश्चयकरके (तत्) ब्रह्म को (अब्यक्तं) सुस्म कथन किया है।

भाष्य-" न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्येर्दे वैस्तपसा कर्मणा वा" मुं॰ ३।१।८ इत्यादि वाक्यों में कथन किया है कि ब्रह्म चक्षुः का विषय नहीं और नाही बाणीं तथा अन्य इन्द्रियों का विषय है और न तप तथा कर्म से जाना जाता है, इत्यादि ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता बोधन करने वाले अनेक वाक्यों से पायाजाता है कि ब्रह्म निराकार होने से सूक्ष्म है, इस विषय का विचार भले प्रकार "आर्थ्यमन्तन्यप्रकाश " में किया गया है।

सं ० - अव परमात्मा की निराकारता में योगियों का अतुभव कथन करते हैं:-

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमा नाभ्याम् ॥ २४ ॥

पद०-अपि । च । संराधने । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।
पदा०-(संराधने) उपासनाकाल में योगी (अपि)परमात्मा
को निराकार अनुभव करते हैं (च) क्योंकि (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) प्रत्यक्ष तथा अनुमान से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-उपासना काल में योगी लोंग परमात्मा को निराकार रूप से अनुभन्न करते हैं, जैसािक मुं० ३।१।८ में वर्णन किया है कि :—

"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः"

अर्थ-ज्ञानप्रसाद से शुद्ध अन्तः करण वाले योगीजन समाधि में निष्कल=निराकार परमात्मा का ध्यान करते हैं, इसी अभि पाप से " निर्विचारवेशारघे द्यात्मप्रसादः" योग० १।४७

में वर्णन किया है कि निर्वचार समाधि की निर्मछता से फंगी को सब पदार्थों का यथार्थज्ञान होता है और :—

थे खिनिद्रा जितस्वासाः सन्तुष्टा संयतेन्द्रियाः ।

जयौतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्म योगात्मनेनमः॥
अर्थ-जो योगी छोगं अविचाक्तप निद्रा से रहित होकर माणायाम
कस्ते हुए यथास्त्राभसन्तुष्ट तथा जितेन्द्रिय रहते और जिस परमात्मा
की गुद्ध ज्योति का अनुभव करते हैं उसको हमारा नमस्कार
हो, इसाहि अनेक श्रुपि स्मृत्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि योगी
पुरुषों को ही परमात्मा की निराकारता का यथार्थ अनुभव होता
है अन्यों को नहीं।

सं ० – अव परमात्मसासात्कार में आध्यासक्त कर्म की आध्यकता कथन करते हैं:—

प्रकाशादिवद्यावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्य-भ्यासात्।। २५॥

पद्द०-मकाञ्चादिनत् । च । अनैक्षेष्यं । मकाञाः । च । कर्षीण । अभ्यासात् ।

पका०-(च) और (प्रकाशादिनत्) प्रकाशादिकों की भाति (अवैशेष्यं) बद्धासाझात्कार में कोई विशेषता नहीं पाई जाती (च) और (प्रकाशः) परमात्मा का साझात्कार (क्रबीण) कर्ष में (अध्यासात्) अध्यास करने से होता है।

थाञ्य-जिसप्रकार किसी वस्तु के चिन्तन करने से उसका सत्व प्रकाशित होजाता है वैसे ही समाधि अवस्था में युनः २ अभ्यास करने से परमात्मा का यथार्थ अनुभव होता है। बायाबादियों का कथन है कि प्रकाशादिकों के समान उपाधिवश से परवात्मा ही जीवभाव को प्राप्त झेमया है अर्थात जैसे दीपादिकों का प्रकाश कमरे के भीतर त्रिकाण, चतुष्काण प्रतीत होता है बहु बृह की उपाधिसे है वस्तुतः नहीं इसी प्रकार अन्तःकरणद्रप उपाधि से शुद्ध ब्रह्म जीवभाव को प्राप्त हुए की भांति पतीत होता है पर वास्तव इप से शुद्ध है और जीवभावइप भ्रान्ति की निष्टिचि बेदान्तशास्त्र में अभ्यास करने से होती है, यह कथन इसिलिये ठीक नहीं कि " कर्मणि " पद से बेदान्तशास्त्र का ब्रहण नहीं और नाही उक्त अर्थ के ग्रहण में कोई प्रमाण वा युक्ति पाई जाती है यदि विचार कर देखाजाय तो यह स्वीच अद्वैतवादियों की स्वार्थपरता को बोधन करती है, इसका विस्तार "उपनिषदार्यभाष्य" में किये जाने से यहां आव-इयकता नहीं ॥

सं ० - अब निदिध्यासन इप कर्म के अभ्यास का फल कथन करते हैं:-

अतोऽनन्तेन तथाहिलिङ्गम् ॥२६॥

पद०-अतः । अनन्तेन । तथाहि । छिङ्गम् ।
पदा०-(अतः) जीव आवृत्तिक्षपं कर्म से (अनन्तेन) अनन्त

ब्रह्म के साथ मिल्लकर अपहतपाप्मीदि गुणों को धारण करता है

वेदान्ताय्यभाष्य

(हि.) क्योंकि (तथा, लिङ्गम्) शब्दममाण से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-" स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" छां० ८। ३। ४=जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त होकर अपने निजरूप से वर्त्तमान होता है अर्थाद परमात्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके स्वच्छन्द विचरता है, इत्यादि वाक्यों द्वारा जीव का अपूर्व सामर्थ्य पाये जाने से स्पष्ट है कि निदिध्यासनरूप कर्म ही मुक्ति का मुख्य साधन है अन्य नहीं।

सं०-अब ब्रह्म विषयक कारणाकारण प्रतिपादक वाक्यों के अविरोधार्थ "अहिकुण्डलाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:-

उमयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥२७॥

पद०-उभयव्यपदेशात् । तु । अहिकुण्डलवत् ।

पदा०-" तु" शब्द सिद्धान्तपक्ष के द्योतनार्थ आया है (अहिकुण्डळवत) सर्प के कुण्डल की भांति (उभयव्यपदेशात) दोनों प्रकारका व्यपदेश पाये जाने से उभयाविध वाक्यों में कोई विरोध नहीं।

भाष्य-कई एक वाक्यों में ब्रह्म को जगज्जनमादिकों का हेतु वर्णन किया है, जैसाकि " द्यावासुमी जनयन्देव एकः " यज्ञ० १७ । १७= छ, तथा पृथिवी आदि होकों का उत्पन्न करने वाह्य परमात्मा एक० है और "नतस्य कार्य्य करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते " क्षेता०

६। ९= न उसका कोई कार्य्य है न करण है और नाही कोई उसके सदृश शक्तिवाला है, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म विषयक कार-णता का निषेध पाये जाने से यह सन्देह उत्पन्न है कि ब्रह्म जगत का कारण है वा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि जिसशकार एक ही सर्प कुण्डलावस्था में संकुचित होने पर अपने सर्पत्वभाव का परित्याग नहीं करता इसी प्रकार ब्रह्म जगत्कर्त्तृत्वादि धर्मों का कभी परित्यागं नहीं करता, और जो "न तस्य कार्य" वाक्यें का विरोध दिया है वह इमिलिये ठीक नहीं कि उक्त वाक्य का तात्पर्य ब्रह्म की उपादानकारणता के निषेध में है निमित्त-कारता के निषेध में नहीं, यदि निमित्तकारणता के निषेध में होता तो "परास्य शक्तिविविधेव श्रूयते" इस वाक्यशेष से यह प्रतिपादन न कियाजाता कि विचित्रक्ष जगत को उत्पन्न करने वाली ब्रह्म शाक्ति अनेक प्रकार की है, इससे सिद्ध है कि ब्रह्म के कारणाकारण प्रतिपादक वाक्यों में विरोध नहीं।

सं ० - अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं: — प्रकाशाश्रयवद्या तेजस्त्वात् ॥ २८॥

पद०-प्रकाशाश्रयवत्। वा। तेजस्त्वात्।
पदा०-(वा) अथवा (तेजस्त्वात्) तेजस्वरूप होने से
(प्रकाशाश्रयवत्) प्रकाश के आश्रयभूत सूर्यादि पदार्थों की
भांति ब्रह्म के कर्तृत्वादि धर्मों का भेदाभेद है।

भाष्य-जैसे सूर्यं का प्रकाश सूर्यं से अत्यन्तियश्च नहीं और सूर्यं प्रभी नहीं इसीमकार ब्रह्मसम्बन्धी जगज्जन्यादि हेतु प्रभा ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं और ग्रुण होनें से स्वद्यं भी नहीं, इसिलिये ब्रह्मगत कर्तृत्वादि ग्रुण ब्रह्म से भिन्नाशिष्म होने के कारण उक्त वाक्यों में विरोध नहीं ॥

पूर्ववद्या॥ २९॥

पद्-पूर्ववत् । वा।

पदा०-(वा) अथवा (पूर्ववत्) पूर्व की भांति कर्षृत्वाहि अभी को ब्रह्म का स्वरूप मानने में कोई दोष नहीं।

भाष्य-जिसमकार "आह च तन्मात्रं" श्रं श्रं श्रं है। २। १६ में ज्ञानादि गुणों को ब्रह्म का स्वरूप माना है वैसे ही जगत्कर्तृत्वादि धर्म भी उस के स्वरूपभूत हैं इसिछचे कारणा-कारण मितपादक बाक्यों का कोई विरोध नहीं ॥

सं० अत्र उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

प्रतिषेधाच ॥ ३०॥

पद०-मतिषघात । च ।

पदा०-(च) और ब्रह्म में (मितिषेधात्) माक्कतथर्यी का मितिषेध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"अस्थूलमन्शवह्नस्वमदी घिम्"= ब्रह्म स्थूखादि माकृत धर्मों से रहित है, इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्म में शाक्षत धर्मों का निषेष और "सत्यंज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" इत्यादि वाक्वों में सत्वादि धर्मों का विधान पाये जाने से सिद्ध है कि आहिकुण्डब्रम्याय से ब्रह्म में कारणता तथा अकारणता दोनों शकार का न्यवहार होसक्ता है ॥

सं ० - अब ब्रह्म को सर्वोपरि कथन करने के छिये "परा-धिकरण" का प्रारम्भ करते हुए प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं:-

परमतः सेत्न्मानसम्बन्धभदव्यप-

पद्-परं। अतः। सेत्न्यानसम्बन्धभेद्व्यपदेशेभ्यः।
ृषद्दाः-(सेत्न्यानसम्बन्धभेद्व्यपदेशेभ्यः) सेतु, बन्मान,
सम्बन्ध तथा भेद का व्यपदेश पाये जाने के कारण(अतः) ज्ञस्य से (परं)परे कोई अन्य पदार्थ है।

भाष्य-पूर्व जो यह निर्धारण किया गया है कि जगत से परे एकमात्र चैतन्यस्वक्य ब्रह्मतल है, उसमें सन्देह होता है कि ब्रह्म से परे कोई अन्यतत्व है वा नहीं? इसमें पूर्वपक्षी का कथन है कि सेतु, उन्मान=माप, सम्बन्ध और भेद के पायेजाने से स्पष्ट है कि ब्रह्म से परे भी कोई और तत्व हे अर्थाद "य आत्मा स सेतु-विधृतिः" छां० ८। ४। २=सबका विधारक परमात्मा ही सेतु=जगत की मर्यादा है, या यों कहोकि जैसे सेतु=पुरू एक किनारे से दूसरे तट पर्यन्त पहुंचाने वाळा होता है वैसे ही परमात्मा जगत का सेतु है, इसप्रकार परमात्मा का कथन पाये जाने से स्पष्ट है कि इससे परे भी कोई और तत्व है जिसको मात्र होकर

ही पुरुष कृतार्थ होसक्ता है अन्यथा नहीं, इमीप्रकार उन्मान=
ब्रह्म को चतुष्पाद तथा षोडशकल कथन करना और
"परात्परं पुरुषसुपैति दिञ्यं " सु०३।२।८ इसादि वाक्यों
में जीव ब्रह्म का प्राप्यपापकभाव सम्बन्ध तथा उनका भेद
भी उक्त अर्थ का पोषक जानना चाहिये।

सं ० - अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:--

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

पद ०-सामान्याव । तु ।

पदा ०- "तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावित्त के लिये आया है, (सामान्याद) सामान्यधर्म के अभिनाय से ब्रह्म को सेतु कथन किया है, इसलिये कोई दोष नहीं।

भाष्य - छां० ८। ४। २ में जो ब्रह्म को जगत का सेतु = मर्यादारूप कथन किया है इसका अभिमाय यह है कि जिस मकार सेतु बांधने से नदी का जल मर्यादा के भीतर रहने से छिष भिन्न न होकर पूर्वोत्तर तट मदेशों का मध्वंसन नहीं करसक्ता इसीमकार जगत के विधारक परमात्मा की मर्यादा में रहने वाले सूर्यचन्द्रादि लोक संसारयात्रा के निर्वाहक बने रहते हैं, इसलिये सब लोक लोकान्तरों का विधारक सेतु सर्वोपिर ब्रह्म ही है उससे ऊपर अन्य कोई तत्व नहीं।

बुद्धयर्थः पादवत् ॥ ३३॥

पद०-बुद्धर्यः। पादवत्।

पदा०-(पादवत्) पादकल्पना (बुद्धचर्यः) परमात्मा का स्वरूप बोधन करने के लिये है।

भाष्य-" पादोऽस्य विश्वाभूतानि " यज्ञ ० ३१ । ३= सब भूत परमात्मा के एकपाद स्थानी हैं, इसादि मन्त्रों में जो पादकल्पना की गई है वह वस्तुतः ब्रह्म को उन्मान=चतुष्पाद कथन करने के अभिषाय से नहीं किन्तु केवल ब्रह्म के स्वरूप बोधनार्थ है, और दूसरी बात यह है कि:—

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४॥

'पद०-स्थानविशेषात् । प्रकाशादिवत् ।

पदा॰-(स्थानिवशेषात्) स्थानिवशेष के कारण (प्रका-शादिवत्) प्रकाशादिकों की भांति पादकल्पना होसक्ती है।

भाष्य—" चतुष्पाद ब्रह्म पोडशकलं"=चतुष्पाद ब्रह्म बोडश कला सम्पन्न है अर्थाद प्राची, प्रतीची, दक्षिणा तथा उदीची यह चारो दिशा ब्रह्म का एकपाद, प्रथिवी, अन्तिरक्ष, द्यो, समुद्र यह चारो दूसरा पाद, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युद यह तीमरा पाद और प्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा वाक् यह चतुर्थ पाद है, इस प्रकार सबका संकलन करने से ब्रह्म बोडशकल कहाता है मो उक्त रीति से ब्रह्म में पाद कल्पना सूर्योद प्रकाशक पदार्थों की भांति होती है वस्तुनः उसको परिच्लिक बोधन करने के अभिपाय नहीं, दूसरी बात यह है कि जिसपकार सूर्यं को करने के अभिपाय नहीं, दूसरी बात यह है कि जिसपकार सूर्यं को करने के अभिपाय नहीं, दूसरी बात यह है कि जिसपकार सूर्यं को को चन्द्र का प्रकाश कहाजाता है इसीप्रकार प्रकृतिस्थ सब

बेदान्तार्थ्य भाष्ये

१९६

कछाओं में न्यापक होने के कारण ब्रह्म "बोडवाकछ" कहाता है, इसछिये उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं ॥

उपपत्तश्च ॥ ३५॥

पद ०-डपपत्तेः। च।

वदा०-(च) और (उपपत्तेः) युक्ति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-जिसमकार एक रूपये के चार भाग कल्पना किये जाते हैं पर वास्तव में वह चार भाग उसमें नहीं होते केवल उसके बोधन के लिये भाग कल्पना है इसी मकार सब प्राक्ठत पदार्थों को उसका पादस्थानी बोधन करने के लिये पादकल्पना कीगई है वास्तव में नहीं ॥

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥ ३६॥

पद् -तथा । अन्यमतिषेषात् ।

पदा०-(तथा) वैसे ही (अन्यमतिषेधाद) ब्रह्म से भिन्न का मतिषेघ पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

आष्य-जो यह कहागया था कि "अक्षरात्परतः परः"=

ब्रह्म से परे भी कोई पदार्थ हैं, यह इसिक्रिये ठीक नहीं कि जसी

मकरण में ब्रह्म से भिन्न का मितिषेध कियागया है, जैसाकि

"यस्मात्परंनापरमस्तिकिश्चित्यस्मान्नाणीयोस्तिकश्चित्"

स्वे० १। ९=जिससे परे अन्य कोई नहीं और जो सर्वोपरि सूक्ष्म

से नक्ष्म तथा महान से महान है जसी ब्रह्म से सब संसार पूर्ण

है, इसाहि बाक्यों से स्पष्ट है. कि किमी पदार्य को ब्रह्म से परे यानना युक्ति शून्य होने के कारण आदरणीय नहीं।

सं०-नतु, उक्त वाक्य में ब्रह्म से भिन्न का निषेष पाये जाने के कार्ण अद्वेतवाद की आपीच होगी ? उत्तरः—

अनेन सर्वगतत्वमायामश्रव्दादिभ्यः ॥३७॥

पद्द ० – अनेन । सर्वगतत्वं । आयामशब्दादिभ्यः ।
पद्दा० – (अनेन) परापर निषेधक वाक्य द्वारा महा को
(सर्वगतत्वं) सर्वव्यापक कथन किया है, क्योंकि (आयामशब्दाहिभ्यः) व्याप्तिवोधक शब्दों से ऐना ही पाया जाता है ।

भाष्य-" युस्मात्परं" इत्यादि वाक्यों द्वारा जो ब्रह्म की अपेक्षा परापर का निषेध किया है वह ब्रह्म की पूर्णता को बोधन करता है, इसिछ्ये उक्त वाक्य द्वेतवाद का प्रतिषेधक नहीं होसका, इसी अभिपाय से छां० ३। १४। ३ में वर्णन किया है कि "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः"=ब्रह्म आकाश के स-

मान सर्वगत तथा नित्य है।

सं०-अब जीव के कर्मफल का विचार करने के किये

"फल्लाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:--

फलमत उपपत्तेः॥ ३८॥

पद०-फर्छ। अतः। उपपत्तेः।
पदा०-(फर्छ) शुभाश्चम कर्मों का फरूमदाता (अतः)
ईश्वर है, क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति से ऐसा ही पाया जाता है।

वेदान्तार्यभाष्ये

३९८

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-श्रुतात्वाच्च ॥ ३९॥

पद०-श्रुतत्वात्। च।

पदा॰ (च) और (श्रुतत्वात्) शब्दप्रमाण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—"सवाएष महानजआत्माऽन्नादोवसुदानः"
बृहदा०४।४।१४ क्रिक्नेपिरि विराजमान परमात्मा ही सबको
अन्न तथा धन देने वाला है. इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को ही
कर्मफलदाता मितपादन किया है, यहां "अन्न" तथा "धन"
शब्द से कर्मों का फल अभिनेत है अन्नादिमान नहीं।

सं ० - अब उक्त अर्थ में " जैमिनि " आचार्य का यत कथन करते हैं:---

धर्म जैमिनिरत एव ॥ ४०॥

पद०-धर्म । जैमिनिः । अतः । एव ।

पदा॰-(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य (अतः) परमात्मा से (एवं) ही (धर्म) कर्मफल मानते हैं।

सं - अव उक्त अर्थ में "वाद्रायण" का मत कथन करते हैं:-

पूर्वन्तु बादगयणो हेतुत्वव्यपदेशात् ॥४१॥

पद०-पूर्व । तु । वादरायणः । हेतुत्वब्यपदेशात् ।

पदा०-(वादरायणः) वादरायण आचार्य्य का कथन है कि (हेतुत्वच्यपदेशात्) धर्माधर्म के फल का निमित्त होने से (पूर्वे) परमात्मा ही कर्मफलदाता हैं। भाष्य—"तु" बाब्द मिद्धान्त की पुष्टि के लिये आया है,
बादरायणाचार्य्य का कथन है कि वैदिककर्मकाण्ड के अनुष्टान
द्वारा छत्पन्न हुआ संस्कार्यवक्षेप जड़ होने से फल देने में
असमर्थ है, इसलिये उनके अधिष्टाता परमात्मा को ही कर्मानुसार फलदाता मानना समीचीन है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन
"न्यायार्यभाष्य "में किये जाने से यहां विस्तार की
आवत्रुयक्ता नहीं।

स्मरण रहे कि उक्त फलाधिकरण की सङ्गति मायावादियों के याज्य से सर्वथा असङ्गत है, क्यों कि जहां "तथा उन्यप्रतिषेधात्" ब्र॰ है । २। ३६ इम अधिकरण द्वारा ब्रह्म से **भिज** सब पदार्थों का निषेध किया है नहां कई एक उपनिषदों की मतीक देकर स्वामी शं० चा० ने यह छिखा है कि "इत्येव-मादि वाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यन्यार्थत्वेन परिणेत-मद्याक्यमानानि ब्रह्मव्यतिरिक्तंवस्त्वन्तरं वारयन्ति " ब्र० सु० ३।२। २६ शं० भा०= "अत्मैवेदं सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन्" इत्यादि वाक्य अपने मकरण में स्थित होने से अन्यार्थ के प्रतिपादक नहीं किन्तु ब्रह्म से भिन्न अन्य पदार्थ के निषेषक हैं इस प्रकार जद यहां स्वामी बां० चा० के मत में सूत्रकार ने सब पदाओं का निषेध करके एक ब्रह्म ही मतिपादन किया है फिर फल्लमदाता ईश्वर और फलभोक्ता जीव कहां से आया। बाचस्पतिमिश्र ने इस फलाधिकरण की सङ्गति यों लगाई है कि जो नित्य शुद्धं बुद्धं मुक्तस्वभाव ब्रह्म है उसमें ईश्वरत्व और फछ का हेतु होना नही बनसक्ता परन्तु फिर भी ख्रह्म में व्यावहारिक ईश हिक्षितव्यादि विभागावस्था का आश्रयण करके फल का वर्णन किया है अर्थाद जीव ईश्वर सब आविद्यक हैं, इसिंख्ये आविद्यावस्था में यह "फलाधिकरण" है ब्रह्म के परमार्थक्य का आश्रयण करके यहां उक्त अधिकरण का आरम्भ नहीं किया गया।

इस कि ह करपना से भी पायाबादियों की इष्टिसिंद नहीं होती, क्योंकि इस अधिकरण के किसी सूत्र में भी अविद्या का वर्णन नहीं किया गया और नाही कहीं पाया का नाम आया है प्रत्युत जिपिनि तथा व्यास के पतानुसार ईश्वर को फलदाता कथन किये जाने से स्पष्ट है कि यहां पायाबाद का गन्ध भी नहीं।

इति दितीयःपादः समाप्तः



ALIEN SET TO SEE THE TRUE OF THE SET OF THE SET

अथ तृतीयःपादः प्रारम्यते

सं०-द्वितीयपाद में जीव की मुष्ति आदि अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक निरूपण करते हुए ब्रह्म को निराकार सिद्ध किया अब उपासनाविषयक भिन्न २ मकरणस्थ वाक्यों की एकवाक्यता बोषन करने के छिये इस पाद का पारम्भ करते हैं:—

स्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्।।१॥

पद् ० - सर्ववेदान्तप्रत्ययं । चोदनाद्यविशेषाद ।
पदा० - (चोदनाद्यविशेषाद) उपासनाविधि की विशेषता न
पाये जाने के कारण (सर्ववेदान्तप्रत्ययं) सब वेदान्तों में एक

श्रकार का ही विज्ञान पाया जाता है।

भाष्य—"यो ह वे ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद" छां० ५।१।१ बृहदा०६।१।१=जो ब्रह्म को ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ जानता है वह अपने सम्बन्धीवर्ग में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है, इत्यादि वाक्यों में वेद, ज्यासीत तथा विद्याद आदि एकार्थवाची कियाओं के पाये जाने से स्पष्ट है कि वेदान्तशास्त्र में सर्वत्र एक ही परमात्मा की ज्यासना का विधान है अनेक देवताओं की ज्यासना का नहीं।

सं ०-अब उक्त अर्थ में शङ्कापूर्वक समाधान करते हैं:--

भदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥२॥

पद०-भेदात । न । इति । चेत । न । एकस्यां । आपि ।
पदा०-(भेदात) रूप का भेद पाये जाने के कारण
उपासना का अभेद (न) नहीं होसक्ता (चेत) यदि (इति)

ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, च्योंकि (अपि) निश्चयकरके (एकस्यां) एक विद्या में रूप का भेद नहीं होसक्ता।

भाष्य-बृहदारण्यकोपनिषद् में पश्चाभिनिद्या का प्रकरण चलाकर जो "त्रस्यामिरेवाभिः " बृहदा० ६ । २ । १४ = उस मृतपुरुष की आह्वनीय अभि ही अभि है, इसप्रकार आहवनीयाभि को षष्ठाभि लिखा है और छांदोग्य में केवल पांच ही अभियों का वर्णन किया है, इत्यादि रूप का भेद होने से उपासना का भेद है, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि ग्रण = रूप का भेद औपनिषद उपासना का भेदक नहीं होसका, क्योंकि छांदोग्य की पश्चाभि विद्या में बृहदारण्यकीय षष्ठाभि का उपसंहार किया जाता है, इसमकार ग्रण की एकता होने से औपनिषद विज्ञान में कोई विरोध नहीं।

सं ० ननु, मुं० ३ । २ । ११ में शिरोव्रतियों के लिये विद्याबिद्या का अधिकार मितपादन किया है दूसरों के लिये नहीं, इसिक्ये विद्याभेद मानना ही ठीक है ? उत्तरः—

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच सववच तन्नियमः ॥ ३॥

पद् ०-स्वाध्यायस्य । तथात्वेन । हि । समाचारे । अधिकाराव । च । सवंवद । च । तन्नियमः ।

पदा०-(स्वाध्यायस्य) स्वाध्याय (तथात्वेन) शिरोब्रत कर्म का अङ्गी होने (च) और (समाचारे) समाचारनामक

तृतीयाध्याये-तृतीयः पादः

व्रतबोधक वाक्य में (अधिकारात्) उक्त व्रत वाळों का अधिकार पाये जाने से शिरोव्रत नामक कर्म विद्या=औपनिषद विद्वान का अङ्गनहीं (च) और (तिव्ययमः) उक्त नियम को (सववत्) सब की भांति मानने में कोई दोष नहीं।

भाष्य—"तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत् शिरोब्रतं विधिवदयेस्त चीर्णं, नैतदचीर्णब्रतोऽधीते " मुं० ३। २। ११=विधिपूर्वक शिरोब्रत धारण करने वालों के मित इस ब्रह्मविद्याका उपदेश करे और जिसने उक्त ब्रारणनहीं किया वह इस विद्या का अधिकारी नहीं, इस वाक्य से जो ब्रह्मविद्या का अधिकार शिरोब्रतियों के लिये कथन किया है वह इसिक्छिये ठीक नहीं कि उक्त ब्रत केवल स्वाध्याय—अध्ययनमात्र कर्म का अक्त है ब्रह्मविद्या का नहीं अर्थात जिसमकार सूर्ट्यादि श्रतीदनपर्यन्त सात "सव" नामक होयों का अधिकार अर्थवशाखावालों के लिये है अन्य शाखावालों के नहीं, इसी मकार उक्त ब्रतक्प कर्म का नियम केवल अध्ययन का अक्त है, इसिक्ष्ये उक्त वाक्य ब्रह्मविद्या के भेद का साधन नहीं होसक्ता।

दशयति च॥ ४॥

पद०-दर्शयति।च।
पदा०-(च)और (दर्शयति) शास्त्र में ब्रह्मविद्या के
एक होने का ही प्रतिपादन किया है।
भाष्य-"तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

EOS

Yek .

बेह्यास्वार्यभाष्ये

करः २। १५=सब वेद जिसके स्त्रक्य को एकरस वर्णन करते हैं जसका जपदेश में तेरे प्रति संक्षेप से करता हूं कि वह खोश्य पद बाष्य ब्रह्म है, इसप्रकार जब ब्रह्मविद्या के सब साधन जसी निस युद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म की प्राप्ति के लिये वर्णन किये गये हैं तो फिर विद्याभेद मानकर वेद्य ब्रह्म का भेद कैसे संगत होसक्ता है।

> सं - अव वक्त विचार का मयोजन कथन करते हैं :— उपसंहारोऽर्था भेदादिधिशेषवत् समाने च ॥ ५॥

पद०-उपसंहारः । अर्थाभेदात। विधिशेषवत् । समाने । च । पदा०-(समाने) विद्या के समान होने पर (अर्थाभेदातः) अर्थ का भेद न पायेजाने से (विधिशेषवत्) विधिशेष की मांति (उपसंहारः) गुणों का उपसंहार होता है।

भाष्य-जिसमकार अग्निहोत्र कर्म सब शाखाओं में एक होने पर भी उसके शेष अङ्गों का शाखान्तरों में उपसंहार किया जाता है इसी प्रकार एक ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के छिये भिज २ शाखा प्रतिपादित उपासनाओं में गुणों का उपसंहार होसक्ता है, क्योंकि सबका परमात्मझानक्ष्य प्रयोजन समान है।

सं०-अव उक्त अर्थ का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:-अन्यथात्वं शब्द।दितिचेन्नाविशेषात् ॥६॥ पद०-अन्ययातं। अन्याद। इति। चेद। न। अविशेषाद!

त्रविष्याये-तृतीयःपादः

पदा०-(शब्दात्) शब्दभेद होने से (अन्यथात्वं) विद्या का भेद पाया जाता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अविशेषात्) वस्तुतः वेद्य के स्वरूप में कोई विशेषता नहीं।

भाष्य-" तेहदेवाऊचुईन्तासुराच् यज्ञे उद्गीये ना-त्ययामिति " बृहदा० ३।१। ३=देवताओं ने कहा कि इम सब मिछकर उद्गीथ द्वारा अमुरों का नाश करेंगे, इसादि वाक्यों में प्राण को उद्गीय का कत्तां कथन किया है, और "तद्ध देवा उद्गीथमाजर्द्धः " छान्दो० १।२।१=उन देवताओं ने माण को उद्गाता बनाया, इत्यादि वाक्यों में ओड्झारदृष्टि से माण की उपासना कथन की है, इस मकार दोनों शाखाओं में विद्या का भेद पाये जाने से वेद्य का भेद मानना ही ठीक है, इसका उत्तर यह है कि किञ्चित प्रियाभेद होने से वस्तुतः विद्या का भेद नहीं होसक्ता, क्योंकि शेष बातें दोनों शाखाओं में समान पाई जाती हैं, जैसाकि देवासुरसंग्राम, वागादि इन्द्रियों का स्वार्थिसिद्धि के छिये अपने २ विषयों में प्रवृत्त होना और उन की निन्दा करके मुख्यमाण को सब का उपकारी कथन करना, इसादि, इससे सिद्ध है कि विद्या का अभेद मानना ही ठीक है भेद नहीं,इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदार्यभाष्य" में किये जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ॥ सं ०-अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :-

808

वेदान्तांर्यभाष्ये

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वा-दिवत् ॥ ७॥

पद०-न। वा। प्रकरणभेदात । परोवरीयस्त्वादिवत ।
पदा०-(प्रकरणभेदात) प्रकरणभेद होने पर (वा) भी
(परोवरीयस्त्वादिवत) परोवरीयस्त्वादि गुणों की भांति विद्याभेद (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य - छन्दोग्योपनिषद् के उपक्रम में जो उद्गीथ की अक्षरह्मप से उपासना वर्णन करते हुए आगे उसी उपासना को भणवह्मपत्नेन विधान किया है और बृहदारण्यक में उद्गाता को भणव उपासना का कर्चा कथन किया है, इसादि भेदों से विद्या भेद इसिछये नहीं कि उभयत्र परोवरीयस्त्व = सब से बड़ा और श्रेष्ठ एक ही परमात्मा उपास्यदेव मानागया है भिन्न २ नहीं।

सं० - नतु, कठ, छान्दोग्य आदि भिन्न २ संज्ञा से और एक बाखा में उद्गीय के अवयवभूत प्रणव तथा आदिस पुरुष में परमात्मदृष्टि का विधान पाये जाने से विद्याभेद होसक्ता है ? उत्तर :—

संज्ञातरचेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥८॥

पद०-संज्ञातः । चेव । तव । उक्तं । अस्ति । तु । तव । अपि ।

पदा०-(चेत्) यदि (संज्ञातः) संज्ञा से विद्या का भेद मानें तो ठीक नहीं, क्योंकि (तत्, उक्तं) इसका उत्तर प्रथमसूत्र

त्तीयाध्याये-तृतीयःपादः

809

में कथन कर आये हैं (तु) और आदित्य पुरुष में (तत्, अपि) संज्ञा भी एक ही (अस्ति) पाई जाती है।

भाष्य-जो कठ आदि संग्राभेद से विद्या का भेद कथन किया है वह इसिछिय ठीक नहीं कि उपास्य ब्रह्म सर्वत्र एक है, जैसािक इसी पाद के प्रथमसूत्र में प्रतिपादन कर आये हैं, और दूसरी बात यह है कि आदित्य पुरुष और उद्गीयोपासना में क्रेय ब्रह्म की संज्ञा भी एक ही कथन की गई है, जैसािक "ओमित्येतदक्षरमुद्गीधमुपासीत" छां० १ । १ । १= ओक्कारपदवाच्य अक्षर ब्रह्म की उद्गीयद्भव से उपासना करे, और "य एषे। ५ नत्रादित्ये हिरणम्य पुरुषः" छां० १ । ६ । १ = आदित्य मंडल में जो हिरणम्य पुरुषः " छां० १ । ६ । १ = आदित्य मंडल में जो हिरणम्य पुरुषः " छां० १ । ६ । १ = आदित्य मंडल में जो हिरणम्य पुरुषः वही स्वयंप्रकाश ब्रह्म है, इसप्रकार उभयत्र उपासना में ब्रह्मदूष एक ही संज्ञा पाये जाने से सिद्ध है कि विद्या का अभेद है भेद नहीं।

सं ० - नतु, उक्त दोनों उपासनाओं में उद्गीथ तथा आदित्य मतीकद्भप होने से मतीकोपासना की सिद्धि होती है ब्रह्मोपासना की नहीं ? उत्तरः —

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥९॥

पद०-व्याप्तेः । च । समझसम् । पदा०-(व्याप्तेः) व्याप्ति के पाये जाने से (समझसं) ब्रह्मोपासना ही ठीक है प्रतीकोपासना नहीं।

भाष्य-" च " शब्द " तु " के अर्थ को बोधन करता हुआ

शक्का की व्यादित्ति के लिये आया है, छां० १।१।१ में वर्णन किये हुए उद्गीय को और छां ०१।६। ३ में आदित्य मण्डलस्थ हिरण्यय पुरुष को प्रतीक रूप कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि सब अनुवाकों तथा सब ऋचाओं, में ओंकार की व्यापकता पाँचे जाने के कारण उद्रीथरूप से ब्रह्म की ही उपासना कथन कीगई है, और जो आदित्य पुरुष द्वारा उपासना विधान की है वह भी ज्याप्ति के अभिमाय से है अर्थाद सूर्य्यमण्डल के अन्तर्गत बह परमात्मा है और सूर्यमण्डल का जो रिक्ष्मिपुक्ष है वह उसका इपश्रुस्थानी है, अधिक क्या वह नखिशाख पर्य्यन्त सारां ही सुवर्णमय स्वयंप्रकाश है, इमी अभिपाय से यज्जु० ३१। १८ में वर्णन किया गया है कि "वेदाहमेतंपुरुषंमहान्तमादि-त्यवर्णतमसः परस्तात् "=अविद्या से राहत, स्वयंत्रकाश, महान् तथा सर्वव्यापक ब्रह्म को जानकर ही पुरुष अमृत को माप्त होता है, इस प्रकार अविद्याद्भप तम से पृथक् होने के कारण परमात्मा को "आदित्यवर्ण" कहा गया है, इससे सिख है कि उक्त दोनों उपासनाओं में मतीकोपासना अभिमेत नहीं किन्तु ब्रह्मोपासना ही अभिमेत है।

स्वा॰ रामनुज तथा स्वा॰ शंकराचार्यजी ने जो उक्त तीनों सूत्रों को विद्याभेद में लगाया है सो ठीक नहीं, क्यों-कि ऐसा लापन करने से "सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण" के साथ कोई सङ्गति नहीं रहती, और स्वा॰ शं॰ चा॰ जी का यह कथन कि "उद्गीयमुपासीतेति ०" इस वाक्य में उद्गीय का ब्रह्म

तृतीयाध्याये कृतीयः वादः

808

के साथ जो समानाधिकरण है उसमें अध्यास, अपावद, प्कस्य तथा विशेष्यिशिशियमात्र से चार पस हैं, प्रतिमा में विष्णु बुद्धि की भांति उद्गीय में असर बुद्धि का नाम "अध्यास" रज्जुसपीदि भ्रान्ति स्थलों में अधिष्ठानज्ञान से कल्पित के बाध का नाम "अपवाद" द्विजोत्तम ब्राह्मणादि एकार्थवाची अन्दों की भांति असर और उद्गीय शब्द का अर्थभेद न होना "एकत्व" और नील वर्ण वाला कमल है, इत्यादि वाक्यों में कमलादि के साथ नीलादि के सम्बन्ध का नाम "विशेष्य-विशेषण" भाव है, उक्त उद्गीय उपासना विधायक वाक्यों में प्रथम तीनों पस न बनसकने के कारण उद्गीय तथा मणव का विशेष्यविशेषण भाव मानाना ही ठीक है अर्थाद "ओ रेम " असर कप विशेषण वाला ब्रह्म ही उपास्य है।

स्मरण रहे कि निर्विशेष ब्रह्मवादी खा॰ शंकराचार्यजी
ने उक्त पक्षचतुष्ट्रय का वर्णन करते हुए मूर्तिपूजा को अध्यास
रूप कथन करने से स्पष्ट करीदया कि यह यथार्थह्मान नहीं,
और जब ऐसा है तो फिर नजाने किस साहस से मूर्तिपूजक जह
पाषाणादि मितमाओं के पूजन द्वारा अपने आत्मा की पवित्रता
मानते हैं, क्या कभी अविद्या से भी आत्मा की पवित्रता होती है
कदापिनहीं, यह इनका कर्तव्य शास्त्र के आश्य से सर्वथा विरुद्ध है,
क्योंकि "विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिक्षीनेन शुद्धयित"
मनु० ५१०९=विद्या, तपसे आत्मा तथा हान=विचारद्वारा दुद्धि

पित्र होती है, इसादि वाक्यों में विद्या को आत्मा का पित्र करने बाला माना है, दूसरी बात यह है कि जो "तक्त्वमिस " यहा- बाक्य में बाधादि तीन पर्सों को छोड़ कर एकत्व मितपादन किया है वह इसिल्ये ठीक नहीं कि उक्त पक्ष की भांति उद्गीथोपास्ति विधायक वाक्य में भी एकत्वपक्ष का अङ्गीकार क्यों नहीं ? यदि यह कहाजाय कि उद्गीथ से ब्रह्म की एकता में दृष्टितरोध है इसिल्ये इस वाक्य में एकत्वं पक्ष छोड़ कर विशेष्यित्रशिषणभाव का स्वीकार किया है ? इसका उत्तर यह है कि जिसप्रकार उक्त महावाक्य में लक्षणाद्वारा विरोध का परिहार मानते हो इसी मकार उद्गीथवाक्य में लक्षणाद्वारा विरोध का परिहार मानते हो इसी मकार उद्गीथवाक्य में लक्षणा का आश्रयण करके विरोधपरिहार क्यों नहीं करलेते, इस मकार तर्क से तुळना करने पर मायावाद कदलीस्तम्भवद निस्सार प्रतीत होता है।

सार यह है कि जिसमकार " उद्गीथमुपासीत" इस वाक्य में उद्गीथ का अक्षर ब्रह्म के साथ विशेष्यविशेषणभाव है इसी प्रकार "तत्त्वमित" आदि वाक्यों में विशेष्यविशेषणभाव मानकर यह अर्थ सिद्ध होता है कि हे श्वेतकेतो! तू उस परमात्मा वाला है अर्थात "तत " पद विशेषण और " त्वं " पद विशेष्य है, ऐसा अर्थ करने से उक्त वाक्य में अद्वैतवाद का गन्ध भी प्रतीत नहीं होता और नाही किसी प्रकार के वाक्यार्थ का अनु-पपित्त इप दोप आता है, इसका विस्तारपूर्वक निक्पण " उपनिषदार्यभाष्य " में किये जाने से यहां पुनरुष्ठेख की आवश्यकता नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

सं०-अब सर्वशाखागत माणाविद्या में वासिष्ठत्वादि गुणों का जपसंहार करते हैं:—

सर्वामेदादन्यत्रेमे ॥ १०॥

पद०-सर्वाभेदात् । अन्यत्र । इमे ।

पदा॰ - (सर्वाभेदात्) सर्वत्र प्राणविद्या का अभेद होने से (अन्यत्र) अन्य शास्त्राओं में भी (इमे) वसिष्ठत्वादि गुणों का उपसंहार होता है।

भव्य-उपनिषदों में माणितिया की एकता इस प्रकार पाई जाती है कि इन्द्रियों का प्रजापित के पास जाना, अपनीर श्रेष्ठता का अभिपान करना, एक र इन्द्रिय के निकलने पर भी श्रिर रहना और मुख्यपाण के निकलने ही शरीर का शबक्ष होजाना, इत्यादि गुण सर्वत्र समान पाये जाने के कारण "बृहदारण्यक" तथा "छन्दोग्य" गत प्राणितिया प्रकरण में पढ़े हुए विसष्ठत्वादि गुणों का कौषीतकी २। १४ के प्रकरण में भी जपसंहार होता है, क्यों कि मर्वत्र प्राण के श्रेष्ठताक्ष प्रयोजन को बोधन करने के लिये एक ही प्राणिविद्या का विधान है, इसका विस्तार पूर्वक वर्णन "उपनिषदार्थभाष्य" के द्वितीयभाग में कियागया है विशेष।भिलाषी वहां देखलें।

सं ० - अब ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों का कथन करते हैं :-

आनन्दाद्यःप्रधानस्य॥११॥

षद् ०-आनन्दाद्यः । प्रधानस्य । पदा०-(आनन्दादयः) आनन्दादि गुण (प्रधानस्य) ब्रह्म के धर्म हैं।

भाष्य-" आनन्दं ब्रह्मणो विद्यान विभेति छ-तर्चन "ते०२। ८=ब्रह्मानन्द का अनुभव करके ही योगी जन्म मरण के भय से रहित होजाते हैं, इसादि वाक्यों में वर्णन किये हुए आनन्दादि गुण ब्रह्म के धर्म हैं जीव वा मक्कति के नहीं, यदि उक्त धर्म ब्रह्म से भिन्न जीवादिकों के होते तो "ब्रह्मा नन्द को अनुभव करके अभय पद को पाप्त होता है" ऐसा कदापि वर्णन न किया जाता पर किया है,इससे सिद्ध है कि आनन्दादि गुणों को ब्रह्म का धर्म मानना ही समीचीन है।

सं०-ननु, तैत्ति०२।५।१ में कथन किये दूए पिय मोदादि आनन्दिविशेष जीव के धर्म होने से जीव ईश्वर का अभेद है भेद नहीं ? उत्तर :--

प्रियशिरस्त्वा**द्यप्राप्तिरुपचयापचयौ** हि मेदे ॥ १२॥

पद् -- मियशिरस्त्वाद्यमाप्तिः। उपचयापचयौ । हि । भेदे । पदा०-(प्रियाश्वरस्त्वाद्यपाप्तिः) प्रियश्वरस्त्वादि धर्मौ के कथन से जीव ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता (हि) क्योंकि (भेदे) भेद होने पर ही (उपचयापचयौ) जीव के उक्त मोदादि घमों का दृद्धि हास होसका हैं अन्यथा नहीं।

भाष्य-तस्य प्रियमेव शिरःमोदो दक्षिणः पक्षः "
तैंति० २ । ५ । १ = जीव का प्रिय शिर तथा मोद रूप आनन्दविशेष दक्षिण पक्ष है, इसादि जीवगत विकारी धर्मों के वर्णन
करमें से सिद्ध है कि उपनिषत्कार को जीव ईन्दर का अमेद
अभिमेत नहीं, यदि जीव की कितपय आनन्दात्मक द्यत्तियों
से अमेद अभिमेत होता तो उक्त वाक्यमें पष्टी विभक्ति का प्रयोग
न किया जाता और नाही "रस्क होवायं लब्ध्वा आनन्दी
भवति " तैत्ति० २ । ७ । ७ = ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर जीव
आनन्दवाला होता है, यह प्रतिपादन किया जाता पर ब्रह्मानन्द
से जीव का आनन्द वाला होना इस बात को सिद्ध करता है कि
जिसके आनन्द से जीव आनन्दवाला होता है वह जीव से भिन्न है,
इसल्बिये जीव को आनन्दस्वरूप मानना ठीक नहीं।

सं ० - प्रासिक्त जीव ब्रह्म का भेद कथन करके अब पूर्व प्रकृत गुणे।पसंहार का वर्णन करते हैं:--

इतरेत्वर्थसामान्यात् ॥ १३॥

पद०-इतरे । तु । अर्थसामान्यात ।

1

पदा॰ - "तु" शब्द सिद्धान्त की हड़ता के छिये आया है (अर्थमामान्यात) अर्थ की समानता पाये जाने से (इतरे) अस्यू छत्वादि धर्मों का भी अन्य शाखाओं में उपसहार होता है।

भाष्य-जिन शासाओं में ब्रह्मसम्बन्धी अस्यूलत्वादिषमीं का वर्णन नहीं किया उन सबकी एकवाक्यता के छिये उक्त

धमों का उपसहार होता है, क्यों कि सब बाखाओं में उपास्य ब्रह्मक्ष अर्थ की समानता पाई जाती है, यही रीति बेच गुणों के उपसहार में भी जाननी चाहिये।

स०-अब परमात्मा की स्रूक्ष्मता वर्णन करने के लिये "आ-ध्यानाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

आध्यानायप्रयोजनामावात् ॥१४॥

पद्-आध्यानाय । प्रयोजनाभावात् ।

पदा०-(प्रयोजनाभावात) इन्द्रियों की स्रक्ष्मता में प्रयोजन न पाये जाने के कारण (आध्यानाय) परमात्मा के यथार्थ ज्ञानार्थ उत्तरोत्तर स्रक्ष्मता का वर्णन किया है।

भाष्य-" इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः " कठ०३। १० =
भौतिक इन्द्रियों की अपेक्षा उनके शब्दादि विषय उनसे पन, पन से
बुद्धि और बुद्धि से महत्तत्व सूक्ष्म है, इत्यादि वाक्यों में जो इस मकार
उत्तरोत्तर सूक्ष्मता कथन करते हुए परमात्मा को सबकी पराकाष्ठा
वर्णन किया है उसका अभिमाय इन्द्रियों की सूक्ष्मता में नहीं किन्तु
परमात्मा के यथार्थज्ञान के लिये उनकी सूक्ष्मता बोधन की गई है
अर्थाव "सा काष्ठा सा परागतिः " इम वाक्यशेष से परम-

सूक्ष्म परमात्मा ही सबका आधार अभिषेत है अन्य नहीं। सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

आत्मशब्दाच ॥१५॥

पद् ०-आत्मशब्दात् । च ।

पदा०-(च) और (आत्मशब्दात्) आत्मशब्द से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-" एष सर्वेषु भूतेषु गृदात्मा न प्रकाशते।

हश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदिशिभिः "
कठ०१२। ३=सब भूतों में व्यापक परमात्मापरमञ्जूष्म है और वह
स्यूलबुद्धि का विषय नहीं किन्तु मूक्ष्मदिश्चीं ही निर्दिष्यासनद्वारा
निर्मल हुई बुद्धि में उसको देखते हैं, इम श्रुतिवाक्यगत "आत्मा"

बाब्द भी इसी अर्थ का साधक है कि परमात्मा सर्वोपिर सूक्ष्म
और सबकी पराकाष्ठा है इन्द्रियादिक नहीं।

सं ० - ननु, ऐत ० १।१।१ से अद्वेतवाद की सिद्धि होती है ? उत्तरः —

आत्मगृहीतिंरितरवदुत्तरात् ॥ १६॥

पद् ०-आत्मगृहीतिः । इतरवद् । उत्तराद् ।

पदा॰ – (इतरवत) अन्य वाक्यों की भांति (आत्मगृहीतिः)
परमात्मा का भेदपूर्वक ग्रहण है, क्यों कि (उत्तरात्) उत्तर
वाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य- "आत्मा वा इदमक एवाप्र आसीत्" पे॰ १।१।१= स्टिष्टि के पूर्व एक ब्रह्म ही था,इस वाक्य से अद्वैतवाद की सिद्धि कथन करना इसिल्ये ठीक कि "स इमांलोकान- सृजत "=डसी परमात्मा ने भूरादि छोकों को उत्पन्न किया, इस्यादि उत्तर वाक्यों से रचना और रचियता का भेद पाया जाता है, यदि यहां उपनिषदकार को मायाबाद इष्ट होता तो भूरादि छोकों की छिट्ट का वर्णन करते हुए ख्रष्टा को उनसे पृथक् प्रति-षादन न करते, पर किया है, इससे छिद्ध है कि उक्त वाक्य में परमात्मा को एक कथन करना उसके सजातीय भेद का वाक्क है विजातीय प्रकृति आदि पदार्थमम्बन्धी भेद का नहीं।

सं ० - अब बक्त अर्थ को अन्य मकार से स्पष्ट करते हैं: — अन्वयादितिचेत्स्यादवधारणात् ॥ १ १ ॥

पद ०-अन्वयात्। इति। चेत्। स्यात्। अवधारणात्।

पदा॰—(अन्वयाद) अग्नि आदिकार्यों में ब्रह्म का अन्वय पाये जाने से वही जगत का उपादान कारण है (चेद) बदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि (अवधारणाद, स्याद) उपसंहार में उपास्यउपासकभाव से भेद वर्णन किया गया है।

भाष्य-अग्नि आदि कार्यों में ज़हा का अन्वय=सम्बन्ध विशेष पाये जाने से वही जगत का जपादानकारण है इसिल्ये एक बहाबाद में कोई दोष नहीं ? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म का अग्न्यादि कार्यों में ज्यापक होने के अभिनाय से अन्वय कथन कियागया है जपादानकारणता के अभिनाय से नहीं, इसरी बात यह है कि "कों ऽयमात्मिति वयसुपास्मेह"

ऐत॰ ६। १ = वह कौन आत्मा है जिसकी हम उपासना करें, इत्यादिं वाक्यों में उपास्य उपासक का स्पष्टतया भेद है, यदि जीव ब्रह्म का अभेद होता तों उक्त वाक्य में "उपास्महे" पद का प्रयोग न किया जाता पर किया गया है, इससे सिद्ध है कि भेदमें उपासमा सक्त होने के कारण अभेदवाद समीचीन नहीं।

और जो स्वामी "शङ्कराचार्य" ने "अवधारण"
पद के अर्थ से "तत्त्वमिसि" का सम्बन्ध दिखछाकर एकात्मवाद की सिद्धि की है वह इसिछये ठीक नहीं कि
"स्वर्गे लोके सर्वी-कामानाप्ताऽमृतः समभवत्"
ऐत० ५। ४=स्वर्गछोक में सब कामनाओं को माप्त होकर अपृत
होता है, इस वाक्य में जिस अमृत पद की प्राप्ति कथन की है
जसका प्राप्त करने वाला जीव ब्रह्म से भिन्न है, इसप्रकार उक्त
वाक्य के स्पष्ट अर्थ को छिपाकर अद्वैतवाद को सम्बन करना
मायावादियों का साहसमात्र है।

सं ० – अब बैदिक छोगों के भोजन में आवमनिषि की अपूर्वता कथन करते हैं: —

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥१८॥

पद् ०-कार्याख्यानात् । अपूर्वम् ।

पदा०-(कार्याख्यानात) आचयनविधि के पाये जाने से (अपूर्वम) जलपूर्वक भोजन करने में अपूर्वता है। भाष्य-प्राकृत लोगों के समान इस्तपादादि प्रशासन न

करके योजन करना इसिलये ठीक नहीं कि भोजनकाल वें आचमनादि की वर्यादा शिष्ट लोगों की परम्परा से चली आई है, जैमाकि शास्त्र में विधान किया है कि "तस्माद्धा एतद-दिाच्यन्तपुरस्ताचोपरिष्टाचाद्भिःपरिद्धाति" छां० ५। २।२=शिष्ट लोग योजन के मारम्भ तथा समाप्ति में अन्न का जलक्ष वस्त्र से आच्छादन करते हैं, इसमकार योजनकाल में आचमन करना शिष्टपर्यादा है जिमका पालन करना आर्यमात्र का कर्त्वन्य है।

सं ० - अब मकारान्तर से गुणोपसंहार कथन करते हैं:--. समानएवश्चाभेदात् ॥ १९॥

पद्-समाने । एवं । च । अभेदात् ।

पदा०-(समाने) एक भाखा में (च) भी (अभेदात्) विद्या का अभेद पाये जाने से (एवं) इसमकार गुणों का उपसंहार होसका है।

भाष्य-बाजमनेयी शाखा के अग्निरहस्य मकरण में शाण्डस्थनामक उपासना का इममकार वर्णन किया है कि "स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशारीरं भारूपम्"=मनोमय
माणश्रीर आत्मा की उपासना करे, फिर इसी शाखा के ट्रदारण्यक में कथन किया है कि:—

"मनोमयोऽयंपुरुषो भाःसत्यस्तिसम्भन्तर्हृदय यथा ब्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः

तृतीयाध्याये-तृतीयः पादः

सर्वमिदं प्रशास्ति " बृहदा० ५।६।१

अर्थ-मनामय, द्वयंगकाश पुरुष हृदय के भीतर व्यापक हैं जो बीहि तथा यन की भांति सुक्ष्म और सब हा नियन्ता है, इसमकार एक शाखान्तर्गत भिन्न २ प्रकरणस्य प्राप्यश्चरीरत्नादि षयों का उपंत्रहार करना ठीक नहीं ? इस सन्देह की निष्टात इसनकार कीगई है कि एक ही उपास्य ब्रह्म का उपदेश पाये जाने से एक शालागत गुणों के परस्पर उपसंदार करने में कोई बाधा नहीं।

, स्मरण रहे कि जिसनकार कठ० २। १। १२ में परमात्मा को स्रूक्ष्म होने के अभिमाय से अंगुष्टमात्र कथन किया है इसी यकार परमात्मा की सुक्ष्मता बोधन करने के छिये उक्त वाक्य में ब्रीहि तथा यव का रष्टान्त दिया है परिच्छित होने के आभ-त्राय से नहीं।

सं०-अव उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:--

सम्बन्धादेवमन्यत्रापिं॥२०॥

पद०-सम्बन्धात्। एवं। अन्यत्र। आपि। पदा०-(प्वं) इसमकार (सम्बन्धाद) सम्बन्ध पाये जाने से पकर्णान्तरगत गुणों के उपसंहार की (आपि) भी

आपि होगी।

भाष्य-बृहदारण्यक के सत्याविद्या प्रकरण में आदित्य पुरुष का नाय"अह" तथा आध्यात्मिक असि पुरुष का नाम"अहं" कथन किया है जिसमें यह सन्देह होता है कि आदित्य पुरुष की उपासना में अक्षिपुरुष के नाम का तथा अक्षिपुरुष की उपासना में आदित्य पुरुष के नाम का उपसंहार होसक्ता है वा नहीं ? इसमें पूर्वपक्षी का कथन है कि जिसमकार शाण्डिल्य विद्या में उपास्य ब्रह्म के सम्बन्धमात्र से प्राणशरीरत्यादि धर्मों का उपसंहार कियागया है वैसे ही प्रकृत में ब्रह्मविद्या की एकता पाये जाने के कारण दोनों का प्रस्पर उपसंहार होसक्ता है।

सं ० - अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं: --

नवाविशेषात् ॥ २१ ॥

पद०-न । वा । विशेषात ।

पदा०—(विशेषात) विशेषता पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—" वा " शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के लिये आया है, आदिस पुरुष में अक्षिपुरुष तथा अक्षि पुरुष में आदिस पुरुष के " अहं " आदि नामक्षप गुण के उपसंहार का कथन करना इसिछये ठीक नहीं कि दोनों मकरणों में नाम तथा स्थान का भेद पाया जाता है, यदि एक ही स्थान में एक नाम होता तो विद्यापूर्ति के छिये उसका अन्यत्र उपसंहार किया जाता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि एकशाखा वाले मकरण तथा एक उपास्य का सम्बन्ध होने पर भी प्रकृत में गुणोपसंहार मानना ठीक नहीं।

सं ० - नतु, उक्त गुणों का उपसंहार न करने से नाना उपास्य देवों की आपंचि होगी ? उत्तर :-

दर्शयति च॥ २२॥

पद०-द्रीयति । च ।

पदा०-(च) और (दर्शयित) उपनिषदों में एक ही उपास्य-देव का वर्णन होने से नाना उपास्यों की आपित नहीं होसकती।

भाष्य-" तस्येतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपम् "
छां० १। ७। ५=इसका वही रूप है जो उसका रूप है अर्थाद
अक्षिपुरुष तथा आदिस पुरुष यह दोनों पद अक्षि तथा आदिस
पण्डल में व्यापक एक ही परगात्मा के वाचक हैं, इसिंख्ये नाना
छपास्यदेवों की आपित्त का कथन करना वादी का
साहसमात्र है।

सम्भृतिद्युव्याप्तिश्चातः ॥ २३॥

पद ०-सम्भृतिद्युच्याप्तिः । च । अतः ।

पदा०-(च) और (अतः) एक उपास्यदेव के मानने से ही ईश्वर में (सम्भृतिद्युव्याप्तिः) जगत का पाछन करना तथा अन्तीरक्षादि छोकों में व्यापक होना बनसक्ता है अन्यवा नहीं।

भाष्य-ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने तथा जगत कर्चा होने से भी एक ही जपास्यदेव की सिद्धि होती है नाना जपास्यदेवों की नहीं,यदि शास्त्रकारका अभिनाय नाना जपास्यों के बोधन में होता तो एक ईश्वर से जगद की रचना का वर्णन न किया जाता, जैसाकि पीछे कई स्थलों में वर्णन कर आये हैं, और नाही "एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: श्वे०६। ११=एक ही परमात्मदेव सब भूतों में ज्यापक तथा सब का जपास्य है, इसादि वाक्यों से ब्रह्म की ज्याप्ति का वर्णन किया जाता परन्तु सम्भृति=जगदरचना तथा ज्याप्ति के कथन से स्पष्ट है कि नाना जपास्यदेव नहीं।

सं ०-अब अन्य गुणों के उपसंहार का अतिदेश कथन करते हैं:-

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामना-

पदं ० - पुरुषविद्यायाम् । इव । च । इतरेषां । अनाङ्गानात् । पदा० - (च) और (पुरुषविद्यायां, इव)पुरुषविद्या की भांति (इतरेषां, अनाङ्गानात्) जिन गुणों का वर्णन नहीं किया उनका अन्यत्र भी उपसंहार होतका है।

भाष्य-जितमकार अन्य ज्ञाखाओं में विद्यासमता के लिये छन्दोग्य में वर्णन कीहुई पुरुष विद्या का उपसहार कियाजाता है इसी मकार जिन गुणों के उपसहार का यहां विशेष विचार नहीं कियागया उनका उपसहार करके विद्याबोधक वाक्यों की एकवाक्यता जाननी चाहिये।

सं ॰ - नतु "सर्वमिवध्य" इसादि वाक्यों द्वारा जो उपनिषदों में क्रूरता युक्त उपदेश पाये जाते हैं सो ठीक नहीं ? उत्तर : --

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

वृतीयाध्याये-वृतीयःपादः

४२३

वेधाद्यर्थभेदात्॥ २५॥

पद०-एकपद०।

पदा०- (वेधाद्यर्थभेदात्) वेधादि वाक्यों में तात्पर्य का भेद होने से कोई दोष नहीं।

भाष्य-" सर्वे प्रविध्य हृद्यं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य दिश्शिभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः"=मरे श्रष्ठ का नाश्च कर तथा उसके हृदय, नाडी, श्रिर आदि अङ्गों का विदारण कर, इसादि जो क्रूरतायुक्त वाक्य उपनिषदों में पाये जाते हैं वह क्षात्रधर्म के अभिप्रायसे हैं, इसिछिये कोई दोष नहीं, यह विषय "गीतायोगप्रदीपार्यभाष्य " में विस्तारपूर्वक छिसेजीने से यहां पुनरुष्ठिस की आवश्यकता नहीं।

सं०-अब " अश्व इव रोमाणि " इसादि वाक्यों की इसवस्था करने के लिये "हान्यधिकरण" का आरम्भ करते हैं:-

हानौत्रपायनशब्दशेषत्वाच्छन्दस्तुत्यु पगानवत्तदुक्तम् ॥ २६॥

पद् ० - हानौ । तु । जपायनशब्दशेषत्वात् । छन्दस्तुत्युपगा-

नवत । तत । उक्तम ।
पदा॰-(हानौ) हानिवाचक शब्दों के पाये जाने से (तु)
भी "उपायन" अर्थ का ग्रहण होसक्ता है, क्योंकि (उपायनशब्दशेषलात) उपायन शब्द हानि पद का शेष है (तत्)

और यह बात (छन्दस्तुत्युपगानवत) छन्द, स्तुति तथा खपगान की भांति (उक्तं) बनमक्ती है।

भाष्य-"अश्व इव रोमाणि विध्ययं "छां॰ ८। ११। १=जिसमकार घोड़ा अपने रोगों को झाड़ता है तथा जिसमकार चन्द्र राहु से मुक्त होकर शुद्ध होजाता है इसी प्रकार विद्वान पुरुष पापनिष्टतिद्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मछोकं को प्राप्त होता है, इसी भाव को अथर्वशास्ता में यों वर्णन किया है कि " प्रात्परं पुरुषसुपैतिदिव्यं " मुं० ३।२।८=विवेकी पुरुष नामकप से मुक्त होकर प्रकाशस्त्रकृप परमात्मा को उपलब्ध करता है,इत्यादि वाक्यों में यह संदेह उत्वन्न होता है कि किसी वाक्य में विद्वान के पारपुण्य दोनों की निर्देशित, किसी में केवल पाप की निर्देशित और शाट्यायनशाखा के "तस्य पुत्राः ०" इत्यादि वाक्यों में विद्वान् के पुण्यपाप का उसके शञ्ज मित्र में माप्त होना आदि वर्णन किया गया है सो सब शाखागत वाक्यों की एकवाक्यता के छिये बाज्यामित्रकर्त्वक पापयुण्य की हानि ग्रहण का उपसंहार होता है वा नहीं ? पूर्वपक्षी का कथन है कि अन्यविद्या विषयक पुण्यपाप के ग्रहण का अन्य शास्त्रा में उपसंहार करना ठीक नहीं, क्योंकि पुण्यपाप के त्यागरूप किया का कर्ता ब्रह्मवेत्ता और प्रहण किया के कत्ती शत्रु मित्र हैं, इसप्रकार दोनों कियाओं के भिन्न २ कर्चा होने से श्रुतिस्थ " हानि " पद शाखान्तरीय उपायन=ग्रहण किया का आक्षेपक नहीं होसका ? इसका उत्तर यह है कि कौषीतकीरहस्य० १ । ४ में कथन किया हुआ कि " बपायन " पद " हानि " पद का बाव है और जो जिसका

शेष हो वह अपने शेषी का उपस्थापक होता है, इस नियम के अनुसार जहां केवछ "अश्व इव " इत्यादि वाक्यों में हानिक्ष अर्थ का साक्षात उपादान किया है वहां उसका उपसंहार करके एकवाक्यता होसकी है अर्थाव "कुशा बानस्पत्यःस्थः०"= द्रश्न की कुशा होती हैं, जिसमकार इस वाक्य में यह निर्णय नहीं किया गया कि किस दक्ष की कुशा होनी चाहियें परन्तु शाट्यायनशाला के " औदुम्बरा" पद का उपसंहार करके गूलर द्यस की कुषा छीजाती हैं अन्य द्यस की नहीं, जैसे "छन्दोिमः स्तुवते "=छन्दों से स्तुति करे, यहां छन्दद्वारा स्तुति करना साबान्यतः पाप्त है पर देवासुर * छन्दों में से किस छन्देंद्वारा स्तुति करे यह निर्णय नहीं होसक्ता, परन्तु "देवछन्दांसि पूर्वाणि "=मथम देव छन्द होते हैं, इस पंड़ी ब्राह्मण के वाक्य से निर्णय किया जाता है, और जैसे कई एक शाखाओं में "बोड-श्रीस्तोत्र " के काल का निर्णय नहीं पायाजाता परन्तु " समयाध्युषितेसूर्ये षोडशिनं स्तेत्रमुपाकरोति "= सूर्योदय होने पर षोडशीस्तोत्र का प्रयोग करे, इस तैचिरीय श्रुतिद्वारा काछ का निर्णय किया जाता है किंवा जिसे पंकार " ऋत्विज उपगायन्ति "=ऋत्विक् उपगान करते हैं, इस उपगान विश्वायक वाक्यद्वारा सामान्यविधि पाये जाने पर भी

^{*} नव चचर वाले छन्दों का नाम " देव " तथा इससे भिन छन्दों को "आधुर " कडते हैं।

वेदान्तार्यभाष्ये

"नाध्वर्युरुपगायित "=अध्वर्यु उपगान न करे, इस श्रुत्य-न्तर से अध्वर्यु भिन्न ऋत्विजों का उपगान सिद्ध होता है इसी मकार मकत में उक्त रीति से कुशा, छन्द, स्तुति तथा उपगान की भाति शाखान्तरस्थ उपायनक्ष्य अर्थ का उपसंहार करने से "अञ्च इव रोमाणि" इत्यादि श्रुतियों की एकवाक्यता में कोई बाधा नहीं।

सं०-अब कौषीतकी शाखान्तर्गत पर्यङ्किया सम्बन्धी बाक्यों की मीमांसा करने के लिये "साम्परायाधिकरण "का आरम्भ करते हैं:—

साम्पराये तत्त्र्वामावात्त्रथाद्यन्ये ॥२७॥

पद ० - साम्पराये । तर्त्त व्याभावाद । तथा । हि । अन्ये ।
पदा॰ - (तर्त्त व्याभावाद) तरने योग्य पदार्थ के न पाये
जाने से (साम्पराये) देहत्याग काल में तत्त्ववेत्ता पुरुष का
सुकृत तथा दुष्कृत नष्ट होजाता है, और (हि) निश्चयकरके (अन्य)
दूसरी शास्त्रावाले भी (तथा) ऐमा ही कथन करते हैं।

भाष्य-" स एतं देवयानं पन्थानमासाद्यामिलो-कमागच्छिति "कौ० १। ३=देवयान मार्ग को प्राप्त होकर अग्निकोक को प्राप्त होता है, इसपकार उपक्रम करके फिर यह कथन किया है कि "स आगच्छित विरज्ञांनदीं तां मन-सैवात्येति तत्सुकृत्दुष्कृते विधूनते "कौ० १। ४=मुक्त पुरुष विरजा नदी को प्राप्त होकर सङ्कल्पद्वारा उसका उद्घंचन करता हुआ वहीं अपने पापपुण्य से प्रथक् होजाता है, यहां विचारणीय यह है कि देहत्याग से उत्तर देवयान को माप्त होकर मुक्त पुरुष के पापपुण्य का परित्याग मानाजाय किंवा देइत्या-गोत्तर काल में ही दोनों का परित्याग मानना ठीक है ? इस में सिद्धान्त यह है कि " तर्त्तव्याभावात् = विदुषो देहवियोगात्पश्चात्स्रकृतदुष्कृताभ्यां तारतव्यभोगा-भावात् साम्पराये=देहोत्कमणकाल एव सुकृतदुष्कृते निरवरोषं हीयते=देइत्यागीत्तर काल में विद्वान के लिये पुण्यपाप हैतुक भोग न होने के कारण शरीर से वियोग होते ही दोनों का नाश होनाता है, नयों कि उसके लिये फिर कोई भोग नहीं रहता, इसमकार तांद्य तथा शाख्यायन शाखा वालों के "अश्व इव रोमाणि विभूय० "इस वाक्य की भांति कौषीतकी श्रुति की अर्थव्यवस्था लगाकर देवयानमार्ग की पाप्ति से प्रथम ही ज्ञानी के पुण्यपाप की निरुत्ति मानना ठीक है।

सं ० - नतु, शास्त्र में ज्ञान को कर्मों का नाशक माना है फिर सिद्धान्त में ज्ञानक में के समुच्चय से मुक्ति मानना ठीक नहीं? उचर:-

छन्दत उभयाविरोधात्॥ २८॥

पद् ० - छन्द्तः । उभयाविरोधात ।

पदा०-(छन्दतः) स्वेच्छा से (उभयाविरोधात) दोनों का अविरोध पाये जाने के कारण कोई दोप नहीं। शाष्य-मुक्त पुरुष की स्वाभाविक दृत्तियों से पाया जाता
है कि कर्म सर्वथा नष्ट नहीं होते प्रत्युत मुक्ति में मानस कर्म
बने रहते हैं, जैसाकि " मनसैतान्कामान् प्रयन् रमते"
छां० ८।१२। ५=मुक्त पुरुष मन से सब कामनाओं का अनुभव
करता हुआ आनन्दित होता है, इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है,
इसिछिये झानकर्म के समुच्चय में कोई बाधा नहीं॥

सं ० - अब उक्त अर्थ को अन्य मकार से स्पष्ट करते हैं:-

गतेरथवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः॥ २९॥

पद०-गतेः। अर्थवन्तं। उभयथा। अन्यथा। हि। विरोधः। पदा०-(उभयथा) ज्ञानकर्म का समुच्चय मानने से ही (गतेः) मुक्त पुरुष की गति (अर्थवन्तं) सार्थक होसक्ती है (अन्यथा) यदि ऐसा न मानाजाय तो (हि) निश्चयकरके (विरोधः) श्रुति से विरोध आता है।

भाष्य—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" यज्ञ ४०। २=
वैदिककर्मों का अनुष्ठान करता हुआ सौ वर्ष पर्यन्त जीने की
इच्छा करे, इस मकार कर्म की श्रेष्ठता कथन करके फिर यज्ञ ४०। २२ में यह वर्णन किया है कि "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमञ्जते "=विद्या तथा कर्म दोनों को

एक साथ मुक्ति का साधन जानने वाला कर्मों द्वारा मृत्युक्त विन्धन से रहित होकर अमृतपद को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में ज्ञान कर्म का समुचय ही मुक्ति का साधन माना गया है केवल कर्म वा ज्ञान नहीं, यदि समुच्चयवाद को छोड़कर किसी एक पक्ष का आश्रयण करें तो किसी मकार से भी उक्त वाक्यों की व्यवस्था नहीं होसक्ती मत्युत विरोध की सम्भावना होती है, इसिल्ये विरोध परिहारार्थ ज्ञान कर्म का समुच्चय मानना ही ठीक है, इसी अभिनाय से गी० ४ । १८ में वर्णन किया है कि:—

क्रमण्यकमे यः पश्येदकमिण च कम यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सयुक्तः कृतस्नकमेकृत्॥

अर्थ-जो कर्मानुष्ठान काल में ज्ञान को और ज्ञानकाल में कमों को कर्तान्य रूप से जानता है नहीं योगी और नहीं सन कमों का करने वाला है, स्त्रामी शङ्कराचार्य जी ने उक्त क्ष्णेक का यह अर्थ किया है कि रज्जु सर्प की भांति आविधिक कमों को करता हुआ अपने आप को ब्रह्म रूप से असङ्ग जाने रिषह कथन गीता के अभिमाय से सर्वधा विरुद्ध है, क्यों कि भी था कर के से वर्णन किया है कि ।—

यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्पवर्जिताः । ज्ञानागिनदग्ध कर्माणं तमाद्वः पण्डितं बुधाः ॥ अर्थ-जिप्तके प्रारम्भ किये दृए कर्म फल की इच्छा सेरहित हैं अर्थात निष्कामकर्मक्ष ज्ञानाग्नि से जिसके सब पापकर्म, दग्ध होगये हैं वही पण्डित है, यदि रज्जुसर्प की भांति कर्मों को मिथ्या मित्रपादन करना ही अभिभेत होता तो उक्त रीति से कदापि निष्काम कर्मों का विधान न किया जाता और नाही 'युथेश्वांसि सिम्द्रोजिनः '' पद से मन्दनायनाक्ष्प कर्मों का नाश मित्रपादन किया जाता पर किया है इसमे सिद्ध है कि गीता भी ज्ञान कर्म के समुच्चय को ही प्रतिपादन करती है स्वतन्त्र ज्ञान वा कर्म को नहीं।

सं०-अव उक्त अर्थ में दृष्टान्त कथन करते हैं :-

उपपन्नस्तल्लचणार्थोपलब्धेलेकवत् ।३०।

पद०-उपपन्नः। तल्लक्षणार्थीपलब्धेः। लोकवत्।
पदा०-(लोकवत्) लोक की भांति (तल्लक्षणार्थीपलब्धेः)
दोनों भे मुक्तिकृष अर्थ की नाप्ति होने के कारण (उपपन्नः)
ज्ञानकर्म का समुच्चय युंकिसिद है।

भाष्य-जिममकार छोक में किया पदार्थ की माप्ति ज्ञान तथा कर्म द्वारा होती है अर्थात पथम पदार्थ का ज्ञान और पश्चात कर्मानुष्टान द्वारा उसकी प्राप्ति देखी जाती है इसीप्रकार नेद में परमात्मप्राप्ति ज्ञानकर्म के समुच्चय मे मानीगई है अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय से बृहदा० के अन्तर्यामी ब्राह्मण में वर्णन किया है कि "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निद्ध्या सितव्यः "= आत्मा ही श्रोतव्य मन्तव्य तथा निद्ध्या सितव्य

है और इसी आश्रय को गी० २। ३९ में यों स्फुट किया है कि
"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगित्विमां शृणु"=
हे अर्जुन! तेरे प्रति ज्ञानिष्ठा कथन की गई अब योगिनिष्ठा का
श्रवण कर, इस्रमकार होकन्याय तथा शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध
है कि ज्ञानकर्म के समुच्चय में कोई वाधा नहीं।

म् ०-ननु, मुक्ति की प्राप्ति में किसी आश्रपनिशेष का नियम है वा नहीं ? उत्तर :—

अनियमः सर्वेपामविरोधः शब्दातुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

पद्-अनियमः । स्रवेषां । अविरोधः । शब्दानुमानाभ्यां । पदाः - (अनियमः) मुक्ति में किसी आश्रमविशेष का नियम नहीं प्रन्युत्त (सर्वेषां) मव का (अविरोधः) अविरोध है, क्योंकि (शब्दानुमानाभ्यां) शब्द नथा अनुमान से ऐसा ही पायाजाना है।

भाष्य-मुक्ति में किमी आश्रमिवशेषका नियम नहीं किन्तु प्रत्येक आश्रम में ज्ञानकर्म द्वारा मुक्ति की प्राप्ति समान है, जैसाकि वर्ण्य से स्वार के भाष्य में शब्दममाण से स्वष्ट कर आये हैं, और उक्त अर्थ का साधक अनुमान इस प्रकार है कि "मुक्ति ज्ञानकर्म हेतुका साध्यत्वात् पाकवत्"=जो साध्य होता है वह ज्ञान तथा कर्म से जन्य होता है, इस नियम) के अनुसार जिममकार नाष्य होने से पाक पाचक पुरुष

वेदान्तार्यभाष्ये

के ज्ञान कर्म से जन्य है इसीमकार मुक्ति मुमुश्चपुरुषानुष्ठित ज्ञान कर्म से जन्य है, इसादि अनुमान तथा शब्दममाण से सिद्ध है कि भुक्ति में किसी आश्रमिवशेष का नियम नहीं।

सं ० - अब मुक्ति की अवधि कथन करते हैं: -

यावद्धिकारमवस्थितिराधिकारि-

काणाम् ॥ ३२॥

पद०-यावद्धिकारं। अवस्थितिः। अधिकारिकाणां।
पदा०-(अधिकारिकाणां) मुक्त पुरुषों की योक्ष में
(अवस्थितिः) स्थिति (यावद्धिकारं) नियत काल पर्यन्त रहती है।

भाष्य—" ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्परि
मुच्यन्ति सर्वे"कैव०१।३=परान्तकालके अनन्तर मुक्त पुरुष
उस परमपद से पुनराद्यत्ति को नाप्त होते हैं, इसादि न्रमाणों से
सिद्ध है कि मुक्त पुरुषों का मुक्तिक्ष भोग नियतकाल पर्ध्यन्त है
अनियत नहीं।

स्त्रा० शङ्कराचार्यजी ने आशङ्कापूर्वक इस स्त्रत को इस
प्रकार छापन किया है कि ननु—मुक्ति के अधिकारी पुरुषों का
मुक्तिमाप्ति से पूर्व कोई अन्य जन्म होता है वा नहीं! उत्तर—
यावदिधिकारं=अपने अधिकार को समाप्त करके मुक्त होते हैं
अन्यथा नहीं, अतएव वसिष्ठादि मुक्त पुरुषों का अधिकार
समाप्ति के पूर्व कई वार जन्म देखा गया है ? यह कथन इसिछ्ये

ठीक नहीं कि सूत्र में उक्त अर्थ का बोधक कोई पर उपछन्य नहीं होता, यदि सूत्रकार का यह आश्रय होता तो सूत्र में "यावद-धिकारं" पद के स्थान पर "यावज्ञान्म " पद का निवेश कियजाता पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि सूत्रकार को मायाबादियों की मुक्ति अभिनेत नहीं, दूसरी बात यह है कि जब उनके सिद्धा-नतानुमार "अहम्ब्रह्मास्मि" शान होगया तो फिर पुनः २ जन्मधारण करने का क्या प्रयोजन ? क्या आत्मैकत्वज्ञान का इतना मन्दमभाव है कि वह ब्रह्मवेत्ता को पुनः २ जन्म मरण के बन्धन से भी निर्मुक्त नहीं करसक्ता, इत्यादि तकों से ज्यों २ स्वभिक्षा कीजाय त्यों २ अद्वेतवादियों का सिद्धान्त कृदछीस्तम्भवत् निस्तार प्रतीत होता है।

सं०-अव परमात्मा के अस्यूछादि गुणों का सर्वत्र उपसंदार कथन करने के छिये " अक्षराधिकरण " का आरम्भ करते हैं:—

अक्षरियान्त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्या मौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३॥

पद् ०-अक्षराधियां । तु । अवरोधः । सामान्यतद्भावाभ्याम् । औपसद्वद । तत् । उक्तम् ।

पदा॰—(सामान्यतद्भावाभ्यां) उपास्य ब्रह्म की समझा तथा अस्यूजादि विशेषणों की योग्यता पाये जाने से (अझराधियां) अझरविषयक धर्मों का सर्वत्र (अवरोधः) उपसंदार होता है (तु) और (तत्) यही रीति (औपसदवत्) औपसद की भांति (वक्तं) कथन कीगई है।

भाष्य—" एतद्वेतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवहन्त्य स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घं " बृ॰ ३।८।८=हे गार्गि! ब्रह्मवेत्ता लोग अक्षर ब्रह्म को इस प्रकार कथन करते हैं कि वह न स्यूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है और न बड़ा है, इत्यादि अक्षर ब्रह्मविषयक अस्थूळत्वादि धर्मों का सत्र शाखाओं में उपसंहार होसका है वा नहीं ? इस मन्देह की निवृत्ति इस मकार कीगई है कि उक्त धर्मों का सर्वत्र उपमंहार मानना ही ठीक है, क्योंकि उपास्य ब्रह्म की सब शाखाओं में एकता पाई जानी है और नियम से गुणों का अपने प्रधान के साथ अन्वय होता है अर्थाव " गुणव्यतिऋमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः " मीयां २ । ३ । ८=गौणं तथा मुख्यद्यन्ति धर्मों का परस्पर विरोध होने पर श्रुतिवाक्य का मुम्बन्ध मुख्य के साथ होता है, क्योंकि मब अङ्ग मधान=अङ्गी के ही दोष होते हैं अमधान के नहीं, या यों कहा कि गौण सर्वदा मुख्य का ही अनुसारी होता है, इस नियम के अनुमार जैमे जमद्शियाग में "अमेर्वेहोंत्रं वेरध्वरं०" इत्यादि पुरोडाश देने योग्य आपमद मंज्ञक सामवेदसम्बन्धी वाक्यों के उचारणपूर्वक पुरोडाश प्रदानक्ष कर्म का अध्वर्धु को अधिकार है अप्रधान होने से मब ऋत्विजों को नहीं इसी प्रकार किसी एक शाला में पढ़े गये अस्यूलत्वादि धर्मों का सब शालाओं में उपमंहार करके अक्षरक्ष प्रधान ब्रह्म के माथ अन्वय करने में कोई बाघा नहीं. यही गीति ब्रह्मसम्बन्धी शेष गुणों के उपसंहार में जाननी चाहिये।

सं - अब "ऋतंपिव न्तौ ० " कठ ० ३ । १ इत्यादि वाक्यों की एकवाक्यता के लिये "इयद्धिकरण " का प्रारम्भ करते हैं:-

इयदामननात्॥३४॥

पद०-एकपद०।

पदा॰-(इयदामननात्) दोनों नाक्यों में द्विवचन बोधक संख्या की ममानता पायेजाने से उनके प्रतिपाद्य विषय का भेद नहीं।

भाष्य-" तयोरन्यः पिष्पलं स्वादिति " श्वेता० ४। ६= जीव तथा ईश्वर दोनों के मध्य एक स्वादु फल को खाता है दूसरा नहीं, इस वाक्य में जीव को कर्मफल का भोक्ता कथन किया है परन्तु " ऋते पिवन्ती " कठ० ३। १ इस वाक्य से दोनों को कर्मफल का भोग करने वाला माना है जिससे स्पष्ट है कि दोनों शाखाओं में भिन्न २ विद्या है एक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उभयन्न जीव ब्रह्म का मकरण एक होने तथा दोनों की दित्व संख्या समान पाये जाने से एक ही विषय मितपादन किया है भिन्न २ नहीं, इसिल्ये विद्या का अभेद मानना ही ठीक है, इसका विशेष विचार न्न० सू० १। २। १२ के भाष्य में कर आये हैं विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

सं०-अव वृहदारण्यकान्तर्गत " उवस्त " तथा " कहोल " ब्राह्मण में प्रतिपादन की हुई विद्या की एकता कथन करते हैं:— अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥ ३५॥

वेदान्तार्यभाष्ये

पदं -अन्तरा । भूतग्रामवत् । स्वात्मनः ।

पदा ० - (श्रुतग्रामवद) सब भूतों में एकरस व्यापक श्रीतपादन करने बाछे श्रुति वाक्यों के समान उक्त दोनों ब्राह्मणों का एक ही विषय (स्वात्मनः, अन्तरा) सबका अन्तरात्मा परमात्मा है।

भाष्य—" एकोदेवः सर्वभृतेषुगृहः " श्वेता०६।१२=
एक ही परमात्मा सब भृतों में व्यापक है, इत्यादि वाक्यों में
जिसमकार परमात्मा को सब भृतों का अन्तरात्मा प्रतिपाद्यव्य किया है इसी मकार उपस्त तथा कहोल बाह्यण का प्रतिपाद्य=
विषयभूत सर्वान्तरात्मा परमात्मा एक है, क्योंकि " यत्साङ्काद्रपरोक्षाद्वब्रह्म" वृ०२।४। १=ब्रह्म स्वयंमकाश है, " ज्ञ आत्मा सर्वान्तरः " वृहदा० ३।५। १=ब्रह्म सबका ख्यक्यरात्मा है, इत्यादि उक्त ब्राह्मणगत वाक्यों से ऐसा ही पाया ख्यका
है, इस प्रकार विषयभेद न होने के कारण उक्त दोनों ब्राह्मणों
में विद्या की समता जाननी चाहिये।

सं ० - अब उक्त अर्थ का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं: -

अन्यथा भेदानुपपत्तिरितिचेन्नोप-देशान्तरवत् ॥ ३६॥

पद०-अन्यया । भेदानुपपत्तिः । इति । चेत् । न । उपदेशान्तरवत् ।

तृतीयाध्याये-तृतीयः पादः

पदा०-(अन्यथा) विद्याभेद के न मानने पर (भेदानुपपितः) उपदेशभेद की उपपित्त नहीं होसक्ती (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि यह बात (उपदेश्वान्तरवत्) अन्य उपदेश की भांति बनसक्ती है।

भाष्य-यदि उक्त दोनों ब्राह्मणों में एक ही सर्वान्तरात्मा ब्रह्म का विषय होता तो प्रकरणभेद करने की कोई आवश्यकतान होती पर प्रकरणभेद कियेजाने से उक्त विषय वाक्योंद्वारा विद्या की एकता यानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि आस्त्रायभेद=भिन्न २ प्रकरणस्थ वाक्यों द्वारा उसी विद्या का वर्णन करना विद्याभेद का साधक नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर भी वेद्य एक होता है अर्थात जिसपकार छां० ६ । ८।७ में नौवार " तत्वमिस " वाक्य द्वारा भिन्न२प्रकार से ज्ञान की दृढता के छिये एक ही जीवात्मा के स्वक्रप को प्रतिपादन किया है पर विद्याभेद नहीं इसी प्रकार उपस्त तथा कहोछ ब्राह्मण में ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर भी एकविद्या की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं।

सं०-अव "ऐतरेय" तथा " जाबाल " शाखा सम्बन्धि बाक्यों की एकवाक्यता के लिये "व्यतिहाराधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ॥३७॥

पद ०-व्यतिहारः । विशिपन्ति । हि । इतरवत् । पदा ०-(हि) निश्चयकरके (इतरवत्) स्रौकिक व्यवहार

वेदान्तार्यभाष्ये

की भांति (व्यतिहारः) शास्त्र में परस्पर अभेद कथन (विशि-षन्ति) विशेष्य विशेषणभाव के अभिनाय से आया है।

भाष्य-" अहं वा त्वमिसिभगवो देवते त्वं वा अहमिस्म "=मैं आप और आप मैं हूं, इसादि वाक्यों में जो जीव ब्रह्मका परस्पर अभेदोपचार कथन कियागया है वह विशेष्य विशेष्यभाव के अभिनाय से है वस्तुतः जीव ब्रह्म की एकत में तात्पर्य नहीं अर्थात जिसमकार छोक में स्वामी सेवक का परस्पर असन्त पेम होने से उनमें अभेद का औपचारिक व्यवहार होता है वैसे ही जहां र उपनिषदों में जीव ब्रह्म की एकतावोधक वाक्य पायेजाते हैं वह सब औपचारिक अभेदपरक जानने चाहियें वस्तुतः एकत्वभाव से नहीं ॥

सं०-अव " महद्यक्षं प्रथमनं " बृ०५ । ४ । १ इसादि वाक्य प्रतिपादित विद्या के निर्णयार्थ " ससाधिकरण " का पारम्भ करते हैं:—

सैव हि सत्यादयः॥ ३८॥

पद०-सा। एव । हि। ससादयः।

पदा॰-(हि) निश्चयकरके यक्षवाक्य में (सा, एव) उसी बहा विद्या का विधान है,क्योंकि उक्त अर्थ के निश्चायक (सरा-दयः) सरादि गुण समान पायेजाते हैं।

भाष्य-" स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं

श्रहोति जयतीमां छोकान् " बृह ० ८ । ४ । १ = जो इस पूज्य सस ब्रह्म को जानता है वह मत्र छोकों में विजय पाता है, इस वाक्य से ससविद्या का मातिपादन करके फिर बृ० ५ । ५ । २ में यों वर्णन किया है कि "तद्यत्सत्यमसों स आदित्यः " = वहीं सस पुरुष आदिस = मूर्य्यण्डल का नियन्ता है जिसका जानने वाला पाप से रहित होजाता है. यहां फलभेद से विद्याभेद का संशय होने पर सिद्धान्त यह है कि उभयत्र ब्रह्म के ससादि विशेषण समान पायेजाने से फलभेद होने पर भी एक ही ससविद्या का विधान है भिन्न २ विद्याओं का नहीं।

सं ० – अब छां ० ८ । १ । ५ तथा बृह ०४ । ४ । २२ वाक्यों की एकवाक्यता के बोधनार्थ "कामाद्याधिकरण "का आरम्भ करते हैं:—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३९॥

पद् --कामादि । इतरत्र । तत्र । च । आयतनादिभ्यः ।

पदा०—(कामादि) छन्दोग्य में पठित मत्यकामादि गुणों का (इतरत्र) दूसरी शाखा में उपसंहार होसक्ता है (च) क्योंकि (तत्र) दोनों शाखाओं में (आयतनादिभ्यः) स्थानादि समान पाये जाते हैं।

भाष्य-" दहरे। अस्मिन्नन्तराकाशः " छां० ८। १। १=इस शरीर के मध्यवत्ती दहर=सूक्ष्माकाश ब्रह्म है, इस मकार हृदयान्तर्गत दहराकाश कथन करके पुनः उसके सखकामत्वादि गुणों का वर्णन किया है और बृह० ४।४। २२ में हृदयाकाश वहां के विश्वतादिं गुणों का मितपादन किया है सख काम्रत्वादि गुणों का नहीं, सो यहां "आकाश " पदवाच्य ब्रह्मविद्या की समता के लिये छान्दोग्य में वर्णन किये हुए सखकामत्वादि गुणों का उपमहार करना आवश्यक है, क्योंकि दोनों शाखाओं में हृदयस्थानीय ईश्वर और उसका लोकस्थित हेतुभूत मर्यादाक्ष्य सेतुत्वधर्म समान पायाजाता है, इसलिये ऐसे स्थलों में एक विद्या के बोधनार्थ गुणों का अवश्य ही उपसंहार करना चाहिये।

सं०-नतु, निर्विशेष परमात्मा के ससकामादि ग्रुण करिपतं हैं तात्विक नहीं ? उत्तरः—

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

पद०-आदरात । अलोपः ।

पदा०-(आदराव) शास्त्र में परमात्म सम्बन्धि गुणों का आदर पायेजाने के कारण (अलोपः) सस्रकामादि गुणों को कल्पित कथन करना ठीक नहीं।

भाष्य-शास्त्र में बड़े समारोह से परमात्मा के अपहतपां-प्मल तथा सत्यकामलादि गुणों का वर्णन किया है, जैसािक कई एक स्थळों में पीछे मतिपादन करआये हैं, यदि उक्त गुण वास्तविक न होते तो उनके वर्णन करने में शास्त्र की महित्त

न पाई जाती, क्योंकि मिथ्या पदार्थ के बोधन से पुरुषार्थिसिद्ध नहीं हो मक्ती, जैमाकि स्वामी " रामानुज " का कथन है कि " नच मातापित्सहस्रेभ्यो अपि वात्सल्यपरं शास्त्रं प्रतारकवदपारमारर्थिकान्निरसनीयगुणान्त्रमाणान्त-राप्रतिपन्नानादेरणोपादेश्य संसारचक्रपरिवर्त्तनेन पूर्व मेव बंभ्रम्यमाणान्मुसुद्धनभूयोऽपि भ्रमयितुमलम् " श्री॰ भा॰=माता पिता से सहस्र गुण अधिक मेम करने वाला शास्त्र वञ्चकों के समान मिथ्या गुणों का उपदेश करके संसार चका में प्रथम ही मूलकर भटकते हुए जिज्ञासुओं को फिर भुळाने के लिये परत नहीं होता किन्यु नह जीवों के कल्याणार्थ सत्य ब्रह्म का उपदेश करता है, इसिछिये परमात्म सम्बन्धी सत्यकामादि गुणों को कल्पित कथन करके अद्भैत ब्रह्म का लापन करना मायावादियों का साइसमात्र है।

सं०-अव उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:-

उपस्थितेऽतस्तद्दचनात्॥ ४१॥

पद ०-उपस्थिते। अतः । तद्वचनात् ।

पदा०-(अतंः) सत्यकामादि गुण काल्यत न होने से (उपस्थिते, तद्रचनात्) ब्रह्मपाप्ति वोधक वाक्य यथार्थ हैं।

माष्य-"ब्रह्मेव सन् ब्रह्माप्येति " बृहदा० ४ । ४।

६=पुरुष ब्रह्म सम्बन्धी गुणों को घारण करके ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है, इत्यादि ब्रह्मभावप्रतिपादक वाक्य सत्यकामादि गुणों को सत्यद्भप कथन करते हैं काल्पित नहीं, यदि कल्पित गुणों के मतिपादन करने में शास्त्र का तात्पर्य्य होता तो ब्रह्मविद पुरुष की तद्धमंतापत्ति वर्णन न की नाती और नाही ब्रह्म को सर्वेतिकृष्ट वर्णन किया जाता परन्तु किया है, इससे स्पष्ट है कि निरितेशय कल्याण गुणाकर परमात्मा का कोई गुण कल्पित नहीं।

सं०-अत्र उद्गीयोपासना निषयक नाक्यों की मीमांसा करने के लिये "तिन्नर्थारणाधिकरण "का आरम्भ करते हैं:—

तिव्यारणानियमस्तद् हष्टेः पृथग्ध्य-प्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

पद०-तिभर्थारणानियमः। तद्दृष्टेः। पृथक्। हि। अप्रति-बन्धः। फलम्।

पदा०-(तद्दृष्टुः) परमात्मा का ध्यान पाये जाने से (तिन धीरणानियमः) उद्गीथोपासना में मनोव्यापार का नियम नहीं (हि) क्योंकि (पृथक्) केवल कमीनुष्ठान से ब्रह्मोपासना की (फिल्लं) कें फिल्लं में विशेषता पाई जाती है।

भाष्य-जिस पकार "आत्मावारे द्रष्ट्वयः ०" बृहदा०
१४। ४। ५= हे मैत्रेयी ! आत्मा ही द्रष्ट्वय है, इत्यादि वाक्यों में
परमात्मा के पुनः २ प्रत्ययाद्यतिह्म घ्यान का नियम पाया
जाता है, इस पकार "ओमित्येतदक्षरमुद्रीथमुपासीत"
छां० १।१।१="ओ३म्" पद वाच्य परमात्मा की उद्गीथह्म से
उपासना करे, इस उद्गीथोपासना में पुनः २ मनोव्यापार का
नियम नहीं और नाही उक्त उपासना नियम से कर्म का अक्

है, क्योंकि केवल कर्म का फल सातिशय तथा अल्पकालस्थायी होता है और ब्रह्मोपासना का फल चिरस्थायी तथा प्राकृत ऐश्वर्य से विलक्षण ब्रह्मानन्दोपभोगक्ष है, अतः कर्मों के अङ्गभूत उपासनाओं में पुनः २ प्रत्ययाद्यत्तिक्ष ध्यान की आवश्यका नहीं।

सं०-अब ब्रह्मध्यान की आहात्त में दृष्टान्त कथन करते हैं:— प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३॥

पदः - पदानवतः । एव । ततः । उक्तमः ।

पदाः - (पदानवतः) हविः पक्षेप की भांति (ततः, उक्तं)
ब्रह्मध्यान पुनः २ कर्त्तव्य है ॥

भाष्य—" एव" पद ब्रह्मध्यान की अवश्यकर्त्तन्यता के बोधनार्थ आया है, जिसमकार यज्ञ में मन्त्रों द्वारा पुनः र हिनः का मक्षेप किया जाता है इसी प्रकार ब्रह्मध्यान में पुनः र मनोष्टित्त का सञ्चार कर्त्तन्य है, इसका विस्तारपूर्वक निक्षपण" उपिन्धिन्द्विभाष्य " के द्वितीयभाग में किया गया है विशेषाभिछाषी वहां देखलें॥

सं २ - ननु, उपनिपदों में कहीं उद्गीथोपासना, कहीं पाणो-पासना तथा कहीं वायु की उपामना पाई जाती है फिर एक परमात्मा की उपामना कैसे ? उत्तरः—

लिङ्गभयस्त्वात्ति बलीयस्तदापे ॥४४॥

पद - लिङ्गभृयस्त्वाद । तत् । हि । बळीयः । तत् । अपि ।

वेदान्तार्यभाष्ये

888

पदा०-(हि) निश्चय करके (लिङ्गभूयस्त्वात) ब्रह्मसम्बन्धी अधिक लिङ्ग पाये जाने से (ततं) उक्त उपासना ब्रह्मपरक हैं और (तत, अपि) वह लिङ्ग भी (बलीयः) ब्रह्मोपासना के मितपादन करने में ही पबल हैं अन्यत्र नहीं।

भाष्य- "आत्मानमुपासीत"=परमात्मा की उपासना करे, इत्यादि उपासनाबोधक वाक्यों में परमात्मविषयक छिद्ग पाये जाने से वायु आदि जड़ पदार्थों की उपासना में तात्पर्य नहीं किन्तु उद्गीथादि परमात्मा के नाम हैं, इसछिये सभी उपासनाओं को ब्रह्मपरक मानना ही ठीक है।

सं०-अव वाजसनेयी अग्निरहस्य प्रकरणगत वाक्यों की संगति के लिये "पूर्वविकल्पाधिकरण"का प्रारम्भ करते हुए प्रथम दो सूत्रों से पूर्वपक्ष करते हैं:—

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामा-नसवत् ॥ ४५ ॥

पंद०-पूर्वविकल्पः। प्रकरणात्। स्यात्। क्रिया। मानसवत्। पदा०-(प्रकरणात्) आहवनीयादि आग्नयों का प्रकरण पाये जाने से (मानसवत्) मानसग्रह की भांति (क्रिया) क्रियामय अग्नियों का ही (पूर्वविकल्पः) विशेष कथन है।

भाष्य-तत् षटित्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनेऽ ग्नीनं " शत० १०। ५ । ३ । १=शगादि इन्द्रियों ने ३६००० इज़ार अभियों का आलोचन किया, इसादि वाक्यों

वृतीयाध्याये-वृतीयः पादः

४४५

से छतीस सइस्र " मनाश्चत " संज्ञक अग्नियों का कथन करके फिर " वाक्चितःप्राणचितः " इस वाक्य से पांच "साम्पा-दिक" इन्द्रियों की दित्तयों को अग्निइप कथन किया है, जिस में यह सन्देह होता है निक मन वा इन्द्रियों की दित्तयों को अग्निक्प चिन्तन करना स्वतन्त्र है किंवा पूर्वपकृत अग्निचयन का अङ्ग है ? पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रकरणपाप्त क्रियामय=आहवनी-यादि आग्नियों का ही यह विशेष उपदेश है स्वतन्त्र विधि नहीं अर्थात जिसमकार द्वादशाह याग के एकादश दिन में ् अन्ते ग्रहंगृह्णाति "=अध्वर्धु मानसग्रह=मन द्वारा चिन्तन किये हुए सोमपात्र का ग्रहण करे, इस वाक्य से उक्त मानसग्रह क्रियारूप द्वादशाह याग का अङ्ग माना जाता है इसी मकार 'बाक् चित्" अ दि पांच साम्पादिक अग्नियें भी पूर्वप्रकृत क्रियामय अग्नियों का विशेष उपदेश है, क्योंकि इससे पूर्व कियाप्रधान अग्नियों का प्रकरण पायाजाता है।

अतिदेशाच ॥ ५६ ॥

पद०-अतिदेशात ।च।
पदा०-(च) और (अतिदेशात) अतिदेश से भी उक्त
अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-" तद्धत्करणमितिदेशः=अप्रधान का प्रधान के समान चिन्तन करना " अतिदेश " कहाता है, अतिदेश भी " साम्पादिक " अग्नियों के अङ्ग होने में साधक पायाजाता है, जैसाकि "तेषामेकैक एव तावान्यावानसी पृर्वः" शतः १०।५।३।११= अनमें से एक २ साम्पादिक अग्नि पूर्वपक्त कियापय अग्नियों के समान है, इसादि वाक्यों से स्पष्ट है कि साम्पादिक अग्नियों को कियाप्रधान पूर्वपक्रत अग्नियों का अङ्ग मानना ही ठीक है।

सं ० - अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :--

विद्येव तु निर्धारणात् ॥ ४७॥

पद०-विद्या। एव। तु। निर्धारंणात्।

पदाः (एवः) निश्चयकरके (निर्धारणातः) विचार करने भे साम्पादिक अग्नियें (विद्याः) पूर्वपकृत अग्नियोंका क्षेत्रः सिद्ध नहीं होतीं किन्तु आध्यात्मिक हैं।

भाष्य-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के लिये आया है
"ते है ते विद्याचित एव " शवः १० । ५ । ३ ।
१२=वाक्चित आदि साम्पादिक अग्नियें "विद्याचित"
कहाती हैं अर्थात एक आग्नियों का आध्यात्मिकक्ष से चिन्तन
करना एक स्वतन्त्र प्रकरण है, इस वाक्यशेष से सिद्ध है कि वाक्
चित आदि आग्नियें कियामय आग्नियों का शेष नहीं।

सं - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

दर्शनाच ॥ ४८॥

पद्०-दर्शनात् । च ।

पदा॰-(च) और (दर्शनात्) दर्शन=लिङ्गममाण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"मनसा सङ्खल्पयन्ति" शत०१०। ५।३।३=

ऋत्विज् लोग मन से ही अग्निटिष्ट करते हैं, इसादि वाक्यगत मन द्वारा चिन्तनक्ष सामर्थ्य में भी यही सिद्ध होता है कि साम्पादिक अग्नियें आध्यात्मिक हैं कियामय अग्नियों का अङ्ग नहीं।

सं ० – नतु, पकरण के विना लिङ्ग स्वार्थ का बोधक न होने से उक्त अग्नियों को क्रिया का शेष मानना ही ठीक है ? उत्तरः –

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाचन वाधः ॥४९॥

पद ० - श्रुसादिवलीयंस्त्वात् । च । न । बाधः ।

पदा०-(श्रुसादिवलीयस्त्वात) श्रुति वाक्य आदि प्रवल प्रमोण पाये जाने से (च) भी मनश्चित आदि अग्नियों की स्वतन्त्र विद्यारूपता का (वाघः) बाध (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य-त्र० म्० ३। ३। ४४ में प्रतिपादन किया हुआ
लिक्तप्रमाण ही केवल साम्पादिक अग्नियों के स्वतन्त्र विद्यापत्त
का गमक नहीं प्रत्युत श्रुति तथा वाक्य प्रमाण से भी उक्त
आग्नियों का क्रियाशेष न होना पायाजाता है, जैमािक "ते हैते विद्याचित एव " शत०१०। ६। ३। १३=वाक्चित
आदि मव अग्नियें आध्यात्मिक हैं, क्योंकि इनमें पश्चाग्निविद्या की
भाति संकल्पद्वारा ही अग्निव की भावना कीर्गई है वस्तुतः
आग्निव विवक्षित नहीं और "विद्याया हैवेत एवंविद्शिचता
भवन्ति " शत० १०। ६। ३। १३=माम्पादिक अग्निविद्
पुरुष गंकल्पद्वारा ही उक्त अग्नियों का चयन करता है,

इस वाक्य से भी उनकी कियाशेषता का निषेध पायाजाता है, यादे उक्त अधियों की कियाशेषता विवक्षित होती वा उक्त अर्थ के बोधन में पकरण का तात्पर्य होता तो उनकी संज्ञा "विद्याचित" न होती और नाही उस पकरण में यह वर्णन किया जाता कि ऐसे विद्वान की दृष्टि में निरन्तर अग्निहोत्र का अनुष्ठान बनारहता है, इससे सिद्ध है कि श्रुति, लिद्र तथा वाक्य ईन तीन प्रमाणों से पकरण की निर्वलता पायेजाने के कारण मनश्चित आदि अग्नियों को पृथक विद्याक्ष्य मानना ही समीचीन है, श्रुसादि प्रमाणों के बलाबल का विचार "मिमांसार्यभाष्य "में विस्तारपूर्वक कियागया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें। सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्तववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

पद्०-अनुबन्धादिभ्यः । मज्ञान्तरपृथक्तवत् । दृष्टः । च। तत्। उक्तम् ।

पदा २ – (प्रज्ञान्तरपृथक्तवत) शाण्डिल्यादि विद्याओं के पृथक्त की भांति (अनुवन्धादिभ्यः) अनुवन्ध आदि हेतु भी उक्त अर्थ के साधक हैं (च) क्योंकि ऐसे स्थलों में (हृष्टः) श्रुति आदि से प्रकरण का बाध पायानाता है (तत्, एक्तम) जैसांकि कर्ममीमांसा में स्पष्ट है।

भाष्य-कियामय अग्निहीत्रक्ष यज्ञ के अन्यवों का मनकी हित्तयों में आरोप करना "अनुबन्धः" कहाता है, जैसाकि

"मनसैवाधियन्त मनसा चीयन्ते मनसैव प्रहा
अगृह्यन्त " शत०१।५।३।३=मन से ही मनिश्चत आदि
अग्नियों का आधान तथा इष्टकों का चयन होता और उपासक
मनद्वारा सोमपात्रों का ग्रहणकरता है इसमकार अनुबन्ध बोधक
वाक्यों से सिद्ध है कि यह सब अग्नियें क्रियामय अग्निहोत्र कर्म
का शेष नहीं अर्थात जिस मकार शाण्डिलिविद्या, दहराविद्या तथा
वैश्वानरविद्या आदि स्वतन्त्र विद्या हैं किसी कर्म का शेष नहीं
वैसे ही साम्पादिक अग्नियों का निक्षण भी स्वतन्त्रविद्याक्ष्य
से किया गया है कर्मशेष हाने के अभिमाय से नहीं।

तात्पर्यं यह है कि जैमे " राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत "=स्वाराज्य की कामना वाला राजा राजस्य
नामक यह करे, इस प्रकरण में जो " तत्र यदि ब्राह्मणो
यजेत " इत्यादि वाक्यों से " अवेष्टि" नामक यह का विधान
किया है जिसको अन्य प्रकरण पठित होने पर भी ब्राह्मणादि
वर्णों के साथ स्वतन्त्र सम्बन्ध पाये जाने से पृथक् याग माना
गया है राजस्य का अङ्ग नहीं वैसे ही कियामय अग्नियों के
प्रकरण में पढ़ें जाने पर भी " मनश्चित" आदि अग्नियें स्वतन्त्र
विद्याद्भप हैं किया वा किसी किया का श्रेष नहीं।

सं०-अव पूर्वपक्षी के कथन किये हुए " मानसवत " दृष्टान्त

का खण्डन करते हैं:-

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि

लोकापत्तिः ॥५१॥

पद०-न । सामान्यात् । अपि । उपलब्धेः । मृत्युवत् । न । हि । लोकापत्तिः ।

पदा०-(सामान्यात्) मन से कल्पना किये हुए ग्रहत्वर्धम की समानता पाये जाने पर भी उक्त अग्नियों को किया का शेष मानना(न) ठीक नहीं, क्योंकि (मृत्युवत्) मृत्युपद वाच्य अग्नि तथा आदित्य पुरुष की भांति दोनों में विलक्षणता (उल्रब्धेः) पाई जाती है और (हि) निश्चयकरके समानधर्म का होनामात्र शेष-शेषिभाव का गमक (न) नहीं होसक्ता, जैमाकि (लोकापितः) पश्चामि विद्या सम्बन्धी द्युलोकादिकों में देखा गया है।

भाष्य—जो ब्र० सू० ३। ३। ४५ में "मानसग्रह" का दृष्टान्त देकर ग्रहत्व धर्म की समानता से मनश्चित आदि अग्नियों को किया का शेष कथन किया है अर्थात जिसमकार सोमपात्र तथा मानसग्रहों में ग्रहत्वधर्म की समानता से वह क्रिया के शेष हैं इसी प्रकार अग्नित्वधर्म की सहशता से मनश्चित आदि भी किया के शेष हैं, यह इसिल्पे ठीक नहीं कि कई प्रमाणों से उनका पुरुषार्थ=पुरुष से लिये होना पाया जाता है कत्वर्थ=क्रतु के लिये नहीं, यदि उक्त अग्नियें कत्वर्थ होतीं तो प्रकरण का बाध न पाया जाता, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, इससे सिद्ध कि "मनश्चित" आदि आध्यात्मिक अग्नियों में क्रिया की श्वेषता नहीं, दुसरीबात यह है कि जिस वाक्य से जिसकी समानता पाई जाय वह उसी का स्त्रहण अथवा उसका श्वेष होता है,

यह नियम नहीं, क्योंकि इसका कई एक स्थलों से व्यभिचार देखा जाता है, जैसाकि "स एष एव मृत्युर्य एष एत-स्मिन्मण्डले पुरुषः " शत०१०।५।२।३= त्रो इस आदित्य मण्डल में पुरुष=परमात्मा व्यापक है वही मृत्यु=सव का संहार करनेवाला है, इस वाक्य से परमात्मा का मृत्यु कथन करके फिर बृहदा० ३।२।१० में वर्णन किया है कि " अग्रिवे मृत्युः"= अग्नि ही मृत्यु है, इसमकार आदित्य पुरुष तथा अग्नि में मृत्यु ् शब्द का समान प्रयोग होने पर भी उन दोंनों को सर्वथा एक इप नहीं माना जाता इसीमकार उक्त दृष्टान्त के सदृश प्रकृत में आध्यात्मिक मनश्चित आदि तथा वाह्य आहवनीयादि अग्नियों में अग्निपद की समानता होने पर भी उनकी विलक्षणता बनी रहती है किंवा पञ्चामिविद्या प्रकरण पठित द्यु आदि लोकों में अग्नित्व की कुल्पना करते हुए समिद् तथा अङ्गारादि की कल्पना कीगई है पर उनमें वास्तविक अग्नित्व विवक्षित नहीं और नाही उनका े प्रतिपादन करना किसी कर्म का शेष माना गया है इसी प्रकार उक्त आध्यात्मिक अग्नियों में आहुति आदि की कल्पना होने पर भी उनको किसी का शेष मानना इष्ट नहीं किन्तु स्वतन्त्र विद्यापस स्वीकार करना ही समीचीन है।

परेण च शब्दस्य तादिध्यं भूयस्त्वा-

त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

वेदान्तार्घभाष्ये

पद् ०-परेण। च । शब्दस्य । ताद्विष्यं । भृयस्त्वात् । दु । अनुबन्धः ।

पदा०-(च) और (परेण) उत्तर ब्राह्मण में (बाब्दस्य, ताद्विध्यं) उक्त अग्नियों का वाचक स्वतन्त्र विद्याशब्द पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है (तु) और जो उनका (अनुबन्धः) क्रियामय अग्नियों के प्रकरण में सम्बन्ध है वह (भूयस्त्वाद) कई एक अङ्गों के साथ सहशता दिख्छाने के छिये है अन्य अभिपाय से नहीं।

भाष्य-" अयं वाव लोक एषोऽमिचितः" बात० १० १५ १४ १ १ = यह चयन कीहुई अग्नि ही लोक है, इसादि वाक्यों में पृथक् फलवाली विद्या का विधान किया है किसी किया के लिये विधि का उपदेश नहीं किया और जो आहव-नीयादि अग्नियों के प्रकरण में उनका पाठ पहागया है वह अनेक अक्नों की सहशता के बोधनार्थ है जैसाकि पीछे स्पष्ट कर आये हैं, इसिलिये "मनश्चित" आदि अग्नियों का वर्णन शाण्डिल्यादि विद्याओं की भांति स्वतन्त्र विद्याह्म जानना चाहिये।

सं ०-अब पूर्वपक्षी जीव को ब्रह्मरूप कथन करता है :--

एक आत्मनः शरीरेभावात् ॥५३॥

पद् ०-एके । आत्मनः । शरीरे । भावाद ।

पदा॰-(एके) कई एक छोगों का कथन है कि (शरीरे) प्राथव्यादि शरीरों में एक ही (आत्मनः) आत्मा की (भावाद) व्याप्ति पायेजाने के कारण जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं।

भाष्य-"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरा यं

पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं " बृहदा॰ ५। ७।

३=जो पृथिवी के भीतर स्थिर होकर पृथिवी का अन्तरात्मा है
जिसको पृथिवी नहीं जानती और पृथिवी जिनका शरीर है,इसादि
अन्तर्यामी ब्राह्मणगत पृथिव्यादि शरीरों में व्यापक एक ही
अन्तर्यामी आत्मा कथन कियागया है दूसरा नहीं, इससे सिद्ध है
कि दूसरा आत्मा न होने के कारण जीव ब्रह्म का भेद नहीं
किन्दु तत्तदुपाधिविशिष्ट ब्रह्म ही जीव है।

सं०-अव उक्त पूर्वपक्षं का समाधान करते हैं :--

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्नतूपल-व्धिवत् ॥५४॥

पद् ०-व्यतिरेकः। तद्भावाभावित्वात् ।न।तु। उपल्लिबनत्।

पदा०-(तद्भावाभावित्वात) ब्रह्म के सर्वज्ञतादि धर्म न पायेजाने से जीव (व्यतिरेकः) ब्रह्म नहीं होनक्ता (तु) क्योंकि शास्त्र उसको (उपलब्धिवत) ब्रह्म की भांति प्रति-पादन (न) नहीं करता।

भाष्य-सर्वज्ञत्व तथा सर्वनियन्तृत्वादि धर्म ब्रह्म में ही हो सक्ते हैं जीव में नहीं, क्योंकि जीव अल्पशक्ति तथा परिच्छिन और ब्रह्म सर्वशक्तिमान तथा व्यापक होने से दोनों भिन्न २ हैं एक नहीं, जैसाकि "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्धित "

श्वेता० ४। ६ = जीव कर्मफल का भोक्ता और ईश्वर साक्षी रूप से कर्मफछदाता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि जीव ब्रह्म का भेद है अभेद नहीं, और जो अन्तर्यामी ब्राह्मण के प्रमाण से एक ही आत्मा को अन्तर्यामी कथन किया है उससे वादी की इष्टिसिद्धि नही होती, क्योंकि वहां एकमात्र परमात्मा ही अन्तर्यामी प्रतिपादन कियागया है जीव नहीं, दूसरी बात यह है कि " एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः " बृहदा०५। ७ । ३=हे श्वेतकेतो ! वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी है, इस वाक्य-द्रोषगत षष्ठीविभक्ति वाले "ते" पद द्वारा जीवात्मा का बर्झ से स्पष्ट भेद पायाजाता है. यदि जीव ब्रह्मरूप होता लो " वही तेरा आत्मा है " यह कदापि वर्णन न किया जाता, क्योंकि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग भेद में होता है अभेद में नहीं,इसपकार वाक्यों का विचार न करके जीव को ब्रह्मक्य कथन करना मायावादियों का साहसमात्र है।

और जो स्वामी शं० चा० जी ने इस अधिकरण को देह से प्रथक आत्मा की सिद्धि में लगाया है सो ठीक नहीं, क्योंकि "नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच ताभ्यः " ब्र० स्र० २।३। १७ में जीवात्मा को देह से प्रथक अनादि नित्य सिद्ध किया है, उक्त स्रव के भाष्य में "तत्सृष्ट्रवा तदेवा- नुप्राविद्यात् " तै०२।६।१ इसादि औपनिषद वाक्यों की मतीक रसकर स्वामीजी स्वयं यह सिद्ध कर आये हैं कि सब भूतों में अनादि

तृतीयाध्याये-तृतीयःपादः

४५५

अनन्त ब्रह्म ही जीवभाव से प्रविष्टहुआ है उसका शरीर नाश से कदापि नाश नहीं होता फिर यहां पिष्टपेषण की क्या आवदयकता थी, यदि यह कहाजाय कि आत्माधिकरण में जीव को उत्पत्ति शुन्य तथा अतादि अनन्त सिद्ध किया है और यहां शरीर से भिन्न मतिपादन करने से विशेषता है तो यहां केवल इतना ही मष्टन्य है कि क्या अनादि अनन्त सिद्ध करने पर शरीर से भिन्न जीवात्मा की सिद्धि नहीं होती ? और वात यह है कि स्वा० शङ्कराचार्यंजी ने आत्माधिकरण, प्रयोजनवत्त्वाधिकरण, इतरव्यपदेशाधिकरण, "अरिम्भणाधिकरण और वाक्याधिकरण में आत्मा की उत्पत्ति का निषेध करते हुए कई एक उपनिषदों के वाक्य उद्धृत किये हैं, जैसाकि "न जायते म्रियते वा विपश्चित् " कठ० २। १८=जीव न उत्पन्न होता और न मरता है "न जीवो म्रियते" छां ६। ११। ३= जीव का कदापि नाश नहीं होता, जब उसर अधिकरण में उद्धृत किये हुए पमाणों से भले प्रकार आत्मा का अनादि अनन्त होना सिद्ध कर आये हैं फिर इस अधिकरण को देह से भिन्न आत्मा की सिद्धि में लापन करना पिष्टपेषण होने से पुनरुक्त नहीं तो क्या है, अस्तु इससे वैदिकसिद्धान्त की क्या हानिं, पत्युत अद्वैतवाद में यह दोष आता है कि कई एक अधिकरणों में ब्रह्मरूप जीव को अनादि अनन्त सिद्ध किया और इस अधिकरण में आत्मा को देहातिरिक्त कथन करते हुए वैदिक द्वैतवाद की ही शरण ली।

. वेदान्तार्यभाष्ये

४५६

सं ० - प्रासिक विचार समाप्त करके अब पुनः पूर्व पक्त गुणोपसंहार का कथन करते हैं: --

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्॥५५॥

पद्-अङ्गाववद्धाः। तु। न। शाखासु। हि। प्रतिवेदम्।
पदाः - "तु" शब्द सर्वत्र उपसंहार सिद्धि के छिये
आया है (हि) निश्चयकरके (अङ्गाववद्धाः) उद्गीथादि
उपासनाओं का (शाखासु) सब शाखाओं में उपसंहार होता
है केवळ (प्रतिवेदं) स्व २ शाखा में ही (न) नहीं।

सं०-ननु, एवं सर्वत्र उपसंहार करने से पुनरुक्तदोष की आपित होगी ? उत्तरः—

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥५६॥

पद०-मन्त्रादिवत् । वा । अविरोधः ।

पदा॰-(मन्त्रादिनत्) मन्त्रादि की भांति (अविरोधः)
पुनरक्तदोष नहीं आसक्ता।

भाष्य—"वा" शब्द शङ्का की व्याद्यत्ति के लिये आया है, जिस मकार यज्ञ के अङ्गभृत अन्यशाखागत मंत्रों का दूमरी शाखाओं में उपयोग होता है पर पुनरुक्ति नहीं इसी मकार शाखान्तर्गत उपासनाओं का दूमरी शाखा में उपसंहार करने पर भी पुनरुक्त दोष की आपत्ति नहीं।

सं ० - ननु, छान्दोग्यगत नारद तथा सनतंकुमार के संवाद

तृतीयाध्याये-तृतीयःपादः

860

में मन, सङ्कल्प आदि अनेक पदार्थों को उपास्य कथन किया है, इसिछिये एक ही परमात्मा को उपास्य मानना ठीक नहीं ? उत्तरः—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि द्शियाति ॥५७॥

पद०- भूम्नः । क्रतुवत । ज्यायस्त्वं। तथा। हि। दर्भयाते।
पदा०-(क्रतुवत) यज्ञ की भांति (भूम्नः, ज्यायस्त्वं)
परमात्मा ही सर्वोपिर जपास्य है (हि) क्योंकि (दर्भयति, तथा)
शास्त्र से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-जिसमकार दर्शपौर्णमासादि यहाँ में प्रयाजादि अपने २ प्रधान याग के उपकारी होते हैं, क्योंकि अर्ज़ों में सब से प्रधान अर्ज़ी होता है इसी प्रकार नारद तथा सनत्कुपार के संबाद में भूमा=ब्रह्म ही सर्वोपिर उपास्य अभिषेत है अन्य नहीं, जैसाकि "यो वे भूमा तत्सुत्व" छां० ७।२३। १= ग्रुल्क्प ब्रह्म ही जानने तथा उपासना करने योग्य है, इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है, उक्त प्रकरण में मन आदिकों का वर्णन भूमा=ब्रह्म की उपासना का उपकारी है वस्तुतः मन आदि की उपासना में तात्पर्य नहीं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपिन्षद्रार्थभाष्य" के द्वितीय भाग में किया गया है जिह्नाम्च वहां देखलें।

सं०-नतु, उपास्य ब्रह्म का अभेद होने से शाण्डिस्य तथा दहरादि उपासर्थे एक ही हैं नाना नहीं ? उचरः—

वेदान्तार्यभाष्ये

466

नाना शब्दादिभेदात् ॥५८॥

पद०-नाना । शब्दादिभेदात ।

पदा०-(शब्दादिभेदात) शब्दभेद से उक्त उपासनायें (नाना) नाना हैं।

भाष्य-वेद, उपासीत तथा सक्रतं कुर्वित इत्यादि शब्दों का भेद पाये जाने से उपास्य ब्रह्म एक होने पर भी शाण्डिल्यादि उपासना नाना हैं एक नहीं अर्थाद जैसे यजित, जुहाति आदि कियाओं का भेद होने से कर्म का भेद होता है इसी प्रकार प्रकरणभेद द्वारा ईश्वरीय गुणों का पृथक् २ उपदेश पाये जोने मे एक उपास्य होने पर भी उपासना भेद से नाना उपासनाओं के होने में कोई बाधा नहीं।

सं ० - ननु, दर्शादि यागों की भांति एक ही पुरुष को सब उपासना कर्त्तव्य हैं अथवा उनका विकल्प है ? उत्तर :--

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५९॥

पद्-विकल्पः। अविशिष्टफलत्वात्।

पदा॰-(अविशिष्टफल्लाव) फल का भेद न होने से (विकल्पः) उक्त उपासनाओं का विकल्प है।

भाष्य-सब उपासनाओं का ईश्वरसाक्षात्कार द्वारा ऐश्वर्य प्राप्तिक्ष्प फलसमान होने से शाण्डिल्यादि उपासनाओं का विकल्प है समुचय नहीं अर्थाद जिसकी जिस उपासना में रुचि हो उसी का अनुष्ठान करने से ईश्वर का साक्षात्कार तथा मुक्तिक्ष ऐश्वर्य का लाभ होता है, अतएव एक के लिये सब उपासनाओं का अनुष्ठान आवश्यक नहीं।

सं ० - अव काम्य उपासनाओं में उक्त नियम का अभाव

काम्यास्तु यथाकामं समुचीयेरन्नवा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

पदा०-काम्याः । तु । यथाकामं । समुच्चीयेरन् । न । वा । पूर्वहेत्वभावाद ।

पदा०-"तु" शब्द आशङ्का की निष्टत्ति के लिये आया है, (कोर्स्पाः) काम्य उपायनाओं का (यथाकामं) इच्छानुसार (समुच्चीयेरन्) समुच्चय (वा) अथवा विकल्प होता है, क्योंकि उनमें (पूर्वहेत्वभावात) फळ की एकता (न) नहीं पाई जाती।

भाष्य-काम्य=लौकिक फल देने वाली उपासनाओं का समुचय वा विकल्प अनुष्ठाता की इच्छा पर निर्भर है अर्थाद जिसमकार पुत्रेष्टि तथा कारीरी आदि यक्कप काम्य कर्मों का अनुष्ठान कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर होता है इसी मकार काम्य उपासनाओं का अनुष्ठान करना भी उपासक की इच्छानुमार जानना चाहिये।

सं ० - अव कर्गाङ्गभूत उपामनाओं के समुचय तथा विकल्प में चार मुत्रों द्वारा पूर्वपक्ष करते हैं :--

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥६१॥

पद् ०-अङ्गेषु । यथाश्रयभावः ।

पदा०-(अङ्गेषु) कर्माङ्गभूत उद्गीथादि उपासनाओं में (यथाश्रयभावः) आश्रय अनुसार ही विधान होता है।

भाष्य-यहादि कमें की अङ्गभूत उद्गीयादि उपासनाओं में कमं विषयक देशकोषिभाव की भांति समुचय मानना ठीक है विकल्प नहीं अर्थाद जिस प्रकार प्रयाजादि सब अङ्ग मिलकर अपने अङ्गी दिशेपीणमासादि यागों को सम्पादन करते हैं इसी प्रकार सब अङ्गोपासना अपनी प्रधान उपासनाओं को सम्पादन करती हैं, इसलिये सब उपासनाओं का समुचयह्य से अनुष्ठान करना चाहिये।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :-

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

पद०-शिष्टेः। च।

पदा०-(च) और सब शाखाओं में (शिष्टेः) समान विधि पायेजाने से भी उक्त उपासनाओं का समुख्यय है विकल्प नहीं।

समाहारात्॥ ६३॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(समाहारात्)समाहार से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती हैं।

भाष्य-" होतृषदनाँ द्वापि दुरुद्गीतमनुसमाह-रति " छा०१। ५। ५=ऋग्वेदियों के भणव तथा सामवेद

तृतीयाध्याये-तृतीयःपादः

सम्बन्धी उद्गीय की एकता को जानने वाला उद्गाता यह में उत्पन्न हुई सामगान की अधुद्धि को दूर करता है, इस मकार होता के स्थान में स्थित होकर होत्कर्म द्वारा सामगान की द्वाट को दूर करना "समाहार" कहाता है जिससे सिद्ध होता है कि यज्ञानुष्ठान में सब यज्ञ मम्बन्धी उपासनाओं का समुच्चय है विकल्प नहीं।

गुणसाधारण्यश्रुतेरच ॥ ६४॥

पद०-गुणसाधारण्यश्रुतेः । च ।

पदा०-(च) और (गुणसाधारण्यश्रुतेः) गुण की समान श्रुति पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-" तेनेयं त्रयी विद्या वर्त्तते ओमित्या-श्रावयति " छां० १।१। ९=ओंकार से ऋग्,यज्जतथा साम-

अ। प्यात कर्म क्या विद्या प्रदेश होती है और ओङ्कार का उच्चारण करके ही होता, आध्वर्य तथा उद्गाता अपने २ होत्रादि कर्मों में प्रदेश होते हैं अन्यथा नहीं, इसादि वाक्यों द्वारा ओङ्कार का उच्चारण सब के लिये साधारण कथन किया है इससे भी यही पायाजाता है कि कर्माङ्गभूत उद्गीधादि उपासनाओं का समुच्चय है अर्थाद उक्त उपासनायें चातुहीं जं कर्म करने वाले सभी पुरुषों के लिये अनुष्ठेय हैं।

सं ० - अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :--

नवा तत्सहभावाश्रुतेः ॥६५॥

४६२

वेदान्तार्थभाष्ये

पद०-न। वा। तत्सहभावाश्रुतेः।

पदा०-" वा " शब्द पूर्वपक्ष की व्याद्यत्ति के छिये आया है (तत्सहभावाश्चतेः) अपासनाओं के युगपत् अनुष्ठान को विधानन पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य-जिस प्रकार यज्ञ के अङ्गों का साथ २ अनुष्ठान पायाजाता है वैसे उपासनाओं का नियम न होने से कर्मों के साथ समुच्चय मानना ठीक नहीं अर्थाद कर्माङ्गभूत उपासनाओं के विना भी यागादि कर्मों के अनुष्ठान में कोई दोष नहीं, क्योंकि केवल कर्म तथा उपासना सहित कर्मानुष्ठान का फलभेद है जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं।

सं ० - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :--

दर्शनाच ॥ ६६॥

पद०-दर्शनात्। च।

पदा०-(च) और (दर्शनात्) श्रुति में भी उपामनाओं कें सह विधान की मिद्धि नहीं होती।

भाष्य-एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वोश्च-तिंजोऽभिरक्षतिं " छां ०४। १०। १०= उद्गीध विद्यावित् ब्रह्मा नामक ऋतिज यज्ञ. यजमान तथा अन्य सब ऋतिजों की रक्षा करता है, इस प्रकार एक ब्रह्मा के ज्ञान द्वारा सब की रक्षा कथन करने से सिद्ध है कि उक्त उपामनाओं का समुच्चय नहीं किन्तु अनुष्ठाता की इच्छा पर समुच्चय वा विकल्प दोनों होसक्ते हैं।

इति तृतीयःपादः समाप्तः

तृतीयाध्याये-चतुर्थःपादः

४६३

अथ चतुर्थःपादः प्रारम्यते

सं०-अब मुक्ति के साधनों का विस्तारपूर्वक निरूपण करने के छिये इस पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम ज्ञान कर्म का समुच्चय कथन करते हैं:—

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः॥१॥

पद् - पुरुषार्थः । अतः । शब्दाद । इति । बादरायणः ।

पदा०-(अतः) ज्ञान कर्म के समुच्चय से (पुरुषार्थः)
योक्षक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि होती है (इति, बादरायणः)
यह बादरायण आचार्य्य का मत है।

भाष्य-" तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति " यजु॰ ३१।
१८=पुरुष परमात्मज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण करणाता है
"तिरति शोकमात्मिवित् " छां॰ ७।१। ३=आत्मवेणा
शोक से पार होजाता है, इत्यादि बाक्यों में केवल ज्ञान ही मुक्ति का
साधन माना है, यह कथन इसिलये ठीक नहीं कि ज्ञान कर्म दोनों
भिलकर मुक्ति के साधनमाने गये हैं. जैसाकि 'तमेतं वेदानुवचनेन
ब्राह्मणा विविदिपन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"
बृहदा॰ ४।६। १२=ब्राह्मण लोग यज्ञ, दान तथा तप द्वारा
परमात्मा के जानेने की इच्छा करते हैं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है
कि बादरायणाचार्य्य का यह मत वेदानुकूल होने से मब वैदिकों
को उपादेय है।

वेदान्तार्घ्यभाष्य

8 देश.

स्मरण रहे कि बेदिक सिद्धान्त में यहादि कर्मी का ज्ञान के साथ क्रमसमुच्चय और निदिध्यासन इप कर्म का समसमु-चय माना है।

सं०-अब जैमिनि आचार्य छ सूत्रों द्वारा उक्त अर्थ में

दुर्वपक्ष करते हैं:-

शेषत्वात्प्ररुषाथवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २॥

पद्-कोषत्वात् । पुरुषार्थवादः । यथा । अन्येषु । इति । जैमिनिः ।

पदा०-(इति, जैमिनिः) जैमिनि आचार्यं का कथन है कि (शेषत्वाद) कमें का शेष होने से (पुरुषार्थवादः) ज्ञान मोस का साधन है (यथा, अन्येषु) जैसाकि अन्य छौकिक दृष्टान्तों से स्पष्ट है।

भाष्य-जाद्यने आचार्य का कथन है कि जिसमकार स्वीकिक आहार विहारादि क्रियाओं का ज्ञान अङ्ग है अर्थाद सस्य क्रिया की सिद्धि से प्रथम ज्ञान अपोक्षेत होता है पश्चाद कर्चा अपने ज्ञानद्वारा तत्त्व कर्म को सम्पादन करके इष्टफल को प्राप्त होता है, इसी प्रकार ज्ञान भी यज्ञ तथा निद्धियासनादि कर्मों का अङ्ग होने से मोक्ष का साधन है स्वतः नहीं, इसी आभपाय से छां० ८। १५। १ में वर्णन किया है कि "स खल्वेवं वर्चयन्यावदायुषं ब्रह्मलोक्नमभिसम्पद्यते"=पुरुष इन्द्रियों

का संयम करता हुआ यागादि कर्मों के अनुष्ठान से महालोक को प्राप्त होता है, इसपकार ज्ञान के अनन्तर कर्मानुष्ठान को मुक्ति का साधन कथन करने से सिद्ध है कि कर्म ही मुक्ति का मुख्य साधन है।

आचार दर्शनात्॥ ३॥

पद ०-एकपद ०।

पदा०-(आचारद्रशनात) शिष्टाचार से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"जनको हवे वेदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे॰"
बृहदा॰ ३।१।१=राजा जनक ने बहुत दक्षिणा वाले यह से
परमात्मा का यजन किया, इसादि वाक्यों से सिद्ध है कि हान
होने पर भी शिष्ट लोग कमों का अनुष्ठान करते हैं, यदि हान
स्वतः ही मुक्तिका साधन होता तो उक्त वाक्य में शिष्टों का कर्मानुष्ठान वर्णन न किया जाता,इससे सिद्ध है कि शास्त्र का तात्पर्य्य
कर्मानुष्ठान की मुख्यता में है समुच्यवाद में नहीं ॥

सं ० – अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं ।-

तच्छुतेः । ४।

पद०-तत । श्रुतेः ।
पदा०-(श्रुतेः) श्रुति से भी (तत) ऐसा ही पायाजाता है।
भाष्य-"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा
तदेव वीर्यवत्तरं भवति " छान्दो० १। १। १०=जो विद्या

वेदान्तार्यभाष्ये

४६६

पूर्वक श्रद्धा से कर्मानुष्ठान करता है वही फलीशृत होता है, इसादि प्रयाण भी कर्मों की मुख्यता को ही बोधन करते हैं, इसलिये कर्म ही मुक्ति का साधन हैं।

समन्तारम्भणात् ॥ ५॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(समन्तारम्भणात) समन्तारम्भण=परछोक में विद्या तथा कर्मों का सहायक होना उक्त अर्थ का साधक है।

भाष्य-"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" बृह० ४। ४ । २=विद्या तथा कर्म दोनों ही परछोक में जीवात्मा के सहा-यक होते हैं, इसादि वाक्यों में कथन किये हुए समन्वारम्भण से सिद्ध है कि विद्या=ज्ञान कर्मों का अङ्ग है।

तहतो विधानात्। ६।

पद् -तद्वतः । विधानात् ।

पदा॰-(तद्वतः) विद्वान के लिये (विधानात्) कर्मी का विधान पायेजाने से ज्ञान स्वतन्त्रतया मुक्ति का साधन नहीं।

नियमाच । ७।

पद०-नियमात् । च।

पदा०-(च) और (नियमात्) यावदायुष कर्मानुष्ठान का नियम पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत छसमाः" यजु० ४०। २=पुरुष यावदायुष कर्म करता हुआ ही सौर्वष पर्थित जीने की इच्छा करे, ऐसा करने बाला कदापि पाप में लिए। यमान नहीं होता, इसादि कमी नुष्ठान के नियम से स्पष्ट है कि विद्या कर्म का अङ्ग है और अङ्ग होने से मुक्तिकप फल के उत्पादन करने में मुख्य न होने के कारण सिद्ध है कि कर्म ही मुक्ति का साधन है।

सं०-अव उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् । ८ ।

पद् ० - अधिकोषदेशात्। तु। बादरायणस्य। एवं। तद्दर्शनातः। पदा० - (बादरायणस्य) बादरायणाचार्य्य का कथन है कि (अधिकोषदेशात्) अधिक उपदेश पायेजाने से शान कर्यों का अङ्ग नहीं, क्योंकि (एवं, तद्दर्शनातः) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-महर्षि व्यास का कथन है कि यज्ञादि कर्मी की अविशा ज्ञान परमात्मसाक्षात्कार में साक्षात्साधन है कर्म नहीं, इसि छिये उसको यज्ञादि कर्मी का अङ्ग कथन करना ठीक नहीं, इसी अभिनाय से यज्ञ० ३१। १८ में वर्णन किया है कि "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति "=पुरुष परमात्मसाक्षात्कार से ही जन्ममरणात्मक वन्धन से रहित होजाता है, और "परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते " छां० ८।१२। ३=पुरुष परवह्म को न्राप्त होकर ही अपने

388

शुद्ध स्वरूप से सम्पन्न होता है, इससे सिद्ध है कि यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा प्रधान होने से ज्ञान कर्मों का अङ्ग नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि ज्ञान तथा कर्म दोनों मिलकर ही युक्ति के साधन होते हैं, जैसाकि प्रथम सूत्र में वर्णन किया गया है, और जो स्वामी बङ्कराचार्य "अधिकोपदेश" पद के अर्थ मे जीव का ब्रह्म होना सिद्ध करते हुए ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान में कर्मों की अपेक्षा का सर्वथा अभाव कथन करते हैं वह इसिछिये ठीक नहीं कि " यज्ञेन दानेन " बृहदा० ४ । ५ । १२ इत्यादि वाक्य ज्ञान को कर्मसापेक्ष प्रतिपादन करते हैं सर्वथा निरपेक्ष नहीं, अद्वेतवादी आचार्य का अभिपाय यह है कि तस्वज्ञान मिथ्याज्ञान का निवर्त्तक होता है, इस नियम के अनुसार कर्म संसारक्ष मिथ्या बन्ध के निवर्त्तक नहीं होसक्ते, क्योंकि रज्जुसर्पादि मिध्या पदार्थों की निरात्ति के छिये किसी कमीनुष्ठान की आवश्यकता नहीं देखी जाती किन्तु अधिष्ठानभूत रज्जु का साक्षात्कार ही सर्प निष्टांच के लिये अपेक्षित होता है, उनका यह कथन इसिलये ठीक नहीं कि जब संसार में मुखदुः स की विचि-त्रता तथा सुलपाप्ति और दुःखनिष्टत्ति के छिये जीवों का व्या-पृत होना पत्यक्ष देखा जाता है फिर उसको मिध्या क्योंकर माना जाय ! और नाही उसके मिथ्या होने में कोई प्रमाण वा तर्क उपलब्ध होता है, इसलिये ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान को बाधक मानकर कर्मों का खण्डन करनाठीक नहीं, दूसरी बात यह है कि "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्चतेरश्ववत्"व०स्०३।४। २६ इस

सुत्र के भाष्य में स्वामी शं० चा० जी ने स्वयं खिसा है कि
"अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनिपेक्षेव "=िवद्या=ब्रह्मज्ञान अपनी उत्पत्ति के छिये सब आश्रम
कर्मी की अपेक्षा रखता है अर्थाद ब्रह्ममाप्ति के छिये झान
सर्वथा कर्मनिरपेक्ष नहीं, इस मक्षार जब अद्वैतिविद्याचार्य्य स्वयं
ज्ञान में कर्मी की अपेक्षा कथन करते हैं फिर न जाने उनके अनुयायी किस बछ से ज्ञान को कर्मनिरपेक्ष मानते हैं, अधिक क्या
मायाबादियों का ज्ञान से कर्मी का नाश्च तथा ज्ञान को कर्मनिरपेक्ष
मानना कदछीस्तम्भवन्द निस्सार मतीत होता है।

सं ० - अब ज्ञान कर्म का समुचय कथन करते हैं:--

तुल्यन्तु दर्शनम्॥९॥

पद ०-तुल्यं । तु । दर्शनम् ।

पदा०-(तु)निश्चयकरके (दर्शनं) ज्ञान तथा कर्म का वर्णन (तुल्यं) समान है।

भाष्य-मुक्ति के लिये ज्ञान तथा कर्म दोनों का सहकारी होना समान पाया जाता है, जैयाकि प्रथम सूत्र में वर्णन किया है, इसलिये उक्त दोनों का समसमुख्य मानना ही ठीक है क्रमस-मुख्य नहीं।

सं ० - नतु, शुक्तिरजत के समान प्रपश्चक्य बन्ध मिथ्या होने से उसका ज्ञान द्वारा वाध होना ही पुरुषार्थ है ? उत्तरः

असार्वत्रिकी ॥१०॥

पद >-एकपद ०।

पदा०-(असार्वत्रिकी) जिसकी ज्ञानद्वारा निष्टांत हो बही पुरुषार्थ होता है यह अव्यभिचारी नियम नहीं।

भाष्य-यह अव्याभचारी नियम नहीं कि ज्ञान मिध्या का निवर्षक होकर ही पुरुषार्थ होता है अन्यथा नहीं अर्थाद अमस्थल में उक्त नियम के होने पर भी सत्य पदार्थों में यह नियम व्याभचारी होजाता है, और जगद सत्यक्ष्प है जैसाकि "आरम्भणाधिकरण" में प्रतिपादन कर आये हैं, इसलिये केवल आत से सुक्ति न मानकर ज्ञान की दोनों को सुक्ति का साधन मानना ही संमीचीन है।

सं ० - अव ज्ञान कर्म का आंशिक फलभेद कथन करते हैं: -

पदः -विभागः । शतवत् ।

पदा०-(शतवत्) शत की भांति (विभागः) ज्ञानं तथा कर्मों का फलभेद है।

भाष्य-जिसमकार किसी ने कहा कि इन दोनों को सौ हिपये दे दो, इस वाक्य को सुनकर श्रोता दोनों को पचास २ हिपये बांट देता है इसी मकार बृह०४।४। २ में कथन किये हुए एक ही वाक्य से विद्या तथा कर्म का आंशिक फलभेद पायाजाता है अर्थात अपहतपाप्मादि धर्मों का धारण करना निदिध्यासनक्ष्य कर्म का फल और आनन्दानुभव ब्रह्मज्ञान का फल है, इसमकार आंशिक फलभेद होने पर भी दोनों मिलकर ही सुक्ति के साधन हैं एक २ नहीं।

तात्पर्यं यह है कि तद्धर्मतापित्तक्ष मुक्ति निदिध्यासनक्ष्य कर्म के विना नहीं होसक्ती और कर्मों का होना विद्या के विना सम्भव नहीं, इसिलये दो चक्रों द्वारा रथगित की भांति दोनों मिलकर ही मुक्ति के साधन हैं, इसका विशेष विचार ब्र० सू० ४।४। ५ में किया गया है, इसिलये यहां विस्तार की आवश्य-कता नहीं।

सं०-अब मुक्तिरूप फल के लिये वेदाध्ययन का उपयोग कथन करते हैं:-

अध्ययनमात्रवतः ॥१२॥

े चं पद ०-एकपद ०-

पदा ०-(अध्ययनमात्रवतः) विधिपूर्वक वेदाध्ययन करने बाले पुरुष ही मुक्त होते हैं अन्य नहीं।

सं ० - अब मुक्ति रूप फल में ज्ञान कर्म की समता कथन करते हैं:-

नाविशेषात्। १३।

पदं ०-न । अविशेषात ।

पदा०-(अविशेषात)दोनों मिलकर मुक्तिक्प फल का साधक होने से ज्ञान तथा कर्भ का विशेष भेद (न) नहीं। सं०-अब अर्थवाद से ज्ञान की मुख्यता कथन करते हैं:-

स्तुतयेऽनुमतिर्वा । १४।

पद०-स्तुतये। अनुमतिः। वा।

पदा ०-(वा) निश्चयकरके (स्तुतये) अर्थवाद से (अनुवितः)
ज्ञान की मुख्यता का कथन है।

भाष्य—" निह ज्ञानेन सहरां पिनत्रिमह विद्यते"
गी० ४। ३८=ज्ञान के सहश कोई पिनत्र पदार्थ नहीं, इत्यादि
बाक्यों में ज्ञान की मुख्यता का कथन अर्थवाद मात्र है अर्थाद
जिज्ञास की किंच बढ़ाने के लिये ज्ञान को सर्वोपिर पिनत्र
कथन किया है कमीनुष्ठान की अपेक्षा सर्वथा उत्कृष्ट नहीं॥
सं०—अब उक्त अर्थ में अन्य आचार्यों का मत कथन करते हैं:—

कामकारेण चैके। १५।

पद०-कामकारेण। च। एके।

पदा०-(च) और (एके) कई एक आचार्य्य (कामकारेण) सकाम कर्मों की अपेक्षा ज्ञान को मुख्य कथन करते हैं।

भाष्य-कई एक आचार्यों का कथन है कि सकामकर्मों की अपेक्षा ब्रान सर्वोपिर है अर्थाद सकाम कर्म मुक्ति के साधन नहीं किन्तु निष्काम कर्म तथा ब्रानयोग यह दोनों ही मुक्ति के साधन हैं, जैसाकि गी०५। ५में वर्णन किया है कि "यत्सां ख्येः प्राप्यते स्थानं तद्योगेरिपि गम्यते "=िजम स्थान को ब्रानी माप्त होते हैं कर्मीजन भी उसी पद के अधिकारी हैं, यदि ब्रान की अपेक्षा कर्मों को सर्वथा निकृष्ट कथन करने का आभिमाय होता तो उक्त वाक्य में ब्रानकर्म की समता कदापि वर्णन की जाती और नाही "कुर्व नेवेह कर्माणि जिजी विषेच्छत ए समाः"

यजु० ४० । २=वैदिक कमों का अनुष्ठान करता हुआ सो वर्ष पर्य्यन्त जीने की इच्छा करे, इत्यादि वाक्यों से कमों की अव-व्यकत्तं व्यता का विधान पायाजाता पर उक्त कर्मविधि के पाये जाने मे सिद्ध है कि ज्ञान कर्म दोनों मुक्ति के साधन हैं और सकाम कमों की अरेक्षा ज्ञान मुख्य है निष्काम कमों की अपेक्षा से नहीं।

सं०-अव सक्ताम कमीं का ज्ञान मे बाध कथन करते हैं:उपमह्श्रि ।। १६ ।।

्र्पद्०-उपमई। च।

पदा०-(च) और ज्ञान मे (उपमई) सकामकर्मी का वाध होजाता है।

भाष्य-" अनाश्चितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः" गी० ५ । १० = फल की इच्छा से रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने वाला पुरुष जल में कमल की भांति पाप कर्मों से लियायमान नहीं होता, इसादि प्रमाणों द्वारा निष्काम कर्मों की उपादेयना पाये जाने से सिद्ध है कि ज्ञानोत्तर काल में सकाम कर्मों का वाध होजाता है निष्काम कर्मों का नहीं।

सं०-अत्र नोष्टिक ब्रह्मचारी के लिये गृहस्य सम्बन्धी कर्मों का अभाव कथन करते हैं:—

उद्धरितः सु च शब्दे हि॥ १७॥ पद०-अर्थरेतः सु। च। शब्दे। हि।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (ऊर्ध्वरेतःसु) नैष्ठिक ब्रह्म-चारियों के लिये गृहस्थ कर्म का विधान नहीं (च) क्योंकि (शब्दे) शब्द प्रमाण से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-"तपः श्रद्धे ये ह्यपवसन्त्यरण्ये " मुं० १।
२।११=नो ब्रह्मचारी निरन्तर बन में रहकर तप तथा श्रद्धा का
अनुष्ठान करते हैं वह उत्तरायण मार्ग द्वारा ब्रह्मछोक को प्राप्त
होते हैं, इसादि वाक्यों से सिद्ध है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के
छिये निरन्तर ब्रह्मचर्थक्षप तप का विधान है गृहस्थ सम्बन्धी
कर्मों का नहीं।

सं ० – अब उक्त अर्थ में जैमिनि आचार्य का मत कथेने करते हैं:-

परामशं जैमिंनिरचोदना चापवदति हि।१८

पद०-परामर्श । जैमिनिः। अचोदना। च। अपनदित । हि। पदा०-(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य (परामर्श) ऊर्ध्नरेतस आश्रमों का अनुनादमात्र मानते हैं (हि) क्योंकि (अचोदना) उक्त आश्रमों की निधि उपछब्ध नहीं होती (च) और (अपनदित) शास्त्र में कर्मों के साम का अपनाद पायाजाता है।

भाष्य-जामिन आचार्य का कथन है कि " त्रयोधर्म-स्कन्धाः " छां०२।२३। १=यज्ञ दान तथा स्वाध्याय यह तीन धर्म के स्कन्ध हैं विधि नहीं इत्यादि वाक्यों में नैष्ठिक ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का अनुवादमात्र है विधि नहीं, क्योंकि उनमें कोई विधि बाधक "लिङ्" आदि पराय वाला पद उपलब्ब नहीं होता और जो
" ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति " छां॰ २ । २ । १२ = ब्रह्मनिष्ठ
अमृत को प्राप्त होता है, इ्यादि वाक्यों से ब्रह्मवेचा का अमृत
होना कथन किया है उसका गृहस्थक भेपरायण होकर ब्रह्मनिष्ठा
में तात्पर्य है, इसी अभिपाय से तैचि॰ १ । ११ में वर्णन किया
है कि " वीरहा वे एष देवानां योऽगिन मुद्रासयते "=
अधिहोत्रादि कर्मों का साग करने वाला देवताओं का वीरहा=शञ्च
होता है,इसादि वाक्यों में कर्मसाग करने वाले की निन्दा की है,
इसलिय एक गृहस्थाश्रम ही मुख्य होने से शेष का अनुवादमान
जानना चाहिये।

सं: - अव उक्त अर्थ में बादरायणाचार्य का मत कथन करते हैं:-

अनुष्ठेयं वादरायणः साम्यश्रुतेः ॥१९॥

पद् ०-अनुष्ठेयं । वाद्रायणः । साम्यश्रुतेः ।

पदा॰-(नाम्यश्चतेः) श्चिति की ममानता पाये जाने से यथा-धिकार (अनुष्ठयं) सब आश्रमों के कर्म अनुष्ठान करने योग्य हैं (वादरायणः) यह बादरायण आचार्य्य का मत है।

भाष्य-बादरायणाचार्य्य यह मानते हैं कि यजु ४०। २ में कथन किये अनुनार यावदायुप कर्मों का अनुष्ठान कर्तव्य है अर्थात मुमुक्ष पुरुष को यथाधिकार सब आश्रमों का अनुष्ठान कर्चन्य है, इसलिंग केवल गृहस्थाश्रम को मुख्य मानकर केष का अपवाद कथन करना ठीक नहीं, क्योंकि अपनी २ कक्षा में सभी जपादेय हैं।

सं ० - अब उक्त अर्थ की पुष्टि में दृष्टान्त कथन करते हैं: -

पद्-विधि:। वा। धारणवत्।

पदा॰-(घारणवत्) धारण की भांति (विधिः) सब आश्रमों के स्थि कर्मानुष्ठान का विधान है।

भाष्य-"वा" शब्द सिद्धान्त के वोधनार्थ आया है,
"अध्रस्तात्सिमिधं धार्यन् "=मेताप्रिहोत्र में नीचे की
और सिमधाधारण करता हुआ हिनः मदान करे,इस वाक्य द्वारा
जिसमकार अन्त्येष्टि संस्कार में सबके लिये सिमधाओं का
धारण करना समान है इसी मकार " कुर्वन्नेवेह" इत्यादि
वाक्यों में विधान किया हुआ कर्त्तव्य भी सब के लिये समानक्ष्य
से कर्त्तव्य है किसी एक ही आश्रम के लिये नहीं, इसी अभिमाय
से वर्णन किया है कि:—

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि चंते न प्रसिद्धचेदकर्मणः॥

गी० २।८

अर्थ-हे अर्जुन!कर्मी का कदापि त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि त्याग की अपेक्षा अनुष्ठान करने से पुरुषको उत्तम फल

तृतीयाध्यायं-चतुर्यःपादः

eey

की प्राप्ति होती है, इसिछिये कर्मों का अनुष्ठान करना मनुष्यमात्र का कर्तन्य है।

सं०-ननु, छां० १।१। ३ में उद्गीय को रसतम कथन किया है, इससे ब्रह्म से भिन्न अन्य उपास्य की सिद्धि होती है ? उत्तरः—

स्तुतिमात्रमुपादानादितिचेन्नापूर्वत्वात्।२१

पद्०-स्तुतिमात्रं । उपादानात् । इति । चेत् । न ।

अपूर्वत्वात् ।

पदा०-(स्तुतिनात्रं, उपादानात) रसतम कथन करने से ब्रह्म से भित्र उपास्य की सिद्धि होती है (चेत) यदि (हाते) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अपूर्वत्वात) उक्त कथन में अपूर्वता पाई जाती है।

भाष्य-" एषां भृतानां पृथिवी रसः " छां॰ १।१।

३=इन भृतों का पृथिवी रस है, इत्यादि वाक्यों से उत्तरोत्तर
पृथिवी तथा जछ आदि को रस कथन करते हुए जो उद्गीय को

रसतम कथन किया है इससे ब्रह्माभिन्न उपास्य इसिछये सिद्ध नहीं
होता कि उक्त शब्द से ओंकार पद वाच्य परमात्मा ही उपास्य
अभिमेत है परमात्मिमन देवातान्तर नहीं, यदि परमात्मा से भिन्न
कोई अन्य पृथिवी आदि देवता उपास्य होता तो उद्गीयस्य
से ब्रह्म को सबका " रसतम " कथन न किया जाता, उक्त कथन
से क्षिद्ध है कि परमात्मा से भिन्न को उपास्य मानना ठीक नहीं,

वेदान्तार्यभाष्ये

sek

इसका विस्तारपूर्वक वर्णन " उपानिषद् र्यभाष्य " के द्वितीयभाग में किया गया है विशेषाभिलापी वशां देखलें। सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

भावशब्दाच ॥२२॥

पद्०-भावशब्दात्। च।

पदा०--(च) और (भावशब्दात्) उपामनावीधक शब्दों से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती हैं।

भाष्य-"उद्गिथमुपासीत" छां० १।१।१=उद्गीथ= प्रणव पद बाच्य व्रक्ष की उपामना करे, इस बाक्य से स्पष्ट है कि इस पकरण में ब्रह्म ही उपास्यक्ष्यत्वेन आभिषेत है अन्य देवता नहीं, क्योंकि सर्वोपार रमतम होना ब्रह्म में भिन्न अन्य किसी पदार्थ में नहीं घटपक्ता, इसिछिये उक्त स्तुतिमात्र से ब्रह्मातिरिक्त अन्य उपास्यदेव की सिद्धि करना वादी का साहसमात्र है।

सं०-अव औपनिषद गाथाओं को दिया की स्तुतिक्ष कथन करने के लिये "पारिष्ठनाधिकरण" का शारम्भ करते हैं:— पारिष्ठवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥२३॥

पद्-पारिष्ठवार्थाः। इति । चेत् । न । विशापतत्वात् ।

पद्मा०-(पारिष्ठवार्थाः) औपनिपद् आख्यान पारिष्ठव कर्म के अङ्ग हैं (चेव) पदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं क्योंकि इस में (विशेपिवत्वाद) पई जाती है।

त्तीयाच्याये-चतुर्थःपादः

४ड९

भाष्य-अञ्चमेध यज्ञ में सपारिवार राजाके श्रवण करने योग्य कथाओं का नाम "पारिप्रव"है, जैसाकि "अश्वमेधे पुत्रादि परिवृताय राज्ञे पारिष्ठवमाचक्षीत" शतः १३। ४। ३। ३=अश्वमेत्र यज्ञ में पुत्रादिनम्बन्धियों से परिष्टत राजा को पारिश्वन=गाथाय सुनार्वे, यह कथन करके फिर कहा है कि " सर्वाण्याख्यानानिपारिष्लवे "=पारिष्ठव संत्रक कमें में स्व आख्यानों को सुनावे, उक्त वाक्यगत निरवधिक "सर्व" शब्द के प्रयोग से यह सन्देह होता है कि जनक,याइवल्क्य तथा इन्द्र, ेक्बईन आदि सभी आख्यायिकाओं का प्रयोग करना आवश्यक है अथवा किसी एक आख्यायिका के प्रयोग की विधि है? इस सन्देह की निवृत्ति इस प्रकार कीगई है कि पारिष्ठव प्रकरण में जिन मनु आदि महींपयों की गाथाओं का सम्बन्ध आया है उन्हीं के सुनने का विधान है आख्यानमात्र का नहीं,इसलिये "याज्ञवल्क्यस्यदेभार्य वभूवतः बृहदा० ४। ६ । १=याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियें थीं, इत्यादि गाथायें ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये हैं उक्त कर्म के अङ्ग नहीं, यही मानना समीचीन है।

सं०-अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :तथाचेकवाक्यतोपबन्धात्।।२४॥
पद्-तथा। च। एकवाक्यतोपबन्धाद।

वेहान्तार्यभाष्ये

460

पदा०-(च) और (एकवाक्यतोपवन्धात) विद्या प्रकरण वें एकवाक्यता पाये जाने से भी (तथा) उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-" याज्ञवल्क्यस्य द्धे आर्थों " इसादि वाक्यों की जलाविद्या मकरण के साथ सङ्गति पाये जाने से सिद्ध है कि सभी औपनिषद गाथायें कर्म के अङ्ग नहीं, यदि सब गाथायें उक्त कर्मों का अङ्ग होतीं तो उनकी पारिष्ठव मकरण के साथ अवश्य एकवाक्यता पाईजाती पर ऐसा न होने से उनको स्वतन्त्र विद्या की स्तुति का हेतु मानना ही ठीक है।

सं०-नतु, ग्रुं० १।२।७ में यज्ञक्य कमी को अहड़=अल्य फल बाला कथन किया है, इसलिये ज्ञान कर्म का समुचय ठीक नहीं ? उत्तर:—

अत एव चार्गिन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५॥

पद् ०-अतः। एव । च । अग्रीन्धनायनेपक्षा ।

पदा०-(च) निश्चयकरके (अतः, एव) यज्ञादि कर्मों का समुचय न होने के कारण (अग्नीन्धनाचन्येक्षा) मुक्ति के छिये अग्निहोत्रादि कर्मों की साक्षात अपेक्षा नहीं।

भाष्य-" एलवा ह्येते ऽहटायज्ञरूपाः " मुं० १।२। अनिश्चय करके यद्वादि कर्म मुक्तिरूप फल के साक्षात साधन न होने से अहड़ हैं. इत्यादि वाक्यों का ज्ञान कर्म सम्बन्धी समुअय के निषेष में तात्पर्य नहीं किन्तु वह मुक्ति का साक्षात्माधन

न होने से अदृ हैं, यदि उनके निषेध में तात्पर्य होता तो यजु॰
४०। २ में यावदायुष कर्मानुष्ठान की विधि कदापि न पाई
जाती, जैसाकि कई एक स्थलों में पीछे वर्णन कर आये हैं,
और नाही गी० १८। ५ में यह वर्णन किया जाता कि:
यह्मोदान तपःकर्म न त्याज्ये कार्यमेव तत्।
यह्मोदान तपश्चेव पावनानिमनी धिणाम ॥

अर्थ-यज्ञ. दान और तप का कदापि त्याग न करे,क्यों कि यह मनुष्य जीवन को पवित्र करते हैं, इससे सिद्ध है कि मुण्ड-क्रिपनिषद् के उक्त वाक्य का कर्मसमुच्चय के निषेध में साल्पर्य नहीं।

सं ० - अब उक्त अर्थ को अन्य मकार से स्फुट करते हैं: -

स्वीपेक्षा च यज्ञादिश्रुतरश्ववत्॥ २६॥

पद्-सर्वापेक्षा। च। यज्ञादिश्चतेः। अश्ववत्।
पद्गः-(च) और (अश्ववत्) अश्व की भांति आत्मविद्या
में (मर्वापेक्षा) सब वैदिक कर्मी की अपेक्षा है, क्योंकि
(यज्ञादिश्चतेः) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-जिसनकार अश्वार्थी पुरुष को यथाभिलिषत देश की शाप्ति के लिये अश्व की अपेक्षा होती है इसी पकार मुमुख पुरुष को सब वैदिक कर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा है, क्योंकि यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान विना परमात्मा की प्राप्ति नहीं होसक्ती, जैसाकि बृहदा० ४। ४। २२में वर्णन किया है कि मुमुक्ष पुरुष

वेदान्तार्यभाष्ये

अक्षमाप्ति के लिये वेदाध्ययन तथा यज्ञादि कर्मी का अनुष्ठान करे, इस मकार यज्ञादि कर्मी के निषेध में शास्त्र का तात्पर्ध्य न होने से सिद्ध है कि वैदिककर्मी का अनुष्ठान मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है।

सं०-अव मुक्ति के शमदमादि साधनों का कथन करते हैं:— शमदमाद्युपेतःस्यात्तथापि तु तद्दिधेस्तद इतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२७॥

पद०-शामदमाद्यपेतः । स्यात् । तथा । अपि । तु । तद्विधेः । तद्कतया । तेषाम् । अवश्यानुष्टेयत्वात् ।

पदा०-(तथा, अपि) गुमुश्च पुरुष अवश्य ही (शमद्या-खुपेतः) शमद्यादि साधन सम्पन्न (स्यात)हो, क्योंकि (तद्विधेः) खनकी विधि पाई जाती है (तु) और (तदङ्गतया) मुक्ति का अङ्ग होने से (तेषां) उनका (अवश्यानुष्ठेयत्वात) अनुष्ठान आवश्यक है।

भाष्य—तस्मादेवं विच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिश्चः समाहितोभूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्याति " बृहदा० ४। ४। २३=श्मण=मन का निरोध, दम=इन्द्रियों का निरोध आदि साधनों से सम्पन्न हुआ परमात्मा का दर्शन करे, इत्यादि वाक्यों में शम दमादि साधनों की विधि पाय जाने और इनके अनुष्ठान बिना मुक्ति का अधिकारी न होसने से सिद्ध है कि मुक्ति का अभिछाषी पुरुष उक्त साधनों का अवश्य अनुष्ठान करे, यहां "श्रमद्रमाद्युपेत" पर से सूत्रकार ने स्वयं स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान कर्म का समुच्चय है। मोस का साधन है,इसी अभिमाय से बृहदा० ४। ४। २१ में वर्णन किया है कि विवेकी पुरुष निद्धियासन ए की से परमात्मा का साक्षात्कार करे, यदि सूत्रकार को कर्मों का ममुच्चय इन्न होता तो श्रमादि साधनों की उपादेयता वर्णन न की जाती और नाही उक्त वाक्य में जनकी विधि का विधान किया जाता पर ऐना न होने से सिद्ध है कि श्रमादि साधन ए की मुक्ति के अङ्ग हैं, सूत्रस्थ श्रमादि पद अष्टाङ्गयोग का उपलक्षण है जिसका वर्णन "योगार्थभाष्य" में अले प्रकार किया गया है।

स्मरण रहे कि यम, नियम, आसन, माणायाम तथा मत्याहार यह पांच बहिरक्ष और धारणा, ध्यान, समाधि यह तीन
अन्तरक्ष साधन हैं, इन साधनों से सम्पन्न पुरुष समाधि की
सम्मक्षात अवस्था को लाभ करता है, जिनमें ईश्वर के सत्यादि
गुणों की ध्यानक्ष द्यांच वनी रहती है उनको "सम्प्रज्ञात
समाधि "कहते हैं, उक्त ममाधि के दृढ़ अभ्यास से योगी सब
दृत्तियों की लयक्ष असम्मक्षात समाधि का लाभ करता है
जिसमें एकमात्र ईश्वर के साक्षा का अवभास होने के कारण
अविद्यादि दोषों से रहित होकर जीव अपने शुद्धस्त्रक्ष को मात्र
होता है, जसाकि " प्रंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनक्षेणाभि
निष्पद्यते "=ईश्वरक्ष परमज्योगि को मात्र होकर निर्मल हुआ

जीव स्वस्वस्य से स्थित होता है, इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है. जीव की यही अवस्था " जीवन्मुक्ति " कहाती है, फिर देहत्याम के अनन्तर केवल्यमुक्ति को प्राप्त हुआ जीव स्वस्वस्य से ही परमात्मा के आनन्द को अनुभव करता और उसके अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करके शुद्ध होजाता है।

ननु-अद्देतवाद की भांति सिद्धान्त में अष्टाङ्गयोग ईश्वर साक्षात्कार की उत्पत्ति का हेतु और ईश्वर का साक्षात्कार मुक्ति का सामात साधन होने से ज्ञानकम का समुख्य कथन करना ठीक नहीं ? उत्तर-आत्यसाक्षात्कारकप ज्ञान से भिन्न कोई पदार्थ नहीं किन्तु निद्धियासनक्षप प्रसय ही ईश्वर साक्षात्कार कहाता है अन्दे ? वह कियादण होने से समुचयवाद में कोई दोष नहीं,इसी भाव से खा॰ "रामानुज" का कथन है कि " मोक्षसाधनतया वेदा-न्तैर्विहितं ज्ञानं ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यय् "श्री॰ था॰=वेदान्त प्रतिपादित मोक्ष का साधनभूत ज्ञान ही ध्यान, उपासना तथा निदिध्यासनादि बाब्दों से व्यवहत होता है. और इसी आवाय को गी० ५। ५ में यों स्फुट किया है कि:-यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरिप गम्यते । एकं सांख्यं च योगं च यःपश्यति स पश्यति । अर्थ-जिस मोक्ष को ज्ञानी माप्त होते हैं उसी को कर्म योगी कर्मानुष्ठान से लाभ करते हैं इस प्रकार तथा कर्म को फलक्ष मे एक जानने वाला

तत्ववेत्ता कहाता है, इसादि गमाणों से स्पष्ट है कि वैदिक सिद्धान्त में ज्ञानकर्म का समुचय ही अभिमृत है अद्वेतवादियों की भांति ज्ञानमात्र को मोक्ष का साधन मानना ठीक नहीं।

सं ० – अब योगी के लिये आपत्काल में खानपानविषयक यथेच्छाचार की अनुज्ञा कथन करते हैं :-

सर्वान्नानुमतिइच प्राणात्यये तहर्शनात् ॥ २८॥

पद्-सर्वाकानुमितः। च। प्राणास्ये। तद्वीनाद।
पदा०-(च) निश्चयकरके योगी के (प्राणास्ये) प्राणजावा काल में (सर्वाकानुमितः) सब अन्नों के अक्षण की आज्ञा
है, क्योंकि (तर्द्वानाद) श्रुति में ऐमा ही पाया जाता है।

भाष्य—"न ह वा एवं विदि किञ्चनानन्नं भवति"
छां०५।२। १=निश्चयकरके पाणिविद्यावित योगी के छिये
कोई पदार्थ अनन्न=अभक्ष्य नहीं अर्थान् वह उत्तम अध्म सब के
अन्न का अधिकारी है, इयादि वाक्यों में अन्नपात्र की अनुमति
पायेजाने से सिद्ध हैं कि आपत्काल में ऊंच नीच के अन्न का
भक्षण करने से योगी दोप का भागी नहीं होता, जैसाकि
भुधानिमित्तक पाणनाशकाल उपस्थित होने पर चाक्रायण
ऋषि हस्तिपक=महाबत के उच्छिष्ट कुल्माव खाने पर किसी
दोष के भागी नहीं बने, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन
" उपनिषद्रार्थभाष्य " के दितीय भाग में किये जाने से
यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

वेदान्तार्यभाष्ये

सं ॰-अब बक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :--अबिधिचिच ॥ २९॥

पद् ०-अबाधात् । च ।

पदा०-(च) और (अवाधात) योगी के सामर्थ्य का बाब न पायेजाने से भी उक्त अर्थ की मिद्धि होती है।

भाष्य-योगानुष्ठान करने से योगी में ऐसा अपूर्व सामध्ये होजाता है जिससे वह उक्त अवस्था में किभी दृषित पुरुष का अश्व सामें विश्व पर भी दोष का भागी नहीं होता।

सं ० - अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं : --अपिच स्मर्यते ॥ ३०॥

पद०-अपि। च। स्मर्यते। पदा०-(च) और (स्मर्यते, अपि) स्पृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-अपिचेदिस पापेभ्यःसर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वे ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥

गी०४। ३६
अर्थ-हे अर्जुन! यदि तुम सब पापियों से बड़े पापी हो
तो भी ज्ञानकप नौका द्वारा भवसागर से पार होजाओंगे अर्थात
आपत्काळ में अपवित्र आहार बिहार करने पर भी ज्ञानबल से
मन्द्रवासना उत्पन्न नहीं होसक्ती, इसादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि

वृतीयाध्याये-चतुर्थः पादः

860

ऐसी दशा में ज्ञानवान अधार्मिक पुरुष का अक खाने पर भी दृषित नहीं होता।

सं ० - ननु, ऐसा मानने पर भक्ष्याभक्ष्य का नियम न रहने से मद्यमांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करना ज्ञानी के छिये दोषकर न रहेगा ? उत्तर :—

शब्दश्चास्याकामकारे ॥ ३१॥

पद ०- शब्दः । च । अस्य । अकामकारे ।

पदा०-(च) और (अस्य) ज्ञानवान के (अकामकारे) अध्यक्ष्य पदार्थ विषयक निषेध में (शब्दः) शब्दममाण पायाजाता है।

भाष्य-" ब्राह्मणः सुरां न पिवेत् " छां॰ ५।२।
१=ब्राह्मण=ब्रह्मविद पुरुष सुरापान न करे " न मांसमइनीयात् "=मांसभक्षण न करे, इसादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि
किसी अवस्था में भी मांनादि अभक्ष्य पदार्थों की अनुज्ञा
नहीं और नाही ज्ञास्त्र का यह तात्पर्ध्य है कि ज्ञान के बल से
ललवेत्ता मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने पर भी दांषत
नहीं होता, अतएव सिद्ध है कि उक्त अभक्ष्य पदार्थों का सेवन
किसी अवस्था में भी न करे।

सं०-अब आश्रम कर्मों की अनुष्ठेयता कथन करते हैं :— विहितत्वाच्चाश्रमकर्माणि ॥ ३२॥ वेदान्तार्यभाष्य

पद्-विहितत्वात । च । आश्रमकर्म । अपि ।
पदा०-(च) और (विहितत्वात) वेदविहित होने से (आश्रपक्रमं) आश्रम के कमों का (अपि) भी अनुष्ठान कर्चच्य है ।
भाष्य-यज्ञादि कर्म जो ब्रह्माविद्या की उत्पत्ति के साधन हैं
वह सब आश्रमी पुरुषों के लिये अनुष्ठेय हैं, जैसाकि
'' यावज्जीवममिहोन्नं जुहोति "=याबदायुष अभिहोज्ञादि
कमों का अनुष्ठान करे, इत्यादि विधिवाक्यों में उनकी अवद्य
कर्चच्यता नोधन की गई है।

सहकारित्वेन च ॥ ३३॥

पद्-सहकारित्वेन ।च।

पदा०-(च) और (सहकारित्वेन) ज्ञान के सहकारी होने से यज्ञादि कर्य ममुख्यमात्र का कर्जव्य हैं।

सं ० - अव बक्त अर्थ का दो सूत्रों से उपसंहार करते हैं: --

सर्वथाऽपि त एवाभयलिङ्गात्।। ३४॥

पद०-सर्वथा। आपि। ते। एव। उभयिलङ्कात्।
पदा०-(सर्वथा, अपि) मव प्रकार से (ते) ज्ञान तथा कर्म
(एव) ही मुक्ति के साधन हैं, क्यों कि श्रुति में (उभयिलङ्कातः)
दोनों का लिङ्क पाया जाता है।

भाष्य—"तमेतं ब्राह्मणा वेदानुवचनेन विविदिषन्ति" शृहदा० ४। ४। २२=ब्राह्मण लोग वेदाभ्यासद्वारा परमात्मज्ञान की इच्छा करते हैं, इत्यादि वाक्यों में ज्ञान और कर्म दोनों का छिड़ पाये जाने से सिद्ध है कि मुक्ति ज्ञान कर्म के समुख्य का फल है केवल ज्ञान वा कर्म का नहीं।

अनिममवञ्च दर्शयति ॥३५॥

पद् ०-अनिभमं। व। द्र्ययति।

पदा०-(च) और शास्त्र में (अनिभभवं) कर्मों का तिरस्कार न पाये जाने से भी (दर्शयति) उक्त अर्थ की ति होती है।

भाष्य—" एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दिति " छां० ८। ५। ३=वििपूर्वक ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान से ब्रह्मचारी जिन आत्मिक बर्छ का छाभ करता है वह
कदापि नष्ट नहीं होता, इत्यादि प्रगाणों से भलेशकार कमीं की
उपादेयता वर्णन कीगई है हेयता नहीं, जिससे स्पष्ट है कि मुमुश्च
पुरुष विधिनत कर्मानुष्टानपूर्वक ज्ञानद्वारा मुक्ति छाभ करसक्ता
है, और भवनागर मे पार होने का एकमान्न यही उपाय है,
इस प्रकार मुक्ति प्रतिपादक वाक्यों में ज्ञान कम का सम्बन्ध
पाये जाने से उक्त समुच्चयवाद निभ्नीन्त जानना चाहिये।

सं ० नत्तु, विधित्त आश्रम कर्मों का पालन न करने वाले पुरुषों के लिय ब्रह्मविद्या में अधिकार है वा नहीं ? उत्तरः—

अन्तराचापि तु तद्दृष्टेः ॥३६॥
पद०-अन्तरा।च। अपि। तु। तद्दृष्टेः।

वेदान्तार्थभाष्ये

890

पदा०-(अन्तरां, च) आश्रम कर्मों के विना (आग्ने) श्री ब्रह्मविद्या का अधिकार है, क्योंकि (तद्दृष्टुः) शास्त्र में ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—" तु" शब्द शङ्का की व्याद्यत्ति के लिये आया है,
जिन पुरुषों ने किसी कारणवशाद विधिवद आश्रमकर्मों का
पालन नहीं किया पर सांसारिक भोगवासना से सर्वया निर्मुक्त
हैं वह भी ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं, जैमाकि रैक तथा गार्गी
आदिकों में देखा गया है कि आश्रमकर्म न करने पर भी ब्रह्म
वैत्ता हुए हैं जिनकी कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन छान्दोग्य
तथा बृहदारण्यक में किया गया है, इसमे स्पष्ट है कि आश्रमं
कमों का पालन न करने वाला भी ब्रह्मविद्या की अधिकारी
होसका है।

सं - अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं: -

अपि च स्मर्थित ॥३७॥

पद्-आपे। च। स्मर्यते।

पदा॰-(च) और (स्मर्यते, आपे) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—जाप्येनैवतु संसिद्धचेद ब्राह्मणोनात्र संशयः।
क्रयादन्यन्नवा कुर्यान्मेत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

अर्थ-आश्रमकर्मों का विशेषक्ष से अनुष्ठान न करने पर भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी ब्राह्मण जपमात्र मे शुद्ध होजाता है, इत्यादि मनुस्मृति विश्रायक वाक्यों से स्पष्ट है कि विधिवत

तृतीयांध्याये-चतुर्थः पादः

868

आश्रमकर्मी का पालन करने तथा न करने वाला भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी होसक्ता है।

विशेषानुग्रहश्च ॥३८॥

पद०-विशेषानुग्रहः। च।

पदा॰-(च) और (विशेषानुग्रहः) विशेष कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य तपसा ब्रह्मचर्येणश्रद्धया विद्ययात्मानमिन्विष्येत् "=तप, ब्रह्मचार्य्य तथा विद्या से परमात्मा का
अन्त्रेषण करे, ईसादि विशेषशक्यों से पायाजाता है कि पुरुष
विधिपूर्वक आश्रम कमों का पालन न करता हुआ भी तप आदि
करने से ब्रह्मविद्या का अधिकारी होसक्ता है।

सं०-अब अनाश्रमी की अपेक्षा आश्रमी को श्रेष्ठ कथन

अतस्त्वतरज्ज्यायो लिङ्गाच ॥३९॥

पद्ः -अतः। तु। इतरत्। ज्यायः। छिद्रात्। च।
पदाः -(च) और (तु) निश्चयकरके (अतः) अनाश्रमी
पुरुष की अपेक्षा (इतरत्) आश्रमकर्मों का अनुष्ठान करने
वाछा (ज्यायः) श्रेष्ठ है, क्योंकि (छिद्रात्) श्रुति में पेसा
ही पायाजाता है।

भाष्य-"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्" जाबा॰ ४=

द्वारा उत्तरोत्तर आश्रमों की श्रेष्ठता वर्णन कियेजाने से स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्या का समान अधिकार होने पर भी नियमानुसार आश्रम कमों का अनुष्ठान न करने वाले पुरुष से करने वाला श्रेष्ठ है।

सं०-ननु, सन्यास से पतित हुआ पुरुष मुक्ति का अधि-

कारी है वा नहीं ? उत्तर:-

तद्भृतस्य नातद्वावो जैमिनेरपि नियमा-तद्भुपामावेभ्यः ॥ ४० ॥

पद०-तद्भतस्य । न । अतद्भावः । जीमनेः । अपि । निय-

बासद्वाभावेभ्यः।

पदा०-(तद्भृतस्य) पतित सन्यासी के छिये (अतद्भावः) कोई प्रायश्चित्त (न) नहीं, क्योंकि (नियमातदूराभावेश्यः) श्चिति में प्रायश्चित्त विधायक नियम नहीं पायाजाता (जैमिनेः) जैमिनि और (अपि) वादरायणाचार्य्य भी ऐसा ही मानते हैं।

भाष्य-जैमिनि तथा बादरायण आचार्य का कथन है कि जो पुरुष एकबार संन्यासी होकर प्रमादवशाद संन्यासाश्रम से पतित हुआ यमानियमादि साधनों से सर्वथा प्रच्युत होजाता है उसके लिये शास्त्र में कोई प्रायश्चित्त नहीं, अतएवं शुद्ध न होने के कारण वह मुक्ति का अधिकारी नहीं रहता।

सं ० - अब उक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं: --

नचाधिकारिकमपि पतनानुमाना-त्तदयोगात्॥ ४१॥

वतीयाध्याये-चतुर्थः पादः

४०३

पद०-न। च। आधिकारिकम् । आपे। पतनानुमानात्।

ंतदयोगाव।

पदा०- (च) और पातित संन्यासी का (आधिकारिकं)

मुक्ति विषयक अधिकार (न) सर्वथा नष्ट होजाता है, क्योंिक

उसमें (तद्योगाद) प्रायश्चित्त की योग्यता नहीं रहती

(पतनानुमानाव) उसके पतित होने से यह अनुमान कियाजाता है।

भाष्य-यदि यह कहाजाय कि पतित संन्यासी के लिये

मुक्ति हेतुक मायश्चित्त नहों पर मुक्ति की योग्यता न होने में

क्या ममाण ? इसका उत्तर यह है कि उसके, श्रष्टाचार एप

लिंक से अनुमान किया जाता है कि पतित संन्यासी मुक्ति

का अधिकारी नहीं, अनुमान का प्रकार यह है कि

अयं श्रष्टाचारः संन्यासी मुक्तिं नाहिति पतितत्वात्

वेश्यगामिवत्=जिस प्रकार मद्यमांसादि निषिद्ध पदार्थों का

सेवन करने वाला वेश्यागामी मुक्ति का अधिकारी नहीं होसका

इसी प्रकार पतितत्वपर्य पाये जाने से पतित संन्यासी भी मुक्ति

का अधिकारी नहीं।

सं० – अव उक्त अर्थ में अन्य आचाय्यों का मत कथन करते हैं:—

उपपूर्वमपिलेकेभावमशनवत्तदुक्तम् । ४२।

पद् ० - उपपूर्वम् । आपे । तु । एके । भावं । अञ्चनवत् ।

तव् । उक्तम्।

पदा०-(एके) कईएक आचार्यों का कथन है कि (उपपूर्व) संन्यासी का परदारादि से पातत होना उपपातक है (तु) और

उसका(अवानवत्) मधुमांसादि सेवन की भांति (भावं) मायाश्चित्त (अपि) भी होसक्ता है, जैताकि (तत्, उक्तं) बास्त्र में विधान किया है।

भाष्य-कई एक आचाय्यों का कथन है कि जिस मकार मधुमांसादि का सेवन करना उपपातक है और ज्ञास्त्र में उमका प्रायश्चित्त पाया जाता है, इसी प्रकार मग्न, मांसादि के सेवन से
पातत होना नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा सेन्यासी के लिये उपपातक
है महापातक नहीं, क्योंकि इनकी गणना महापातकों में नहीं
पाई जाती, इसलिये मध्यमांसादि भक्षण करने वालों की भांति
पतित संन्यासी का भी प्रायश्चित्त होसक्ता है, जैसाकि इस्हीत
में कथन किया है कि:—

सर्वपापप्रसक्तोऽपिध्यायन्निमिषमच्युतं । पुनःसप्रतो भवाति पंक्तिपावन एवसः ॥ मनोवाकायजान्दोषाञ्ज्ञानोत्थांश्चप्रमादजान् । सर्वान्दहति योगामिस्तुलराशामिवानलः ॥

अर्थ- पुरुष सब प्रकार के पापों से युक्त होने पर भी पश्चात्ताप करता हुआ युद्ध चित्त से परमात्मा का स्मरण करे तो वह पित्र होजाता है और उसके साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने में कोई दोष नहीं, जिस्त्रकार प्रचण्ड अग्नि त्लराशि को तत्सण ही भस्म कर देती है इसीप्रकार योगक्ष्प आग्न बुद्धि पूर्वक अथवा अज्ञान से किये हुए मानम, वाचिक तथा कायिक पापों को नष्ट कर देती है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि पतित

संन्यासी भी पायश्चित द्वारा शुद्ध होकर पुनः मोस का अधिकारी बनसक्ता है।

सं ० - अत्र उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:--

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च॥४३॥

पद०-बिहः। तु। उभयथा। अपि। स्मृतेः। आचारातः। च।
पदा०-"तु" शब्द सिद्धान्त के द्योतनार्थ आया है
(उभयथा) उपपातक तथा महापातक दोनों मकार से (अपि)
थी (बिहः) जो बहिष्कृत है वह मायश्चित्त से शुद्ध होजाता है,
क्योंकि (स्मृतेः) स्मृति (च) और (आचारात) आचार से
ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-पातिकी अथवा महापातिकी होने से जो बहिष्कृत कियागया है वह प्रायश्चित्त द्वारा फिर शुद्ध होसक्ता है, जैसाकि स्मृति तथा आचार से पायाजाता है कि :—

महापातिकनश्चैवशेषाश्चाकार्य्यकारिणः । तपसैव सुतप्तेन सुच्यन्ते किल्विषात्ततः ।

अध-जो उपपातिकी तथा महापतिकी हैं वह सब तप से शुद्ध होजाते हैं, इस दि स्मृति बाक्यों से पायाजाता है कि सब मकार के पतितों की शुद्धि मायश्चित्त से होजाती है और इति-हास से भी स्पष्ट पाया जाता है कि दुराचारी पुरुष भी सदाचारी होंमें पर शुद्ध होजाता है, जैसाकि वाल्मीक आदि कई एक ऋषि

खानि सदाचार से शुद्ध हुए, एवं चतुर्थाश्रम से पतित पुरुष की खादि में कोई दोष नहीं।

सं ॰ — अव यज्ञाहि कर्मफलविषयक विचार करने के छिये ⁽⁴ स्वाम्यधिकरण " का प्रारम्भ करते हैं :—

स्वामिनः फलश्चतोरित्यात्रेयः ॥४४॥

पद०-स्वामिनः। फल्रश्चेतः। इति । आत्रेयः।

पदा०-(स्वामिनः) यजमान को यञ्चफल की माप्ति होती है (इति) क्योंकि (फलश्रुतेः) फल्वे।धक श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है, यह (आवेयः) आवेय आचार्य्य मानते हैं।

आज्य-वर्षति हास्मै वर्षयति य ण्तेह्वं विद्धान्
वृष्टी पश्चविधं सामोपास्ते " छां०२। ३। २=जो उपासक
वृष्टि विषयक पांच प्रकार के साम की उपासना करता है वह
अपने तथा अन्यों के छिये आनन्द को वरसाता है, इसाहि
वाक्य प्रतिपादित उपासनाओं का अधिकारी होने से यज्ञफल
की प्राप्ति यजमान को होती है अन्य ऋित्जों को नहीं, यदि
यञ्चफल के भागी ऋित्ज होते तो उक्त वाक्य में यजमान द्वारा
उपासना का वर्णन न कियाजाता पर किया है इससे सिद्ध है
कि यञ्चफल का भागी केवल यजमान है ऋित्ज नहीं, यह आत्रेय
आचार्य का मत है।

सं०-अव उक्त अर्थ में औडुलोम आचार्य का मत

आर्त्विज्यमित्योड्डलोमिस्तस्मे हि परिक्रीयते ॥४५॥

पर्०-आस्त्रक्षं। इति। भोडु केशिः। नस्ते। हिं। परिकीयते।
पर्व०-(औडुकोशिः) औडुकोशि आचार्य का कवन है
कि (आस्वित्यं, इति) क्रिंत्रक् कोग भी उक्त कर्ष के फल्यागी
होते हैं (हि) क्योंकि (तस्ते) अझसहित कर्मानुष्ठान के क्रिये
क्रिंतिक् यज्ञवान से (परिकीयते) परिकीत होता है।

भाज्य-औडुओपि आचार्य का यह यत है कि यजपान

वर्ष हुट्यों से ऋतिक छोगों को परिक्रीत=नियत समय पर्यन्त

यहादि क्यों का सम्यादन करने के छिये अपना सहकारी बनाछेता है, इसिछिये दोनों मिछकर क्यंसम्यादन करने से फड़

के थागी होते हैं, यद्यीप क्यं कर ने वाला यजपान ही केवल फड़

का भागी होना चाहिये तथापि जिसमकार लोक में समुदायसाध्य क्यं के सभी फल्जभागी होते हैं इसी प्रकार यहक्यं का

सहचारी होने से ऋत्विक को भी फल्ल का भागी जानना चाहिये।

भै०-अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:-

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

पद :- अतः। च।

पदा १ - (च) और (श्रुतेः) श्रुति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-" संगच्छध्वं संवद्ध्वं " ऋग्० ८। ८ । ४९।

२=परस्पर मिछकर सम्बाद करो, इत्यादि श्रुतिनाक्य मितपादित भीतिपूर्वक व्यवहार का फछ सर्वसाधारण होने से सिद्ध है कि यहादि कमी का फछ केवल यजमान को ही माप्त नहीं होता किन्दु ऋत्विक् तथा यजमान दे। नों को माप्त होता है।

सं ० - ननु, अवणादि की यांति आत्मनाक्षात्कार का कोई अन्य साथन थी है वा नहीं ? उत्तर:-

सहकार्यन्तरिवधिः पक्षण तृतीयं तद्तीः विध्यादिवत् ॥ ४७॥

पदः - सहक्रायन्तरविधिः । पक्षेण । तृतीयं । सद्धः । विध्यादिवतः ।

पदा०-(विध्यादिवद) अन्य त्रिधियों की भांति (तद्वतः) संन्यासी के छिये (तृतीयं) यौन कां (पक्षेण, सहकार्यन्तरविधिः) सहकारीकप से पासिक विधान है।

भाष्य—" तस्माद्बाह्मणःपाण्डित्यं निंविद्य बाल्येन तिष्ठासेत् " बृहदा०३।५।१=ब्रह्मवित पुरुष विद्या
धाभमान से रिंत होकर बालक की भांति सांसारिक विषयों से
बदासीन रहे, इसादि बाक्यों में बालभाव तथा पाण्डिस के समान
वृतीय "मौन" रूप साधन का भी विधानपायाजाता है अर्थाद जिस
मकार आत्मसाक्षात्कार में अवणादि साधन उपादेय हैं इसी प्रकार
"मौन " भी उपादेय है, यहां " मौन " पद से न बोलना आभिभेत नहीं किन्तु शास्त्र द्वारा श्रवण किये अर्थ का खुक्तिपूर्वक
मनन करने का नाम " मोन्न " है, इसी का भलीभांति अनुष्ठा

तृतीयाध्याये-चतुर्थःपादः

866

करने वाला ब्रह्मवित पुरुष "मुनि" कहाता है, जेसाकि
"मुनीनामप्यहं ज्यासः "गी० २०। ३७=हे अर्जुन !
मनन करने वाले पुरुषों के मध्य ज्यास मेरा रूप है,इसादि वाक्यों
से स्पष्ट है कि श्रवणादि साधनों की भांति संन्यासी के लिये मौन
का अनुष्ठान करना भी आवश्यक है।

सं०-अब उक्त अर्थ का गृरस्य पुरुष में अतिदेश कथन करते रैं।—
कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपमंहारः ॥ ४८॥

्रं पद०-क्रत्स्नभावात् । तु । गृहिणा । उपसंहारः ।

पदा०-" तु " शब्द अतिदेश के बोधनार्थ आया है (क्रुत्स्नभाशात) अधिकारी में उक्त सम्धन संगत होने के कारण (गृहिणा, उपसहारः) गृहस्थ पुरुष में भी उनका उपसहार होता है।

भाष्य-यदि गृहस्थाश्रम में रहकर यथाविधि गृहस्थ धर्मों के पालन करने वाले पुरुष को शृद्ध चित्र होने से ब्रह्मनिहासा

उत्पन्न होजाय तो वह उसी आश्रम में श्रवणादि साघन सम्पन्न होकर मुक्ति का अधिकारी होसक्ता है अर्थात जिसमकार संन्यासी के लिये मौनादिक अनुष्ठेय हैं वैसे ही उनका अनुष्ठान करना गृहस्थ के लिये आवश्यक जानना चाहिये।

सं ० - अव गृहस्थाश्रमी के लिये अन्य साधनों का अनुष्ठान कथन करते हैं:--

मानवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९॥

600

बेदान्तार्यभाष्य

पद् - मौनवत । इतरेषां । अपि । उपदेशात ।

षदा ॰ – (मीनवत्) मीन की भांति (उपदेशात्) उपदेश पार्वेजाने से (इतरेषां, आंपं) अन्य साधनों का अनुष्ठान भी सावश्वक है।

धाष्य—" त्रयोधर्मस्कन्धा यह्नोऽध्ययनं दान-मिति " छन्दो० २ । २३ । १=यह्न, स्वाध्याय तथा दान यह सीत धर्म के स्कन्ध हैं, इसादि बाक्यों में जो यहादिकों का विधाव कियागया है वह मौन की भांति मुक्ति का साधन होने से मुसुसुधात्र के लिये अनुप्रेय जानना चाहिये।

सं०-ननु,मृहदा०३। ५। १में कथन किये हुए वालभाव का क्या आध्रमाय है ?.उत्तर :—

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥५०॥

षद् ०-अनाविष्कुर्वत् । अन्वयात् ।

पदा०-(अनाविष्कुर्वन्) दम्भादिकों से रहित होना बालभाव का अर्थ है, नयोंकि (अन्वयात्) इती अर्थ में उपनिषद् बाक्य संगत होते हैं।

भाष्य—" बाल्येन तिष्ठासेत " बृह०३। ५। १ = ब्रह्मावित्र पुरुष बालभाव को घारण करता हुआ बिचरे, इस वाक्य में कथन किये बालभाव का यह तात्पर्थ नहीं कि विवेकी पुरुष भी सर्वथा बालक की भांति नाना मकार की बालकीडा में आसक्त रहे किन्तु यह अभिमाय है कि जिसमकार बालक दम्भ, मान तथा हणीदिकों से स्वतः ही उदासीन होता है इसीमकार ब्रह्मवेचा पुरुष हम्बाहिकों से रिहत होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ सांसारिक विषयों से उदासीन रहे,इसी अर्थ के बोधन करने से उक्क बाह्य की वकरण संगति होसक्तो है अन्यथा नहीं, क्योंकि सर्वया बाह्यवर्य आचरण के बोधनं करने में श्रुतिवाक्य की अपूर्वता नहीं पाईजाती, इसिन्नेय ब्रह्मविद का विषयों से उदासीन होना ही बाह्यभाव है।

सं० - तनु,साधन मण्य होने के अनन्तर इसी जन्य में ख़िक होती है वा जन्मान्तर में ? उत्तर :--

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तहर्शनात् ॥ ५१॥

पद् ०-ऐहिकम् । अपि । अपस्तुतप्रतिवन्धे । तद्रीनात् ।

पदा०-(अप्रस्तुतप्रतिवन्धे) प्रतिवन्धक कर्म के न होने से (ऐहिकं, अपि) इसी जन्म में पुरुष मुक्त होसक्ता है, क्योंकि (तद्दीनाद)श्रुति से ऐमा ही पायाजाता है।

भाष्य-श्रवणायापि बहुभियों न लभ्यो शृण्वन्तोऽ
पि बहुवो यं न विद्युः" कड० २। ७=िन्न परमात्मा का
श्रवण करना कठिन है और जिसको सुनकर भी सब शाप्त नहीं होसको उसका वक्ता तथा श्रोता कोई विरला पुरुष ही
होता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि सुक्ति का शाप्त ६०२

वेदान्तार्थभाव्ये

होना किसी एक जन्म पर निर्भर नहीं किन्तु जिन पुरुषों का कोई बख्यव प्रतिबन्धक कर्म नहीं वह श्रवणादि साधन द्वारा इसी जन्म में मुक्त होजाते हैं और जिनका कोई क्षेष कर्म प्रतिबन्धक है उनको जन्म न्तर में मुक्ति का छाभ होता है, इसी अभिपाय से गी० ६ । ४१ में वर्णन किया है कि "शुच्चीनों श्रीमतां गेहे योगश्रष्टोऽभिजायते" च्योगश्रष्ट पुरुष जिस की समाधि इस जन्म में परिपक नहीं हुई वह पुनः योगी तथा पविश्व, श्रीमान छोगों के कुछ में जन्मधारण करता और उसी पूर्व जन्म के अभ्यास द्वारा योगानुष्ठान करता हुआ मुक्ति को माप्त होता है, इससे सिद्ध है कि प्रतिबन्धक निर्मत के उत्तरकाछ में मोक्षप्राप्ति का नियम है उसकी प्राप्ति के छिये वर्त्तमान अथवा भाविजन्म की एकानतता अपेक्षित नहीं।

सं॰-अन बक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं:— मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदव-स्थावधृतेः ॥५२॥

पदः - मुक्तिफलानियमः । तंदवस्थावधृतेः । तद्वस्थावधृतेः । पदाः - (तद्वस्थावधृतेः) अपहतपाष्मादि गुणों के धारण करने से (मुक्तिफलानियमः) मुक्तिक्रप फल में जन्म का अनियम है।

भाष्य-" तदवस्थावधृतेः" पाठ दोबार अध्याय की समाप्ति के छिपे आया है, "प्रंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपे-

तृतीयाध्याये-चतुर्थःपादः

603

णा ि निष्यद्यते "=पुरुष परमात्मा के अपहतपाष्मादि धर्मी को धारण करके मुक्त होजाता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि साधनसम्पत्ति के पूर्ण होने पर ही पुरुष मुक्त होता है अन्यथा नहीं॥

इति श्रीमदार्घमुनिनोपनिबद्धे वेदान्तार्घभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थःपादःसमाप्तः समाप्तश्चायं तृतीयाध्यायः

ओश्य अथ चतुर्थाध्यायः प्रार्भ्यते

सं०-तृतीयाध्याय में परापर निधा के साधनों का विस्तार पूर्वक निरूपण किया, अब मुक्तिरूप फल का विचार करने के लिये इस अध्याय का मारम्भ करते हुए प्रथम नक्षध्यान की सुक्ति का साधन कथन करते हैं:—

आवृत्तिरसकुढुपदेशात् ॥१॥

पद् - आष्टातिः। असक्रदुपदेशात्।

पदा॰-(यसकृदुपदेशात्) अनेकवार उपदेश पाय जाने से (आइतिः) ब्रह्मध्यान मुक्ति का साधन है।

भाष्य—"आत्मावारे द्रष्ट्रव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निह्ध्यासितव्यः" बृहदा० ४। ५। ६=हे मैत्रीय ! आत्मा ही द्रष्ट्रव्य=तत्वद्यानद्वारा साक्षात्र करने योग्य, श्रोतव्य=श्रुति वाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तव्य=वेदाविरोधि तर्कों द्वारा मनन करने योग्य और निदिध्यासितव्य=चित्तदीर्चनिरोध द्वार वारम्बार अध्यास करने योग्य है, "सोऽन्वेष्ट्रव्यः स विजिन्द्वासितव्यः" छां० ८। ७। १=आत्मा ही अन्वेषण करने तथा जानने योग्य है, इत्यादि वाक्यों में यह सन्देह होता है कि वाक्य-जन्य ब्रह्मद्वान मुक्ति का साधन है अथवा वारंवार प्रत्ययाद्यात्रक्ष ध्यान से मुक्ति होती है? यहां पूर्वपक्षी का कथन है कि संनारक्ष

पन्ध आविधिक होने के कारण तत्रमस्यादि महावास्यक्षन्य ज्ञान ही जुक्ति का साधन है अर्थाद जिसमकार रज्जुसर्प की निष्टाचि रज्जुकप अधिष्ठान के साम्रात्कार से होती है इसी प्रकार प्रदायास्य जन्य ज्ञानद्वारा अधिष्ठान ब्रक्ष के साम्रात्कार से संसारनिष्टीचिक्ष गोम होती है ध्यान से नहीं ! इसका उत्तर यह है कि उक्त वास्यों में जुनंद आद्योचक्प ध्यान का उपदेश किया गया है वास्यक्रम्य ज्ञान को मोम्न का साधन वर्णन नहीं किया, यदि वास्यक्रम्य ग्रान ही ख्राक्ति का साधन होता तो पुनः र श्रवणादिकों की आद्याचि म पाई ज्ञानी और नाही शास्त्र में चित्तदित्तिनिरोधक्य दोग छा उपदेश किया जाता, जैसाकि मुं० ३,।१। ८ में वर्णन क्यदेश किया जाता, जैसाकि मुं० ३,।१। ८ में वर्णन

ज्ञानप्रसादेन विश्वद्धसत्वस्ततस्तु तं-पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

अर्थ-ज्ञान के महत्व से अन्तः करण की शुद्धि द्वारा ध्वाम करने बाला पुरुष निराकार परमात्मा का दर्शन करता है, इससे सिद्ध है कि "आत्मावारे द्रष्टुच्यः" इसादि वाक्यों के मखयाश्चिक्ष ध्यान ही मुक्ति का साधन अभिमेत है वाक्य जन्य ज्ञान नर्री।

और जो यह कहा गया है कि रज्जुर्सप की भांति मिध्या संखार की निष्टित्त वाक्यजन्य ज्ञान से ही होती है, यह इसक्रिये ठीक नहीं कि संसार के मिध्या होने में कोई प्रमाण नहीं पायाजाता,

वेदान्तार्यभाष्ये

जैताकि पीछे कई एक स्थलों में वर्णन कर आये हैं।

608

तात्पर्यं यह है कि छुषुप्ति आदि अवस्थाओं की सांति

मुक्ति एक प्रकार से जीव की अवस्थाविशेष है जो भावपदार्थ

है संसारनिष्टिचिक्षप अभाव पदार्थ का नाम मुक्ति नहीं, यादि मुक्ति

अमाष पदार्थ होती तो " ब्रह्मिवित् ब्रह्मिव भविति" मुं० ३।२।

८=मुक्त पुरुष ब्रह्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मों के घारण करने

से ब्रह्म के समान होजाता है, इसादि वाक्यों से ब्रह्मध्यों की

माप्तिक्षप मुक्ति का वर्णन न किया जाता, इससे स्पष्ट है कि

संसारनिष्टिचि क्षप अभाव पदार्थ का नाम मुक्ति नहीं।

सं ० - अब बक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :--

खिङ्गाच ॥ २ ॥

पद०-लिङ्गात । च।

पदा॰-(च) और (खिङ्गात्) छिङ्ग से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-" तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विवि-दिषन्ति" बृह०४। ४। २२=ब्राह्मण लोग वेद के निरन्तर अभ्यास से जसी परमात्मा के जानने की इच्छा करते हैं, इसादि लिझों से भी पुनः २ प्रस्थाविक्षण अभ्यास ही मुक्ति का साधन सिद्ध होता है।

सं०-अब उक्त प्रस्याद्वि इप ध्यान का प्रकार कथन

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३॥

पद०-आत्मा। इंति। तु। उपगच्छिन्त । म्राह्यन्ति। च।
पदा०-"तु" सिद्धान्त पक्ष के वोधनार्थ आया है (आत्मा,
इति) उपासक छोग आत्मह्य से चिन्तन करते हुए (उपगच्छान्ति) ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (च) और (म्राह्यन्ति)
शास्त्रों से भी ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-" त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वामांशि "=हे भगवन देव ! द में हूं और में द्व है, इसादि अभेद्दोपासना बोधक वाक्यों से सिद्ध है कि उपासक पुरुष उपा-सना काल में बहा के साथ किसी प्रकार का भेद चिन्तन न करे किन्तु तद्धर्मतापत्ति के छिये नितान्त ब्रह्म के साथ स्वस्वरूप का अभेद चिन्तन करता हुआ समाधिस्थ होवे, इसी आभिनाय से " योगरिचत्तवृत्तिनिरोधः " यो० १। २ में चित्तवृत्ति निरोध इप योग का कथन करके तृतीय सूत्र में उपासक पुरुष के आत्मा की स्थिति परमात्मा में कथन की है, इस मकार अभेद चिन्तन करने से जीव को परमात्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मी का छाभ होता है जिससे आनन्द तथा ऐश्वर्य के छाभ द्वारा ब्रह्मदेशा अपने स्वरूप में ब्रह्मल की भावना करता हुआ मुक्ति को माप्त होता है,जैसाकि "अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" बृहदा॰ ११४। १० = मैं बनु और में ही सूर्य हूं, इसाहि वाक्यों से वाय-देवादिकों के विषय में पायाजाता है, इसिंखे उपासक को जीवत है कि तस्मितापिकडण युक्ति के कामार्थ समाधिकाल में सर्वथा परमात्मा के साथ अमेद चिन्तन करे, यहा बाल्म विहित उपासना का मकार सर्वोपिर होने से आस्तिकयात्र के छिये आहरणीय है।

स्वामी "रामानुज" का कथन है कि:—
"सर्वस्य चिद्रचिद्धस्तुनं तज्जत्वात्तस्त्रत्वात्याः स्वशरीरं मत्यात्मत्वाहेवोऽहं मनुष्योऽहमित्यनुसन्धानं तथा भत्यात्मत्वाद्वादेवोऽहं मनुष्योऽहमित्यनुसन्धानं तथा भत्यगात्मनोऽप्यात्मत्वात्परमात्मनस्तस्याप्यहमित्ये वानुसन्धानं यक्तिमिति" श्री० भा०

अर्थ-यह सब चराचर जगत ब्रह्म से उत्पक्ष होकर उसी में हिथत रहने तथा छय होने के कारण ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म सबका आत्मा है, जैसाकि "य आत्मिनितिष्ठन्" इत्यादि बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में मितपादन किया है अर्थात् जिस मकार जीवात्मा का देह के साथ शरीरशरीरिभाव सम्बन्ध होने से "देवोऽहं" में देव हं "मनुष्योऽहं" में मनुष्य हं, इस प्रकार शरीर के साथ

अभेदानुसन्धान होता है वैसे ही वास्तविक भेद होने पर भी जीव ब्रह्म का परस्पर वारीरवारीरियान होने के कारण उपासनाकाछ में " अहमेवब्रह्म "=में ही बह्म हूं, इस मकार आत्मकप से अभेदिचिन्तन में कोई वाघा नहीं, स्वामी रामानुज का यह अर्थ वैदिकसिद्धान्त का अविरोधी होने से उपादेय है परन्तु निर्विशेष ब्रह्मवादी स्वा॰ बाङ्कराचार्य्यंजी ने अद्वैसभाव से अभेदोपासना का छापन करते हुए इस खूत्र के भाष्य में " आहं ब्रह्मास्मि" "एष त आत्मासवीन्तरः" बृहेदा० ३।४।१ " एष त् आत्माऽन्तर्याम्यमृत " बृहदा० ३।७।३ " तत्स-त्यं स आत्मा तत्त्वमसि " छान्दो॰ ६ । ८। ७ इत्यादि जिन औपनिषद्वास्यों की याला पुरोदी है उनसे इनका अभीष्ट कदापि सिद्ध नहीं होता, उक्त वाक्यों का बास्तविक अर्थ भूषिका तथा वाक्यान्वयाधिकरण आदि कई अधिकरणों में विस्तारपूर्वक किया गया है, इसलिये यहां पुनरुष्ठेल की आव-इयक्ता नहीं।

सं ० - ननु, "त्वं वा अहमिस्म" इत्यादि आत्मक्ष प्रसो-पायना की भांति प्रतीकविषयक ब्रह्मानुसन्धान में क्या होष है ! उत्तरः —

न प्रतीके न हि सः ॥ ४॥

पद्-नः। भतीके । न । हि । सः ।

पदा॰-(मतीके) मतीक=मूर्ति आदि में ब्रह्मोपासनाकरना (न) ठीक नहीं (हि) क्योंकि (सः) वह (न) ब्रह्मइप नहीं।

सं ० - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:--

ब्रह्महिष्ठत्कपात् ॥५॥

पद ० - ब्रह्म दृष्टिः । उत्कर्षात् ।

पदा॰-(बत्कर्षात्) श्रेष्ठ होने के कारण (ब्रह्महिष्टः) ब्रह्म का ध्यान कर्त्तव्य है मतीक का नहीं ।

भाष्य-"परिसुः स्वयम्भूः" यज् ० ४०। ८=परमात्मा स्वयंपकाश तथा सर्वोपार है, इत्यादि वाक्यों द्वारा पद्धिमार्ज की-अपेक्षा ब्रह्म का उत्कर्ष पाये जाने से अपहतपाष्मत्वादि धर्मों के छात्रार्थ ब्रह्म के स्वक्ष्प में ही ब्रह्मदृष्टि कर्त्तन्य है पतीक में नहीं।

ननु-अन्य में अन्य बुद्धि होने के कारण अभेदोपासना भी प्रतीकोपासना की भांति अध्यास होने से प्रिथ्या है सत्य नहीं ? उत्तर—प्रतीकोपासना जड़ में ब्रह्म बुद्धि होने से पिथ्या ह्यानक्ष्य है जो युक्ति तथा प्रमाण से सर्वधा विरुद्ध है पर अभेदोपासना में उक्त दोष इसिछये नहीं आता कि आत्मा ब्रह्म की भांति चेतन है यूर्चि की भांति जड़ नहीं, इसिछये ब्रह्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मों के छाभार्थ अभेदोपासना का विधान होने से बह पिथ्या नहीं, इससे स्पष्ट है कि जड़ोपासना तथा ब्रह्मोपासना की परस्पर सहशता कथन करना वादी का साहसपात्र है, यहां

चतुर्याध्याये-मथमः पादः

429

पतीकोपासकों से पष्टन्य है कि पतीक में ब्रह्मबुद्धि बायरूप है वा अध्यामक्षप अथवा विशेष्यविशेषणभावक्षप किंवा समानाधि-करण इप है ? प्रथमपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि प्रतीक इप अधिष्ठान का ज्ञान होने पर भी वादी के मत में प्रतीक विषयक असबुद्धि का बाध नहीं माना गया, अध्यास मानने में दोष यह है कि पतीक में ब्रह्मबुद्धि आरोापित होती है स्वाभाविक नहीं, जैसाकि " प्रतीकोपासनं नाम अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसन्धा-न्स्" श्री०भा०=अबह्म में ब्रह्मदृष्टि का नाम" मतीकोपासना" े है, यह अर्थ मूर्तिपूजकों के शिरोमणि आचार्य्य स्वा० रामानुज यानते हैं, इस प्रकार इतरव्याद्यतिक्ष प्रयोजन के न बन सकने और विशेष्यविशेषणभाव तथा प्रतीक और ब्रह्म का भेद होने से "समानाधिकरण" पक्ष भी सर्वथा असङ्गत है, उक्त चारा पक्षों का विस्तारपूर्वक वर्णन पीछे "ठ्याप्तचिधिकरण" तथा "आर्यमन्तवयप्रकाश" में किया गया है, विशेषाभि-छाषी वहां देखर्छे।

सं॰ ननु, "आदित्यो होत्यादेशः" छां॰ ३१९११ तथा "य एवासी तमुद्गीथमुपासीत " छां॰ १।३।१ इत्यादि वाक्यों में आदिट्य मितीक को ब्रह्म कथन किया गया है फिर कैसे कहा जाता है कि मितीकोपासना ठीक नहीं ? उत्तरः—

आदित्यादिमत्यश्चाङ्ग उपपत्तः॥६॥

वेदासार्यभाष्ये

पद्द ०-आदित्यादिमतयः । च । अङ्गे । उपपत्तेः ।
पदा०-(च) और (अङ्गे) यज्ञ के अवयवभूत उद्गीध में
(आदित्यादिमतयः) आदित्यादि बुद्धियों का विधान है मतीकोषासमा का नहीं, क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति से ऐसा ही
पाया जाता है।

भाष्य-"आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" छां०३। १९।१= यह बादित्य बद्धक्य है "य एवासी तपति तमुद्रीयमुपा-स्रीत "छां०१।३।१=आकाशमण्डल में देदीप्यमान आदित्य की उद्गीयक्प से उपासना करे, इत्यादि वाक्यों से मतीकोपासना की सिद्धि मानना इसिछिये ठीक नहीं कि उक्त वाक्यों द्वारा यह के अवयवभूत ओंकार में आदित्य दृष्टि का विधान किया गया है प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि का नहीं अशीव जिस प्रकार आदित्य भजा के छिये अन उत्पन्न करता तथा अन्धकार को मिटाता है इसी मकार ओंकार पदवाच्य ब्रह्म भी सबका उत्पादक तथा अविद्याद्भप अन्धकार का निवर्त्तक है, इसी साहक्य से आदिस को ब्रह्म कहागया है वस्तुतः उसमें ब्रह्मत्व की विवक्षा नहीं, क्योंकि नकरणवद्मात ब्रह्म शब्द अनेक अथों में आता है, नैसाकि "एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणोमुखे" गी॰ ४ । ३२=वेद में अनेक मकार के युक्तों का विस्तार है, यहां " ब्रह्म " शब्द वेद का वाचक है, इसी प्रकार वेताव्यतर के " भोक्ताभों उर्यं " इस वाक्य में जीव तथा मक्रति के लिये

चतुर्थाःध्याये-प्रथमःपादः

693

और तैचि ० ३।२ में "तप " के छिये ब्रह्म शब्द आया है।

सं ० - अव ईश्वरोपासना में आसनादिकों का मकार कथन करते हैं:--

आसीनःसम्भवात् ॥ ७॥

पद् - आसीनः । सम्भवाद ।

पदा०-(आँसीनः) स्थिर होकर उपासना करे, क्योंकि (सम्भवाद) इसी रीति से उपासना का होना सम्भव है।

समानक्ष्य से ध्येयाकार चित्तहत्ति के प्रवाह का नाम
"उपासना "है, वह उपासना चित्त की एकाग्रता तथा श्वरीर
की स्थिरता से होमक्ती है अन्यथा नहीं, इसिंछये उचित है कि
उपासक स्थिरतापूर्वक वैठकर उपासना करे।

सं ० - अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :-

ध्यानाच ॥८॥

पद०-ध्यांनात । च।

पदा०-(च) और (ध्यानात्) ध्यान से भी एक अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-जबतक पुरुष किसी एक स्थान पर इंद्रता से आसन
नहीं लगाता तबतक ध्यान=तैलघारावद द्यीत का निरन्तर ध्येथाकार होना सम्भव नहीं, इससे सिद्ध है कि किसी एकदेश में
स्थिर होकर ही जपासना कर्त्तच्य है।

५१४

वेदान्तरर्घभाष्ये

अचलतं चापेक्य ॥ ९ ॥

पद०-अचलत्वं। च। अपेक्ष्य।

पदा०-(च) और (अचलतं,अपेक्ष्य) निश्चलता की अपेक्षा से ही अन्यत्र ध्यान शब्द का प्रयोग कियागया है।

भाष्य-"ध्यायतीव पृथिवी" छां००। ६। १२=पृथिवी ध्यान करती है, इसादि नाक्यों में जिसमकार पृथिव्यादिकों का औपचारिक ध्यान करना निश्चलता के अभिन्नाय से आया है इसी मकार योगी के लिये जित्त है कि वह निश्चलता करना स्थाधि के लाभार्थ किसी एकदेश में आसन लगाकर जपासना करें।

सं०-अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं :--

स्मर्गन्ति च ॥ १०॥

पद ०-स्मर्गनेत । च ।

पदा०-(च) और (स्मरन्ति) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-श्रुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम्।। गी॰ ६। ११

अर्थ-जो आसन न बहुत ऊंचा न नीचा हो और जिसके नीचे कुशा और ऊपर मृगका चर्म बिछा हो ऐसे पित्रत्र तथा सम देशबाछे आसन पर स्थिर होकर योगाभ्यास करे, इसादि वाक्यों से सिद्ध है कि उपासना काल में योगी आसन पर बैठकर ही समाधि छगावे और इतस्ततः गमनागमन के व्यापार से सर्वया बान्त होकर द्वित्यों के निरोध में तत्पर रहे, ऐसा करने से योगी क हृदय सब मकार की मिलनता से रंहित होकर स्फटिकवद निर्मल होजाता है, इसी अवस्था में योगी को विवेकख्याति का छाभ होता है, जैसाकि "योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीसिराविवेकख्यातेः "योग०२। २८ में वर्णन किया है कि योग के यम नियमादि आठ अङ्गों का अनुष्ठान करने से विवेकख्याति पर्यन्त निर्मल ज्ञान का लाभ होता है, इसलिये आस्तादि नियमों का पालन करना योगी का परम कर्चन्य जीनना चाहिये।

सं०-अद उक्त अर्थ में देशविशेष का अनियम कथन करते हैं:—

यत्रेकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

पद०-यत्र। एकाग्रता। तत्र। अविशेषात्।
पदा०-(अविशेषात) विशेषता न पाये जाने से (यत्र) जहां
चित्त (एकाग्रता) एकाग्र होसके (तत्र) उसी देश में बैठकर
समाधि लगावे।

भाष्य-समाधि का सम्बन्ध चित्तवितिरोध से है किसी
देशिवशेष से नहीं, यत्रशील पुरुष अभ्यास की मकिषता से जहां
चाहे वहां ही चित्तवित्त का निरोध करसक्ता है, देशिवशेष केवल
चित्तवितिरोध में इतना ही जपयोगी है कि वह बैठने के योग्य

खुहाबना हो, चाहे घर हो और चाहे बन हो, इसिखये जिन छोगों का यह मत है कि समाधि छगाने के छिये पर्वत की कन्दरा आदि ही उपयुक्त हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि कन्दरा आदि से केवछ विक्षेप निद्यत्ति ही अभिनेत है और वह यन करने से घर में भी होसक्ती है, अतएव समाधि के छिये स्थान की स्वच्छता आदि का नियम होने पर भी किसी पर्वत की कन्दरा आदि देशविद्योग का नियम मानना ठीक नहीं।

सं ० - अब उपासना की अवधि कथन करते हैं :--

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

पदः - आमायणात् । तत्र । अपि । हि । दृष्टं ।

पदा॰-(आमायणात्) यरणपर्ध्यन्त ईश्वरोपासना करनी चाहिये (। हे) क्योंकि (तत्र, अपि) उसका यावदायुष (हष्टं) इक्केल पायाजाता है ।

भाष्य—" स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मली-कमिसम्पद्यते " छा० ८। १५। १=सम्पूर्ण आयु वेदा-ध्ययन तथा उपासना करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इस वाष्य से स्पष्ट है कि मुक्ति के साधन ब्रह्मोपासना का यावदायुष ही अनुष्ठान करना उचित है, इससे मायावादियों का यह कथन भी निस्सार होजाता है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर फिर इपासना आदि कमों की आवद्यकता नहीं। सं ० - अब जपासक के संचित पापकर्मों का विनाझ कथन करते हैं :---

तद्धिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्चेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्॥ १३॥

पद - तद्धिगमे । उत्तरपूर्वाघयोः । अक्षेषविनाशौ । सद्व्यपदेशात ।

पदा०—(तद्धिगमे) उस परमात्मा का ज्ञान होने पर (उचरपूर्वीघयोः)क्रियमाण तथा संचित पापकमें का (अक्षेड़-व्यविवाशों) जीव के साथ असम्बन्ध तथा विनाश होजाता है, ध्योंकि (तद्व्यपदेशाद) श्रुति वाक्यों में ऐसा ही कथन किया है।

भाष्य—यथा पुष्करपलाश आपो न श्रिष्ठ्यन्त एव मेवंविदि पापं कम न श्रिष्ठश्यते " छान्दो० ४ । १४ । श्र=जिसमकार कमल के पत्ते को जल स्पर्श नहीं करते इसी मकार ब्रह्मज्ञानी को पापकर्म नहीं लगते, "क्षियन्ते चास्यकर्मी-णि तस्मिन्दष्टे परावरे "ग्रं०२।२। ८=परावर ब्रह्म के ज्ञान होने पर सब पापकर्म क्षय होजाते हैं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि जब उपासक को उपासना करते २ ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब उसके संचित पाप कमों का विनाश होजाता और क्रियमाण पाप कमों का सम्बन्ध छूट जाता है, इससे जो "नाभुक्तं क्षीयते कमी कल्प कोटिशतिरिप"=विनामोगे

वेदान्तार्यभाष्ये

कमीं का नाश नहीं होता, इस स्प्रित वाक्य के साथ विरोध आता है वह भी निष्टत्त होगया, क्योंकि यह वाक्य पारब्ध कर्यों का भोगे विना विनाश न होना कथन करता है और उक्त वाक्य संचित पापकर्यों का ब्रह्मज्ञान से विनाश कथन करते हैं, इसिक्चये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध नहीं।

सं ० - अब संचित पुण्यकमीं का असम्बन्ध कथन करते हैं :-

इतरस्याप्येवमश्लेषः पातेतु ॥ १४ ॥

पद् ०-इतरस्य । अपि । एवं । अञ्लेषः । पाते । तु ।

पदा०-(एवं) इसीमकार (इतरस्य) पुण्य कर्मी का (अपि) थी (अब्छेषः) सम्बन्ध नहीं रहता (तु) और (पाते) बारीर छूटने पर मुक्ति होजाती है।

भाष्य-खपासक को ज्ञान होने पर जैसे क्रियमाण कर्मों का स्पर्श नहीं होता इसी प्रकार संचित पुण्य कर्मों का भी स्पर्श नहीं होता अर्थात उसके संचित पुण्यकर्म क्रियमाण कर्मों की भांति स्पर्श न करते हुए ज्यों के त्यों वने रहने से मुक्ति में प्रतिबन्धक नहीं होते, और जब इसका शरीर छूट जाता है तब यह मुक्त होजाता है।

सं० - ननु, जब ज्ञान से पुण्यक्तमों का अक्षेष और पापकमों का नाश होजाता है तो फिर उसका यह शरीर ही नष्ट क्यों नहीं होजाता, क्योंकि यह तो पुण्यपाप का फड़ है ? उत्तर:—

अनारव्धकार्ये एवतु पूर्वे तदवधेः॥१५॥

पद ०-अनारब्धकार्ये । एव । तु । पूर्वे । तदवधेः ।

पदा०-" तु " शब्द आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है

(अनारब्धकारवें) जिन्होंने अभी क्रार्ट्यारम्भ नहीं किया ऐसे प्रारब्ध कमें से भिन्न (पूर्वें) जो संचित पुण्य तथा पापकर्म हैं उन्हीं का (एव) निक्चय करके ज्ञान से अश्लेष तथा विनाश कथन किया है, क्योंकि (तद्वधेः) प्रारब्धकर्म ही मुक्ति की अवधि हैं।

संप्रस्ये " छान्दो० ६। १४। २= उसको तभी तक मुक्ति में विछम्ब है जब तक उसके पारब्धकर्म, क्षय नहीं होते, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि मुक्ति में प्रतिबन्धक केवळ पारब्ध कर्म ही हैं संचित कर्मों का ज्ञान से अश्लेष तथा विनाश होने पर भी इसका ज्ञारीर नष्ट नहीं होता और नाही पारब्ध कर्मों के भोगे विना इसकी मुक्ति होमकी है अर्थाद ज्ञान होने से संचित पुण्यपाप कर्मों के अश्लेष विनाश होने पर भी यह मुक्त नहीं होता, क्योंकि मुक्ति में प्रतिबन्धन जो पारब्ध कर्म हैं उनका भोग अभी तक क्षेष है, इसिछिये संचित कर्मों का अश्लेष विनाश होने पर भी प्रतिबन्धक के बने रहने से जैसे मुक्ति नहीं होती वैसे ही शरीर भी नष्ट नहीं होसका।

सं ० – अब ज्ञानोत्पत्ति के लिये अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिक कर्मों की अवश्यकर्तव्यता कथन करेते हैं:—

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैवतह-शनात् ॥ १६॥

पद०-अभिहोत्रादि । तु । तत्कार्याय । एव । तद्दर्भनाद । पदा०-(एव) निश्चयकरके (अभिहोत्रादिं) अभिहोत्रादि नित्यनैमिश्विक कर्म (तत्कार्याय) ज्ञानोत्पत्ति के लिये आवश्य कर्तव्य हैं (तु) क्योंकि (तद्दर्शनात्) श्रुति वाक्यों से ऐसा ही पावा जाता है।

भाष्य—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिपनित यद्गेन दानेन "बृहदा०४।४। २२=ब्राह्मण छोग
उस परमात्मा को यद्ग, दान तथा वेदाभ्यास से जानने की इच्छा
करते हैं, इत्यादि वाक्यों में स्रष्ट्रग्या कथन किया है कि अपिहोत्रादि कमें ज्ञान की उत्पत्ति का साधन हैं, और इसी भान को
गीता के कई स्थलों में स्पष्टतया वर्णन किया है कि "युज्ञ
दान तपःकमें न त्याज्यं कार्यमेवतत् "=गी०१८।६=युज्ञ
दानादि कमों का कदापि त्याग न करे यह करने ही उचित हैं,
इसी प्रकार "कुर्वन्नेवेह कमाणि " यज्ञ०४०। २ इत्यादि
पन्मों में यावदायुष कमों की कर्तन्यता पाई जाती है, इससे सिद्ध
है कि ह्यानेत्पत्ति के छिये अपिशोत्रादि कमें अवस्य कर्तन्य हैं
त्याज्य नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:-

अतोऽन्यापि ह्यकेषामुभयोः ॥१७॥ पद्-अतः। अन्या। आपे। हि। एकेषां। उभयेः।

पदा॰—(अतः) पूर्वोक्त मकार से (अन्या) और युक्ति (आपि) भी (पकेषां) कई एक आचार्य्य उक्त अर्थ में कथन करते हैं और वंह (हि) निक्चय करके (उभयोः) जैमिनि तथा बादरायण दोनों को अभिमत है।

भाष्य-कई एक आचाय्यों का कथन है कि जैसे आग्निहोत्रादिं कर्म ज्ञान से पूर्व किये हुए ज्ञानीत्पत्ति का साधन हैं वैसे ही ज्ञान से पश्चाद किये हुए भी मुक्ति का साधन होते हैं, क्यों कि जो ज्ञान को सिद्ध करसक्ते हैं वह ज्ञान से सिद्ध होने वास्त्री मुक्ति को भी सिद्ध करसक्ते हैं, और यह बात बादरायण तथा उनके ज्ञिष्य जैमिनि दोनों को इष्ट है।

सं ०-अब और युक्ति कथन करते हैं:-

यदेवविद्ययेति हि ॥१८॥

,पद्०-यद् । एव । विद्यया । इति । हि ।

पदा०-(यद) जो कर्म (विद्यया) विद्या से किये जाते हैं (एव) निश्चयकरके वहीं फल वाले होते हैं (हाते) वह फल (हि) ही सुक्ति है।

भाष्य-एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगित्तिमांश्रृणु । बुद्धचायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

गी० २।३९

अर्थ-यह मैंने तुम्हारी बुद्धि सांख्य=ज्ञानिवषय में कही और योग विषय में इस बुद्धि को सुनो जिसको मैं आगे कथन करता हूं जिससे युक्त होका है पार्थ! तुम कर्म के बन्धन से छूट जाओग, इस श्लोक में ज्ञान से कमों को बड़ा कथन किया है, यदि ज्ञान ही कमों से बढ़कर मुक्ति का साधन होता तो ज्ञान को कमों से ऊपर रखना चाहिये था परन्तु यहां गीता के कर्चा

व्यासजी को यह अभीष्ट न था और होता भी कैसे जज्ञक अनुभव से सिद्ध है कि जो ज्ञानपूर्वक कर्ष किये जाते हैं वही सफल होते हैं अन्य नहीं, इससे यह भी स्पष्ट होगया कि वाक्य जन्य ज्ञान जैसाकि मायावादी मानते हैं कि " तत्त्वसिसि कथन मेही पुरुष मुक्त होजाता है यह मुक्ति का साधन नहीं,अनुष्ठान प्रधान ज्ञान ही मुक्ति का साधन है और अनुष्ठान ज्ञान से अनन्तर ही होता है, जैसाकि छान्दों० १।१।१० में वर्णन किया है कि " यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वी-र्य्यवत्तरं अवाति"=नो कर्म विद्या श्रद्धा तथा ज्ञान से किये जाते हैं वही फलवाले होते हैं,इससे सिद्ध है कि ब्रह्मज्ञान के लिये श्रवण,यनन तथा निदिध्यासन की अवस्यकता है और वह निस नैमिचिक कर्मों में एड़ रहने से बिना नहीं होसकते, अतएव कहा है कि "स खल्वेवं वर्तयच् यावदायुषंब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" छां ० ७।१५।१= इसी पकार यावदायुष कर्म करता हुआ ब्रह्मलोक को भाप्त होता है, इससे सिद्ध है कि ब्रह्मज्ञानी को भी मुक्ति के छिये कर्ष कर्तन्य हैं।

सं०-अब पारव्य कर्मी के भोगानन्तर मुक्ति का कथन

भोगेनत्वितरेक्षपयित्वा सम्पद्यते ॥१९॥ पद०-भोगेन। तु। इतरे। क्षपयित्वा। सम्पद्यते।

चतुर्याध्याये-द्वितीयः पादः

423

पदा०-" तु"पक्षान्तर के लिये आया है,पुरुष (भोगेन) भोग से (इतरे) पुण्य पापद्भप दोनों पारब्ध कर्मों का (क्षपिखा) नाभ करके (सम्पद्यते) ब्रह्म को पाप्त होता है।

भाष्य-ब्रह्मज्ञान के अनन्तर वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करते रहने पर जब इसके प्रारब्धकर्म शेष नहीं रहते तब वह इस भौतिक शरीर को छोड़कर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है और ब्रह्म-प्राप्ति का नाम ही मुक्ति है।

इति प्रथमः पादः समाप्तः

अथ दितीयः पादः प्रारम्यते

सं०-अब विद्वान तथा अविद्वान की उत्क्रान्ति का भेद वर्णन करने के छिये इस पाद का प्रारम्भ करते हुए प्रथम वागादि इन्द्रियहत्तियों का छय कथन करते हैं:—

वाङ्मनिस दर्शनाच्छब्दाच ॥ १॥

पद०-वाक्। मनिस। दर्शनात्। शब्दात्। च।
पदा०-(वाक्) वाणी का (मनिस) मन में छय होजाता
है, क्योंकि (दर्शनात्) मृत्युकाल में ऐसा ही देखा जाता (च)
और (शब्दात्) श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-जब पुरुष आसन्नमृत्यु होता है तो सब से प्रथम उसका वागिन्द्रिय भाषणहरूप व्यापार से निष्टत्त होजाता है जिस को देखकर उसके सम्बन्धिवर्ग कहते हैं कि अब यह बोळने में असमर्थ है, इससे सिद्ध है कि आसन्नमृत्य पुरुष के वागिन्द्रिय की हित मन में छय होजाती है, क्योंकि मन ही सब इन्द्रियों में प्रधान तथा उनकी विषयों में होने वाली प्रहत्तियों का सहकारी है, और अधि से भी उसका मन में छय होना पायाजाता है, जैसाकि :—

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनःप्राणे प्राण-स्तेजसि तेजःपरस्यां देवतायाम् ।

छां० ६।८।६

अर्थ-हे सोम्य! जब पुरुष मृत्यु को प्राप्त होने लगता है तब बागिन्द्रिय का मन में, मन का प्राण में,प्राण का तेज में और तेज का परदेवता=ब्रह्म में लय होजाता है, इस्रांदि बाक्यों से स्पष्ट है कि मन ही वागिन्द्रिय के लय का स्थान है।

सं ० - अब बाणी के अनन्तर शेष इन्द्रियद्यत्तियों का मन में खय कथन करते हैं:--

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २॥

पद०-अतः। एव। सर्वाणि। अनु।

पदा॰-(अतः) उक्त हेतुओं से (सर्वाणि) सब इन्द्रिय हित्यों का (अतु) वाणी के पछि (एव) निश्चयकरके मन ही में छय होता है।

भाष्य-"तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैः

चतुर्याध्याये-द्वितीयः पादः

434

मनिस सम्पद्यमानैः " पश्च० ३। ९=जब पतुष्य के श्वरीर की उष्णता शान्त होजाती है तब वह मन में छय हुए इन्द्रियों के साथ पुनर्जन्य=शरीरान्तर को माप्त होता है, इससे सिद्ध है कि उत्तरीकर छयभाव को माप्त हुई सब इन्द्रियद्यियों का मन ही में छय होता है और बाणी का पृथक् छय कथन करना केवछ छां० ६।८। ६ बाक्य के,अनुरोध से जानना चाहिये।

सं ० - अब मन का प्राण में छय कथन करते हैं:--

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥३॥

ं पद०-तव । मनः । प्राणे । उत्तराव ।

पदा॰—(तत्, मनः) उस मन का (प्राणे) प्राण में स्वय होता है, क्योंकि (उत्तरात्) उत्तर वाक्यों से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-" मनः प्राणि०" छां० ६।८।६=मन का
प्राण में छय होता है, इस वाक्यशेष से स्पष्ट है कि जिस मन में
वागादि सब इिन्द्रयद्यत्तियों का छय कथन कियागया है उसका
छय मुख्यप्राण में होता है, क्योंकि प्राण के विना मन की स्थिति
महीं होसक्ती, जैसाकि दृददारण्यक के शाकछ ब्राह्मण में स्पष्ट है
जिसका विस्तारपूर्वक निक्षण " उपनिषद्यार्थभाष्य" के
दितीयभाग में कियेजाने से यहां पुनरुक्केस की आवश्यकता नहीं।

सं०-अव माण का आत्मा में छय कथन करते हैं:-

५२६

वेदान्सार्यभाष्ये

पद०-सः। अध्यक्षे। तदुपगमादिभ्यः।

पदा०-(सः) प्राण का (अध्यक्षे) आत्मा में खय होता है क्योंकि (तदुपगमादिभ्यः) उक्त अर्थ के बोधक बाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—" एवमेवात्मानमन्तकाले सर्वेप्राणा अभि-समायन्ति" बृहदा० ४।३।३८=यृत्युकाल में न्वागादि इन्द्रियों के लय की भांति सब प्राण जीवात्मा में लयभाव को प्राप्त होजाते हैं, इत्यादि प्राणलयमितपादक वाक्यों से सिद्ध है कि जिसमें यन का लय होचुका है ऐसे प्राण का जीवात्मा में लय होता है अर्थाद जब जीव बारीर का परित्याग करता है तब प्राण भी उसके पीछे निकल जाते हैं और उनके निकलने से बारीर बाबक्षण हुआ अत्यन्त घृणास्पद होजाता है।

सं ० - नतु, बृहदा ०६।८। ६ में प्राण का तेज में छय होना कथन किया है जीवात्मा में नहीं ? उत्तरः—

भृतेषु तच्छूतेः ॥ ५॥

पद ०-भृतेषु । तच्छुतेः।

पदा॰-(भूतेषु) सुक्ष्म भूतों में (तच्छुतेः) प्राणसाहत जीव का छय पाये जाने से उक्त अर्थ में कोई विरोध नहीं।

भाष्य—"प्राणस्तेजिसि" बृहदा॰ ६।८।६ इस वाक्य द्वारा जो प्राणका तेज में छय कथन किया है उसका जीव में छय कथन करने वाले पूर्वसूत्रस्य विषयवाक्य के साथ इसिल्ये विरोध नहीं कि देह के वीजभूत सूक्ष्मभूतों में माणिविशिष्ट जीव का छय होना अभिमेत है अर्थाद जिन सूक्ष्मभूतों से जीव के भावीदेह का आरम्भ होना है उनके साथ मिलकर ही जीव की परलोकयात्रा मिद्ध होती है अन्यथा नहीं, जैसाकि "तदन्तर प्रतिपत्ती रहितिसम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" ब्र० सू० ३। १। १ में वर्णन कर आये हैं, इसिल्ये जीव के सम्बन्ध द्वारा आण का तेज में लय होना न समझकर वादी का उक्तआक्षेप ठीक नहीं।

सं ० - ननु, उक्त विषयवाक्य द्वारा केवछ तेज में छय कथन किया है सब भूतों में नहीं ? उत्तरः —

नैकस्मिन्दर्शयतो हि॥६॥

पद०-न । एकस्मिन् । द्र्ययतः । हि ।

पदा ० – (एक स्मिन्) एक भूत में स्थिर होकर जीवात्मा की बारीरान्तर प्राप्ति (न) नहीं होसकी (हि) क्योंकि (दर्शपतः) श्रुति स्मृति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-मृत्युकाल में केवल तेजोमात्रा से वेष्टित होकर जीव का परलोक गमन मानना इसलिये ठीक नहीं कि एक भूत में उसके भावी शारीरसम्बन्धी अवयवों के उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं, इसी अभिनाय से बृहदा० ४।४। ५ में वर्णन किया है कि 'पृथिवीमय आपोमयोवायुमय आकाशमयस्तेजोमय'=

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

सुत्युकाछ में जीवात्मा पृथिवीषय, जल्लमय, वायुषय, आकाशमय और तेजीष होता है अर्थाद पृथिव्यादि पांच सूतों से वेष्टित हुआ परलोक गमन करता है, यदि उत्क्रान्तिकाल में एक तेज ही जीवात्मा की स्थिति का आधार होता तो उसको कदापि पृथिवी सय आदि शब्दों से व्यवहृत न किया जाता पर किया है, इससे सिद्ध है कि स्थूल शारीर का त्याग करने के अनन्तर जीवात्मा की स्थिति पृथिव्यादि पांच सुक्ष्मभूतों में होती है किसी एक में नहीं, और स्थृति भी इसी अर्थ को प्रतिपादन करती है कि:—

अण्व्योमात्रा विनाशिन्यो दशाधीनान्तु याः स्पृताः।

ताभिः साधिमिदं सर्व सम्भवत्यनुपूर्वशः॥

मन् १।२७

अर्थ-सब चराचर प्राणियों के शरीर और उनके भोग्य पदार्थ पांच भूतों की सूक्ष्ममाञ्चाओं से उत्पन्न होते हैं, इस मकार पांच भूतों में जीवात्मा की स्थिति कथन करने से स्पष्ट है कि उनके साथ मिछकर ही मुख्यमाण तेज में छयभाव को प्राप्त होता है केवछ नहीं।

सं०-अब बिद्वान् तथा अनिद्वान् की उत्क्रान्ति का भेद स्पष्टतया भतिपादन करने के छिये "आस्टत्युपक्रमाधिकरण " का मारम्भ करते हैं:—

समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वश्चानुपोष्य। १०।

पद्-समाना । च । आसत्युपक्रमात् । अमृतत्वं । च।

अनुपोष्य ।

चतुर्थाध्याये-द्वितीयः पादः

429

पहा०-(च) निश्चयकरके (आसत्युपक्रमाद) नारीप्रदेश से पूर्व विद्वान तथा अविद्रान की उत्क्रान्ति (सपाना) समान है (च) और (अनुपोष्य) सूक्ष्म शारीर का त्याग न करके विद्वान को (असुतत्वं) असृतभाव की प्राप्ति होती है।

भाष्य-शतञ्चेका हृदयस्य नाड्यस्तासां मुद्धानम-भिनिःसृतेका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वद्द्दन्या उत्क्रमणे भवन्ति " कड० २। १६

अर्थ-हृदयगत एकसौएक नाडियां हैं उनमें से जो एक नाडी मूर्द्धादेश को पाप्त है उसी के द्वारा विद्वान पुरुष उत्क्रमण करता हुआ अमृत को प्राप्त होता है और शेष नाहियों से अविद्वानों का उत्क्रमण होता है जो नाना प्रकार की योनियों को पाप्त होते हैं, इसादि इस अधिकरण के विषय पाक्य हैं, यहां यह सन्देह होता है कि पूर्व अधिकरणों में प्रतिपादन कीं हुई उत्क्रान्ति ज्ञानी तथा अज्ञानी के लिये समान है अयवा दोनों की उत्क्रान्ति का परस्पर भेद है ? इसमें पूर्वपक्षी का कथन है कि " तयोर्ध्वमायन मृतत्वमेति "=मुबुम्णा नाडी हारा उत्क्रमण करता हुआ ज्ञानी पुरुष अधृत को माप्त होता है, इस कथन से स्पष्ट है कि शेष नाडियों द्वारा उत्क्रमण करने वाछे अज्ञानी पुरुष अमृतभाव को भाप्त नहीं होते पत्युव "विष्वद्भुद्धन्या" पद मे उनका पुनः २ जन्म धारण करना पायाजाता है, इसालिये झानी तथा अझानी पुरुषों की उत्कान्ति

का सर्वया भेद मानना ही ठीक है ? इसका उत्तर बह है कि " विदुषोऽप्यासृत्युपक्रमात् = आगत्युपक्रमात् ना-डीप्रवेशात्प्रागुत्क्रान्तिः समाना "=नाडीपवेश से पूर्व २ विद्वान तथा अविद्वान पुरुष की उत्कानित का कोई भेद नहीं परन्तु सर्वाश में उनकी सहशता इसिछिये नहीं कि विद्वान पुरुष देहसागोत्तर काल में अमृतपद को और अज्ञानी नाना मकार की कर्मयोनियों को माप्त होते हैं, या यों कहोकि शरीर साग काछ में सब से मथम इन्द्रियों का मन में लय होकर फिर इन्द्रिय सहित मन का माण में, इन्द्रिय तथा मन सहित माण का जीबात्मा में और जीवात्मा का सुक्ष्म भूतों में लय होना आदि बानी तथा अज्ञानी दोनों की उत्क्रान्ति में समान है परन्तु इसके अनन्तर थिक २ नाडीयों द्वारा निर्गयन करके तत्ववेत्ता छिक्न बारीर सहित देवयान मार्ग को पाप्त होकर अमृतपद का भागी होता है और अज्ञानी अग्रुतलाभ के विना ही घटीयन्त्रवत पुनः २ संसार में भ्रयण करता रहता है, इस पकार देहसागोत्तर मार्गभेद द्वारा उत्क्रान्ति का भेद होने पर भी आंशिक समता मानना ही ठीक है।

सं ०-अब मुक्त पुरुष की अमृतपद मे पुनराद्यत्ति कथन करते हैं:-

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८॥

पद्०-तत्। आपीतेः। संसारव्यपदेशात्।

पदा०-(आपीतेः) ब्रह्म में खय पर्यन्त ही (तत्) अस्त-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

पद की स्थिति है, क्योंकि (संसारव्यपदेशात) मुक्त पुरुष का पुनः संसार में आना पायाजाता है।

भाष्य- योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ कठ०५।०

अर्थ-कई एक जीव दारीर घारण करने के छिये योनि को प्राप्त होते हैं अर्थाद योनिद्वारा जन्म घारण करते हैं और दूसरे पूर्वकृत कर्मानुसार स्वेदज, जीद्रज्जादि योनियों को प्राप्त होते हैं, इस्रादि वाक्यों से स्पष्ट है कि नियत समय पर्यन्त सुक्ति के सुख को भोगकर जीव पुनः संसार को प्राप्त होते हैं।

सं०-नतु, देइसाग काल में जीव के निकलने का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? उत्तर :---

सुक्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

पद ० - सूक्ष्मं । प्रमाणतः । च । तथा । उपछब्देः ।

पदा०-(च) निश्चयकरके जीवात्मा का आतिवाहिक शरीर (प्रमाणतः) स्वकृष से (सूक्ष्मं) सूक्ष्म है, क्योंकि (उपछन्धेः) उसकी उपछन्ति (तथा) वैमे ही पाईजाती है।

भाष्य-नाडी छिट्रों द्वारा निर्गमन करते हुए जीव का प्रसस इसिछिये नहीं होता कि प्रथम तो जीवात्मा का अणु परिमाण है, जैसाकि दितीयाध्याय के तृतीयपाद में स्पष्ट कर आये हैं, और दूसरी बात यह है कि जिन भूतों में वेष्टित हुआ जीव प्रयाण करता है वह सूक्ष्म हैं और मूक्ष्म होने के कारण द्र्णणुकादि पदार्थी की मंत्रीत समीपवर्ती पुरुषों को उसकी उपछान्धि नहीं होसक्ती परन्तु अनुमान द्वारा उसकी उपछान्धि में कोई बाधा नहीं ॥ सं०-अब दो सूत्रों से छिङ्गशरीर विषयक अन्य विचार करते हैं:-

नोपमहेनातः ॥ १०॥

पद०-न । उपमर्देन । अतः।

पदा॰-(अतः) स्रक्ष्म होने के कारण (उपमर्देन) स्यूछ शरीर के नाश से छिद्रशरीर का नाश (न') नहीं होता।

अस्येव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११॥

पद०-अस्य। एव। च। उपपत्तेः। एषः। उद्या। पदा०-(च) और (एव) निश्चयकरके (एषः) प्रस्र उपरुष्पान (उद्या) स्थूलकारीरगत उद्याता (अस्य) इसी किङ्गवारीर की है, क्योंकि (उपपत्तेः) प्रमाण से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य—" उद्या एवं जीविदयन् शीतोमिरिद्यन् " शत०८। ७। २। ११=जीवन काल पर्यन्त शरीर में उद्याता बनी रहती है परन्तु माणों का वियोग होते ही शरीर शितल हो जाताहै, इत्यादि ममाणों से स्पष्ट है कि इसी लिङ्गशरीरवर्जी तेज के सम्बन्ध से स्थूलशरीर में उद्याता मतीत होती है, यदि स्थूल शरीर स्वयं जद्मासंयुक्त होता तो मरणानन्तर भी उसमें अवश्य उद्याता उपलब्ध होती पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि स्थूल-शरीरगत उद्याता का हेतु सुक्ष्म शरीर है स्थूल शरीर नहीं।

सं०-अव उक्त अर्थ का आक्षेत्पूर्वक समाधान करते हैं:-प्रतिषेधादितिचेन्न शारीरात् ॥१२॥

पद०-प्रतिषेधात । इति । चेत् । न । शारीरात ।
पदा०-(प्रतिषेधात) प्राणों की उत्कान्ति का निषेध पाये
जाने से विद्वान पुरुष के सूक्ष्म शरीर का उत्क्रमण नहीं होता
(चेत) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि
निषेधक वाक्य (शारीरात) जीव से प्राणों के उत्क्रमण का
निषेध करते हैं।

भाष्य-" न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति " ब्रदा० ४। थे। ६ = त्र स्रवेत्ता के प्राण नहीं निकलते, इत्यादि वाक्यों द्वारा विद्वान पुरुष के पाणों की उत्क्रान्ति का निषेध पाये जाने स अज्ञानी पुरुष की उत्क्रान्ति के समान विद्वान की उत्क्रान्ति यानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उक्त निषेषक वाक्यों द्वारा बारीर से पाणोत्क्रान्ति का निषेध अभिषेत नहीं किन्त जीव से प्राणीत्क्रान्ति का निषेत्र किया गया है अर्थाव देवयान मार्गद्वारा अमृतपद को माप्त होने वाले ज्ञानी के माण लिङ्गकारीर से पृथक् नहीं होते यह उस वाक्य का तात्पर्य है, अतएव माध्य-न्दिन बाखावालों के मत में " न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति के स्थान पर " न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति"वह पश्चम्यन्त पाठ पढ़ा है, इसलिये स्थूल शारीर से पाणों का उत्क्रमणमात्र दोनोंका समानजानना चाहिये अर्थाव जैसे अज्ञानी के पाण स्यूछ वारीर से निकछते हैं वैसे ही ज्ञानी के निकछते हैं, इसका विशेष विचार आगे ह्न सु० ४ । ४ । १२ में किया गया है । सं०-अब उक्त अर्थ में अन्य आचार्यों का मत कथन करते हैं:—

स्पष्टाह्येकेषाम् ॥ १३॥

पद ०-स्पष्टः । हि । एकेषाम् ।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (एकेषां) कई एक आचारयों के यत में (स्पष्टः) स्थूल करीर से प्राणों का उत्क्रमण स्पष्ट है। भाष्य-" चश्चष्टो वा मूर्ध्नों वाऽन्येभ्यो वा द्वारीर देशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽन्त्र्क्रामित प्राणमन्त्का-मन्तं सर्वे प्राणा अन्त्कामिन्त " बृहदा० ४। ४। २

अर्थ-चक्षु, मूर्धा अथवा शरीर के अन्य अवयवों द्वारा निकलते हुए जीव के पीछे प्राण निकल जाते हैं और प्राणों के निकलने पर सब इन्द्रिय उनके साथ ही उत्क्रमण कर जाते हैं, श्रमादि वाक्यों से स्पष्ट है कि प्राणों का स्थूल शरीर से उत्क्रमण होता है लिङ्गशरीर से नहीं।

स्मर्यते च ॥१४॥

पद०-स्मर्घते। च।

पदा॰-(च) और (स्मर्यते) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-यदाणुमात्रिकोभृत्वाबीजं स्थास्त चरिष्णु च।
समाविशाति संसृष्टस्तदा मूर्ति विमुञ्जति ॥
मनु० १। ५६

अर्थ-जब जीवात्मा स्वकर्मानुसार चराचर शरीरों में प्रवेश करने के लिये अणुमात्रिक होता है अर्थात भूतेन्द्रियादि आठ प्रकार के सक्ष्म तत्त्वों से संयुक्त हुआ स्यूल शरीर का परित्याग कर देता है, या यों कहो कि पांच झानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच माण और मन, बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों से मिलकर जीव परलोक यात्रा करता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि स्यूल शरीर से पाणों का गमन होता है।

सं ० – अब पाण शब्द वाच्य इन्द्रियों का ब्रह्म में लय कथन करते हैं: —

तानिपरे तथाह्याह ॥ १५॥

पद्-तानि। परे। तथा। हि। आह।
पदा-(तानि) उक्त माणों का (परे) ब्रझ में छप होता
है (हि) क्योंकि (तथा, आह) श्रुति वाक्यों सं ऐसा ही पाया जाता है।
भाष्य-" एवमेवास्य परिद्रष्ट्रिरिमाः षोडशकलाः

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्या-स्तंगच्छिन्ति " प्रश्नः ६। ५= जिम प्रकार नदियें समुद्र को पाप्त होकर उनमें लय होजाती हैं इसी प्रकार निद्वान पुरुष के पांच ब्रानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण और अन्तः करण यह सब पिलकर पोडशकला ब्रह्म में लय होजाती हैं अर्थात जबतक मुक्त पुरुष मुक्ति के मुख को भोगता है तब तक उसका उक्त कलाओं के साथ कोई सम्यन्य नहीं रहता वह अपने स्वक्ष्पभृत सामर्थ्य से ही शब्दादि विषयों का अनुभव करता हुआ स्वच्छन्द विचरता है।

सं ० - ननु, इन्द्रियादि जड़ पदार्थ ब्रह्म में छय होने से ब्रह्मफ्ष हीजाते हैं अथवा भिन्न रहते हैं ? उत्तर : ---

अविभागो वचनात् ॥ १६॥

पद०-अविभागः । वचनात् ।

पदा०-(अविभागः) इन्द्रियादि जड़ पदार्थी का ब्रह्म के साथ अविभाग होता है, क्योंकि (वचनाव) श्रुति वाक्यों से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-"भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते"
पक्ष ६। ५= जब ब्रह्म में लय होकर उक्त षोडशकलाओं के नामरूप दूर होजाते हैं तब उनकी पुरुषतंश्चा होती है, इसादि वाक्यों से स्पष्ट है कि प्रलयकाल में इन्द्रियादि सब पदार्थ सहम्मरूप से अविभक्त होकर ब्रह्म के आश्रित रहते हैं उनका सर्वथा ब्रह्मरूप होजाना अभिपेत नहीं, क्योंकि चेतन ब्रह्म किसी पदार्थ का उपादान कारण नहीं, जैसाकि पीछे "आरम्भणाधिकरण में स्पष्ट कर आये हैं, इसलिये उनको स्रक्ष्मरूप से ब्रह्माश्रित मानना ही ठीक है।

सं ० - अब उपासक पुरुष की उत्क्रान्ति में विशेषता कथन करते हैं:--

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितदारो विद्यासामध्यात्तच्छेषगत्य तुस्मृति-

योगाच हार्दानुगृहीतः शता-

पद् ० - तदोकोग्रज्वलनं । तत्मकाशितद्वारः । विद्यासामध्यीत्। तच्छेषगत्यनुस्पृतियोगात् । च । हार्दानु गृहीतः । शताधिकया।

पदा०-(विद्यासामध्यीत) ब्रह्मविद्या के सामध्ये (च)
और (सच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात)ब्रह्ममाप्तिके स्मृतियोग से (तत्मकाश्चितद्वारः) जिसके छिये मोक्षमार्ग का द्वार मकाश्चित होगया है
और (हार्दानुमृहीतः) जिसपर परमात्मा की पूर्णतया छुपा है
वह (तदोकोग्रज्वछनं) शुद्ध द्वदयक्ष आयतन वाछा उपासक
पुरुष (श्वताधिकया) सुषुम्णा नाडद्विारा उत्क्रमण करता है।

भाष्य—जब देहत्याग काछ में योगी को ब्रह्मविद्या के यछ से ब्रह्मवाप्ति की स्मृति होती है तब वह उपासना के प्रवछ संस्कारों द्वारा परमात्मा का चिन्तन करता हुआ प्रार्थना करता है कि:—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं । तत्त्वं प्रवन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ यज्ञ० ४०। १५

अर्थ-हे परमात्मन ! वित्तेषणादि मोहरूप पात्र से जो आपका सत्यस्वरूप दका हुआ है उसको खोळदें ताकि मैं सत्यवर्भ के लाभार्थ आपका दर्शन करसकूं, इसप्रकार प्रार्थना करते हुए जिसके हृद्य से सब प्रकार की विषयवासना निष्टत्त होर्ग्ड हैं वह उपासक परमात्मा की कृपा से सुषुम्णा नाड़ी द्वारा उत्क्रमण करता हुआ शरीर का परित्याग करता है और फिर वह माकृत पुरुषों की भांति पुनः २ जन्म मरण को प्राप्त नहीं होता, इसी अभिपाय से छां० ८। ६ । ६ में वर्णन किया है कि:—

शतश्रेकाहृदयस्य नाडयस्तासां मूर्धानमभि निःसृतेका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वहुद्धन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥

अर्थ-हृदय की एकसाएक नाडीयें हैं जिनमें से एक
नाडी मूर्दादेश की ओर निकली हुई है इसी नाडी द्वारा उपासक.

उत्क्रमण करता हुआ अमृतपद को प्राप्त होता है और शेष विविधनकार की नाडीयें साधारण पुरुषों के उत्क्रमणार्थ हैं, इसेस
सिद्ध है कि उपासक पुरुष की उत्क्रान्ति साधारण पुरुषों के
समान नहीं होती।

सं ०-अव उत्क्रमण करने वाले जीव का सूर्य्य की किरणों के साथ सम्बन्ध कथन करते हैं:—

ररम्यनुसारी ॥ १८॥

पद०-एकपद०

पदा॰-(रक्ष्म्यनुसारी) देहत्याग काल में जीव सूर्य्य की किरणों द्वारा उत्क्रमण करता है।

सं०-नतु, रात्रिकाल में मृत उपासक पुरुष का सूर्य की किरणों के साथ सम्बन्ध न होने से उसको मुक्ति की पाप्ति न होगी ? उत्तरः—

निशिनेतिचेन्न सम्बन्धस्य यावद्देह-भावित्वाद्दश्यति ॥१९॥

पद्-निशि। न। इति। चेत्। न। सम्बन्यस्य। याबहे-इथावित्वात्। दर्शयति।

पदा०-(निशिं) रात्रि में मृत पुरुष का सूर्य्य के साथ सम्बन्ध (न) नहीं होता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (सम्बन्धस्य, यावदेहभावित्वात) सूर्य्य का सब बारीरों के साथ सम्बन्ध रहता है, और (दर्शयित) श्रुतिवाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-रात्रिकाल में उत्क्रमण करने वाले उपासक पुरुषों को मुक्तिक्प फल की प्राप्ति नहीं होसक्ती, यह कथन इसिक्ये ठीक नहीं कि सुक्ष्मक्ष से सूर्य्य का सम्बन्ध सब बारीरों के साथ बना रहता है, जैसाकि:—

अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ताः। आभ्योनाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः॥

अर्थ-वह किरणें उस आदित्य से चारों ओर विस्तीर्ण होकर इन नाडीयों में पविष्ट होतीं और नाडियों से निकलकर बाहिर शरीर में फैल जाती हैं और फिर उसी आदित्य में प्रविष्ट

<u> वेदान्सार्यभाष्ये</u>

होती हैं, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि रात्रिकाल में माण त्यागने वार्लों के साथ भी सूर्य की किरणों का सूक्ष्म सम्बन्ध बना रहता है, इसलिये जपासक की मुक्ति में कोई बाधा नहीं।

यं - अब उक्त अर्थ का दक्षिणमार्ग में अतिदेश कथन करते हैं:—

अतश्चायनेऽपिदक्षिण ॥ २०॥

पद०-अतः। च। अयने। अपि। दक्षिणे।
पदा०-(अतः) अतएव (दक्षिणे) दक्षिण (अयने) प्रार्गगत मृत जपासक के मुक्तिकप फल में (अपि) भी कोई
वाषा नहीं।

भाष्य—"च" अतिदेश के बोधनार्थ आया है, जिसप्रकार खपासक के दिन वा राजिकाल में उरक्रमण करने पर मुक्तिक्य फल में विषमता नहीं होती इसी मकार दक्षिणमार्ग द्वारा प्रयाण करने पर भी तत्ववेचा को उक्त फल की माप्ति में कोई बाधा नहीं, और जो इतिहास द्वारा भीष्मिपितामह का उत्तरायण में देहत्याम पाया जाता है वह केवल उत्तरायण तथा योगी की श्रेष्ठता बोधन करने के लिये है कि इस मकार योगी अपने योगवल से स्वच्ल-न्दमृत्यु होसक्ता है जिससे उसको किमी मकार का मृत्युभय नहीं रहता और नाही वह अज्ञानी पुरुषों के समान श्रीत उष्णादि हन्दों से दुःखी होता है।

सं ० - अब उक्त अर्थ का उपंसहार करते हुए दोनो मार्गी में स्थित प्रमाण क्रथन करते हैं:--

योगिनः प्रति स्मर्थिते स्मार्त्ते चैते ॥२१॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

680

चतुर्याध्याये-दितीयःपादः

6,88

पद्द - योगिनः । प्रति । स्मर्थते । स्मार्चे । च । एते ।
पदा - (च) और (स्मार्चे) स्मृति के विषयभूत
(एते) देवयान तथा पितृयाण रूप दो मार्ग (योगिनः, प्रति)
योगी के छिये (स्मर्थते) कथन किये गये हैं।

भाष्य-अभिज्योतिरहः शुक्कःषण्मासाः उत्तरायणं। तत्र प्रयातागच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः ॥ गी० ८। २४

. अर्थ-जिस अनस्या में आग्न के समान ज्योतिः और दिन की भांति परमात्मा का यथार्थ मकाश होता है उस उत्तरायण आर्ग से उत्क्रमण करने वाला योगी ब्रह्म को माप्त होता है, इसादि स्मृति मितपादित उत्तरायण तथा दक्षिणायन रूप दोनों मार्गों का मितदिन योगी को स्मरण करना चाहिये जिससे उसके उत्क्रमण काल में किसी मकार का विम्न उपस्थित म हो अर्थाद देहसाम काल में उक्त दोनों मार्गों का योगी ही यथावद विचार करसक्ता है साधारण ज्ञानी नहीं, इसलिये ज्ञानी पुरुष की मृत्यु में दक्षिणायन तथा उत्तरायण भार्ग का कोई नियम नहीं॥

इति दितीयःपादःसमाप्तः

५४२

वेदान्तार्यभाष्ये

अथ तृतीयः पादः प्रारम्यते

सं ० - अब देवयान तथा पितृयाण मार्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के छिये इस पाद का प्रारम्भ करते हुए प्रथम उक्त दोनों मार्गों द्वारा विद्वान की गति निरूपण करते हैं:—

अचिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

पद ० - अचिरादिना। तत्प्रथिते:।

पदा०-(आचिरादिना) अग्न्यादि लोकों द्वारा ब्रह्म की माप्ति होती है, क्योंकि (तत्मिथतेः) शास्त्र से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-स एतं देवयानं पन्थानमासाद्यगिनलीकमागच्छिति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापितलोकं स ब्रह्मलोकम् "कौ० १। ३
अर्थ-उपासक पुरुष देवयानमार्गका अवलम्बन करके अग्नि से बायु
लोक को, वायु से वरुण लोक को, वरुण से इन्द्र लोक को, इन्द्र से
प्रजापित लोक और प्रजापित लोक से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता
है,इस प्रकार अग्न्यादि लोकों की उत्तरोत्तर प्राप्ति द्वारा विद्वान को
ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और इसी का नाम "देवयान"
पार्ग है परन्तु यहां अग्न्यादि शब्दों से लोकविशेष अभिमेत
नहीं जैसाकि पौराणिक लोग मानते हैं किन्तु "लोक्यत इति

483

लोकः "=जो अनुभव से माप्त हो उसका नाम " लोक "है, इस व्युत्पत्ति से "छोक" शब्द अवस्थाविशेष का वाचक है अर्थाद मुक्त पुरुष को ब्रह्मवद अपहतपाप्मा होने के छिये प्रथम अग्नि के समान प्रकाशमान होना आवश्यक है, या याँ कहो कि जबतक पापवासनाओं को भस्म करने वाछी आनामि मदीत न हो तव तक उपासक कदापि मुक्त नहीं होसका, इसी अभिपाय से देवयान मार्ग में प्रथम उसको "अग्निछोक" की प्राप्ति कथन कीगई है, अतएव सदसद् के विवेचन में वायु के सुपान बीघगामी होने से " वायुलोक " सर्वश्रेष्ठ होने से " वरुणछोक " अणिमादि अष्टिसिद्धिक्प ऐश्वर्यवाला होने से " इन्द्रलोक " और सबका स्वामी होने से " प्रजापतिलोक " की प्राप्ति का वर्णन कियागया है, और इसके अनन्तर निष्पाप होने से उपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति अव-इयंभावी है, इस रीति से अग्न्यादि छोकों को उपासक की अव-स्थायें वर्णन किया है जिसके मर्म को न समझकर आधुनिक छोगों ने छोकछोकान्तरों की करपना करछी है जो युक्तियुक्त न होने से आदरणीय नहीं, उक्त अर्थ में प्रमाण यह है कि :--

> यथादर्शे तथात्मिन यथा स्वेप्त तथा पितृलोके, यथाप्स परीव दृश्यते तथा गन्धर्वलोके छायातपयोखि ब्रह्मलोके॥ कुठ० ६। ५

वेदान्सार्यभाष्ये

अध-जिसमकार दर्पण में पदार्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है, इसी प्रकार गुद्धान्तःकरण वाले पुरुषों को परमात्मा की निर्भान्त प्रतीति होती है, और जैसे स्वप्नावस्था में जाग्रव संस्कारों के बल से पदार्थ अन्यथा मतीत होते हैं वैसे ही केवल कमी छोगों की द्वा में परमात्मा का यथार्थ अनुभव नहीं होता, और जिसमकार जलों में चारा ओर अवयव दीखते हुए भी दर्पणवत स्पष्ट उपलब्ध नहीं होते इसी मकार रिसक छोगों को परमात्मा का झान आभासमात्र होता है परन्तु ब्रह्मझानियों को ज्ञान की अवस्था में छाया तथा धूप के समान परमात्मा का बान यथावस्थित बनारहता है, इसादि वाक्यों में "लोक" बाब्द से अवस्थाविशेष का ग्रहण है, यदि " लोक " पद अवस्थाविश्वष का वाचक न होता तो " पितृलोक " पद से क्यीं लोगों की कर्मानुष्ठानक्ष दशा का वर्णन न कियाजाता और नाही "गृन्ध्विपद्" से रिसक पुरुषों की अवस्था का ब्रहण होता, इससे सिद्ध है कि अवस्थाविशेष के वाचक पितृछोकादि पदौं की भांति प्रकृत में अभिलोकादि पद भी उपासक पुरुष की उत्तरीत्तर होने वाली भिन्न २ अवस्थाओं को बोधन करते हैं देशविशेष को नहीं, और बात यह है कि स्वा॰शङ्कराचार्य जी स्वयं कई एक स्थंडों में "ब्रह्मेवलोकः ब्रह्मलोकः " इस प्रकार " ब्रह्मलोक " पद की च्युत्पत्ति करते हुए " लोक " पद से अवस्थाविशेष का प्रहण करते हैं कि ब्रह्म की पाप्ति का नाम ही " ब्रह्मोलक " है देशविशेष का नाम नहीं, फिरं न

जाने ऐसे स्थर्डों में उक्त मिक्रया का परित्याग करके छोकविद्याप की कल्पना क्यों की गई है, इस मकार अवस्थाविद्याप का वाचक "छोक" पद अन्यत्र भी कई एक स्थर्डों में आया है जिसका यहां उछेख ग्रन्थगौरवभय से नहीं किया जाता, विद्यापा-थिखाधी " उपिनिषद् । हिंग श्री देखरें।

सं ० - ननु, उक्त कौषीतकी वाक्य में अग्नि के अनन्तर वायु को क्यों कथन किया गया है ? उत्तर:--

वायुमन्दादाविशेषविशेषाभ्याम् ॥२॥

पद०-वायुष् । अब्दात् । अविशेषविशेषाभ्याप् । पदा०-(अविशेषविशेषाभ्यां) साधारण और विशेष तर्क पाये जाने से (अब्दात्) अग्नि के अनन्तर (वायुं) वायु का कथन है।

भाष्य-जिसमकार भौतिक वावैद्युत अथवा सूर्य्य सम्बन्धी
पकाश के अनन्तर ही गति होती है और छोक में उसका मुख्य
निमित्त अग्नि ही देखी जाती है, क्योंकि आग्नसम्बन्ध के बिना
किसी पदार्थ में गमनादि क्रिया नहीं होसक्ती, इसी प्रकार झानक्प
अग्निछोक के अनन्तर सदसाद्विवेचन में शीव्र बुद्धि होने से उक्त
वाक्य में वायुछोक की शाप्ति का कथन किय। है।

स्मरण रहे कि यद्यपि "अब्द " शब्द वर्षक्प अर्थ का वाचक है अनन्तर अर्थ का नहीं तथापि जैसे परम्परासम्बन्ध से "द्विरेफ" पद भ्रमर का वाचक है वैसे ही "अब्द " पद छक्षणाद्विद्वारा आतन्तर्यक्ष अर्थ का बोधक है, क्योंकि अग्निपुअक्ष सूर्य की गति से ही मास वर्षादि कालविशेष की कल्पना होती है।।

सं ० - अब वायु के अनन्तर वरुण छोक का प्रयोजन कथन करते हैं:--

तिहतोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॥ ३॥

पद०-तिहतः। अधि। वरुणः। सम्बन्धात्। पदा०-(सम्बन्धात्) सम्बन्ध पाये जाने से (तिहतः) वायु के (अधि) अनन्तर (वरुणः) वरुण लोक का कथन है।

भाष्य-"ताडयिति भिध्याज्ञानिमिति तिडित् वायुः"=
जिस अवस्था में मिध्याज्ञान की निरुत्ति हो उसका नाम "वायु"
है, और मिध्याज्ञान की निरुत्ति के अनन्तर ही श्रेष्ठता का छाभ होता है,इस मकार मिध्याज्ञान की निरुत्ति करने के लिये श्रेष्ठता का परस्पर कार्यकारणभाव सम्बन्ध बोधन करने के लिये वायु के अनन्तर "वरुणलोक" की माप्ति जाननी चाहिये।

ननु-विद्युत रूप अर्थ को छोड़कर "तिहत " शब्द का उक्त अर्थ होने में क्या प्रमाण ? उत्तर— "आकाशस्ति छि-ज्ञात् " ब्र॰ सु॰ १।१।२२ "अतएव प्राणः" ब्र॰ सु॰ १।१। २३ "शत्रोमित्रः शं वरुणः" यजु॰ ३६ । ९ इत्यादि वाक्यों में जिसप्रकार आकाश, प्राण, मित्र तथा वरुण आदि पदों से परमात्मा का ग्रहण किया जाता है इसी प्रकार प्रकृत में यौगिक शक्ति द्वारा" तहित "पद से प्रसिद्ध विज्ञ ही रूप अर्थ को छोड़कर तंस्ववेत्ता की अवस्थाविशेष, का ग्रहण किया गया है, इसिक्षिये उक्त अर्थ में कोई बाधा नहीं।

सं ॰ — अब अग्नि आदि छोकों की शास्त्रसिद्ध संज्ञा कथन करते हैं: —

आतिवाहिकास्तिङ्कात्॥४॥

पद०-आतिवाहिकाः। तिल्लङ्गात्।

पदा०-(आतिवाहिकाः) अग्न्यादि लोक उपासक के आति-वाहिक हैं, क्योंकि (तल्लिङ्गात्)शास्त्र से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-अचिरादि मार्गद्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होने वे लिं जीवों की अग्निलोकादि अवस्थायें शास्त्रसिद्ध होने के कारण "आतिवाहिक" कहाती हैं, क्योंकि इन्हीं अवस्थाओं के उत्तरोत्तर लाभ से जीव मोक्षपद को प्राप्त होता है और यही अवस्थायें लिङ्गशरीर की भांति मुक्त पुरुष के दिन्यशरीर कहाते हैं, जैसाकि प्रथम सूत्र के भाष्य में प्रमाण द्वारा स्पष्ट कर आये हैं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

उभयव्यामोहात्तात्सद्धः ॥५॥

पद्०-उभयव्यामोहात् । तित्मद्धेः ।
पद्ग०-(उभयव्यामोहात्) कभी तथा ज्ञानी दोनों के लिये
अग्न्यादि लोकिनिशेषों की उपासना अज्ञानकरी होने से (तित्सद्धेः)
आतिवाहिक शरीर की सिद्धि होती है।

भाष्य-"अन्धं तमः प्रविशान्ति येऽसम्भूतिमुपासते । ततोभूय इव ते तमो य उसम्भूत्या करता" यज् ०४०। १२ अर्थ-मकृति की उपासना करने वाल अन्धकार को प्राप्त होते हैं जो प्राक्त हैं और उनसे अधिक अन्धकार को वह प्राप्त होते हैं जो प्राक्त पदार्थों में उपासनाभाव से रत हैं, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि मकृति के कार्यभूत लोक लोकान्तरों की जक्षहि से उपासना करने वाले अज्ञानी होते हैं, इसलिये लोकलोकान्तरों की उपासना छोड़कर अज्ञ्यादि लोकों को जीव का आतिवाहिक दिन्यकारीर प्रानना है। ठीक है।

सं०-अब बक्त अर्थ को अन्य मकार से स्फ्रट करते हैं:— वैद्युतेनीव ततस्तच्छूते: ॥६॥

पद ० - वैद्युतेन । एव । ततः । तन्त्रुतेः ।

पदा ०-(ततः) शरीरत्याग के अनन्तर (वैद्युतेन) दिन्य शरीर के लाभ से (एव) ही पुरुष मुक्ति की माप्त होता है, क्योंकि (सक्कुतेः) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"तत्पुरुषोऽमानवः स एताज्ञह्य गमयत्येष देवयानः पन्थाः " छां० ५ । १० । २=चन्द्रहोक से विद्युव होक को माप्त होकर फिर जस अवस्था से देवभाव को माप्त होता है, यही देवयान मार्ग है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि देइत्याम के अनन्तर मुक्त पुरुष अग्नि, वायु, वरुणादि दिच्य भावों से मदीप्त हुए शरीर द्वारा ब्रह्म के समान धमों को माप्त होता है।

सं ॰ नन्तु, "ब्रह्मेव सन् ब्रह्माप्येति " वहदा ०४।४। ६ = ब्रह्म को पाप्त होकर ब्रह्मक्प होजाता है, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मक्य होने का नाम मुक्ति है फिर कैसे कहा जाता है कि ब्रह्म के समान धर्मों को धारण करना हा मोस है ? उत्तरः—

कार्यं बादरिरस्यगत्युपपत्तेः ॥ ७॥

पद०-कार्य्य । बादिरः । अस्य । गत्युपपत्तेः ।
पदा०-(वादिरः) बादिर आचार्य्य मुक्ति को (कार्य्य)
कार्यक्ष मानते हैं, क्योंकि ऐसा मानने से ही (अस्य) मुक्त पुरुष
की (गत्युपपत्तेः) गति वनसक्ती है ।

भाष्य-बादि आचार्य का कथन है कि " ब्रह्माप्येति " वृह्यंदां० ४।४।६=ब्रह्म को माप्त होता है "प्रात्परं पुरुषसुपै-तिं दिठय्य " मुं० ३।२। ८=नामक्पात्मक मपञ्च से मुक्त हुआ विद्वान् प्रकृति से परे प्रकाशस्त्रक्प परमात्मा को माप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मशाप्ति को मुक्ति मतिपादन किया है सर्वथा ब्रह्मक्प होजाना मुक्ति नहीं, और यह नियम है कि अमाप्त पदार्थ की पाप्ति होती है पाप्त की नहीं, इस नियम के अनुसार यदि सर्वदा सर्वत्र माप्त ब्रह्म का नाम ही मुक्ति होता तो एक माप्ति का कदापि वर्णन न कियाजाता और नाही घृहदारण्यक वाक्य से ब्रश्न के समान धर्मों को धारण करके ब्रह्मरूप होजाना कहा जाता पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि शमदमादि साधन सम्पन्न होकर अमाप्त बहा की माप्ति ही मुक्ति है और वह क्मजन्य होने से कार्यक्प है जिससे नियतकाल पर्यन्त मुक्किक्प मुख को भोगकर मुक्त पुरुष पुनः संसार में जन्म धारण करते हैं, जैसाकि पिछे कई एक स्थलों में वर्णन कर आये हैं और आगे भी चतुर्थपाद में विस्तारपूर्वक वर्णन कियाजायगा, अतएव सिद्ध है कि कार्यक्रपतया ब्रह्म सम्बन्धी धर्मों को धारण करना ही मुक्ति है स्वयं ब्रह्मरूप होजाना मुक्ति नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

विशेषितत्वाच ॥ ८॥

पद्-विशेषितत्वात्। च।

पदा०-(च) और (विशेषितत्वाद) विशेष कथर्न से भी मुक्ति का सादि होना पायाजाता है।

भाष्य-" स एवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकम-भिसम्पद्यते" छां० ०। १४। २=इस मकार याचदायुष शमदमादि साधनों का आवर्त्तन करता हुआ मुमुक्ष पुरुष ब्रह्म लोक को माप्त होता है, इसादि वाक्यों में विशेषक्षप से मुक्ति को शमदमादि साधनों की फल कथन किया है जिससे स्पष्ट है कि वह अनादि निस नहीं किन्तु सादि है।

सं ० ननु, " ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति " इसादि वाक्यों में स्पष्टतया जीव ब्रह्म की एकता कथन करने से मुक्ति अनिस नहीं होसकती ? उत्तर :—

सामीप्यात्तु तद्द्यपदेशः ॥९॥

पद०-सामीप्यात् । तु । तद्वचपदेशः ।
पदा०-(सामीप्यात्) ब्रह्म की समीपता से (तद्वचपदेशः)
ब्रह्मक्षप होने का कथन है ।

भाष्य-" तु " शब्द आशंका की व्याद्यत्ति के लिये आया है, जिसमकार राजा के असन्त समीपवर्ती होने से मन्त्री को भी राजा कथन कियाजाता है इसी प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी अपहत-पाप्पादि गुणों के धारण करने से मुक्त जीव ब्रह्म के अत्यन्त समीप होजाता है और समीप होने से ही उसको ब्रह्म कहाजाता है वस्तुतः ब्रह्मक्प होने में श्रुतिवाक्य का तात्पर्य्य 'नंहीं, यदि ऐसा होता तो "ब्रह्मविदाप्रोति परं" तैचि॰राश। १=ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को पाप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में भेदपूर्वक ब्रह्ममाप्ति का निर्देश न किया जाता और नाहा " जाज़ी द्वावजावीशानीशौ " श्वता० १। ९ में स्पष्टतया यह प्रतिपादन कियाजाता कि जीव तथा ब्रह्म दो चेतन हैं जिनमें से एक अज्ञानी और दूसरा सर्वज्ञ सबको वश में रखने वाला है, इससे सिद्ध है कि जिन वाक्यों में ब्रह्मविद पुरुष का ब्रह्म से अभेद प्रतिपादन कियागया है उनका औपचारिक अभेद में तात्पर्य्य है, इमिलिये दोनों का भेद मानना ही समीचीन है।

सं०-ननु, ब्रह्मलोक आदि लोकों की प्राप्तिक्प मुक्ति में क्या दोप? उत्तर :— वेदान्सार्यभाष्ये

कार्यात्यये तदध्यक्षण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥

पद०-कार्याखये। तदध्यक्षेण । सह । अतः । परं । अभिधानाव ।

पदा > — (तदध्यक्षेण, सह) ब्रह्म लोका दि लोकों के स्वामी के साथ ही (कार्यात्यये) उक्त लोकों का नाज्ञ होने से लोका विशेष की प्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं (अतः) इसल्लिय (परं) ब्रह्म की प्राप्ति ही मुक्ति है, क्योंकि (अभिधानाव) बास्त्र से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-ब्रह्मादि छोकविशेषों के अधिष्ठाता देवों की जपासना द्वारा जनर छोकों की माप्ति का नाम मुक्ति मानना इसिछिये
ठीक नहीं कि वह छोक प्रकृति का कार्य्य होने से अपनेर अधिष्ठातृ
देवों के नाथ नष्ट होजाते हैं और जनकी जपासना का निषेध
भी पायाजाता है,जैसाकि पीछे "उभय्यञ्यामोहात्ति(सद्धेः"
अ०स्व०४।३।५के भाष्य में वेदमन्त्र द्वारा प्रतिपादन कर आये हैं,
और दूसरी वात यह है कि " ब्रह्मविदाप्नोति प्रम् "तैति०
र।१।१इत्यादि वाक्यों में स्पष्टतया ब्रह्म की प्राप्ति को ही मुक्तिक्प
से वर्षन किया गया है इसिछिय छोकविशेष की कल्पना करके
तद्धिष्ठातृ देवों की जपासना द्वारा तत्त्वत छोक की प्राप्तिक्प
मुक्ति पानना निर्युक्तिक होने से आदरणीय नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में स्माति प्रमाण कथन करते हैं:— स्मृतेइच् ॥ ११॥

पद०-स्मृतेः। च।

पदा०-(च) और (स्मृतेः) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्"
मनु० १२ । १२२=स्वयंप्रकाश तथा एकाग्र बुद्धि से प्राप्त
होने योग्य परमात्मा ही मुमुश्च के लिये जानने योग्य है, इसादि
स्मार्त्त वाक्य भी ब्रह्मप्राप्ति को ही मुक्ति कथन करते हैं लोकविशेष की प्राप्ति को नहीं, इसलिये पौराणिकों की उक्त करपना
ठीक नहीं।

सं० - अब उक्त अर्थ में "जैमिनि" आचार्य का मत

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१२॥

पद ०- परं। जैमिनिः। मुख्यत्वात्।

पदा०-(मुख्यतात) मुख्य होने से (परं) ब्रह्म का है। ब्रह्म है (जैमिनिः) यह जैमिनि आचार्य्य का मत है।

भाष्य-जैमिन आचार्य का कथन है कि "स एता-न्द्राह्म गमयति" छां० ४।१५।५=मुमुश्च पुरुष उपासना द्वारा ब्रह्म को माप्त होता है, इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म की माप्ति का कथन पायेजाने के कारण छोकिविशेष की माप्ति का नाम मुक्ति नहीं।

वेदान्तार्यभाष्ये

सं०-अब उक्त अर्थ को अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं:-

पद ०-दर्शनात । च।

पदा॰-(च) और (दर्शनात्) ध्यान से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-मुमुश्च पुरुष जिसका ध्यान करता है वह ब्रह्म है देहधारी पुरुषविशेष नहीं, जैसाकि "अन्यत्र धर्माद्वन्य-त्राधर्मात्" कठ० २। १४=हे यम! जिसको आप धर्माधर्म से भिन्न, फल्डमदाता तथा नियमन करने वाला जानते हो लसका उपदेश करो, इसादि वाक्यों से स्पष्ट है कि धर्माधर्म के फल्डक्प देह को धारण करने वाले जीव से भिन्न परमातमा ही ध्यान का विषय है जिसको जानने के लिये नीचकेता ने यम से मिन्न किया और वही मुक्त पुरुष की प्राप्ति का विषय जानना वाहिये।

सं अव कार्यक्ष पदार्थी की उपासना का स्पष्टतया निषेध करते हैं:—

न च कार्ये प्रत्यभिसन्धः॥१४॥

पद ० - न । च । कार्ये । प्रत्यीभसान्धः ।

पदा०-(च) और (कार्य्य) कार्यक्ष पदार्थों की (प्रत्य-भिसन्धः) उपासना का विधान (न) नहीं।

भाष्य-प्रकृति के कार्यभूत जड़ पदार्थों की उपासना क

विधान किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता प्रत्युत उसका स्पष्ट निषेष पाया जाता है, जैसाकि पीछे स्वयं सूत्रकार"न प्रतीके न हि सः ब्र०स्र०४।१।४ इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट कर आये हैं इसी अभिनाम से यजु ०४०।१२ में प्राकृत पदार्थों की उपासना करने वाछे पुरुषों के लिये अन्धकार की नाप्ति कथन कीगई है, जैसाकि पीछे ब॰ सू॰ ४।२।५ के भाष्य में छिल आये हैं, और दूसरी बात यह है कि जहां तहां उपासना प्रकरण में साकारोपासना का निषेध करते हुए स्पष्टतया परमात्मा की मूर्ति का निषेध किया है, . जैसाकि " न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः" यजु० ३२। ३=जिसका नाम " महंचवा " है उस परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं,इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है कि यदि किसी माकृत पदार्थ की उपासना अभिमेत होती अथा। ईश्वर को साकार मानकर उसकी उपासना में शास्त्र का तात्पर्य्य होता तो जड़ पदायाँ की उपासना करने वाले पुरुषों को अन्धकार की माप्ति कथन न कीजाती और नाही उक्त मंत्र से परमात्मा की प्रतिमा का निषेष किया जाता,इससे सिद्ध है कि पाकृत पदार्थ उपासना के विषय नहीं किन्तु एकमात्र ब्रह्म ही सर्वेषिर उपास्य देव है।

सं०-अन उक्त अर्थ में "बादरायण" आचार्य का मत कथन

करते हैं:-

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्रतुश्च ॥१५॥

468

वेदान्तार्घभाष्ये

पद०-अमतीकालम्बनात्। नयति । इति । बादरायणः । दथपथां । अदोषाद । सत्क्रतुः । च ।

पदा०-(अप्रतीकालभ्यनान्) प्रतीकोपासना न करने वाले (नयति) ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (इति) ऐसा (बादरायणः) बादरायण आचार्य्य मानते हैं, क्योंकि (उभयथा, अदोषाद) ब्रह्मप्राप्ति के दोषरहित दो मार्ग हैं (च) और पुरुष जैसा करता है (तत्कतुः) वैसे ही फल को प्राप्त होता है।

भाष्य-बादरायण आचार्य्य का कथन है कि ब्रह्म की खपासना करने वाले ब्रह्म को ओर जड़पदार्थों की उपासना करने वाले ब्रह्म को आस होते हैं, इसलिये जो पुरुष मती-कोपासना नहीं करते वही ब्रह्म को शप्त होते हैं अन्य नहीं, और बास्त्र में ब्रह्मशाप्ति के दो ही दोषराहित मार्ग पायेजाते हैं एक कर्मयोग दूसरा ज्ञानयोग, इन दोनों में प्रतीकोपासना किसी के अन्तर्गत नहीं, इसी अभिपाय से गी० ३। ३ में वर्णन किया है कि :—

लोकेस्मिन्द्रिविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ । ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

अर्थ-हे अर्जुन! शास्त्र में दो प्रकार की निष्ठा=ब्रह्मप्राप्ति की मर्यादा पाई जाती है अर्थाद योगी छोग कर्मयोग से और इानी छोग ज्ञानयोग से ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ब्रह्मप्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं, इससे सिद्ध है कि मूर्तिपूजा को ब्रह्मप्राप्ति का साथन मानना कल्पनामात्र है।

चतुर्याध्याये-द्वितीयः पादः

990

सं ० — अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हुए ब्रह्मोपासना की विशेषता कथन करते हैं :—

विशेषं च दर्शयति ॥ १६॥

पद्-विशेषं। च। दर्शयति।

पदा०-(च) और (विशेष, दर्शयित) शास्त्र में ब्रह्मोपासना की विशेषता पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-यो वै भूमा तत्सुलं नाल्पे सुलमस्ति
श्रूमेव सुलं भूमा एव तु विजिज्ञासितव्यः " छां०७।
३। १=भूमा=ब्रह्म ही सुलक्ष्य है उससे भिन्न जड़ मतीकादिकों
में सुल नहीं, इसिछिये वही जानने योग्य तथा उपासना करने
योग्य है, इसादि सनत्कुमार तथा नारद के सम्बाद से स्पष्ट है
कि परमात्मा की उपासना से ही सुलविशेष का छाभ होता है
पत्तीकोपासना से नहीं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन " सूमा
सम्प्रसादाद्ध्युपदेशात् " व्र०स० १।३।८ के भाष्य में
कियागया है।

इति तृतीयःपादः समाप्तः

446

वेदान्तार्यभाष्ये

अथ चतुर्थःपादः प्रारम्यते

सं० - अब मुक्त पुरुष का ऐश्वर्र्य निरूपण करने के छिये इस पाद का आरम्भ करते हुए मथम उसकी तद्धर्मतापत्ति कथन करते हैं:—

सम्पद्माविर्मावः स्वेन शब्दात् ॥१॥

पद०-सम्पद्य । आविर्भावः । स्वेन । शब्दात ।

पदा०-(सम्पद्य) ब्रह्म को माप्त होकर (स्वेन) स्वक्रप से (आविर्भावः) मुक्त पुरुष की स्थिति होती है, क्योंकि (शब्दाद) श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-एष सम्प्रसादो ऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" छां० ८। रा४=देहसाग के अनन्तर मुक्त जीव परंज्योर्ति=ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से सम्पन्न होता है अर्थाव आर्चरादि मार्ग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त हुआ उसके समान अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करके परमानन्द को प्राप्त होता है और इसी का नाम "तर्द्धमतापत्ति "है, इससे यह भी पायागया कि ऐश्वर्यादि का छाम ही मुक्ति में अपूर्वता है, और जो मायावादियों का कथन है कि मुक्ति में कोई अपूर्वता नहीं किन्तु निसमाप्त की प्राप्ति ही मुक्ति है सो ठीक नहीं, क्योंकि कर्मसाध्य पदार्थ निसमाप्त नहीं होसक्ता प्रत्युत कर्मानुष्ठान काछ के उत्तर ही उसकी प्राप्ति नहीं होसक्ता प्रत्युत कर्मानुष्ठान काछ के उत्तर ही उसकी प्राप्ति

होती है, जैसाकि पाचक च्यापार से पाकादि कियाओं में देखा जाता है, और मुक्ति का कर्मसाध्य होना विस्तारंपूर्वक पिछछे पाद में वर्णन कर आये हैं, इसिछये उसको निसमाप्त मानना ठीक नहीं, यदि बास्त्र का तात्पर्य्य मायावादियों की मुक्ति में होता तो उक्त विषयवाक्य में स्वक्ष्पाविर्भाव को मोसक्ष्य वर्णन न किया जाता और नाही उसके छिये शमदमादि साधनों का उपदेश पायाजाता, पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि एक अपूर्व अवस्था का नाम मुक्ति है जिसकी प्राप्ति साधनों द्वारा होती है।

सं०-ननु, जब मुक्ति अवस्था में जीव अपने स्वरूप से स्थिर होता है और स्वरूप उसका निस प्राप्त है तो फिर मुक्ति में अपूर्वता ही क्या ? उत्तर:—

मुक्तः प्रतिज्ञानात ॥ २॥

पद्०-मुक्तः। प्रतिज्ञानात्।

पदा०-(प्रतिज्ञानात्) प्रतिज्ञा पायेजाने से (मुक्तः)

मुक्त पुरुष अपूर्व सामध्यवाला होता है।

भाष्य-"एतंत्वेवतेभृयोऽनुब्याख्यास्यांभि" छाटा । ३ = भाष्य-"एतंत्वेवतेभृयोऽनुब्याख्यास्यांभि" छाटा । ३ = भे तुमको फिर उपदेश करता हूं "य आत्मा अपहतपाप्मा विजरोमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः तिजरोमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यकामः सत्यक्षकृत्यः स विजिज्ञासितव्यः" छाव्यः सत्यसंकृत्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः " छाव्यः । १ । १ = भो परमात्मा अपहतपाप्मा = पापो से रहित, विजर = अरा

बस्था से रहित, विमृत्यु=अविनाशी, विशोक=शोक से रहित, सुबा तथा पिपासा से रहित सत्यकाम और सत्यसंकल्प है वही अन्बेष्ट्रच्य तथा जानने योग्य है, इत्यादि वाक्यों में आत्मविषयक मित्रश्चा पाये जाने से स्पष्ट है कि जिज्ञासु पुरुष जिसके जानने की इच्छा करता है उसको प्राप्त होकर उन अपहतपाप्मादि धर्मी को घारण करता है जो उसको प्रथम प्राप्त नहीं और उनके प्राा करलेने से मुक्त पुरुष को अपूर्व सामर्थ्य का लाभ होता है, इसी थाब से श्रुतिवाक्य में "स्वरूपणाभिनिष्णद्यते" कहा गया है केवल स्वरूपभूत सामर्थ्य की उपलब्धि के अभिष्राय से नंहीं, इसका विस्तार आगे पांचवें सूत्र के भाष्य में किया जायगा।

तात्पर्य यह है कि मन्दकर्यों के क्षयपूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार से अपहतपाप्पादि धर्मों को धारण करके ऐश्वर्यकाभ करना ही मुक्ति है, इसिक्टिये अपूर्वता नहीं ने के कारण नित्य पाप्त की प्राप्ति को मुक्ति मानना समीचीन नहीं।

और जो स्वा॰ शङ्कराचार्य जी का कथन है कि
"फलत्वप्रसिद्धिरिप मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा
नाप्रवीपजननापेक्षा, यदप्यभिनिष्पद्यत इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं तद्यिपूर्वावस्थापेक्षं यथारोगनिवृत्तावरोगीऽ
भिनिष्पद्यत इति तद्धत् "=अमुक पुरुष अरोगी होगया
है, इस बाः में जिस प्रकार रोगनिवृत्ति की अपेक्षा से अरोगी
होने का कथनपाया जाता है वस्तुतः नहीं, क्योंकि रोगरहित होना

चतुर्थाध्याये-चतुर्थःपादः

489

यनुष्य की स्वतःसिद्ध मथम अवस्था है इसी मकार " स्वेन क्षेणाभिनिद्यहाते" यह कथन भी बन्धनिद्यं की अपेक्षा से है किसी अपूर्व धर्म की माप्ति के अभिषाय से नहीं, इसिख्ये आनन्दस्वद्धप बद्धा की प्राप्ति तथा अज्ञान तत्कार्य्य दुःख की निष्टिचिद्धप मोक्ष के नित्यं पाप्त होने में कोई बाधा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि जब तुम्हारे मत में अविद्या तथा तस्कार्यभूत शोकमोहादि की निष्टत्ति कार्य्य है फिर उसकी अपूर्व न मानकर नित्म कथन करना दुराग्रह नहीं तो क्या है, यदि यह कहा<mark>जाय</mark> कि "अधिष्ठानावशेषोहि नाशः कल्पित वस्तुनः"= कल्पित पदार्थ का नाश अधिष्ठानस्त्रक्ष ही होता है, इस नियम के अनुसार अविद्याकल्पित शोकमोहादि की निष्टति अधिष्ठान भृत ब्रह्म के स्वरूप से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं, क्योंकि सिद्धान्त में अभाव पदार्थ अधिकरण से भिन्न नहीं मानागया और विस्मृत हुए करकङ्कण की भांति गुरु के उपदेश द्वारा नित्यपाप्त मोक्षक्य ब्रह्म की माप्ति में किसी प्रकार की अनुपपित नहीं परन्तु मोक्ष को कर्मसाध्य मानकर उसके स्वक्रप में अपूर्वता का लापन करना केवल साइसमात्र है ? इसका उत्तर यह है कि " तमेतं वेदानुवचनन विविदिषन्ति यज्ञेनदानन तप सानाशकेन " बृहदा० ४। ४।२२=ब्राह्मण लोग स्वाध्याय, यइ, दान तथा तप आदि साधनों से बहा के जानने की इच्छा

वेदान्तार्थभाष्ये

५६२

करते हैं "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" गी० ३ । २०=जनकादि तत्त्ववेत्ता वैदिककर्मी के अनुष्ठान द्वारा ही मोक्षरूप सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, इत्यादि अनेक वाक्यों में स्पष्टतया मुक्ति को कर्मसाध्य मतिपादन किया है और इसी अर्थ में प्रथम ख्रुत्र के विषयवाक्यगत "अभिनिष्णद्यते" पद की सङ्गति होसक्ती है, इसिछिये मुक्ति को नित्य कथन करना ठीक नहीं और करकड्डणादि दृष्टान्तों से नित्यपाप्त ब्रह्म की प्राप्ति कथन करना तब युक्ति युक्त होसका है जब अविद्या की ब्रह्म के आश्रित मानाजाय परन्तु अविद्या के ब्रह्माश्रित होने में कोई मयाण वा युक्ति उपछब्ध नहीं होती, जैसाकि पीछे " भूमिका " तथा " जिज्ञासाधिकरण " में विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये हैं, दूसरी बात यह है कि "तयोध्वमायन्नमृत-त्वमेति " छान्दो०८। ७। १=इस मकार मुमुखु देवयानपार्श द्वारा अमृतपद को पाप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में मुक्ति को नित्यमाप्त कथन नहीं किया और नाही अभावक्रप माना है, यदि मुक्ति नित्यमाप्त होती तो उक्त वाक्य में 'अमृतत्वमेति"= अयुत को पाप्त होता है, इस पद का कदापिं निवेश न किया जाता मत्युत " अमृताऽस्ति "=अमृत है, ऐसा मयोग किया जाता, पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि मुक्ति नित्यमाप्त नहीं, इसका विशेष विचार ब्र० सु० ४। ४। ११। तथा ब्र० सु०

४। ४। २२ के भाष्य में किये जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं० - ननु, छान्दो० ८ । ३ । ४ । में ज्योतिः पद से भौतिक सूर्यादि ज्योतियों का ही ग्रहण क्यों न किया जाय ? उत्तरः —

आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

पद०-आत्मा। प्रकरणात्।

पदा०-(आत्मा) ज्योतिः शब्द से परमात्मा का प्रइण है, क्योंकि (प्रकरणान्) उसी का प्रकरण पाया जाता है।

भाष्य—" प्रंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते " छां० ८। ३। ४ इस वाक्य के पूर्वोत्तर प्रकरण का
अनुसन्धान करने से स्पष्ट है कि यहां आत्मा का मकरण है
किसी भौतिक पदार्थ का नहीं और उसी आत्मा की जिज्ञासा
का छान्दो० ८। ७। १ में वर्णन किया गया है जिसका उपयुक्त
विचार प्रथमसूत्र के भाष्य में कर आये हैं और "तदेव ज्योतिषां ज्योतिः "बृहदा०४। ४। १६=वह परमात्मा ही ज्योतियों की ज्योति है. इत्यादि वाक्यों में "ज्योतिः" शब्द परमात्मा
का ही वाचक हाने से प्रकृत में ज्योतिः पद से परमात्मा
का ही सुहण है सूर्यादि भौतिक पदार्थों का नहीं।

सं०-अव " यथा नद्यः " मुण्ड० ३। ३।८ इत्यादि

अमेहरोधक वाक्यों की व्यवस्था के छिये मुक्त जीव का ब्रह्म से अविभक्त होना कथन करते हैं:—

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

पह०-अविभागेन। दृष्टत्वाद।

पदा ० — (अविभागन) अत्यन्त समीपता के (इष्ट्रत्वाद) आभिषाय से मुक्त जीव का ब्रह्म से अभेद कथन किया गया है। यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वानामरूपादि-मुक्तःपरात्परं पुरुषमुपैति दिन्यम् " मं॰ ३। ३। ८= जिस प्रकार नदियें समुद्र को पाप्त होकर अपने नाम रूप से रहित होजाती हैं इसी प्रकार विद्वान पुरुष नामक्ष्यात्मक प्रपञ्च से रहित होकर ब्रह्म को पाप्त होता है अर्थाव युक्ति अवस्था में उतका अब से कोई भेद नहीं रहता, " सर्व खिल्वदं महा तज्जलानिति शान्त उपासीत " छां० ३। १४। १=यह सब कुछ ब्रह्म है,इस मकार शमविधि से उपासना करे अमृत्योः स मृत्युमामोति य इह नानेव पश्यति" ब्हदा० ४ । ४। १९=जो ब्रह्म में नानापन देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को पाप्त होता है अर्थात बारम्बार जन्म धारण करता है, इत्यादि वाक्यों में जो मुक्त जीव का ब्रह्म से अभेद कथन करके भेददर्शी की निन्दा की है वह शमविधि के अभिमाय से है जीव ब्रह्म के भेद निषेध

में तात्पर्यं नहीं, क्योंकि अल्पज्ञ तथा अल्प ज्ञक्ति वाले जीव का सर्वज्ञ, सर्वज्ञक्तिमान परमात्मा के साथ अभेद नहीं होसका, इसी अभिपाय से ग्रुं० ३।२।३ में वर्णन किया है कि:—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्ण कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिस् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विध्यय निरञ्जनः परमं साम्यसुपैति ॥

अर्थ-जब उपासक स्वयंप्रकाश, विश्वकर्ता, सर्वशक्तिमान तथा सर्वोपिर परमात्मा का दर्शन करता है तब पुण्यपाप को दूर करके अविद्यारूप क्रेश से रहित होकर परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्मों की समता को प्राप्त होता है, यदि जीव ब्रह्म का सर्वथा भेद मिटादेने में शास्त्र का तात्पर्य्य होता तो उक्त वाक्य में ब्रह्मदर्शन के अनन्तर ब्रह्म की समता का वर्णन न किया जाता, पर अनेक स्थलों में उक्त कथन पाये जाने से सिद्ध है कि अभेदबोधक वाक्य ब्रह्म के साथ जीव के अविभाग=ब्रह्मवत निष्पाप होने को प्रतिपादन करते हैं सर्वथा भेदाभाव को नहीं, जैसाकि:—

इदं ज्ञानसुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न ब्यथन्ति च ॥

अर्थ-हे अर्जुन ! परमात्प्रज्ञान का लाभ कर मेरे समान अपहतपाप्मादि धर्मों को प्राप्त होने वाले ज्ञानी पुरुष पुनः २ जन्म मरण को प्राप्त नहीं होते और नाही प्रलयकाल में हु: स्वी होते हैं, इसादि वाक्यों में ब्रह्म की समता प्रतिपादन कीगई है, बदि दुर्जनतोषन्याय से मान भी लियाजाय कि एक सूत्र जीव ब्रह्म का अभेद बोधन करता है तो भी बादी की इष्टिसिद्ध नहीं होसक्ती, क्योंकि "अधिकन्तु अदिर्निहे-शात्" ब्र॰ सू॰ २ । २ । २२ इसादि सूत्रों में महार्ष ज्यास स्पष्टतया जीव ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करते हैं, इसिछिये सूत्रस्थ अविभाग पद से ब्राह्मधर्मों की सम्पत्ति का मानना ही ठीक है ।

स्मरण रहे कि:-

यस्मिन्सर्वाणिभूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। व तत्र को मोहः कःशोक एकत्वमनुपश्यतः॥

यजु० ४०। ७

अर्थ-जिस अवस्था में पुरुष निर्वीं समाधि द्वारा एक मात्र एरमात्मा को देखता है उस अवस्था में कोई उसको शोक मोह नहीं रहता, इसादि वाक्यों से जो मायावादी जीव ब्रह्म की एकता मानते हैं वह इसिंछये ठीक नहीं कि उक्त मन्त्र में तत्ववेत्ता की सर्वात्म दृष्टि को ज्याप्य ज्यापक भाव सेवर्णन कियागया है अर्थात ज्ञान की पराकाष्टा प्राप्त होने पर ब्रह्मवित पुरुष सब पदार्थों में हस्तामळकवत परमात्मा की ज्यापि को साक्षातकार करता है ब्रह्म नहीं होता, इसी रीति से अन्य अभेद बोधक वाक्यों का भी छापत जातना चाहिये।

सं ० – अब उक्त अर्थ में जिमिनि आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

पद०-ब्राह्मेण । जैमिनिः । उपन्यासादिभ्यः ।

पदा०-(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य का कथन है कि (ब्राह्मेण) ब्रह्मसम्बन्धी धर्मों के धारण करने से मुक्त पुरुष की ब्रह्म के साथ समता होजाती है, क्योंकि (उपन्यासादिभ्यः) मुक्ति प्रतिपादक वाक्यों से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-जैमिनि आचार्य का यह मत है कि "निरंजनः प्रमं साम्यमुपैति '' मुं०३। २। ३=पुरुष अविद्यादि क्रेशों से रहित होकर ब्रह्म के समान भावों को प्राप्त होता है, इसादि तद्धर्मतापत्ति मितपादक वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष ब्रह्म की समता को प्राप्त होता है ब्रह्म नहीं होता ॥

सं०-अव उक्त अर्थ में " औडुलोमि " आचार्य्य का मत कथन करते हैं :—

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलौमिः ॥ ६ ॥

पद०-चितितन्मात्रेण । तदात्मकलात । इति । औडुंछोभि। पदा०-(चितितन्मात्रेण) चेतनता मात्र से जीवं ब्रह्म की समता है, क्योंकि (तदात्मकलात) इसी रूप से मुक्त पुरुष

इस्त के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करता है (इति) ऐसा (औडुक्रोमिः) औडुक्रोमि आचार्य्य मानते हैं॥

थाष्य-औडुलोमि आचार्य का कथन है कि चेतनता अंश में जीत्र ब्रह्म दोनों समान हैं और स्वरूपभूत चेतन्य से ही जीव मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करता है, इसिलये उसको ब्रह्म का स्वरूप कहाजाता है वस्तुतः एकता के अभिमाय से नहीं।

सं ० – अब उक्त अर्थ में "बादरायण " आचार्य का मन कथन करते हैं :—

एवमप्युपन्यासातपूर्वभावादिवरोधं-बादरायणः ॥ ७ ॥

पह०-एवं । अपि । उपन्यासात् । पूर्वभावात् । अविरोधं । बादरायणः ।

पदा०-(उपन्यासात) जैिमिनि के मत में ब्रह्म के भावों को धारण करने तथा (पूर्वभावात) औडुलोमि के मत में चेतनसा मात्र से समता होने पर (अपि) भी (अविरोधं) मुक्ति मित-पादक वाक्यों में कोई विरोध नहीं (एवं) इसमकार (वादरायणः) बादरायण आचार्य मानते हैं।

भाष्य-बादरायण आचार्य्य का यह मत है कि चाहे चेत्रनतामात्र से जीव ब्रह्म की समता कथन करें अथवा ऐश्वर्य्य छाम से दोनों को सहश माने परन्तु अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करने से ही मुक्त जीव ब्रह्मवद ऐश्वर्यवाला कहाजाता है अन्यया नहीं, इसलिये उक्त दोनों आचारयों के मत का तात्पर्य में कोई विरोध नहीं, केवल मुक्त पुरुष की समता के लापन करने में श्रेद है।

स्वामी शङ्कराचार्यजी इस सूत्र को इस प्रकार छापन करते हैं कि परमार्थावस्था में ब्रह्म का चिन्मात्र स्वक्रप है और व्यावहारिक अवस्था में ऐश्वर्य का भी अविरोध है ऐसाबाद-रायण मानते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां मुक्त पुरुष का अकरण है ब्रह्म का नहीं, यदि यह भकरण मायावादियों के अभिमत निर्गुण सगुण दो इपों के बोधनार्थ होता तो "न स्थानतोऽपि परस्योभयालिङ्गम्" व॰ स॰३।२। ११ इसादि सूत्रों में ब्रह्म के उभयविध छिङ्गों का निषेध न किया जाता, इससे स्पष्ट है कि यहां ब्रह्म का प्रकरण नहीं और नाही ख्रुत्रकार को व्यावहारिक तथा पारमार्थिक भेद से दो प्रकार की अवस्था अभिषेत हैं, क्योंकि उक्त अवस्थाओं का सूत्रों में गन्ध भी नहीं पायाजाता, इससे सिद्ध है कि ब्रह्मवत ऐश्वर्य छाभ करने के कारण मुक्त पुरुष को ब्रह्म के समान कहाजाता है वस्तुतः नहीं ॥

सं०-अव मुक्त पुरुष का ऐश्वर्थ वर्णन करते हैं :— सङ्गल्पादेव तु तच्छूतेः ॥ ८॥

पद ० - संकल्पात । एव । तु । तक्कुतेः । पदा ० - " तु " शब्द सिद्धान्त की दृढ़ता के खिये आया है (संकल्पाद) संकल्प से (एव) ही मुक्त पुरुष को ऐन्वर्ध की माप्ति होती है, क्योंकि (तच्छतेः) श्रुति से ऐसा ही पाषाजाता है।।

भाष्य-श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनादि साधनों के सम्बद्ध अनुष्ठान द्वारा जब पुरुष मुक्ति अवस्था को मान्न होता है तब वह ब्रह्म के अपहतपाष्मादि गुणों को धारण करके ब्रह्मबद्ध होजाता है और उस अवस्था में संङ्कल्पमात्र से ही उसको सब मकार का पेश्वर्य उपस्थित होता है, जैसाकि :— स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्यपितरः समुत्तिष्ठिन्त तेन पितृलोकेन सम्पन्नोमहीयते । छान्दो० ८। २। १

अर्थ-जब वह पितृलोक की कामनावाला होता है तो उसके संकल्प से ही पितर उपस्थित होजाते हैं, उन पितरों से सम्पन्न होकर ऐम्बर्य को पाप्त होता है, इस प्रकार कथन करके फिर उपसहार में वर्णन किया है कि:—

> यं यमन्तमभिकामोभवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्ति-ष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते।

> > छान्दो० ८।२।१०

अर्थ-उक्त कामनाओं से अतिरिक्त जिस २ पदार्थ की कामना करता है वह उसको संकल्प से ही प्राप्त होजाते हैं

चतुर्थाध्याये-चतुर्थः पादः

499

और उनसे सम्पन्न होकर ऐश्वर्यवाद होता है, इसादि वाक्यों से सिद्ध है कि मुक्त पुरुष महान ऐश्वर्य वाला होता है।

सं०-अब उक्त अर्थ को अन्य प्रकार से स्फुट करते हैं:-

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ७॥

पद-अतः। एव। च । अनन्याधिपतिः।

पदा०-(च) और (अतः) उक्त ऐश्वर्य छाम करने से (एवं) ही (अनन्याधिपतिः) स्वतन्त्र होजाता है।

ण्वं विजानन्नात्मरतिरात्मकीड आत्मिभ्युन

आत्मानन्दः स स्वराड् भवति" छा॰ ७।२५।२

अर्थ-इस प्रकार अधः उद्यादि सब दिशाओं में परमात्मा को सर्वव्यापक रूप से देखने वाला तथा श्रीतार्थ का मनन करने बाला मुक्त पुरुष परमात्मा में रमण करता, उसी में क्रीडा करता और उसी में योगयुक्त होकर परमानन्द को भोगता हुआ स्वतन्त्र अव्याहतगति होने से स्वराद कहलाता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य्य में किसी पालत पदार्थ की बाधा नहीं,वह जब तक मुक्ति में रहता है स्वतन्त्रता से आनन्द का अनुभव करता है।

सं०-अव " बादिर " आचार्य के मत से मुक्त पुरुष के

श्वरीर का अभाव कथन करते हैं :-

अमावं बादिरिराहहोवम् ॥ १०॥

603

वेदान्सार्थभाष्ये

पद ० - अभावं । बादिरः । आह । हि । एवस्र ।
पदा ० - (बादिरः) बादिर आचार्य सुक्ति में बारीर का
(अभावं) अभाव मानते हैं (हि) क्योंकि श्रुतिवाक्यों से
(एवं) ऐसा ही (आह) पाया जाता है।

भाष्य-" बादिर " आचार्य का कथन है कि " अश-रीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः " ज़ां० ८ । १२। १=बारीर से रहित हुआ मुक्त पुरुष विषय सम्बन्धी मुख दुःखों से जिपायमान नहीं होता " मनसैतान्कामान्पङ्यज्ञ . रमते " जां० ८ । १२ । ५=मन से सब कामनाओं को याप्त होकर रमण करता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष का शरीर नहीं होता वह अपने दिन्य सामर्थ्य से मुक्ति का ऐषर्य भोगता है।

सं०-अब उक्त अर्थ में "जैमिनि" आचार्य्य का मत

भावं जैमिानीर्वेकल्पामननात् ॥ ११॥

पद ०-भावं । जैमिनिः । विकल्पामननात् ।

पदा०-(विकल्पामननात्) विकल्प के पायेजाने से (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य (भावं) मुक्ति में सुक्ष्मशारीर का भाव मानते हैं।

भाष्य-" स एकधा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति " छान्दो ७। २६। २=मुक्त पुरुष स्वस्वरूप से एक CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. मकार का, संकल्प से दो मकार का और इसीमकार स्वसामर्थ्य से तीन मकार का होजाता है, इसादि मुक्त पुरुष के सामर्थ्य विषयक विकल्पों से स्पष्ट है कि उसके साथ सहमकरीर तथा इन्द्रियों का सद्भाव बना रहता है, इसी अभिमाय से "प्रति-षेधादिति चेन्न शारिरात्" न स्व ४।२।१३ में जीव की उत्कानित का वर्णन करते हुए देवयान मार्ग द्वारा मुक्ति को माप्त होने वाले जीव के साथ लिङ्ग शरीर की उत्कानित कथन की गई है कि "न तस्मात्प्राणा उत्कामान्त " बहु भाष्य ४।४८ = उस मुक्त पुरुष से प्राण पृथक् नहीं होते अर्थाद उसके साथ ही लिङ्ग शरीर गमन करता है, यह जिमिन आचार्य का मत है।

सं ० — अब उक्त अर्थ में " वादरायणाचार्य" स्वासिद्धान्त कथन करते हैं:—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥१२॥

पद्-द्वादशाहवत् । उभयविषं । बादरायणः । अतः ।
पदा - (बादरायणः) बादरायण आचार्य्य का मत है कि
(द्वादशाहवत्) द्वादशाह याग की भांति (अतः) उक्त दोनों
हेतुओं से (उभयविषं) मुक्ति में शरीर का भावाभाव है ।

भाष्य-बादरायणाचार्यं का कथन है कि जिसमकार एक ही द्वादशाह याग की "अहीन" तथा "सत्र" संज्ञा होती है इसी मकार शरीर तथा अशरीर बोधक वाक्यों से मुक्ति में शरीर का भाव तथा अभाव दोनों होते हैं अर्थात शुद्ध सामर्थ्य युक्त स्वरूप के होने से बारीर का भाव और भौतिक बारीर के न होने में बारीसभाव होता है, इसिछिये कोई विरोध नहीं।

सं०-नतु, शरीर तथा इन्द्रियों के अभाव काल में मुक्त पुरुष ऐक्वर्य्य का उपभोग कैसे करता है ? उत्तरः—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३॥

पद् ० - तन्वभावे । सन्ध्यवत् । उपपत्तेः ।

पदा०-(तन्वभावे) शरीराभाव काल में (सन्ध्यवतः) स्वप्न की भांति (उपपत्तेः) उसका ऐश्वर्य उपभोग होता है।

भाष्य-जिसमकार स्थूल शरीर के साथ विषयों का सम्बन्ध न होने पर भी स्वप्नकाल में अनेक मकार का उपभोग पायाजाता है इसीमकार शरीर के विना मुक्त पुरुष ऐश्वर्य का उपभोग करता है।

सं ० - अब शरीर के भाव पक्ष में ऐश्वययों पभोग सिद्धि के विक्षे ह्यान्त कथन करते हैं :-

भावे जाग्रदत्॥ १४॥

पद् ०-भावे । जाग्रद्वत ।

पदा०-(भावे) शरीर के होने काछ में (जाग्रद्वद) जाग्रद अवस्था की भांति मुक्त पुरुष का उपभोग होता है।

सं - नतु, अणुपरिमाण वाळे जीवात्मा में ऐश्वर्य का उपभोगह्रप महत्व नहीं होसक्ता ? उत्तर :—

प्रदीपावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

पद ० - प्रदीपावेशः । तथा । हि । दर्शयति ।

पदा०-(प्रदीपावेशः) प्रदीपावेशन्याय से मुक्त पुरुष को ष्रेश्वर्यक्षप पहत्व का छाभ होता है, (हि) क्योंकि (तथा, दर्शयित) क्षास्त्र से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-जिसमकार एक परिच्छित देश में वर्त्तपान मदीप का श्रकाश विस्तृत होजाता है इसीमकार अणुपरिमाण होने पर भी परमात्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मों के धारण करने से मुक्त पुरुष का अपूर्व सामर्थ्य होजाता है जिससे वह ऐक्वर्य मोग में अव्याहतगित होता है, जैसाकि "स एक्श्वा भवति" छान्दो० १ २६ । २=वह कभी एक मकार का होता और कभी अनेक मकार के सामर्थ्य का आविष्कार करता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है।

सं ० नन्तु, "न वाह्य किञ्चन" बृहदा ० ४। ३। २२ इस बाक्य से स्पष्ट है कि जीवात्मा मुक्ति अवस्था में परमात्मा के आनन्द बिना किसी अन्य पदार्थ का ज्ञाता नहीं होता फिर ऐक्वर्य का भोक्ता कैसे ? उत्तर :—

स्वाप्ययसम्पत्यार्न्यतरापेक्षमाविष्कृतंहिः

पद् ०-स्वाप्ययसम्पर्योः । अन्यतरापेक्षम् । आविष्कृतं । दि। पदा ०-(हि) निश्चयकरके (स्वाप्ययसम्पर्त्योः) सृषुप्ति तथा मृच्छां की (अन्यतरापेक्षं) अपेक्षा से (आदिष्कृतं) प्रमा-त्यज्ञान का याद कथन किया है।

भाष्य-"प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरस् " बृहदा० ४।३।२१=माञ्च=परमात्मा के साथ विका हुआ जीव वाह्य तथा आन्तर किसी विषय का अनुस्य नहीं करता, इत्यादि वाक्यों में जो ईड्वर विषयक ज्ञान का भाष कथन किया है वह सुष्ठाप्ते तथा मुर्च्छा की अपेक्षा से है, इसिस्ये उसके ऐड्वर्य का अभाव सिद्ध नहीं होता अर्थाद ईड्वर के स्वक्ष्य में निमग्न होजाने के कारण यहां वास्तान के अभाव का कथन है सुक्ति अवस्था में जीव के वेषवर्याभाव के अभाव का कथन है सुक्ति अवस्था में जीव के वेषवर्याभाव के अभाव का कथन है सुक्ति अवस्था में जीव के वेषवर्याभाव के अभाव का कथन है सुक्ति अवस्था में जीव के वेषवर्याभाव के अभिमाय से नहीं।

और जो स्वा॰ शङ्कराचार्यजी का कथन है कि यहां कैंचस्य मुक्ति का वर्णन नहीं किन्तु स्वर्गादि की भान्ति ऐश्वर्य वाली मुक्ति का वर्णन है ? यह इसलिये ठीक नहीं कि सूत्र के किसी भव्द से उक्त आभ्रय नहीं निकलता मत्युत पूर्वोत्तर सूत्रों का अनुसन्धान करने से मतीत होता है कि सूत्रकार को एक ही ऐश्वर्यभोगद्द मुक्ति अभिनेत है, जैसाकि पीछे बादिर आदि आचार्यों के मत से स्पष्ट कर आये हैं।

सं०-अव मुक्त पुरुषके वेश्वयर्थ की मर्यादा कथन करते हैं:-जगह्यापार्वर्ज प्रकरणादसन्निहितत्वाञ्च।१७।

पद्०-जगद्वधापारवर्ज । प्रकरणात् । असिक्षहितत्वात् । चः।

षदाः (जगद्वयापारवर्जम्) जगत् के जलित आदि व्यापार को छोड़कर मुक्त पुरुष को अपने ऐश्वर्य में स्वतन्त्रका होती है, क्योंकि (प्रकरणादः) मुक्ति के प्रकरण से (च) और (असिक्षहितत्वाद) सृष्टिपसङ्ग में मुक्त का नाम न होने से ऐसा ही पायाजाता है।

आव्य-मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य ऐसा विशाल होजाता है कि बह सब लोकलोकान्तरों में स्वच्छन्द विचरता दुआ अपने सत्यसङ्करूप से ही शब्दादि दिव्य विषयों का उपयोग कर सक्ता है, जैसाकि "शृववन् श्रीत्रं भवति"=त्रव श्रवण करना , चाहता है तब वह सङ्कल्य से ही श्रोत्र इत्रिय रच छेता है, इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है परन्तु इतना ऐश्वर्यस्थाभ करने पर भी जगव की उत्पत्ति आदि का सामध्ये उसको नहीं होता, क्योंकि वह कर्म एकमात्र परमात्मा के स्वाभाविक ज्ञानबळ से साध्य हैं और यह बात मुक्त पुरुष के मकरण से ऐसे ही पाई जाती है कि सृष्टि आदि की रचना के व्यापार को छोड़कर बेप ऐश्वर्य में मुक्त पुरुष यथाकामचार होता है, जैसाकि पीछे वर स्र ४। ४। १० के भाष्य में स्पष्ट कर आये हैं, दूसरी बात यह है कि जहां र सृष्टि का प्रकरण आया है वहां परमात्मा ही सृष्टि का कत्ती इत्ती कथन कियागया है ऐश्वर्य प्राप्त मुक्त पुरुव नहीं, जैसाकि "यतो वा इमानि भृतानि जायन्ते" तैचि० ३१९ इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रथम ही ब्र० सू० १। १। २ के भाष्य में स्पष्ट कर अपि हैं, यदि मुक्तपुरुष के ऐश्वर्य में सृष्टि आदि का उत्पन करना बाख को अभिनेत होता तो एकपात्र परमात्या को ही खाष्ट्र का कर्चा हर्चा पतिपादन न किया जाता पर किया है इससे खिद्ध है कि खोष्ट आदि न्यापार से अतिरिक्त ऐश्वर्य में मुक्त पुरुष स्वतन्त्र होता है।

सं १ - अब उक्त अर्थ का आसे । पूर्वक समाधान करते हैं:--

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिमण्ड-स्थोक्तेः ॥१८॥

पदः - मत्यंशोपदेशातः । इति । चेतः । न । अधिकारिषः -ण्डलस्थोक्तेः ।

पदा०-(प्रत्यक्षोपदेशात) प्रत्यक्ष उपदेश पाय जाने से सुक का ऐश्वर्य निःसीम है (चेत्र) यदि (इति) ऐसा कहा जाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि उसका ऐश्वर्य (अधिकारिम-ण्डल्स्योक्तेः) माण्डलिक राजा की भांति कथन किया गया है। भाष्य-" आप्नोति स्वाराज्यम् " तैचि० १।६।२=

मुक्त पुरुष स्वाराज्य को माप्त होता है, "सः स्वराङ् अविति"
छां० ७। २५। २=वह स्वयं राजा होता है, इत्यादि वाक्यों से
सिद्ध है कि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य भी ईश्वर की भांति निःसीम
है? यह कथन इसिलिये ठीक नहीं कि मुक्त पुरुष को स्वाधिकार
में स्वराद माना गया है सर्वथा ईश्वर के समान शाक्तिवाला
होने के अभिनाय से नहीं अर्थाद जिसमकार चक्रवर्षी राजा
के अधिकार में रहने वाले माण्डलिक राजा भी स्वाधिकार में

हनतन्त्र होने से राजवत सिंहासनाहि उपकरणों से युक्त होने और अपनी बाण्डलिक प्रजा पर वैसे ही शासन करते हैं परन्तु चक्कवर्ती के समान अधिकार वाले नहीं होते, इसी प्रकार युक्त पुरुष ब्रह्म के समान सत्यस द्वरूपत्व, अपहतपाप्मत्व तथा सर्वगन्त्र आदि ध्यों में स्वतन्त्रता लाभ करने पर भी स्विष्टक नृत्वादि ध्यों में स्वतन्त्र नहीं किन्तुं वह स्वाधिकार में मुक्ति विषयक ऐक्वर्य के भोग से स्वराद कहाता है, यही रीति सुक्त के ऐक्वर्य प्रतिपादक शेष वाक्यों के लापन में जाननी चाहिये।

सं ० - अब मुक्त पुरुष तथा ईव्यर के ऐश्वर्य का स्पष्ट भदे

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥१९॥

पद्०-विकासवर्ति। च। तथा। हि। स्थिति। आइ।

पदा०-(च) और (विकारावित) मुक्त पुरुष का ऐइवर्य विकार वाला होता है (हि)क्योंकि (तथा, स्थित, आह) शास से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनि-रुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अय सोऽभयंगतो भवति" तैत्ति २। ७। १५

अर्थ-वह जीवात्मा इन्द्रियागोचर, शरीररहित, सर्वाधार तथा अभयहर परमात्मा में प्रतिष्ठित होकर ही अभय पद को मान होता है "रसो ने सः रस " ह्यायं लब्धा आनन्दी अनिति" तैचि०२। ७। १५ = रसक्ष परमात्मा के आनन्द
को मान होकर ही जीव आनन्दित होता है, इत्यादि वाक्यों से
स्पष्ट है कि शुक्त पुरुष का ऐक्वर्य कर्मजन्य और परमात्मा का
स्वाभाविक है जिसको मान्न होकर ही जीव आनन्दी होसक्ता हैं
अन्यया नहीं, यदि ऐसा न होता तो परमात्मा के आनन्द से
जीवात्मा को आनन्दी न कहाजाता और नाही जीवात्मा की
मुक्ति से पुनराष्ट्रित पाई जाती, जैसाकि पीछे कई एक स्थलों में
वर्णन कर आये हैं, इससे सिद्ध है कि मुक्त पुरुष का ऐक्वर्य के
कर्मजन्य होने से विकारी तथा ईश्वर का स्वाभाविक होने
से नित्य है।

सं ० - अब अन्य प्रकार से ईश्वर के ऐश्वर्य की विशेषता

दर्शयतश्चेवं प्रत्यक्षानुमाने ॥२०॥

पद०-दर्भयतः। च। एवं। प्रत्यक्षानुमाने।

पदा०-(च) और (मत्यक्षानुमाने) श्रुति स्मृति से (एवं)

ईश्वर के ऐचर्य की (दर्शयतः) अधिकता पाई जाति है।

भाष्य-न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं । नेमा विद्युतो भान्ति क्रतोऽयमाभः ॥

कड० ५। १६

अर्थ-उस परमात्मा में सूर्य, चांद तथा तारागण मकाका

नहीं करसक्ते और नाही विज्ञित्तियां उसमें प्रकाश कर सकी हैं
किन्तु उस स्वयंप्रकाश परमात्मा की दीप्ति से ही यह सब चराचर
जगद प्रकाशित होता है, जैसाकि " भीषास्प्राद्धातःः
पत्रते भीषोदिति स्रूट्यः "=परमात्मा के अय से वायु
वहता और उसी के अय से श्वर्य उदय होता है, "एतस्य
वा अञ्चरस्य प्रशासने गाार्गी स्रूर्याचन्द्रमसी विधती
तिष्ठतः" बृहदा ०५।८।८=हे गार्गि! इसी असर परमात्मा के
प्रवासना में श्वर्य चन्द्रमा छोकयात्रा करते हुए स्थित हैं, इत्यादि
वाक्यों से स्पष्ट है कि परमात्मा का ऐसा सर्वोपार ऐश्वर्य है
जिस के शासन में सब चराचर जगद अपनी मयार्दा से अणुमान
भी प्रच्युत नहीं होसक्ता, इसी अर्थ को गी० १८ । १६ में इस
प्रकार स्फुट किया है कि:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जन तिष्ठति । आमयन्सर्वभृतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

अर्थ-हे अर्जुन! ईश्वर अपनी माया=पक्तिहर यंत्र से सब प्राणियों को भ्रमण कराता हुआ सबके हृदयदेश में विराजमान है, इसादि अनेक वाक्य ईश्वर के निरूपम ऐश्वर्य को वर्णन करते हैं, इससे सिद्ध है कि मुक्त होने पर भी जीव का ऐश्वर्य सातिशय रहने के कारण उसमें जगह्यापारादि का सामर्थ्य मानना ठीक नहीं।

बेदान्तार्ध्यभाष्ये

सं ० - अव नक्त अर्थ का उपसंहार करते हुए ईम्बरीय ऐन्वर्य के साथ मुक्तिक्ष ऐम्बर्य की आंक्षिक सपता कथन करते हैं :--

मोगमात्रसाम्यलिङ्गाच ॥ २१॥

षद् ०-योगमात्रसाम्यछिङ्गात् । च ।

पदा०-(च) और (भोगपात्रसाम्यखिङ्गात्) भोगपात्र में सपता पायेजाने से मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य मातिश्व है।

भाष्य-" सोऽश्जुते सर्वान्कामान्संह ब्रह्मणाबिः.

पश्चिता "= मुक्त पुरुष मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के आनन्द को भोगता है, इसांदि वाक्यों में भोगमान्न के आभेमाय से मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य की आंशिक समता मितपादन की गई है अर्थाद जिसमकार परमात्मा स्वरूप से आनन्दी है इसी मकार मुक्त पुरुष परमात्मा से ऐश्वर्य माप्त कर आनन्दी होता है, इसने अंशा में मुक्त की ईश्वर के साथ समता है स्रष्टिक कृत्वादि घमों में नहीं, इसिटिये मुक्त जीव का ऐश्वर्य सातिशय और ईश्वर का निरतिशय जानना चाहिये।

सं०-अंब मुक्ति में ब्रह्मध्यान की अनावृत्ति कथन

अनाद्यत्तिः शब्दादनाद्यत्तिः शब्दात् ॥ २२॥

पद०-अनावृत्तिः। शब्दात्। अनावृत्तिः। शब्दात्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

चतुर्याध्याये-चतुर्यः पादः

463

पदा०-(अनारितः) मुक्ति में ब्रह्मध्यान की आरित नहीं होती, क्योंकि (शब्दात्) श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-" अनावृत्ति शब्दात्" पाठ दोबार उक्त
अर्थ की दृशा तथा प्रन्य की समाप्ति के छिपे आया है,
" एवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न
च पुनरावर्तते न च पुनरार्त्तते" छां०८।१५।१

अर्थ-इस प्रकार स्वाध्याय तथा अहिसादि कर्मों को करता हुआ सुमुख पुरुष ब्रह्मलोक की प्राप्त होकर नियतकाल तक जन्म धारण नहीं करता, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि जा "आत्मावारे द्रष्ट्रच्यःश्रोतच्यो मन्तच्यो निदिध्यासि-तिच्यः" बृददा । ४। ४। ६ इस वाक्य में अवस्य तथा मननोत्तर काल में प्रत्ययाद्यत्तिक्य निदिध्यासन का विधान किया है उसके आवर्त्तन की मुक्ति अवस्था में आवश्यकता नहीं क्योंकि उक्त प्रययाद्यत्तिक्य ध्यान का साध्य ब्रह्मसाक्षात्कार है उससे मुक्त पुरुष को ऐश्वर्ध्य प्राप्त होग्या है और फल्डमािस काल में साधन अपेक्षित नहीं होता, इसलिये प्रस्थादित्व की आवश्यकता नहीं।

इस मर्ग को न समझकर स्त्रा॰ शक्कराचार्यजी कैवस्य मुक्ति से जीव के पुनः संसार में आने का निषेध करते हैं पर उनका यह कथन इसिक्टिये ठीक नहीं कि सूत्रकार ने यहां ऐ स्टर्थ इप मुक्ति

बेदान्सार्घ्य भाष्ये

883

का मित्रपादन किया है के बरुप मुक्ति का नहीं और नाही खुक्ति से पुनः आने का निषेध किया है, यहि सुन्नकार को उक्त स्वामीजी का अर्थ ही अधिमेत होता तो "विकारावित्तं च तथाहि स्थितिमाह " ब्र॰ स्र॰ ४। ४९ से छेकर २१ वें सूत्र पर्यन्त मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य को विकारी=अनिस कथन करके भोगमात्र द्वारा ईश्वर के साथ आंधिक समता प्रांतपादन न करते प्रत्युत "विकारावार्त्ति" पद के स्थान पर "विकारानावित्ति" पाठ की कल्पना की जाती, पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि सुन्नों में मायावादियों की कैवल्य मुक्ति का गन्धमात्र श्री नहीं पायाजाता, और दूसरी बात यह है कि:—

आब्रह्मसुवनालोका पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन । मासुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

गी० ८। १६

अर्थ-हे अर्जुन! ब्रह्मछोक पर्यन्त सब जन्मों से जीवों की पुनराष्ट्रांत्त होती है परन्तु मुझको माप्त होकर प्राक्ठत पुरुषों की भांति पुनः २ जन्म नहीं होता, इस्रादि वाक्य भी मुक्ति से जीव की पुनराष्ट्रांत्त स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं, यदि यह कहाजाय कि यहां कैवल्य मुक्ति का वर्णन नहीं किन्तु छोक विशेष की मुक्ति को वर्णन है तो उत्तर यह है कि यहां भी कृष्ण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

चतुर्थाध्याये-चतुर्थः पादः

466

जी ने कैषल्य को शेष नहीं रखा अपितु " ब्रह्मभुवन " पद से कैंवल्य को ही प्रतिपादन किया है जिसके उत्तरार्द्ध से प्राकृत पुरुषों के स्पान पुनः जन्म का निषेध करते हुए तात्पर्ध्य से सुक्ति के ऐत्वर्ध्य को चिरस्थायी कथन कियागया है निरवधिक नहीं जिमका विस्तारपूर्वक वर्णन " गीतायोगप्रदीपार्ध्य भाष्य " में कियेजाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

... स्प्ररण रहे कि मायावादियों को अभिमत कैवल्यमुक्ति की सिद्धि के लिये मूत्रों में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक हैं:—

(१) अविद्या से जीव का ब्रह्म होजाना (२) माया उपाधि से जगत का रचाजाना (३) संमार का मायापरिणाम तथा चेतन का विवर्त्त होना (४) रज्जुमर्प की भांति अधिष्ठानज्ञान से मिध्याभूत जगत का बाघ होना (५) माया का ब्रह्म में स्वाश्रय स्वविषय होकर बना रहना (६) जीव ब्रह्म के अमेद ज्ञान से मुक्ति होना (७) मुक्ति अवस्था में सब ज्ञानों का अभाव होना (८) आत्मा तथा अनात्मा में अन्योऽन्याध्यास होना, इसादि परन्तु "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा " स्व से केकर "अनावृतिः राज्दादनावृतिः राज्दात् "इस स्व

वेदान्सार्थ्यभाष्ये

पर्यन्त उक्त बातों का गन्धमात्र भी न पायजाने से वायावादियों की मुक्ति करपनामात्र जाननी चाहिये॥

> इति श्रीमदार्घ्यमुनिनोपनिबद्धे वेदा-न्तार्घ्यभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः

> > समाप्तइचायं ग्रन्थः

ब्रह्मसूत्रानुक्रमणिका

अ

			अ०	dio	सु०
अंशोनानान्यपदेशाद०	****	••••	२	ş	85
अकरणत्वाच न दोषः०	••••	••••	२	R	. 44
अक्षरिधयान्त्वव ०	••••	••••	è	ą	33
अक्षरमम्ब॰	••••	••••	9.	३ .	9
अग्निदोत्रादि तु०	••••	•••	8	?	१६
अक्षचांदि गति श्रुतेः०	•4••	••••	ş	9.	8
अङ्गावबद्धास्तु०	••••	••••	3	ą .	५५
अद्भित्वानुपपत्तेश्च		••••	2	२	6
अङ्गेषु यथाश्रयभावः	••••	••••	3	3	88
अचलत्वञ्चापेक्ष्य	••••	••••	8	. 9	. 9
अणदश्च	••••	••••	२	8	9
अणुश्च	••••	••••	3	8	6.5
अतएव च नित्यत्वम्	••••	••••	٩	3	२८
अतएत च सर्वाण्यतु	••••	••••	8	2	3
अत एव चात्रीन्ध॰	••••	••••	3	8.	२५
अतएवचानन्या०	••••	••••	8	8	8
अतएवचोपमा०	••••	••••	3	2	26
अतएव न देव०	••••	••••	8	3	2.9
अतएव प्राणः	****	••••	8	9	२३
अतः प्रवोधो ॰	4000	·	ş	3	6

ब्रह्मसूत्रानु क्रमणिका

			अ०	dio	खु०
अतक्षायने	••••	••••	R	व	२०
अतस्त्वतरज्ज्यायो ०	,,,,	••••	ş	8	३९
अतिदेशाच	****	••••	3	3	४६
अतोनन्तेन०	••••	••••	3	२	२६
अतोऽन्यापि॰	4000	••••	R	8	१७
अचाचराचर०	••••	••••	8	२	. 9
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	••••	••••	9.	9	१
अहत्रयत्वादि ः	••••	••••	8	व	39
अर्छानियमाव	••••	••••	२	3	५१
अधिकन्तु भेद ०		••••	२	9.	३३
अधिकोपदेशासु०	****	4000	3	R	8
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च	••••	••••	व	२	36
अध्ययनमात्रवतः	*****	• ••••	\$	8	१२
अनिधभवञ्च०	••••	••••	3	A	३५
अनवस्थितेरसं०	****	****	9	२	80
अनारव्धकार्ये०	••••	••••	8	٩	६५
अनाविष्कुर्वन्नन्व ०	••••	••••	ş	8	५०
अनाष्ट्रिः शब्दाव्	••••	••••	8	8	22
अनियमः सर्वासा०	****	••••	ş	3	38
भनिष्टादिकारि ०	****	••••	3	8	१२
भनुकृतेस्तस्य च	••••	••••	9	3	२१
। तुज्ञापरिहारौ	••••	****	2	7	28
नुपपत्तेस्तु॰	••••	••••	9	२	ŧ
नुबन्धादिभ्यः प्रज्ञां०	••••	****	3	Þ	4.0
			The state of		

THE OWNER OF THE			अ०	dio	स्॰
अनुष्ठेयं बादरायणः०	••••	••••	3	8	१९
अनुस्मृतेर्वाद्रिः		••••	१	2	30
अनुस्मृतेश्च	****	1000	2	2	२५
अनेन सर्वगतत्व०	****	••••	ş	२	9.9
अन्तर उपपत्तः	••••	••••	1	2	१३
अन्तरा चापि०	••••	••••	ş	R	36
अन्तरा सूतग्रामवद्	••••	****	3	3	39
अन्तरा विज्ञानमनसी	••••	••••	2	1	१५
अन्तर्याम्यधिदैवा०	••••	••••	2	2	26
अन्त्वत्वपसर्वज्ञतावा	••••	••••	2	2	85
अन्तस्तद्ध यो पदेशाव	••••	••••	9	?	२०
अन्त्यावस्थितेश्चो०	••••	••••	2	२	35
अन्यत्राभावाच न०	••••	••••	3	२	9
अन्यथात्वं शब्दादि०	****	••••	\$	3	8
अन्यथानुमितौ च०	••••		२	2	9
अन्यथाभेदानुपपत्ति०	••••	••••	3	1	38
अन्यभावन्यादृत्तेश्च	••••	9407	2	\$	88
अन्याधिष्ठितेषु०		••••	3	1	२४
अन्यार्थन्तु जैमिनिः ०		••••	8	8	26
अन्यार्थश्च परामर्शः	••••	••••	8	*	२०
अन्वयादिति चेव॰			7	3	29
	1117		2	2	१७
अपरिग्रहाचा॰	••••	••••			
अपिचसप्त	••••	****	1	8	3.01

			अ०	dio	सु०
अपि च स्मर्थते	••••		9.	3	२३
77 77	•••7	4000	२	\$	४५
)))) ····	••••		ş	8	30
,, ,,		••••	3	8	29
अपि चैवमेके	••••	••••	3	2	8,3
अपि संराधने०			इ	३	२४
अपीतौ तद्वत्मसङ्गा	·	1400	२	9.	6
अप्रतीकालम्बनाक	····	••••	8	3	१५
अबाधाच		••••	२	A	56
अभावं बाद्रि॰		••••	8	- 8	3.0
अभिध्योपदेशाच	••••	••••	9.	8	२४
अभिमानिच्यपदेश		****	२	8	4
अभिन्यक्तिरित्याश			9.	२	36
अभिसन्ध्यादिष्य		••••	. २	₹	५२
अभ्युपगमेष्यर्थाभा	बाव		२	्र	ह
अम्बुबद्ग्रहणासु०	••••	••••	3	२	86
अह्रपबदेवहिं		••••	3	२	48
अर्चिरादिना तत्मि	थत;	••••	8	ş	9
अर्भकौकस्त्वा० .	••••	····	9.	२	ė
अल्पश्चतेरिति		••••	9.	ş	२१
अवस्थितिवैशेष्या०	į	••••	3	? .	२४
अवस्थितरिति	1	••••	8.	8	२्२
अविभागेन दृष्टत्वाद	••••		8	8	8
अविभागो वचनाव	••••	,,,,	8	2	१६

ब्रह्	प्रसूत्रानुक	मणिका			4
			अ०	पा०	स् ⁰
अविरोधश्चन्दनवद		Q	२	ą	२३
अशुद्धितिचे०	••••	••••	ş	9	२५
अञ्मादिवच तद्०		••••	२	9	२३
अश्रुतत्वादिति चे०	••••	••••	3	7	Ę
असतिमतिज्ञोपरोधौ०		••••	3	2	- २१
असदिति चेन्न०	••••	••••	-7	9,	9
असद्रयपदेशान्नेति०			२		१७
असन्ततेश्चाव्यतिकरः	••••	••••	२	3	४९
· अम्मियस्तु सतो ०	••••		2	3	9
असार्वत्रिकी	****	****	ş	8	9.0
अस्ति तु	••••	••••	२	3	२
आस्मिनस्य च०		••••	9	9	१९
अस्यैवचोपपत्ते०	••••	1411	8	२	45
	अ	T			
आकाशस्तक्षिङ्गात		••••	9.	9	२२
आकाशेचाविशेषाद	••••	••••	२	२	२४
आकाशोऽर्थान्तर०	••••	••••	9	3	80
आचारदर्शनाव		••••	ş	8	3
अतिवाहिकस्तर्छि०		••••	8	3	8
आत्मकृतेः परिणामाव	••••	••••	2	8	२६
आत्मग्रहीति॰	••••	••••	ş	ş	9,8
आत्मानिचैवं विचित्राव	वहि	••••	२	9,	26
आत्मशब्दाच		••••	7	3	१५

नससूत्रानु ऋमणिका

8

			अ०	वा०	खु०
आत्मा मकरणाव	••••	••••	8	8	3
आत्मेति त्पगच्छान्त	••••	••••	8	2	ş
आदरादछोपः	***	••••	3	ş	80
अदित्यादि मतयः ०	••••	••••	8	9	é
आध्यानाय०	••••	••••	3	3	१४
आनन्दमयोऽभ्यासाव	••••	••••	9,	9.	85
आनन्दादयः प्रधानस्य	4	• ••••	ş	ş	55
आनर्थक्यमितिचेत्र०	****	••••	3	2	80
आनुमानिकमप्येकेषां	••••	••••	. 8	R	. 8
आपः	••••	••••	२	3	22
आप्रायणात्रत्रापि०	••••	••••	8	8	१२
आभास एवच	••••	••••	२	1	५०
आमनान्त चैनमस्मिन्	••••	••••	٩	2	32
आर्स्विज्यमिस्यौडुछोमि	·	•	3	8	४५
आद्यीत्तरसक्रदुपदेशाव	••••	••••	8	8	१
आसीनः सम्भवाद	••••	••••	8	9	9
थाह च तन्मात्रं	••••	1041	3	2	१६
	इ				
	9				
इतरपरामर्शात्स ३०	••••	••••	8	3	29
तरव्यपदेशाद्धि ॰	••••	••••	2	8	28
तरस्याप्येव०	••••	••••	8	9	8.8
तरेतरमत्ययत्वादि ति०	••••	••••	2	3	9,8
तरेत्वर्थ सामान्याव	••••	••••	3		१३

त्रह	स्त्रा नुक	मणिका			9
			अ०	पा॰	स्॰
इतरेशाञ्चानुपळब्धेः	••••	••••	2	2	२
इयदामननाव	****	••••	ş	3	85
and which	ई				
2-12-u-amazuran:			9	2	23
ईक्षतिकर्मञ्यपदेशात्सः	0000	400.0		•	4
ईक्षतेर्नाशब्दम्	••••	1000			
	उ				
उत्क्रमिष्यत एवं०	••••	••••	9	8	21
उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्	••••	#	२	3	99
उत्तराचेदाविर्भूत ०		••••	9	1	18
उत्तरोत्पादे च॰	••••	****	२	2	२०
उत्पच्यसम्भन्नात्	••••	••••	२	2	88
बदासीनानामपि ०	••••	••••	२	2	79
उपदेशभेदानेति चे०	••••		2	8	२७
जपादानाव	••••	••••	. 3	*	39
उपपत्तेश्च	••••	••••	ą	3	34
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते ।	च	••••	2	9.	35
उपपन्नस्त ल्लक्षणा ०	,	••••	ş	7	30
उपपूर्वमिपत्वेके ०	••••	••••	3	8	४२
उपमद्ञ	••••	••••	३	8	१६
उपलाब्धवदानियमः	••••		२	3	eş
उपसं हारदर्शनाचेति०	••••	4000	२	9	28
उपसंहारोऽर्थाभेदा ०	••••		3	ą	4
उपास्थितेऽतस्तद्वचनाव	(Page	••••	3	3	89
Allen and the	The same of	1010	1	7	

6	वसस्त्रानुक्रमणिका
	2018 213 1111 1111

			अ०	वा०	ख्र		
उभयथाच दोषाद	••••	••••	२	२	- 88		
" "		••••	2	२	२३		
उभययापि न०	••••		3	3	१२		
उभयव्यपदेशास्त्र ०	••••	••••	₹	3	२७		
उभयव्यामोहात्त िसद्धेः	. ••••	••••	8	3	G		
		3					
कर्ध्वरेतः सु च शब्दे हि	····	••••	3	8	9,9		
		Į,					
पुक आत्मनः शरी ०		7	ş	Ę	6.3		
एतेन मातरिक्वा०		•••	2	7	५३		
एतेन योगः०	••••	••••	2	9	3		
प्नेंत शिष्टापरिग्रहा०	••••	5167	3	9	92		
एतेन सर्वे व्याख्याता०	••••	4000	9	8	26		
एवञ्चात्माकात्स्न्यी	••••	••••	4	2	38		
एवं मुक्तिफलानि॰	••••	••••	7	8.	42		
एवमप्युपन्यासात् ०	••••	••••	8	8	9		
Ì							
ऐहिकमप्यं प्रस्तुत ०	••••	••••	3	y	68		
	क						
	••••	****	9	3	36		
करणवचेष्ठ०		****	2	2	80		
कर्जा शास्त्रार्थक्त्वात् CC-0.Panini	V●●● Kanya Mah	●●●● na Vidyalaya Colle	2	ş	33		

			अ०	पा०	सु०
कर्मकर्तृव्यपदेशास्त्र	••••	****	3	2	8
कल्पनोपदेशाच ०	••••	7000	2	8	20
कामकारेण चैके	0000	••••	3	8	39
कामाच नानुमानापेक्षा	••••	••••	9	2	26
कामादीतरत्र	••••	••••	* 3	3	39
काम्यास्तु यथाकामं०	,	••••	*	2	80
कारणत्वेन चाकाशादिषु	[0	****	9	8	2.8
कार्यं बादरिरस्य॰	•	••••	8	3	9
कार्था ख्यानाद पूर्वम्	****	••••	3	ş	2,6
कार्यात्यये तदध्यक्षेण०	••••	79	8	7	२०
कृतमयबापेक्षस्तु ॰	••••	*****	२	3	४२
क्रतात्ययेऽनु शयवान् ०	•••	****	ş	9,	6
कुत्स्नभावा चु ०		****	3	8	AC
कुत्स्न मसिकार्नि ०			3	8	२६
क्षात्रियत्वगतेश्चो ०		••••	8	3	\$8
				下列的	
	ग	- File			
गतिशब्दाभ्यां तथाहि०	••••	••••	9	3	3,8
गविसामान्याव	•••	••••	9	7	20
गतेरर्थवत्त्वमुभय०	••••		ą	1	२९
गुणसाधारण्यश्चनेश्च	••••	••••	3	?	88
गुणाद्वालोकनत	••••	••••	2	3	२५
गुहां प्रविष्ठावात्पानी ०		••••	9	2	2,9
युक्त नान्धानात्नाताः	••••				

वस्यानु क्रमणिका

			अ०	पा०	स्र॰
गौणश्रेषात्मशब्दाव	••••	****	8	8	E
गौण्यसम्भवाद	••••	••••	3	ş	₹
77 27	****	••••	3	8	2
		च			
चक्षुरादिवत्तु तत्सह०	••••	••••	8	8	90
चमस वद्विशेषात्	••••		8	8	6
चराचरव्यपाश्रयस्तु ०	••••	••••	2	3	3' ह
चितितन्मात्रेण०	••••	••••	8	8	8
		E			
छन्दत उभयाविरोधात	••••		3	3	26
छन्दोभिघाना भेतिचेत्र ०	••••		9	9	२५
		স			
जगद्वाचित्वात्	eras.	91	9	8	96
जगद्व्यापारवर्ज ०	****	••••	8	8	9.6
जन्माद्यस्य येतः	••••	••••	9		१७
जीवमुख्यमाणिङङ्गा०	••••			9	2
जीवमुख्यमाणिक ज्ञानेति	····	••••	9	8	१७
भागतुष्यमा गाळङ्गासातः श्रेय त्वावचनाच	qo	••••	3,	8	38
	****	****	8	8	8
ब्रोत एव	••••	••••	3	3	१८
ज्योतिराद्यधिष्ठानं ०	1000		3	8	88
ज्योतिरूपऋ मातु०	••••	****	9	8	9
	••••	****	9	3	80
ज्योतिश्वरणा ०	••••	••••	9	2	२४

Digitized by Arya Samai Foundation Changai and eGangotri					
			अ०	पा०	स्॰
ज्योतिषि भावाच	••••		2	3	12
ज्योतिषैकेषां ०		••••	9	8	१३
	त				
त इन्द्रियाणि०	••••	****	9.	8	29
तच्छ्रेतः	••••		3	8	8
तडितोऽधिवरूण०			Y	3	3
तत्तु समन्वयावः		••••	9	9	ď
तत्पूर्वकत्वाद्वाचः	••••	1000	2	8	8
तत्राक् श्रुतेश्च	••••	••••	2	8	3
तत्रापि च तद्व्यापा०	****	••••	ş	9	१६
तथा च दर्शयति			२	2	२७
तथाचैकवाक्यते।०	••••		9	8	3.8
तथान्यप्रतिषेधाद			3	2	३६
तथा प्राणः		••••	२	8	2
तद्धिगम उत्तरपूर्वा०	••••	••••	8	9	23
तद्धीनत्वाद्रथवद		••••	2	8	3
तदनन्यत्वमारम्भंण०	••••		2	1	18
तदन्तरमतिपत्तौ०	••••	,	\$	3	8
तद्भावनिर्धारणे०	••••	••••	9.	1	38
तदभावो नाहीषु	••••	••••	\$	3	9
तद्भिध्यानादेव तु॰	••••	••••	२	1	१३
तद्वयक्तमाइ हि	****	****	\$	3	२३
तदापीतेः संसार०	••••	•••	8	3	6

ब्रह्मस्यानुक्रमणिका

				अ०	dle	खु०
तहुपर्य	पि बादरायणः ०	1000	••••	9,	\$	36
तदोको	व्रक्त्वलनं	0000	****	४	२	१७
तहुणस	ारत्वा जु ०	6060	••••	3	2	२८
तद्भुतस्य	व तु॰	***	••••	200	8	80
सद्धतो वि	वेधानाव		••••	3	8	Q
तदेतुङ	षपेदशाच	••••	••••	8	8	5,8
तिक्षर्था	रणानि॰	••••	•••	3	3	४२
तां जाष्ट्र स	य ॰		••••	9.	9,	9
तन्पनः	राण उत्तराव	••••	••••	8	२	3
तन्बभा	वे सन्ध्यव०	••••	••••	8	8	१३
तर्कार्था	तेष्ठानाद ०	••••	****	2	9	88
तस्य च	ा नित्यत्वाद	••••	••••	२	8	१६
सानि प	ारे तथाबाह	***	••••	8	२	१५
तुल्यन्तु	दर्शनम्	••••	••••	3	8	9
	ब्दादवरोधः ०	••••	••••	3	9	29
त्रयाणा	पेवचै०	••••	••••	9	8	6
ड्यात्मक	त्वाचु॰	••••	••••	3	9	2
		द				
दर्भनाच	****	****	••••	3	9	२०
11 11	****	••••	••••	\$	2	२१
77 77	1000	6444	0000	ą	3	86
" "	9990	••••	••••	3	3	६६
" "	100	••••	••••	8	3	१३

Digitized by Apra Samai Foundation Chennai and eGangotri						
THE PARTY NAMED IN			अ०	पा०	स्॰	
दर्भयतश्चेनं	••••		8	8	२०	
दर्शयित च	••••	••••	3	3	8	
?7 ?7	••••	••••	3	\$	२२	
दहर उत्तरेभ्यः	••••	••••	3	2	9,9	
हइयते तु	••••	••••	२	8	8	
देवादि वदीप छोके	••••	****	2	9	१५	
देहयोगाद्वासोपि	••••	••••	ş	8	Ę	
घुभ्वाधायतनं स्वशब्दात्	****	••••	٩	7	9	
द्वादशाहबदुभयविधं०	••••	••••	8	8	१२	
	ध			10 7		
धर्म जैमिनिरत एव				2	80	
	••••		3	The Table		
धर्मोपपत्तेश्च	••••	****		3	9	
घृतेश्च महिस्रो०	••••	••••	9	3	१६	
ध्यानाच	••••		8	4	6	
	न			1 64		
न कर्माविभागादिति०	••••	••••	2	9	३५	
न च कर्तुः करणम्	••••	••••	२	२	83	
न च कार्य्ये प्रत्यभि०	••••	••••	8	*	3.8	
न च कार्यायादप्यवि॰	••••	••••	२	3	३५	
न च स्मार्त्तमतद्धर्या	••••	••••	1	2	56	
न चाधिकारिकमीप०	1000	•••	₹.	8	85	
न तु दृष्टान्तभावात	4	****	२	2	9	

ब्रह्मसूत्रानुक्रमणिका

			अ०	वा	स्र०
न तृतीये तथापलब्धेः			3	4	96
न प्रतीके न हि सः	****		8	9,	8
न प्रयोजनवस्त्रात	••••	••••	2	9,	\$3
न भावोऽनुपलब्धेः	••••	••••	3	2	३०
न भेदादिति चेन्न०	••••	••••	3	2	१२
न वक्तरात्मोपदेशा०	••••	••••	2	8.	36
न वा तत्सहभावाश्रुतेः	••••	••••	₹	ş	हद
न वा प्रकरणभेदातः	••••	••••	ş	₹	9
न वायुक्रियेपृथगुपदेशात्	••••	••••	2	8	. 9
न वा विशेषाव	••••	****	3	3 .	54
न वियद श्रुतेः	••••	· · · · ·	3	3	
न विलक्षणत्वादस्य ०	••••	••••	3	2	8
न संख्यापसंग्रहादपि०	••••		á	8	88
न सामान्यादप्युपलब्ध	••••	••••	₹	3	५१
न स्थानते।ऽपिपरस्यो०	••••	••••	3	3	88
नाणुरतच्छुतेरिति०	••••	••••	3	3	28
नातिचिरेण विशेषाद	••••	••••	7	2	२३
नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वा०	••••	••••	3	3	१७
नाना शब्दादिभेदाव	••••	••••	3	ş	46
नानुमानमनच्छब्दात्	••••	••••	9,	3	ş
नाभाव उपलब्धेः	••••	••••	2	2	26
नाविशेषाव	••••	••••	3	8	१३
नासतोऽइष्टत्वादः	••••	••••	2	3	२६
नित्यमेव च भावाव	••••	••••	3	3	१४

ब्रह्मस्त्रातुक्रमाणका अ० पा० मु० **बित्योपलब्ध्यनुपलब्धि** ० नियमाच विर्मातार**ञ्चेकेपुत्रादयश्च** निशिनेति चेन्न० नेतरोऽनुपपत्तः नैकस्मिन्दर्शयतेहि नैकस्मिनसम्भवाद नोपमर्देनातः प पञ्चर्यात्तर्मनो० पत्यादिशब्देभ्यः पत्युरसामअस्याव् पयोम्बुवेचत्रत्रापि परं जैमिनिर्मुख्यत्वात परमतः सेत्नमान० पराचु तच्छुतः पराभिध्यानात्त् प्रामर्श जैमिनिः० परेणशब्तस्य ॰ पारिष्ठवार्था इति ० F पुंस्त्वादिवस्वस्य ०

पुरुषविद्यायामिव०

पुरुषार्थोऽतः शब्दाव

बसस्त्रानुक्रभाषका

			अ०	die	स्
पुरुषाञ्मवदिति ।	••••	••••	२	२	9
पूर्वन्तु बादरायणो ०	••••	••••	3	3	88
पूर्ववद्वा	••••	••••	\$	व	20
पूर्व विकल्पः प्रकरणा	त्	••••	3	3	४५
पृथगुपदेशाव	••••	••••	2	3	26
पृथिव्यधिकारकप्	0000	••••	2	3	93
मकरणाच	••••	••••	9	2	20
भकरणाव	••••	••••	9	3	8
मकाशवचावैयथ्यां व	••••	••••	ş	ર	, 9,64
भकाशादिवचावै ०	••••	••••	3	२	३५
मक्यादिवस्रैवंपरः			2		
		••••		3	88
मकाशाश्रयबद्धाः	••••	••••	₹	7	२८
मक्तिश्च मतिहा॰	••••	****	9.	8	२३
मक्रतेतावस्वं हि	••••	••••	3	3	२२
मातेश्वासिद्धिङ्ग ०	••••		9	8	२०
मतिज्ञाहानिर्व्य •		-	9		
प्रातिषेधाञ्च	••••	****	3	3	•
मतिषेधादिति ०	****	****	3	२	३०
	****	••••	8	3	१२
मातिसंख्या मतिसं०	••••	****	2	2	२२
मत्यक्षोपदेशादिति ०	****	****	8	8	26
मथमेऽश्रवणादि ॰	••••	and the same	Ę	8	q
मदानवदेवतदुक्तम्		A CONTRACTOR OF THE CONTRACTOR		A PLANTER S	
		••••	ş	3	४३

9	सस्त्र	ा नुक्रमणिका			9.9
			अ०	पा॰	सु०
मदीपवदावेश ०	••••		8	8	9.4
मदेशादिति चे॰	••••	••••	2	3	५३
परतेश्व	••••	***	2	2	2
मसिद्धेश्च	••••	••••	8	2	१६
प्राणगतेश्च	••••	••••	3	9	3
पाणवता शब्दाद	••••	••••	२	8	9,6
भाणभृच	••••		9	3	8
माणस्तथानुगमाव	••••	••••	9	9.	26
प्राणादयोवाक्यशेपाव	***	••••	٤	8	१२
भियशिरस्त्वाद्यशाः	****	••••	3	3	१२
		फ			
फलमत उपपत्ते	••••	•••	₹	2	36
		a			
बहिस्त्भयथाऽपि॰			ą	y	83
बुद्ध्यर्थः पादवद	••••	••••	3	2	33
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षाव	••••	***	8	٩	4
ब्राह्मण जैमिनिरुप॰	****	••••	8	8	Q
		म			
भाक्तं वाडनात्मवित्वात्त्रथा		****	ą	9	9
भावं जैमिनिविकल्पाव	••••	****	8	8	33
भावन्तु बादरायणोऽस्ति	हि	••••	9	3	\$\$
भावशब्दाच	'hota	••••	3	8	२२

वसस्वानुक्रमणिका

			अ०	वा०	सु०
भावे चोपलन्धेः	****	••••	२	9	१५
भावे जाग्रद्वत	••••	••••	8	A	5.8
भृतादिपाद व्यपदेशो०	••••	••••	. 8	9.	१६
भृतेषु तच्छतेः	••••	••••	8	2	4
भूमा सम्भसादादः	••••	••••	9	3	9
भूमः ऋतुवज्ज्यायस्त्वं०	••••	****	ş	ş	५७
भेद्व्यपदेश।च्च	****	1000	8	2	१७
भेद्व्यपदेशाच्चान्यः	••••	••••	9,	2	दे १
भेदव्यपदेशाव	••••	••••	१	ş	` · &
भेदश्रतेः	••••	****	२	R	26
भेदाश्रीत चेश्रकस्यामपि	••••	••••	ş	3	३
भोक्रापत्तरिवभागं०	••••	••••	3	9,	43
भोगंगात्रसाम्यंछिङ्गाच	••••	••••	A	8	२१
भोगेनिवतरे क्षपीयला॰	••••	••••	8	4	36
AT ATT, LA	म				
	7				
मध्वादिष्वसम्भवादन०	••••	••••	8	₹	\$4
मन्त्रवर्णाच	••••	••••	२	ş	88
मन्त्रादिबद्वाविरोधः	1000	••••	§ .	ą	५६
महदीधनद्वा हस्त०	••••	••••	2	2	२१
महदूच	••••	••••	9	8	9
मांसादि भौमं					20
	••••	****	8	8	28
मान्त्रवाणकमेव च०	••••	••••	१	9,	१५

इस स्त्रानुक्रमणिका					
			अ०	पा०	सु०
षायाबात्रन्तु कात्स्र्नेना ०	••••	••••	3	2	1
मुक्तः पतिज्ञानात		••••	. 8	8	२
मुक्तोपसृत्यच्यपदेशाच	****	••••	٩	3	२
मुग्धेऽर्घ सम्पत्तिः०	••••	****	3	२	१०
मौनबदितरेषामप्यु॰	••••	••••	2	8	86
	य				
यत्रेकाग्रता तत्राविशेषाव		••••	8	9	88
यथा च तक्षोभयथा	••••	••••	२	3	X
यथा च प्राणादि	••••	••••	2	9.	२०
यदेव विद्ययेति हि	••••	••••	8	3	१८
यावद्धिकारमव ०	••••		7	ą	३२
याबदात्मभावित्वाच ०	****	****	7	3	\$0
यादद्विकारन्तु विभागो०	••••	••••	2	3	9
युक्तेःशब्दान्तराच	••••	****	2	5	9,6
योगिनः प्रति स्मर्यते ०		••••	8	3	33
योनिश्च हि गीयते	****	••••	7,	8	29
योनेः शरीरम्	••••		3	1	50
	र्				
रचनानुपपत्तेश्च नानुम	ानम्	••••	2	3	1
रकम्यनुसारी	••••		*	3	26
रूपादिमत्त्वार्चं ०	••••	••••	2	3	१५
इपोपन्यासाच	••••		7	3	२३

6		50		
b	á	,	į,	۹
	-	V		4

बसस्त्रानुक्रमाणक

T VIT OF			अ०	dlo	स्र
रेतः सिग्योगोऽथ	••••	••••	3	9,	२६
		स			
Commence of the		The Property of		7	88
लिङ्गभूयस्त्वाद्धिः बळीय		****	3		0.0
छिङ्गाच	••••	****	8	9	२
लोकवनु लीलाकैवल्यम्	••••	••••	3	9	३३
	7	4			
वदतीति चेन्न	****		9	8	G
वाक्यान्त्रयात्	****	••••	9.	8	9,0
वाङ्गनसिद्र्यनां०			8	2	9
नायुमब्दाद विशेष ०		•••:	8	3	2
विकरणत्वाक्रीत चे०	••••		,	9.	₹9,
विकल्पोऽविशिष्ठ०	••••		3	3	49
विकारावार्त्तं च तथाहि०	••••	****	8	8	9,9
विकारशब्दान्नेति चे०	••••	25	9.	9	१३
विज्ञानादिभावे०	****	900	. २	2	88
विद्याकर्मणोरिति तु०		••••	3	9	80
विद्यैव तु निर्धारणाद	••••	•	ş	3	es
विधिर्वा धारणवत	••••	*****	3	8	२०
विपर्ययेण तु ऋमे।०	••••	****	2	3	28
विमतिषेधाच	••••	••••	२	2	४५
विमतिशेषाचास्	••••	***	2	8	44

Digitized by	y Arya	Samaj	Foundation	Chennai	and eGangotr	i
			The second secon	Val. (55) - 12-1-		

The state of the s	सस्भा	नुक्रमाणक			21
			अ०	पा०	स्०
विभागः शतवत्	••••	••••	ą	8	22
विरोंधः कर्मणीति चे०	••••	1900	Į,	ą	२६
विविक्षत गुणापपत्तेश्व	••••	••••	9	2	2
विशेषश्च दर्शयाते	••••	****	8	Ę	?8
विदोषण भेदच्यपदे०	****	••••	9	2	22
विशेषणाच	••••	••••	9	2	१२
विशेषानुप्रदश्च	••••	••••	₹	8	36
विशेषितत्वाच	****	••••	8	*	6
विदारोपदेशाव	••••	••••	२	ą	38
विदितत्वा चाश्रम कर्गाप	****	****	ą	8	३२
रुद्धिहासभाक्त्वा ०	••••	••••	ş	२	२७
वेघाद्यर्थभेदाद	••••	••••	ş	ą	२५
वैद्युतेनेवततस्तक्कुतेः	••••	••••	8	Ę	Ę
वैधर्म्याच न स्वप्नादिवत	••••	••••	3	2	29
वैलक्षण्याच	••••	••••	2	8	9,9
वैशेष्य। तुतद्वाद् ०	••••	••••	2	8	2
वैश्वानरः साधारण०	••••	••••	9	२	28
वैषम्यनैर्घृण्येन०	••••	••••	2	9	38
व्यतिरेकस्तद्भावा०	••••	•>••	7	ą	98
व्यतिरेकानवास्थतेश्वा ०	••••	****	२	2	8
व्यतिरेको गन्धनन्	••••	••••	2	3	२६
व्यतिहारो विश्विषन्ति०	****	****	ş	ş	39

~	No.	
C	48	•
	•	

ब्रह्मस्त्रनुद्रविका

	*		अ०	पा०	सू०
व्यपदेशाच क्रियायां ०	1744		२	ş	३६
च्यासेश्च समझसम्	••••	****	ş	3	9
		75			
शक्तिविपर्ययात	••••		2	ş	36
शब्द इति चेकातः		••••	8	3	26
शब्द विशेषात	*****	••••	9	2	G
शब्दश्चातोऽकामकारे	****	5000	\$	૪	39
शब्दाच	****	****	2	ş	8.
शब्दादिभ्योऽन्तः ०	****	••••	9.	2	र्ह.
शब्दादेव मितः	••••	****	9	3	२४
भगदमाचुरेतः	••••	1000	ş	8	29
बारीरश्चीभेयेपिहि ०	****	••••	9	ર	२०
शास्त्रदृष्ट्यात्पदेशो ०	****	••••	9	9	30
शास्त्रयोनिलात्	••••	****	9	9	3
बिष्टेश्च	****		3	ŧ	६२
श्रगस्य तदनादर श्रवणा	[O	***	٩	3	38
शेषलात्पुरुषार्थवादो ०	4000	1.00	. \$	8	7
अवणाध्य यनार्थ ०	••••	••••	9	3	36
प्रतलाच	••••		9	9	33
77 77 ****					
। तेश्रा	••••	****	P. C.	2	36
oone oone	****	••••	7	8	४६

A	धस्त्रा	नुमधी णक			२३
-y all of			अ०	पा॰	स्०
श्रुतस्तु शब्दमूललात्	••••	••••	2	9,	२७
श्रुतोपनिषत्कगस०	••••		9	2	१६
श्रुसादि बलीयस्वाच ०		••••	3	3	४९
श्रेष्ठश्च	••••		2	8	6
	¥	1			
संज्ञातश्चतदुक्तः •	••••	****	Ę	3	6
संज्ञाम् चिंक्लृशि०	••••	••••	2	Y	२०
संयमने त्वनु भूये ०	****	••••	ą	9	१३
र्संस्कारपरामशांच ०	••••	***	9.	ą	३६
स एव तु कर्मानुस्पृति०	••••	****	ş	3	9
संकल्पादेव तु तच्छुतेः	••••		8	8	6
सत्त्राचावरस्य	••••	****	2	۶	१६
सन्ध्ये सिष्टराहिंह	****	••••	ş	2	9.
सप्तगतेविंशेषि०	••••	••••	2	8	G
समन्वारम्भणाव	••••	••••	3	8	9
समनायाभ्युपगमाञ्च०	••••	••••	2	२	१३
समाकर्षाव	••••	••••	9.	8	१५
समाध्यभावाच	••••	••••	2	ą	39
समान एवञ्चाभेदात	••••	****	Ę	ą	१९
समान नामक्पता०	••••	****	3	3	30
समाना चास्ट्यपक्र॰	****	••••	8	२	9

ब्रह्म बातुक मणिक

og sje sk			अ०	वा०	सू०
समाहारात	••••	••••	. ३	3	३६
समुदाय उभयहेतु ०	••••	••••	2	२	9,6
समाचे रिति जैथिनिः०	••••	••••	9	२	3
सम्ययाविर्भावः ०	••••	••••	8	8	9,
श्तरमञ्चादेवपन्यत्रापि	••••		3	3	२०
सम्बन्धानुपपत्तेश्र	2400	••••	ય	2	35
सम्मृति द्युव्याप्त्यापः	••••	••••	2	3	२३
संभोगामाप्तिरितिचे०	••••	••••	٩	३	. 6
सर्वत्र मसिद्धोपदेशाव	••••	••••	9,	2	. 9,
स्वथानुपपत्तेश्च		••••	२	2	83
सर्वथापि त एवोभय०	****	••••	₹	8	38
सर्वभवीपपेस्थ	••••	••••	२	9.	इ ७
सर्वेदान्तमत्ययं	••••	****	ş	ş	8
सर्वां मानुमति इच ०	****	••••	ş	8	26
सर्वापेक्षा च यज्ञादि०	••••	••••	.\$	8	२६
सर्वाभेदान्यत्रेमे	••••	••••	3	3	9,0
सर्वोपेता च तद्दर्शनाव	••••	••••	2	9.	30
सहकारिलेन च	****	••••	ş	8	33
सहकार्यन्तराविधिः०	••••	••••	ą	8	es
साक्षाचोभयाञ्चानात्	1000	••••	2	3	११
साक्षादप्यविरोधं०	****	••••	2	2	२८
सा च मशासनात	••••	••••	8	3	१०
			•		

व सम्वानु क्रमणिका					२५
TP ole			अ०	पा०	स्
साभाव्यापात्तिरुपपत्तेः*	••••		3	8	२२
समान्याचु	••••	••••	3	2	३ २
सामीप्यात्तु तद्वयपंदेशः	••••	••••	Y	3	9
साम्पराये तर्त्तव्याभावा०	••••	- Jacob Pa	3	3	२७
सुकृत दुष्कृत एवेति॰	••••	0000	3	9	११
सुखिविशिष्टाभिषा॰	••••	••••	?	2	१५
सुपुप्त्युत्क्रान्त्योभदेन	••••	0000	9	3	४२
सूक्ष्मनतु तद्देत्वाद	••••		2	8	2
सुक्षं प्रमाणतश्च	****		X	२	9
युचकश्च हि श्रुते०	••••		13	२	8
मैब हि सत्याद्यः	••••	****	3	3	16
सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः		••••	8	2	8
स्तुतयेऽनु मातर्या		••••	3	8	88
स्तुतिमात्रमुपादाना०		••••	ş	8	२१
स्थान विशेषात्मकाञाः			ş	२	38
स्थियदनाभ्याञ्च		* 13.90 É S	9.	ş	9
स्पष्टो हो केषाम	••••		8	3	१३
स्मरन्ति च	••••		3	1	68
))))		••••	\$	3	48
17 27	••••		8	9.	50
स्मर्यते च	-0000		r	3	88
स्मर्यतेऽपि च लोक	••••	••••	\$	1	१९

^{*}इमारं (महान्त में 'तत्साभाव्यापत्तित्पयत्ते' ऐसा पाठ है।

२६ ब्रह्मसूत्रानुक्रमणिका

				अ०	पा	स्रु
स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति	••••			9	२	३५
स्मृतेश्च	••••	••••	****	9.	2	વ
",				8	3	35
स्मृत्यनवकाशदोपमङ्गः		••••		વ	9.	9.
स्याचेकस्य ब्रह्मशब्दनत		••••		ચ્	3	લ
स्वपक्षदोषाच्च				2	9.	3,0
7) 7)			F	3	9.	30.
स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च	9100	••••		2	3	55
स्वात्मना चोत्तरयोः	••••	••••		2	₹,	عر. عر عر. عد
स्वाध्यायस्य तथात्वेन ?	••••	••••	••••	\$	ş	7
खाप्ययमम्प्रयो०		••••	••••	8	.8	5.8
स्त्राप्ययात	••••	****	100	9.	9.	o.
स्वामिनः फलश्रुतरि०	****	••••	•••	à	.9	8.8
	त्रु					
हस्ताद्यस्तु स्थिते०			IE	२	8	द
हानीतूपायनदाब्द्वोषत्वा २				ş	ž.	२६
ह्यपेक्षा तु०	*****			9.	3	ર્લ
हेयत्वावचनाच्च			****	9.	9.	4



ओ३म्

भूमिकाशब्दार्थमाला ॥

-909 GOG-

पृ० ३-पं० १९-दुर्जनतोषन्याय-जिसको अपनी वात का बहुत आग्रह हो उसको दुर्जन कहते हैं, तोष नाम मसन्नता का है, बह उसकी वात मान छेने से होती है। और न्याय उदाहरण को कहते हैं।

पृ० १२-पं० १५-तिरोहित-इके हुए को तिरोहित कहतेहैं, और इकने का नाम तिरोधान है!

पृ०१४-पं०१५-घहकुटीप्रभातन्याय-नदी के किनारे जो महसूल लेने वाले की कुटी होती है उसको घहकुटी कहते हैं। जैसे कोई पुरुष महसूल के भय मे रातभर इघर उघर छिपता फिरे और प्रातःकाल फिर उसी कुटी पर आजावे और महसूल देना पड़े, इसी को घहकुटीप्रभातन्याय कहते हैं। प्रकृत में यह इस प्रकार लगा कि पायावादी ने जिस भेद के भय से मायावी ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना वही भेद फिर उस के सन्मुख आगया।

पृ० १५-पं० २३-अज्ञानोपहित-अज्ञान जपाधिवाला, जिसका स्वरूप में प्रवेश न हो और वस्तु को जुदा करदे जसको जपाधि कहते हैं, जैसे घटाकाश की जपाधि घट है।

ए॰ १६-पं॰ २४—अन्तःकरणाविच्छिन्न—अन्तःकरणं से घरा हुआ चेतन।

पृ० २४-पं० १३-उपाधि—यहां हेतु के दोष का नाम उपाधि है। वह साध्य का न्यापक और साधन का अन्यापक होती है, अर्थाद जहां २ साध्य रहता है वहां २ उपाधि रहती है, और उससे भी अधिक देश में रहे उसको साध्यन्यापक कहते हैं, और जहां २ साधन रहे वहां २ उपाधि के न रहने को साधनान्यापक कहते हैं, जैसे कोई कहे कि यह पर्वत धूम वाला है अग्निवाला होने से । इस अनुमान में आर्द्रेन्धन संयोग अर्थाद गीली लकड़ियों का संयोग उपाधि है, क्योंकि यह साध्य का न्यापक और साधन का अन्यापक है, साध्य धूम जहां २ है वहां २ आर्द्रेन्धन संयोग नहीं जैते तपे हुए लोहिपण्ड में। इस उपाधि को हेतु दोप इसलिये कहते हैं कि यह हेतु को न्याभचारी बना देती है जैसे

उक्त अनुमान में अग्रिक्ष हेतु को धूमक्ष साध्य का व्यभिचारी बना दिया। क्योंकि धूमक्ष साध्य को छोड़कर तपेहुए लोहिषण्ड में अग्रिक्ष हेतु रहगया। और उपाधि में यह भी स्वभाव है कि वह जिस अनुमान में आती है वहां अपने अभाव से साध्य के अभाव का अनुमान करा देती है जैसे उक्त अनुमान में धूम साध्य था उसके अभाव को आद्रेन्धन संयोगक्ष उपाधि के अभाव ने करा दिया। यह धूम के अभाव वाला है आद्रेन्धन के अभाव वाला होने से, तप्त लोहिषण्ड के समान।

पृक्षत में * "दुःख्प्राग्भावानिधिकरणत्व" अर्थात दुःख के प्राग्भाव का आश्रय न होना उपाधि है, क्योंकि वह साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है। "जीवोब्रह्मा भिद्धः,चेतनत्वात्,ब्रह्मवत्" इस अनुमान में साध्य, ब्रह्मा-भेद है, वह जहां २ रहता है वहां २ दुःखप्राग्भावानिधकरणता है जैसे ब्रह्म में ब्रह्म अभेद भी है, और दुःखप्राग्भावानिधकरणता भी है इसिलिये साध्य का व्यापक हुई। और चेतनत्व साधन है वह जहां २ रहता है वहां २ दुःखप्राग्भावानिधकरणत्व नहीं जैसे जीव में चेतनत्व है, और उक्त उपाधि नहीं। इसिलिये साधन का अव्यापक है, उपाधि के आजाने से चेतनत्व हेतु व्याभचारी हो गया क्योंकि ब्रह्माभेद के अभाववाले जीव में भी रहग्या। जीव

किसमें दुखका प्राग्भाव नही। प्राग्भाव उसकी कहते हैं कि जिसमें प्रथम वह वस्तु नही और फिर होजावे, अर्थात् उसकी उत्पत्ति का स्थान हो में ऐसा जीव है ब्रह्म नहीं। इसलिये ब्रह्म दुःस प्राग्भावानिधकरण है अर्थात् उसमें कभी भी दुःस नहीं होसका।

ब्रह्म के अभेद के अभाववाला इसलिये है कि उसमें ब्रह्म अभेद के व्यापक दुःखप्रागभावानधिकरणत्व का भी अभाव है, व्यापक के अभाव होने से व्याप्य का अभाव अवश्यमेव हो सक्ता है, इसलिये उक्त उपाधि के आजाने से जीवोब्रह्माभिन्नः यह अनुमान सर्वथा आभासमात्र है।

ए० २६-पं० ९-वृत्तिव्याप्ति-विषयाकार बुद्धि के परि-णाम विशेष का नाम द्या है। उस द्या का विषय को व्याप्त करलेना दित्तच्याप्ति कहलाती है। यह परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार के विषयों में हुआ करती है, और जब इन्द्रिय का और अर्थ का सम्बन्ध होता है तब बुद्धि का परिणाम दृश्चि इन्द्रियों के द्वारा वाहर निकल कर तिस २ अर्थ के आकार को धारणकर उसके आवर्ण को भङ्ग कर देती है। आवर्ण के भङ्ग होजाने पर वह विषय वृत्तिआकृढ़ चेतन से प्रकाशित होता है जैसे यह घट है, यह पट है। इसी प्रकार अनुमान से और शब्द से तत्तद विषयाकार द्विच उत्पन्न होती है वह द्विच यद्यपि विषय देश में नहीं जाती तथापि भीतर ही विषय के आकार को धारण कर लेती है इसलिये अनुमान और शब्दपमाण के विषयों में दित्तव्याप्ति मानी गई है। सार यह निकला कि मत्यक्ष और अमत्यक्ष विषय को न्याप्त करना दृत्तिन्याप्ति कहलाती है।

पृ० २६-एं० ९-फलाठ्याप्ति - द्वि आइड नेतन का दिश के विषय को मकाश करना फलन्याप्ति कही जाती है अर्थात द्यत्ति में फलक्ष जो चेतन उसकी व्याप्ति नाम विषय को मकाश करना फल व्याप्ति है। जैसे घटका और नेत्रका सम्बन्ध होनेपर घटाकार बुद्धि की दित्त ने घट देश में जाकर घटको ज्याप्त कर लिया। द्योत्तके व्याप्त करनेपर भी घट अपने स्वरूप से जड़ होने से प्रकाशित नहीं होता इसलिये दित्त में आक्द्र चेतन ने उसका मकाश कर दिया तब "अयंघटः" यह घट है, इसमकार का ज्ञान 'हुंआ। फलव्याप्ति वहां ही होती है जहां विषय मत्यक्ष हो, अमत्यक्ष विषय में फल न्याप्ति कदापि नहीं होती यह नियम है। मायावादियों के मत में ब्रह्म सिबकुष्ट होने से प्रत्यक्ष के योग्य है वहां द्यति न्याप्ति और फलन्याप्ति अवस्य होनी चाहिये, परन्तु ब्रह्म, घट पटादिकों के समान स्वरूप से जड़ नहीं किन्तु स्वतः पकाश है, इसलिये रित्त आवर्ण भक्त के लिये है। रित्तव्याति का स्वीकार होनेपर भी फलव्याप्ति का स्वीकार नहीं, क्योंकि जहां विषय स्वतः सिद्ध मकाशक्य है वहां फल्डम्याप्ति की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि विषय के प्रकाश के लिये ही फल-न्याप्ति मानीगई है सो जड़ पदार्थों में ही फलन्याप्ति होती है ब्रह्मात्मा में नहीं। प्रकृत में दृत्रयत्व हेतुका अर्थ यदि वृत्तिच्याप्ति कियाजाय तो मिथ्यात्व के अभाव वाले ब्रह्म में रह जाने से हेतु

भूषिका

6

व्यभिचारी है। और व्यभिचारी हेतु अपने साध्य की सिद्धि नहीं करसक्ता, इसलिये "प्रपञ्जोमिध्याहरुयत्वात् शुक्ति रज्ञत वत्" यह अनुमान स्वयं मिध्या होने से प्रपञ्ज में मिध्या पन सिद्ध नहीं करसक्ता, हेतुका साध्य के साथ जो नियत सम्बन्ध है उसकी परियाषा व्याप्ति है जिस अनुमान में उपाधि आती है वह उसमें व्याप्तिको भन्न कर देती है अत्रष्व उपाधि बाह्य हेतु व्याप्यत्व सिद्ध कहाजाता है, साध्यकी व्याप्ति जिसमें रहती है उसको व्याप्य कहते हैं, व्याप्य हेतुका धर्म जो व्याप्ति उसका नाम व्याप्यत्व है, उसकी असिद्ध व्याप्यत्वासिद्धि, और उसवाह्या व्याप्यत्वासिद्ध कहाजाता है।

पृ० ३७-एं० १४-वाधसामानाधिकरग्य-उसको कहते हैं कि जैसे रज्जू में जो सर्प प्रतीत होता है, फिर जब यह जान होजाता है कि यह सर्प नहीं किन्तुं रज्जू ही है, इसप्रकार जहां एक बस्तु को नाश करके दूसरे के साथ मिला दियाजाता है उसको यायावादी वाधसायानाधिकरण्य कहते हैं। क्योंकि इनके यत में अभाव भी अपने आश्रय से भिन्न नहीं अर्थात् रज्जू में जो मिथ्या सर्प प्रतीत हुआ था उसका अभाव भी अपने अधिष्ठान से भिन्न कोई वस्तु नहीं किन्तु उसंका स्वरूप ही है इससे यह लोग यह आश्रय लेते हैं कि अभाव भी ब्रह्मसे भिन्न

कोई वस्तु नहीं।

जहां २ मिथ्या प्रपञ्च की निष्टत्ति द्वारा यह एक ब्रह्म वोष्ट्य करते हैं वहां सर्वत्र इनको वाधसमानाधिकरण इष्ट है। चेतन का आभास जो इनके मत में जीव है उसका भी ब्रह्म में अभाव करें देते हैं वहां भी वाधसमानाधिकरण ही है।

पृ० ३७-पं० १७-मुख्यसामानाधिकरण्य- का प्रयोग यह ऐसे स्थलों में भी करते हैं जैसे कि आरम्भणाधिकरण में सब प्रपञ्च को ब्रह्मरूप ही माना है, अर्थात् यह सब बना तना ब्रह्माण्ड ब्रह्म है, अधिकरण के अर्थ अधिष्ठानके हैं, और समान नाम एक ही हो अधिष्ठान जिसका उसका नाम समानाधिकरण है। और उसीके भावका नाम सामानाधिकरण्य है, एवं मुख्य समानाधिकरण का आश्य यह निकला कि जहां दोनों पदार्थों में से किसी का नाश नहीं होता किन्तु दोनों को मिला दिया जाता है, इसलिये मुख्य समानाधिकरण कहलाता है।

पृ० ३८-पं० ५-एकजीववाद-जिन मायावादियों के मत में एक ही अज्ञान है उस एक अज्ञान की उपाधि वाला सारे ब्रह्माण्ड में एक ही जीव है और उसमें एक के मुक्त होजाने से सबका मुक्त होजाना और एक के बन्धन से सबके वांधे जाने का दोष आता है इसका समाधान अद्वैतवादी इसमकार करते हैं

भूमिका

कि जैसे स्वप्नावस्था में एक ही द्रष्टा अपनी भ्रान्ति से अनेक जीवों की करपना करलेता है और उनमें से किसी को मुक्त देखता है और किसी को बद्ध देखता है इसमकार जाग्रव में भी अपने अज्ञान से रचे हुए नाना जीवों को देखता है वास्तव में सब संसार में जीव एकही है। यह एक जीववाद कहलाता है।

॥ वेदान्तार्यभाष्यशब्दार्थमाला ॥

पृ० २-पं० १-षट्सम्पत्ति-शम, दम, श्रदा, समाधान, उपरति, तितिक्षा, इन छ का नाम षट्सम्पत्ति है।

श्रम-मनका निरोध करना, दम-इन्द्रियों का निरोध करना श्रद्धा-वेद और वैदिकधर्म के उपदेष्टा के वचनों को सत्य मानना, समाधान-मनमें कोई विक्षेप न होना, उपरति-मन्दकर्म और मन्द विषयों में ग्लानि, तितिक्षा-विपत्ति और सम्पत्ति में एकरस रहना, अर्थात् शीतोष्ण, भूख, प्यास, सुख, दुःख, का सहारना।

पृ० २-पं० १७-चतुष्ट्यसाधन-विवेक,वैराग्य,षद्सम्प

त्ति, मुमुक्षा, इन चार साधनों का नाम साधन चतुष्ट्य है।

विवेक-सत्यासत्य के भेद को जानना, वैराग्य-असत्य से ग्लानि होकर सत्य के ग्रहण की अभिलाषा, मुमुक्षा-मोक्ष की इच्छा।

पू॰ ३-पं॰ ६-प्रमाण-यथार्थ ज्ञानका साधन,जैसे चसुआदि। पृ० ३-पं० ७-प्रमेय-जो प्रमाण से जाना जाय।

पृ० ४-पं० १.७-तटस्थलक्षण-लक्ष्य के स्वरूप में प्रविष्टन हो और उसको वोधन करे, जैसे जगद के जन्मादिक ईश्वर के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हैं और उसको बोधन करते हैं। ्षृ० २१-पं० ११-आविर्माव-मगटहोना।

भाष्य

पृ० २१-पं० १२-तिरोभाव-छिपजाना । पृ० २८-पं० १६-आत्मत्वेन-आत्मरूप से ।

पृ० ११८-पं० ८-उपाधि-जो वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट न हो और उसको भिन्नकरदे, जैसे घट और मठ आकाश के स्वरूप में प्रविष्ट न होकर आकाश को अपने से भिन्न करदेते हैं।

ष्ठः १४८-पं० १-शक्तिन्ति—शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को द्वित कहते हैं। वह सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है (१) स्याक्षात्—जैसे गंगाशब्द और उसके अध्यवाह का। इसी साक्षात सम्बन्ध का नाम शक्तिद्वित्त है, और इसी को अभिधान्ति कहतेहैं। और शक्ति से जो अर्थ जानाजाताहै उसीको शक्त्यार्थ और वाच्यार्थ भी कहते हैं। (२) प्रम्प्रास्मस्बन्ध—जैसे गंगाशब्द का तीर से। इसीसम्बन्ध का नाम लक्ष्मणानृति है, क्योंकि यह सम्बन्ध गंगाशब्द का अर्थ जो प्रवाह उसके द्वारा तीर से है साक्षात नहीं। (३) गोण—जो गुणों के द्वारा हो। जैसे यह सिंह है, इस स्थल में गुणों से देवदत्त को सिंह कहागया। इसी सम्बन्ध का नाम गोणीवृत्ति है, और इसीको उपचार भी कहते हैं।

पृ० १८५-पं० ८-द्र्यणुक-परमाणुओं के मिलने से जो कार्य बनता है उसका नाम झणुक है।

पृ० १८५-पं० ९- उपणुक-तीन झणुकों से मिल कर जो कार्य बनता है उसको उपणुक कहते हैं।

ष्ट्० १८५-पं० १९-विषमपरिमाण-विरुद्ध, उल्ला।

क्षणिक-भण २ में जो बदलता है उसका

नाम क्षणिक है।

अस्मत्प्रत्ययगोचर-अहं २ इसकान

के विषय का नाम अस्मत्यत्ययगोचर है-(गोचर) विषय (प्रत्यय) ज्ञान (अस्मत्) अहं को कहते हैं।

मिथ्या—जो वस्तु जिसमें तीन काल में भी न हो और किसी दोष के वश से उसमें होजाय, उसको मिथ्या कहते हैं। इसका मिसद्ध उदाहरण सीपी की चांदी आदि हैं।

उपचार-जो मुख्य न हो और किसी गुण के कारण ऐसा प्रयोग करिंदया जाय, जैसे शूरवीरतादि गुणों के कारण मनुष्य को सिंह कहिंदया जाय।

अपने अधिष्ठान से विषम सत्तावाली मतीति को अध्यास कहते हैं, जैसे शिक्त में रजत का अध्यास होता है। यह अध्यास, अर्था-ध्यास और ज्ञानाध्यास के भेद से दो मकार का होता है। ज्ञानाध्यास के भेद से दो मकार का होता है। ज्ञानाध्यास ज्ञान हो ता है। ज्ञानाध्यास ज्ञान हो ता करके अवभास नाम ज्ञान हो । अर्थाध्यास दो मकार का है, स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास । स्वरूपाध्यास काल्पत पदार्थों का होता है जैसे रज्जू में सर्प और सोपी में चांदी, स्वरूप के अध्यास को स्वरूपाध्यास कहते हैं। और संसर्गाध्यास वह कहलाता है जो पूर्व विद्यमान दो पदार्थों के सम्बन्ध से अध्यास होता है, जैसेकि स्फटिक के पास पुष्प रख देने से उस पुष्प की रक्तत स्फटिक में मतीत होती है,

यह संसर्गाध्यास है। अर्थ से यह आया कि जड़ और चेतन के सम्बन्ध से जड़ पदार्थ के धर्म चेतन में प्रतीत होते हैं और चेतन के धर्म जड़ में प्रतीत होते हैं, यह सब संसर्गाध्यास से हैं प्रकृत में प्रृत्ति में ब्रह्मबुद्धि मायाबादियों ने इसिलये अध्यासमानी है कि हसमें ब्रह्मआब का कोई स्तित्व नहीं केवल स्वक्षपाध्यास के समान मनोरथमात्र से ब्रह्मबुद्धि है वास्तव में वह मूर्त्ति जड़ पाषाण वा कोई धातु विशेष है, वह तीनों कालों में ब्रह्म नहीं, वह अतास्मस्तद् बुद्धि अर्थात मिथ्या बुद्धि है। और इसप्रकार का अध्यास इस निम्नलिखित उदाहरण से समझ में आता है जो स्वामी शं० चा० जी ने ब्र० सू० १।१।१ में अध्यास की मूमिका बांधकर यह लिखा है कि:-

"एव महं प्रत्ययिनमञ्जाषस्वप्रचारसािच्चिण प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्व सािच्चणं
तिद्वपर्ययेणान्तः करगाादिष्वध्यस्यति । एव मय्
मनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्याासो मिथ्याप्रत्ययः
रूपः कर्तृत्व भोक्तत्व प्रवर्तकः सर्वलोक प्रत्यः
चोऽस्यानर्थहेतोः प्रहागाायाऽऽत्मैकत्व विद्याः
प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता त्रारभ्यन्ते" शं० भा० ष्र०
द० १ । १ । १ की भृषिका अर्थ-इससे पूर्व यह कथन कियाग्याः
या कि स्त्री पुत्रादिकों के व्याकुल होने से अपने आपको
न्याकुल मानसेता है, जैसे इन वाहर के धर्मा को अपने आपके
भ्याकुल मानसेता है इसीमकार देहके धर्मों को भी अपने आपके

अध्यास से यानलेता है कि मैं कृश हूं, मैं गौर हूं, मैं अन्य हूं, में यूक हूं। और अन्तःकरण के धर्म कि मैं सङ्ग्रह्ण करता हूं, विचार करता हूं, निश्चय करता हूं, इत्यादि धर्मों को अपने में मानलेता है। इसमकार अन्तःकरण का अपने में अध्यास करता है और अपना अन्तःकरण में,यह अनादि अनन्त स्वाभाविक अध्यास है, जिससे जीव कर्त्ता और भोक्ता वनता है, इस अनर्थ की निष्टिच के लिये इनके मत में वेदान्त का आरम्भ है।

यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सूत्रकार "अथातोब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र में अध्यास की फ़िला-सफ़ी अवस्य बतलाते, पर यहां तो कुछ और ही है, और वह यह है कि ब्रह्मके जानने की इच्छा कथन करके उस ब्रह्मको खिष्ट की उत्पात्त स्थिति का कारण कथन कियागया है जो यायावादियों के यत को सर्वथा मिटादेता है वह इसमकार कि यायावादियों ने अपने कर्त्ता भोक्ता होनेका अध्यास मिटाना था और महर्षिच्यासने ब्रह्म को भी जगत् का कर्त्ता कथन करादिया, और यदि यह कहाजायिक ईश्वर को जगत कर्त्तामानना भी मिथ्याज्ञान ही है तो फिर यह प्रतिज्ञा कैसे दृढ़ रही कि मिथ्या ज्ञानकी निष्टत्ति के लिये वेदान्त का मारम्भ है क्योंकि यहां तो ब्रह्मको जगत की उत्पत्ति स्थिति का कारण कथन करके उलटा और मिथ्याज्ञान का भचार किया। यदि यह कहाजाय कि यह तो अध्यारोप है, और अपवाद में इस सब को मिदा दिया जायगा, तो उत्तर यह है कि वह अपनाद वेदान्त सूत्रों में कहां है ? जिसमें ईश्वरं के ईश्वरत्व को मिटाकर भ्रमिसद्ध किया हो इत्यादि अनेक तकें हैं जिनसे मायावादियों के मत में अध्यास, की फ़िलासफ़ी मनोरथमात्र रह जाती है।।

8

थाज्य

अपवाद-उस आरोप की हुई मिध्याभूतवस्तु को मिटा देने का नाम है। "तदेक्षतवहुरुयां" इत्यादि वाक्यों से मायावादी जगदका ब्रह्म में आरोप कर लेते हैं और "नेहनाना स्तिकिश्चन" इत्यादि वाक्यों से उसे मिटा देते हैं। इसी प्रकार जीव वोधक वाक्यों से जीव का आरोप कर लेते हैं और "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से उसके जीवभाव का अपवाद कर देते हैं। इसको मायावादी लोग अध्यारोप और अपवाद कहते हैं।

प्रतीक-मूर्ति।

अन्वय-सम्बन्ध।

द्वीसर्वाधिष्ठान-सवका आश्रय।

अपवर्ग-मुक्ति।

अन्थ-अविद्या।

स्वरूप-अपनारूप।

यावदायुष-सम्पूर्ण आयु पर्यन्त ।

मरमरीचि-सगतृष्णा के जल को

कहते हैं। मरु नाम रेतले स्थल काहै, और मरीचि नाम उस स्थल की किरणों का है। उन किरणों से वहां मरुस्थल में जल मतीत होने लगता है।

> आश्रमनिबन्धन-आश्रमक्ष्पहेतुवाली अवस्थिति-उहरना। क्षति-हानि।

कोष

इयत्ता-_{सीमा ।} परिच्छिन्न-एकदेशी ।

प्रत्यावृत्ति-वार २ ध्यान करना । लापन-लगाना । 9

अतिक्रमण-ज्ञङ्घन करना। हस्तामलक-हाथ पर आवलेक्पी

फल्के समान साक्षात्।

0

चार्वाक-नास्तिक जो देह को आत्मा मानते हैं, और सृष्टि को स्वाभाविक मानते हैं और इंश्वर को नहीं मानते।

अनवधिक-नेहद।

असंस्ट्येय-जिन्ही सँख्या न हो।

आक्षेपसङ्गति—गे पूर्वपृक्ष द्वारा

सिद्धान्ती पर आक्षेप करके सम्बन्ध दिखलाया जाय।

क्रमसमुच्चय-उमको कहते हैं जैसेकि अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्मों को भी क्रम से अद्वैतवादी लोग साधन मानते हैं॥

समसमुञ्चय-उसको कहते हैं जहां ज्ञांन और कर्म दोनों साथ २ भिलकर मुक्ति के साधन हों।

हेय-त्याग के योग्य।

अनुष्टान-कामका करना। CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

भाष्य

वस्तुतन्त्र-जो किसी कर्ष के आधीन न

कर्मसाध्य जिसकी कर्मोंसे सिद्धि हो। तद्दर्भतापत्ति-तव नाम उसके जो धर्म

आपत्ति नाम उनकी प्राप्ति।

सद्न-नाश करना।

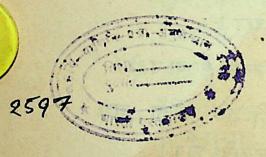
संदर्भ-रचना।

वाक्यजन्य-जो वाक्य सुनने दी रे

ज्ञान हो।

6

आभिनिष्पत्ति-माप्ति।



-940 (146-

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन हाउस डिजाइन और निर्मित किया गया है। इसमें कैमरे और माइक भी श्र साझा करने के लिए इन स्मार्ट ति करने और भविष्य में उनके जिससे इन रिपोट्स को सरल सानी से बदला ज हमें का उपया क्नोलॉजी पर गडकल स्टाफ | रोगियों क लगे हुए है वैश्विक महामारी कोरोना कंपनी फेनो एमएक्स के साथ मिलार आमजन के लिए वेलनेस एवं अर्थमेटेड िपोर्ट का उपयोग ट्रैंकि सिस्टम विकसित करने पर भी किया र सकता है। मेडिपॉर्ट अमेरिकी त्रसाइट पर शरीर को बेहतर तरीके भ भर की है। जानने व स्वस्थ जीवन जीने के अलावा मेडिगॉर्ट अपनी से लैंस यह रिस्क प्रेडिक्टर आपके वायरस के पीड़ितों के उपचार हेतु यह की अन्य नामी कंपनिय उन्होंने जिओ लिया था। अत्याधुनिक तकनीक 対あず सुझावों को शामिल करने पर भी कार्य पहला रिस्क प्रेडिक्टर वनाने का दाव टीन मेडिपॉर्ट का दावा कोरोना रिस्क प्रेंडिक्टर अस बताने माध्यम भी र coronavi लक्षणों का करेना सं मराज के ब

हमेशा श्रीकअप हिए। वहीं कभी ग है। फिलहाल वार असिस्टॅंट के लिए साउथ से परिचत नहीं भागाध्यक्ष भी बाबा को फोन कर काशों का हाल जाना। मठ-मंदिरों व घाट किनारे जानकारी ली। साथ ही जल्द काश जावन यापन करने वालों के बारे मे महामंडलेश्वर संतोष दास सतुआ गए मंडलीय अस्पताल ब्लड से काउंसलर के आने पर बंद किए ब्लंड बैंक खोल दिए खत आने का भरोसा दिया। आदित्यनाथ ने वाराणसी : हाटस्पाट मगलवार श्रराब के लिए एक करोड़ 29 ३४ लाख ६२ हजार ५५०, विदेशी खरीदी। देशी धाराब के लिए लाख ९० हजार ८९० की शराब हजार ३३० रूपये किए थे खर्च रुपये जेब से निकाल । सामवार लाख ३० हजार ४०० रूपये और को चारकरोड़ १३ लाख ८५ बीयर के लिए ७९ लाख ७९४० वाराणसां : लॉकडाउन के तीसरे दुकाना पर लाइन तो लगी लेकिन दुकानों पर पहुंचते रहे और शराब करोड़ रुपये खर्च कर दिए। मंगलवा खरीदकर घरों को चल दिए। कुछ की समय में लोग अपनी सुविधानुसा सोमवार जैसा नजारा नहीं रहा। नौ घंटे को हालांकि शराब को दुकाना प अमूमन एक दिन में वाराणसी में विक जाती रही एक कराड़ का शराव खरादा शराव, छलकाए जाम कराड़ ४५ लाख ७५२२० रुपये की सवा लाख लोगा ने दो दिन में छह लाख़ 85 हजार 800 रुपये हैं। देशी खरीदी। इनका मूल्य तीन करोड़ 89 ने 55 हजार 694 शराब की बोतले दारू गटक गए थ सोमवार को 12 हजार लोग 60 लाख 500 लोगों ने 34 लाख 62 हजार शराब का सवन करने वाले भी पीछे 25 हजार 500 रुपये मूल्य की देशी 550 रुपये की देशी दारू पी। जबकि बियर की बिक्री तीन गुना घटी है। मंगलवार का सात हजा वाषिक आय के हिसाब र के सामने विकट स्थार करोड़ों का राजस्व देने व लॉकडाउन में मिलने वाल निबंधन विभाग को वर्ष टाप थ्रा वाणज्य कर, अ अशोक सिंह े वाराणसी आकलन कर ता सरकार 12716 करोड़ रुपये हैं।

Golf Citalial of the thank

से मंगलवार को तीन यूनिट खत दिए गए। पहले परिसर सैनिटाइज व कर्मचारियों की थर्मल स्कैनिंग की हि। काउंसलर कोरोना पाजिटिव क पड़े। एक तरफ लोग राशन-दवा की छूट क्या मिली लोग दुकानों पर टूट चरण में शराब को दुकानों के लिए देसी पर भारा अग्रज दूरी के मानक का पालन करते दिख

संख्या कम होने के चलते शारीरिक

ठंडी बियर नहीं मिलने के चलते

लोगों 31 लाख 1181 रुपये खर्च कर बोयर को बिक्रों कम हुई। सात हजार

कर्फ्यू के पहले ही बंद्ध के साथ ही शराब की दुक्की

गहा वाणिज्य कर क्यु

वालों में निबंधन कार्याल

सरकार का ज्याद्र

एक स्थि काम

पड़ोसी था। उसे अस्पताल आने से आने की सूचना पर प्राथमिकी दर्ज एसआइसी ने मना किया था। उसके दुकानों के बाहर कतार लगाए थे तो दूसरा तरफ शराब के शौकीन भी लाइन में लगे।

अंग्रेजी शराब के शौकीन देसी दारू

हजार लोगों ने 21575 बीयर केन के

को बीयर के लिए तीन गुना यानि 21 बोयर के 7254 केन खराद। सामवार

लिए दो करोड़ 37 लाख 3030 रुपर

कार्य नहीं होने से एक कार्यालय को तो खर्रा खुला। लांकडाउन-क्रे2

कर दिया गया। तीना ।

क अलावा सरकार का

मकान, तहसाल कोवि

खन किए थ

होने वाली आय भी ठ्रेप निबंधन कार्यालय में म

दुकानें बचें माल बेचते से आय बढ़ जाती है

क्र में मार्च में राज

या जांडे लगा

कराने के साथ ही बँक सैनिटाइज कर

कर बद कर दिया गया था

मराज़ी के डाटा अध्ययन के बाद आइआइटो व आइएमएस बीएचयू के छात्रों ने एआइ तकनीक के माध्यम से विकसित किया मॉडल महज 48 घंटे में लगभग साढ़े छह भी लगभग सवा लाख लोगों ने नशे की ऐसी लत कि लॉकडाउन लाख 30400 रुपये खर्च कर दुकान 22 हजार लोगों ने एक करोड़ 29 पीने वालों से आगे हैं। मंगलवार को

वैटिलेटर की जरूरत है या नहीं, बताएगा मेडिपॉर्ट

डीरेका ने बनाई मानवरहित मेडिकल ट्राली

इ तकनीक के

मॉडल

कोरोना के दौर में डीरेका (डीजल

रस्का चालन एवं दिशा नियंत्रण

में आये टॉली के जीए दवा, पानी बात यह है कि बिना मरीज के सम्पर्क

खस्बत

वाराणसी: वैश्विक

इसके

मरीज़ें के अध्ययन

अभिनव प्रयोग किया गया है। खास अधिक होती है। मार

पखवारा तो लॉकडाउन

पहल दिन